संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ४९

अनासक्त महायोगी

[आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज एवं गुरु आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के सम्पूर्ण जीवनवृत्त पर आधारित एक अनुपम चम्पू महाकाव्य]

लेखक
मुनि प्रणम्यसागर

प्रकाशक
जैन विद्यापीठ
सागर (म० प्र०)

अनासक्त महायोगी

लेखक : मुनि प्रणम्यसागर

संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)

आवृत्ति : ११००

वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रियल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को श्रृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जो अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ साथ ही अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ,

भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वत्वर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

दिगम्बर जैन साहित्य की श्रमण परम्परा में महान् आचार्य के ऊपर संस्कृत-प्राकृत भाषा में महाकाव्य की परम्परा में यह पहला २१ वीं शताब्दी का अपने आप में बेजोड़ और अनुपम प्रमाणिक महाकाव्य है। जिस काव्य की रचना एक महाव्रती श्रमण ने अपने ही गुरु और दादा गुरु महाव्रतियों श्रमणों के लिए की हो वह स्वयं महाकाव्य बन ही जाता है। यह भाव स्वयं ग्रन्थकर्ता ने अपने काव्य के प्रारम्भ में महाकाव्य की सिद्धि के लिए लिखा है। इस महाकाव्य में संस्कृत और प्राकृत भाषा में सरसता के साथ आचार्य विद्यासागरजी एवं गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी का सम्पूर्ण ऐतिहासिक वृत्तान्त घटित प्रमुख घटनाओं सहित इस तरह गुंफित है कि इसे पढ़ने पर ऐतिहासिकता अपने आप प्रकट होने लगती है।

इस महाकाव्य में पद-पद पर सुभाषित वचनों की छटाएँ बिखरी हुईं हैं, जिससे मूल संस्कृत एवं प्राकृत पढ़ने वालों के लिए एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। कहीं पर गद्यमय, कहीं पर

पद्यमय, कहीं पर संस्कृत, कहीं पर प्राकृत, कहीं पर नीति वाक्य, कहीं पर सिद्धान्त, कहीं पर व्यवहारिकता, कहीं पर अध्यात्म, ऐसी अनेकानेक विशेषताओं को लिए हुए यह महाकाव्य चम्पूमहाकाव्य की श्रेणी में आ जाता है।

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का सम्पूर्ण व्यक्तित्व लिखा गया तो उसके साथ ही उनके गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज का व्यक्तित्व भी इस महाकाव्य में समाहित हुआ है। आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का न केवल व्यक्तित्व किन्तु उनकी चेतन-अचेतन कर्तृत्व का भी इसमें समावेश है। मुनिश्री ने अभी तक हुई समस्त क्षुल्लक, ऐलक, मुनि, आर्यिका दीक्षाओं का वर्णन छन्दोबद्ध रीति से क्रम से किया है। इसके साथ ही आचार्य गुरुदेव की अनेक विशेषताएँ जो उनके व्यक्तित्व में समायी हैं। जैसे सहनशील, स्वावलम्बी, महाप्रभावक, अखण्ड ब्रह्मचारी, दृढ़ संयमी इत्यादि अनेक गुणों का वर्णन 'गुणगण नायक' ग्यारहवें सर्ग में विस्तार से किया है। साथ ही अपने गुरु का १०८ नामों से शताष्ट स्तोत्र लिखकर गुरुभक्ति का अनुपम सोपान प्रस्तुत किया है।

आचार्यश्री के कर्तृत्व में उनके करकमलों से हुए अभी तक के सभी पंचकल्याणकों का वर्णन, दीक्षित शिष्यों का वर्णन, वर्षायोग का वर्णन महाप्रभावक १२ वें सर्ग में छन्दोबद्ध रीति के साथ निबद्ध किया गया है।

इस चम्पू महाकाव्य में १२ सर्ग हैं, जिनमें गद्यशैली का विस्तार तो कह पाना असंभव है किन्तु छंदोबद्ध संस्कृत-प्राकृत भाषा में हुए छंदों की संख्या का परिमाण प्रत्येक सर्ग में इस प्रकार है-

प्रथम सर्ग में १००, द्वितीय सर्ग में ४१, तृतीय सर्ग में २१, चतुर्थ सर्ग में २०, पंचम सर्ग में ५७, षष्ठ सर्ग में ८४, सप्तम सर्ग में ५५, अष्टम सर्ग में ४२, नवम सर्ग में ७२, दशम सर्ग में ८, एकादश सर्ग में ४४, द्वादश सर्ग में २०३ छंद हैं। कुल ७४७ छंद हैं। इस तरह इतने छंदों से यह महाकाव्य परिपूर्ण अलंकृत हुआ है।

संयम स्वर्ण महोत्सव के पावन प्रसंग पर यह अनासक्त महायोगी चम्पू महाकाव्य प्रथम बार प्रकाशित करते हुए जैन विद्यापीठ हर्ष का अनुभव कर रहा है।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

प्रस्तावना

मुनि श्री प्रणम्यसागर मुनिराज द्वारा प्रणीत 'अनासक्त महायोगी' संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं में गद्य-पद्यात्मक शैली में विश्वगुरु आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज और उनके गुरु आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के जीवनवृत्त पर आधारित एक अनुपम एवं अद्वितीय महाकाव्य है। श्री प्रणम्यसागर मुनिराज आचार्य श्री विद्यासागर महाराज के दीक्षित निर्ग्रन्थ शिष्य एवं आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के प्रशिष्य हैं। अपने गुरु एवं दादागुरु के चरित्र को लिखकर मुनिश्री ने जहाँ उनके प्रति असीम श्रद्धा को व्यक्त किया है, वहाँ उनके निर्दोष चारित्र, मनोहारी वक्तृत्व एवं श्रेयस्कर कर्तृत्व के मार्ग पर चलकर आत्मकल्याण का मार्ग भी प्रशस्ततर किया है।

महाकाव्य के नायक आचार्य विद्यासागरजी महाराज निरतिचार निर्ग्रन्थ चारित्रधारियों के महानायक तो हैं ही, ४१६ मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं को इस पञ्चमकाल में मोक्षमार्ग पर लगाने वाले युगनायक भी हैं। ये सभी मोक्षमार्गस्थ श्रमण एवं उत्कृष्ट श्रावक बाल ब्रह्मचारी हैं। इस युग का सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि आज सैकड़ों बाल ब्रह्मचारी भैया एवं बाल ब्रह्मचारिणी बहनें उनसे दीक्षित होने के लिए प्रतीक्षित हैं। आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज की परम्परा के वाहक निर्मल चारित्रधारी परमपूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के दीक्षित मुनि एवं उन्हीं से प्राप्त आचार्य पद का निरतिचार निर्वहन करने वाले निरुपाधि सन्तशिरोमणि निर्ग्रन्थाचार्य हैं। अतः निश्चित तौर पर ऐसे कथानायक के कथानक के पठन/श्रवण से भव्यों का कल्याण हो सकेगा।

अनासक्त महायोगी की महाकाव्यता

'अनासक्त महायोगी' गद्य-पद्यात्मक, संस्कृत-प्राकृत भाषात्मक एक अनुपम ऐतिहासिक महाकाव्य है। सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री भामह ने काव्यभेदों का निरूपण चार मान्यताओं के आधार पर पृथक्-पृथक् चार प्रकार से प्रस्तुत किया है-

१. छन्द के सद्भाव/असद्भाव के आधार पर-(क) गद्य, (ख) पद्य।

२. भाषा के आधार पर-(क) संस्कृत, (ख) प्राकृत, (ग) अपभ्रंश।

३. विषय के आधार पर-(क) ख्यातवृत्त, (ख) कल्पित, (ग) कलाश्रित, (घ) शास्त्राश्रित।

४. स्वरूप के आधार पर-(क) सर्गबन्ध, (ख) अभिनेयार्थ, (ग) आख्यायिका, (घ) कथा, (ङ) अनिबद्ध।

उक्त चारों वर्गीकरणों में स्वरूप के आधार पर किया गया भामह का वर्गीकरण ही प्रायः पश्चाद्वर्ती काव्यशास्त्रियों का आधार बना और वे इसी में कुछ परिवर्तन या परिवर्द्धन के साथ अपना

वर्गीकरण प्रस्तुत करते रहे। भामह ने सर्वप्रथम महाकाव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है–

''सर्गबन्ध महाकाव्य कहलाता है। वह महान् चरित्रों से सम्बद्ध, आकार में बड़ा, ग्राम्य शब्दों से रहित, अर्थसौष्ठव से सम्पन्न, अलंकारों से युक्त, सत्पुरुषाश्रित, मन्त्रणा–दूतप्रेषण–अभिमान–युद्ध–नायकाभ्युदय एवं पञ्च सन्धियों से समन्वित, अनतिव्याख्येय तथा ऋद्धिपूर्ण होता है। चतुर्वर्ग का निरूपण करने पर भी उसमें प्रधानता अर्थ पुरुषार्थ की होती है। उसमें लौकिक आचार तथा सभी रस विद्यमान रहते हैं। वंश, बल, ज्ञान आदि गुणों द्वारा नायक का पहले वर्णन करके उसकी अपेक्षा अन्य के उत्कर्ष कहने की इच्छा से उसका वध वर्णित नहीं करना चाहिए। यदि काव्य में उसकी व्यापकता अपेक्षित न हो तो आरंभ में उसका ग्रहण और प्रशंसा करना व्यर्थ है।''

आचार्य दण्डी ने आरंभ में मंगलाचरण के होने का तथा आख्यान के ऐतिहासिक अथवा सज्जनाश्रित होने का समावेश किया है। आचार्य रुद्रट एवं आचार्य हेमचन्द्र के महाकाव्य लक्षणों में कोई विशिष्ट नवीन बात नहीं है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार नायक को देव या सद्वंश में उत्पन्न क्षत्रिय होना चाहिए, जबकि भामह ने महान् चरित्र को ही महाकाव्य का आवश्यक तत्त्व माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'सद्वंशः क्षत्रियो वापि' महान् चारित्र का ही उपलक्षण है।

महाकाव्य के विविध काव्यशास्त्रियों द्वारा वर्णित लक्षणों का किसी भी एक महाकाव्य में समावेश अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि तत्तत् काव्यशास्त्रियों ने किसी एक महाकाव्य को अपना आदर्श मानकर महाकाव्य के लक्षण का निर्धारण किया है। 'अनासक्त महायोगी' अपने ढंग का एक अनुपम एवं अद्वितीय महाकाव्य है। हम संभावना करते हैं कि इसकी सम्पत्स्यमान प्रसिद्धि के आधार पर कोई काव्यशास्त्री इसके आधार पर महाकाव्य का लक्षण निर्धारित करेगा, जो आगे के काव्यशास्त्रियों को मानक होगा। पूर्ववर्ती महाकाव्य के लक्षणों एवं 'अनासक्त महायोगी' को महाकाव्य मानकर महाकाव्य के कतिपय स्वरूपाधायक तत्त्व इस प्रकार निर्धारित किये जा सकते हैं–

१. महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक या सज्जनाश्रित होना चाहिए, जिसमें यथायोग्य कथानक की पाँचों सन्धियाँ हों तथा वह सर्गबद्ध हो। सर्ग न अति संक्षिप्त हों न अति विस्तृत हों।

२. महाकाव्य गद्य में, पद्य में या गद्य–पद्य दोनों में किसी एक भाषा या एकाधिक भाषाओं में हो सकता है।

३. महाकाव्य के प्रारंभ में त्रिविध मंगलाचरणों–नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक या वस्तुनिर्देशात्मक में से कोई एक मंगलाचरण अवश्य हो। मंगलाचरण के बाद सज्जनप्रशंसा/ दुर्जननिन्दा या दोनों हो सकते हैं।

४. शृंगार, वीर या शान्त रसों में से कोई एक रस अंगी हो, शेष रसों का यथावश्यक कथानकानुसार अंग रस के रूप में प्रयोग हो।

५. देवता, सद्वंश में उत्पन्न क्षत्रिय अथवा कोई महान् चारित्रधारी ही महाकाव्य का नायक हो सकता है। कभी–कभी एक वंश में उत्पन्न अनेक राजा या एक परम्परा के अनेक चारित्रधारी साधु भी नायक हो सकते हैं।

६. महाकाव्य का नामकरण कवि, वर्ण्य विषय अथवा नायक के नाम या गुण के आधार पर होना चाहिए।

७. यथासंभव अलंकारों का समावेश एवं विविध छन्दों का प्रयोग हो तो अच्छा है।

८. चतुर्वर्ग–धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष में से कोई एक महाकाव्य का फल होना चाहिए।

उक्त तत्त्वों के आधार पर देखें तो 'अनासक्त महायोगी' द्वादश सर्गात्मक एक महाकाव्य है। पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों के लक्षणों के आधार पर परखें तो इसमें लगभग महाकाव्य के बहुत से लक्षण घटित होते हैं।

अनासक्त महायोगी का अंगी रस

शब्द और अर्थ काव्य की काया है और रस काव्य की आत्मा। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में ''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'' कहकर रस की महत्ता को प्रतिपादित किया है। रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया को जैनाचार्य अजितसेन ने अलंकार चिन्तामणि में बड़े ही सुन्दर उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया है–

नवनीतं यथाज्यत्वं प्राप्नोति परिपाकत:।
स्थायिभावो विभावाद्यै: प्राप्नोति रसतां तथा॥

अर्थात् जिस प्रकार परिपाक से नवनीत ही घृतपने को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार स्थायीभाव ही विभाव (आलम्बन–उद्दीपन कारण), अनुभाव (चेष्टादि कार्य) एवं व्यभिचारी भावों (हास्य आदि सहायक कारणों) के द्वारा रस रूप में परिणत हो जाता है।

'अनासक्त महायोगी' शान्तरस प्रधान महाकाव्य है। शान्तरस का स्थायी भाव निर्वेद या शम है। निर्वेद को यद्यपि व्यभिचारी भावों में भी प्रथम स्थान प्राप्त है, तथापि क्षणिक वैराग्यरूप भाव ही व्यभिचारी भाव है। सहज ध्रुव वैराग्य तो निर्वेद स्थायी भाव ही है। निर्वेद की व्यभिचारिता भी होने के कारण ही रामचन्द्र–गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में शान्तरस के स्थायीभाव की 'शम' संज्ञा की है।

चतुर्वर्ग में मोक्ष ही मानवजीवन का साध्य है। धर्म, अर्थ एवं काम की पराकाष्ठा विषयभोगों के प्रति विरक्ति उत्पन्न करती है। जैन काव्यों की यह विशेषता रही है कि उनमें साध्य मोक्ष होने से अंगी रस शान्त है। 'अनासक्त महायोगी' में भी अंगी रस शान्त ही वर्णित है। जब विद्याधर मुनि बन जाते हैं तो विद्याधर की माँ विद्याधर (विद्यासागर का घर का नाम) के विषय में विलाप करने लगती है, तब पिता मल्लप्पा जो कहते हैं, उसमें शान्त रस संचरित है–

बहुपुण्णेण हि जीवो गच्छइ सिवमग्गम्मि सगिच्छाए।
जणणी तित्थयराणं जह धण्णा मण्णए लोगे॥
केसिं पि य पुत्ताणं मरणं गब्भे य जादकाले वा।
दुग्घडणाए केसिं केसिं खलु वाहिपीडाए॥
संजोगो सव्वाणं आउगकम्मस्स परवसेणेव।
दिढणेहबधणं जो छिण्णह सो दुल्लहो लोगे॥
इदि चिंतिऊण णिच्चं सोगं मा कुणह पुण्णवंतम्मि।
सोहग्गं मण्णंतो गंतव्वं दंसणेच्छाए॥
सप्परिवारो गच्छइ मल्लप्पा दिट्ठुं जिणस्स रूवस्स।
मे करणिज्जं कज्जं पुत्तकदं ति चिंतिदं तेण॥
(४/१३-१७)

अर्थ—बहुत पुण्य से ही यह जीव अपनी इच्छा से मोक्षमार्ग में जाता है। लोक में जैसे तीर्थंकर की माता ही धन्य मानी जाती है। कितनी ही माँ के पुत्र तो गर्भकाल में ही मर जाते हैं, कितने ही पुत्र दुर्घटना से मर जाते हैं और कितने ही रोग से पीड़ित होकर मर जाते हैं। आयु कर्म की परतन्त्रता से ही सभी जीवों का संयोग होता है। जो पुरुष इस दृढ़ स्नेह के बन्धन को छोड़ता है वह लोक में दुर्लभ है। ऐसा सोचकर पुण्यवान् पुत्र में शोक मत करो। हमेशा अपने सौभाग्य को मानते हुए उस पुत्र के दर्शन की इच्छा से चलना चाहिए। जब मल्लप्पा सपरिवार उस जिनदेव के रूप को देखने के लिए चल देते हैं। वे मन में सोचते हैं कि मेरे करने योग्य कार्य को पुत्र ने कर लिया है।

'गुरुगरिमाख्यान' के अन्तर्गत भूरामल (आचार्य ज्ञानसागर का घर का नाम) ने विवाह के प्रस्ताव को सुनकर जो उत्तर दिया, उसमें शान्त रस की स्थिति दृष्टव्य है—

रागज्वलनपिण्डीव वनिता भासते मम।
यस्यां निपत्यमानो हि ज्ञानशीलानि भस्मयेत्॥२॥
कामात् कामस्य वृद्धित्वं प्रकामं जायते नृणाम्।
दृश्यन्ते नात्र कुत्रापि स्वेन्धनैर्वह्नितर्पणम्॥३॥
प्रशान्तभङ्गगम्भीरे ह्यनेकान्ते महार्णवे।
मज्जनाज्जायते जन्तो-र्जातिमृत्युदवात् शमः॥४॥
भुक्त्वा भोगांश्चिरं नापि मया शान्तिरुपागता।
साम्प्रतं तुच्छभोगेन स्वल्पायुषि किमु भवेत्॥५॥
पुरा दीर्घायुपर्यन्तं चक्रिभिरर्द्धचक्रिभिः।
यथेच्छं सेविता भोगा न तृप्तिं समयासिषुः॥६॥

अर्थ—मुझे तो यह स्त्री रागरूपी अग्नि के पिण्ड की तरह दिखाई देती है, जिस अग्नि में गिर जाने वाले पुरुष के ज्ञान और शील भस्म हो जाते हैं। मनुष्यों की काम से काम की वृद्धि खूब होती है। कहीं भी ऐसा नहीं देखा जाता है कि खूब ईंधन से आग की संतुष्टि हो जाती है। शान्त लहरों से गंभीर अनेकान्तरूपी महासागर में डुबकी लगाने से ही इस प्राणी को जन्म और मृत्यु के दावानल से शान्ति मिल सकती है। चिरकाल तक भोगों को भोगकर भी मुझे शान्ति प्राप्त नहीं हुई है। अब वर्तमान में तुच्छ भोगों से इस अल्प आयु में क्या शान्ति हो सकती है? पहले दीर्घकाल तक चक्रवर्ती और नारायणों के द्वारा इच्छानुसार भोगों का सेवन किया गया है, किन्तु वे भी तृप्ति को प्राप्त नहीं हुए हैं।

'अनासक्त महायोगी' में प्रायः शान्तरस का ही वर्णन है। इस कथावस्तु में शृंगार आदि अनावश्यक होने से उनको स्थान नहीं मिल पाया है।

अनासक्त महायोगी का अलंकार वैभव—

जिस प्रकार कटक-कुण्डल आदि आभूषण शरीर को आभूषित करते हैं, उसी प्रकार अनुप्रास-उपमा आदि अलंकार काव्य के शरीर शब्दार्थ को विभूषित करते हैं। शब्दपरवृत्त्यसहिष्णुत्व एवं शब्दपरिवृत्तिसहिष्णुत्व के आधार पर अलंकार दो प्रकार के होते हैं—शब्दालंकार एवं अर्थालंकार। जहाँ शब्दों के बदल देने से अलंकार की चमत्कृति समाप्त हो जाती है, वहाँ शब्दालंकार होता है और जहाँ शब्द के बदल देने एवं तदर्थक शब्द के रख देने पर अलंकार की चमत्कृति समाप्त नहीं होती है, वहाँ अर्थालंकार होता है। 'अनासक्त महायोगी' में प्रणम्यसागर मुनिराज ने वर्णन को प्रभावक बनाने के लिए तथा परम्परया रस को पुष्ट करने के लिए अनुप्रास-उपमा आदि उभयविध अलंकारों को स्थान दिया है। कतिपय स्थल द्रष्टव्य हैं—

अनुप्रास

अनुप्रास की संयोजना में मुनिराज कुशल हैं। इस सन्दर्भ में एक उदाहरण दृष्टव्य है—

भवाङ्गतो भीर्हतभीर्विलोभी शमी दमी य कृतिकर्मकर्मी।
ज्ञानी प्रदानी स मुनिर्विमानी पात्वात्मनीनः श्रमणः सदा माम्॥

यहाँ पर प्रथम पाद में भ की, द्वितीय पाद में म की, तृतीय पाद में न की और चतुर्थ पाद में पुनः म की आवृत्ति सहज ही पाठकों के हृदय में आनन्द का संवर्धन करने में समर्थ है।

'अनासक्त महायोगी' में उपमा, अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास आदि अर्थालंकारों का आह्लादक एवं मनोरम प्रयोग हुआ है। कतिपय उदाहरण दृष्टव्य हैं—

उपमा

विलासहासैः कुलभूमिभासिनी, वधूरिवात्यन्तसुखप्रदायिनी।
विराजते भारतभूमिरिष्टदा, मुनिप्रवेकस्य न तत्र कष्टता॥

अर्थ—यह भारतभूमि वधू के समान है, अत्यन्त सुख और इष्ट वस्तु को देने वाली है। जिस प्रकार वधू अपने हास-विलास से कुल को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार यह भूमि अपने वैभव-विलास से कुलकरों की भूमि को सुशोभित करती है। यहाँ मुनिवर को कोई कष्ट नहीं होता है।

गहनकाननभ्रामितपान्थस्य दिग्लाभ इव, समराद्देशनिर्गतपवनञ्जस्य विरहित-चक्रयुग्मदर्श इव, गाढनिगूढतिमिरिकाल विकरालरजनीमुखाकुलितस्य सहसातडिद्भ्रंश इव, दिविजोपपादशय्योत्थितस्य देवस्य पूर्वभयविज्ञातावबोध इव, चिरायातराजरोगरुग्णस्य प्राप्तकुशलवैद्य इव, कपटपटमुखनिपतितमहागर्तप्रतीक्षमाणदिग्गजस्य दर्शितापरिचितमुख इव विजयार्धपर्वतसमुत्पन्नविद्यासिद्धितीव्रातुरविद्याधरस्य मन्त्रमात्रज्ञप्ति इव नैगमनयार्पण-परस्य मुक्तिप्राप्तिः इव विद्याधरस्य अद्य सम्यग्विद्याविधेः प्राप्तिः अभवत्। (सर्ग ४)

अर्थ—गहन वन में भटके हुए राहगीर को दिशालाभ के समान, युद्ध के उद्देश्य से निकलते हुए पवनञ्जय को विरह प्राप्त चकवा-चकवी के दर्शन के समान, अत्यन्त घनघोर अन्धकार से व्याप्त रात्रि में दुःखी हुए को अचानक बिजली की चमक के समान, स्वर्ग की उपपाद शय्या से उठे हुए देव को पूर्व भव के हुए बोध के समान, चिरकाल से चले आये राजरोग के रोगी को कुशल वैद्य की प्राप्ति के समान, महागर्त में गिरे हुए और प्रतीक्षा करते हुए दिग्गज को किसी परिचित का मुख दिखाई देने के समान, विजयार्द्ध गिरि पर उत्पन्न विद्यासिद्धि के लिए अत्यन्त आतुर विद्याधर को मन्त्र मात्र की जानकारी के समान, नैगम नय की मुख्यता वाले को मुक्ति की प्राप्ति के समान विद्याधर को आज सम्यक् विद्या विधि की प्राप्ति हुई।

अर्थान्तरन्यास

अपने कथन के समर्थन में श्री प्रणम्यसागर मुनिराज ने अर्थान्तरन्यास अलंकार का चारुतापूर्ण कलात्मक प्रयोग किया है। मंगलाचरण में ही समर्थ्य-समर्थकभाव के रूप में अर्थान्तरन्यास दृष्टव्य है—

तथापि भक्त्या सुगुणानुरागाद्, यथामति स्वाचरणस्य शुद्ध्यै।
करोमि तस्य प्रगुणानुगानं, को नात्मभक्तं दिशतीष्टसिद्धिम्॥११॥

अर्थ—फिर भी उनके श्रेष्ठ गुणों में अनुराग के कारण भक्ति से अपने आचरण की शुद्धि के लिए यथाबुद्धि उनके प्रकृष्ट गुणों का गान करता हूँ। अपने भक्त के लिए इष्ट सिद्धि कौन महापुरुष नहीं देता है। अर्थात् सभी देते हैं।

पुण्येन यस्य प्रभवः प्रभावः, स्वायत्तलाभाय कुतन्त्रहान्यै।
सहस्त्ररश्मेरुदस्य पश्चात्, तमोविनाशः किमु न स्वतः स्यात्॥१२॥

अर्थ—पुण्य योग से जिनका प्रभावशाली जन्म स्वतन्त्रता के लाभ के लिए और कुतन्त्र की

हानि के लिए हुआ है। सच तो है कि सूर्य के उदय होने के पश्चात् क्या अन्धकार का नाश अपने आप नहीं हो जाता है? अर्थात् हो जाता है।

विरोधाभास

'अनासक्त महायोगी' में विरोधाभास अलंकार का प्रयोग बड़ा ही स्वाभाविक रूप से हुआ है–

विरतोऽपि रतो मुक्ति-रमण्यां यो दिगम्बरः।
सुखेदुःखे समानो न पावक इव पावकः॥

अर्थ—विरक्त होकर के भी जो दिगम्बर मुनि मुक्तिरूपी रमणी में रत हैं, सुख-दुःख में समान होते हुए पावक की तरह नहीं हैं किन्तु पावक (पवित्र) हैं अर्थात् जैसे अग्नि सभी को समान रूप से जला देती है वैसे सबके लिए समान रूप से नष्ट करने वाले नहीं हैं।

यहाँ आपाततः विरत एवं रत में, अग्नि एवं पावक में विरोध प्रतीत होता है किन्तु यहाँ विरोध नहीं अपितु विरोध जैसा प्रतीत होने के कारण विरोधाभास अलंकार है।

अनासक्त योगी में छन्द योजना

श्री प्रणम्यसागर मुनिराज ने 'अनासक्त महायोगी' में गद्य के साथ अपने अभिप्राय को चमत्कृति एवं प्रभावपूर्ण ढंग से उपस्थित करने के लिए अधिक सुकर होने से पद्यों का भी आश्रय लिया है। उन्होंने भाषा को संगीतमय एवं भावों को सशक्त बनाने के लिए प्राकृत में गाथा छन्द के साथ संस्कृत में अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, त्रोटक, द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, मालिनी, शार्दूलविक्रीडित छन्दों के साथ हिन्दी के दोहा, चौपाई का भी प्रयोग किया है। इससे संस्कृत को नवीन छन्दों का उपहार मिला है।

अनासक्त महायोगी की भाषा

'अनासक्त महायोगी' में श्री प्रणम्यसागर महाराज ने संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग करके यहाँ यह संदेश देने का प्रयास किया है कि जैन सन्त भाषागत संकीर्ण बन्धनों से बँधे नहीं हैं, वहाँ यह भी प्रकट कर दिया है कि भारत की सार्वभौम भाषा के रूप में वे प्राकृत भाषा के साथ बौद्ध, जैन एवं वैदिकों की साहित्य साधना की आधारभूत संस्कृत भाषा के प्रति भी आस्थावान् हैं। वास्तव में वे भाषागत संकीर्णता से दूर एक समृद्ध एवं ऐश्वर्यशाली साहित्यिक परम्परा के पोषक हैं।

'अनासक्त महायोगी' में प्रणेता ने संस्कृत एवं प्राकृत दोनों ही भाषाओं में कोमल-कान्ति-पदावली का प्रयोग किया है। इसके साथ भाषा में सहजता, सुबोधता एवं हृदयग्राहिता का गुण भी विद्यमान है। गुरु ने विद्यासागर को अलंकार शास्त्र के ज्ञान कराते हुए संस्कृत भाषा को विद्वद्भोग्या कहा है। इस प्रकरण में भाषा की सहजता, सुबोधता एवं हृदयग्राहिता दृष्टव्य है–

संस्कृत–''पश्य विद्यासागर! शब्दालङ्कारस्तु शब्दानां गणितः। अर्थालङ्कारेण सहैव जायते आनन्दः। क्वचित्तु शब्दालङ्कारेऽपि भावगाम्भीर्यं दृश्यते। यथा–ये साक्षरा भवन्ति ते विलोमरूपेण राक्षसा भवन्ति। इति संस्कृतभाषा विद्वद्भोग्या स्यात्।'' (सर्ग–८)

क्षुधा मता वै वपुषश्च तृष्णा, लाभादिपूजा मनसश्च तृष्णा।
द्वयी हि येषां नितरां निरस्ता, ते देवपूज्या भुवि सन्ति देवाः॥
(९/२७)

प्राकृत– ''एगदा बंभचारीसिस्सो गुरुणा सह गोट्ठीए परिचरियट्ठुं गच्छदि। मज्झपहे तेण एगो उद्दण्डो गोवच्छो दिट्ठो। गुरुरक्खणट्ठं अण्णो को वि उवाओ णत्थित्ति सहसा चिंतिदूण अग्गे पडिदघासपूरकंडगो तेण णिक्खित्तो। तदो उवसमभावगदो सो तं खादिदुं लग्गो। तदा अण्णो कंडगो वि पक्खित्तो। इदि विवेगेण उवसग्गणिवारणं दिट्ठूण गुरुणा मंदहासेण सो पसंसिदो।'' ५/पैरा८

संकप्पो खलु सुवदं संकप्पवसेण दु पुण्णपावं च।
जमपालसमो णीचो पुज्जो जादो सुदेवेहिं॥
(२/७)

उक्त उदाहरणों में भाषा की सहजता, सुबोधता के साथ पाठक तक संप्रेषणीयता का अनुपम संगम देखा जा सकता है।

अनासक्त महायोगी में सूक्तियाँ एवं लोकोक्तियाँ

'अनासक्त महायोगी' सूक्तियों एवं लोकोक्तियों का तो भाण्डागार है। इसकी सूक्तियाँ एवं लोकोक्तियाँ मुक्तामाला की मध्यमणि के समान प्रतीत होती है। कतिपय सूक्तियाँ लोकोक्तियाँ इस प्रकार हैं–

सहस्त्ररश्मेरुदयस्य पश्चात् तमोविनाशः किमु न स्वतः स्यात्।

अर्थ–सूर्य के उदय होने के पश्चात् क्या अन्धकार का नाश अपने आप नहीं हो जाता है?

अध्रुवं सुखदुःखं वा घटीयन्त्रस्य वर्तनम्।

अर्थ–सुख अथवा दुःख अध्रुव है, जो घटीयन्त्र–रेहट के समान चलते रहते हैं।

स किं पुत्रो यो दुःखयति मातरम्।

अर्थ–जो माता को दुःखी करता है, वह कुत्सित पुत्र है या क्या वह पुत्र है?

ज्ञानं रागविरोधकम्।

अर्थ–ज्ञान राग का विरोधी है।

दृश्यते नात्र कुत्रापि स्विन्धनैर्वह्नितर्पणम्।

अर्थ–कहीं भी खूब ईंधन से अग्नि की संतुष्टि नहीं देखी जाती है।

दयाप्रधानं जिनदेवधर्मः।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् का धर्म दयाप्रधान है।

अणुकूलं पडिमूलं होहिदि अग्गं जीविदे णियमा।
तस्स णिमित्तं पुव्वं दीसदि समणेहि सगुणेहिं॥

अर्थ—अनुकूल या प्रतिकूल जो जीवन में आगे होगा, उसका निमित्त पहले ही स्वप्न या शकुनों से दिख जाता है।

धम्मस्स मूलं खु दयापवुत्ती।

अर्थ—दया में प्रवृत्ति करना धर्म का मूल है।

जेसिं दया णत्थि ते ण मणुस्सा।

अर्थ—जिनमें दया नहीं है, वे मनुष्य नहीं हैं।

जत्थ रुई तत्थ मग्गो वि।

अर्थ—जहाँ रुचि है, वहाँ मार्ग भी होता है।

मणाणुगूलं परिट्ठिदिभवणं खलु भग्गं।

अर्थ—मन के अनुकूल परिस्थिति का होना ही भाग्य है।

दुक्क रे कज्जे हि साहसिका आणंदंति।

अर्थ—साहसी लोग दुष्कर कार्य में ही आनन्दित होते हैं।

कुरीतियों का त्याग

रचयिता ने नायक विद्यासागर (विद्याधर) की बाल्यावस्था के वर्णन के माध्यम से दीपावली पर पटाखे चलाने की कुरीति से देह एवं धन की हानि का वर्णन करके तथा नायक द्वारा दोबारा ऐसा कार्य न करने की प्रतिज्ञा कराके इस कुरीति के प्रति अपनी नाराजगी प्रकट की है। उन्होंने लिखा है कि एक बार विद्याधर छोटे पटाखे खरीदकर ले आया। प्रयोग विधि किस प्रकार की है–वह नहीं जानता था। उसने उल्टा पकड़ कर जला दिया, जिससे उसका अपना हाथ ही आग से जल गया। उसने सोचा–अरे यह क्या हो गया? एक ओर तो पैसे खर्च हो गये और दूसरी ओर हाथ भी जल गया। ...भविष्य में उन्होंने देह और धन की हानि का विचार दोबारा ऐसा कार्य नहीं किया।

यथार्थ वर्णन

कवि ने 'अनासक्त महायोगी' की रचना में सतत् सावधानी रखी है कि आचार्य विद्यासागर महाराज एवं उनके गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज का चरित्र वर्णित करते हुए किसी भी काल्पनिक घटना का समावेश न हो जाये तथा वास्तविकता की रक्षा हो। इसमें वर्णित घटना में तथा काल, पात्र नाम आदि वास्तविक हैं। इस प्रकार कहीं-कहीं भले ही काव्य कम इतिहास अधिक प्रतीत होने लगा

है, पर उन्होंने यथार्थ की रक्षा की है।

क्वचित्-क्वचित् भाषा की दृष्टि से स्खलन भी लगता है, परन्तु चन्द्रमा के लाञ्छन के समान वह सन्त की भाषा के सौन्दर्य को बढ़ाता ही है, घटाता नहीं है। 'अनासक्त महायोगी' के इस अध्ययन के आधार पर हम अनायास ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि श्री प्रणम्यसागर मुनिराज ने संस्कृत एवं प्राकृत को आधार बनाकर अपने गुरु श्री विद्यासागरजी महाराज एवं दादागुरु श्री ज्ञानसागरजी महाराज का यथार्थ चरित्र वर्णित करके इक्कीसवीं शताब्दी के संस्कृत-प्राकृत साहित्य को स्मरणीय उपहार देकर जिस ऐश्वर्यशाली साहित्यिक परम्परा की निर्मिति की है, वह न केवल जैन परम्परा में अपितु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की परम्परा में सतत् स्मरणीय बनी रहेगी। ऐसे उदात्त, शोभन एवं उत्कृष्ट लेखन के लिए परम पूज्य मुनिराज श्री प्रणम्यसागरजी महाराज के चरण कमलों में कोटिशः नमोऽस्तु...।

डॉ० जयकुमार जैन

अध्यक्ष-श्री अ०भा०दि०जैन विद्वत्परिषद।

अन्तर्भाव

महापुरुषों के जीवन चरित्र, जीवन में एक आध्यात्मिक ऊर्जा का संचार करते हैं। वैसे तो संसार में, उन्हें महापुरुष कहा जाता है, जो किसी अन्याय की लड़ाई लड़े हों, जिन्होंने कुरीतियों को दूर करने के लिए कोई आंदोलन किए हों, जो विपरीत परिस्थितियों में आगे बढ़ते हुए, किसी उच्च पद पर आसीन हुए हों, कोई किसी विधा में अग्रणी हो गया हो, कोई लेखक हो, चिन्तक हो, चित्रकार हो, खिलाड़ी हो, नायक हो, राजनेता हो इत्यादि। देश-भक्त, धर्म-भक्त, परोपकारी महापुरुषों से प्रायः सभी परिचित रहते हैं। पर इन सबमें एक मुख्य बात यह है, कि कोई भी महान् व्यक्ति किन्हीं महान् आदर्शों से शिक्षा लेकर ही महान् बनता है। प्रत्येक महान् व्यक्ति किसी न किसी अन्य व्यक्ति से प्रभावित होता है। उसे अपना आदर्श बनाता है और वैसा ही जीवन जीने का प्रयास करता है, यह भी लिखे गए जीवन चरित्र का प्रभाव है।

देश-भक्त जार्ज वाशिंगटन के जीवन चरित्र को पढ़कर ही अब्राहमलिंकन देश-भक्त बने थे, जो अमरीका के राष्ट्रपति भी बने। स्वयं इस भारतदेश में अंग्रेजों से स्वतन्त्रता दिलाने के लिए, जो महात्मागाँधी ने प्रयास किए, उनकी जीवनी भी अनेकों के लिए प्रेरणादायी बनी। महात्मागाँधी के जीवन पर भी श्रीमद्रायचन्दजी, टालस्टाय आदि के जीवन का गहरा प्रभाव रहा है। इसीलिए जीवन चरित्र की महत्ता को किसी कवि ने बड़ी अच्छी शैली में इस प्रकार दर्शाया है कि-

Lives of great men all remind us, We can make our lives sublime and deprring leave behind us, Foot Prints on the sands of time.

तात्पर्य यही है कि महान् पुरुषों के जीवन चरित्र हमें याद रखने चाहिए, इससे हम अपना जीवन भी महान् बना सकते हैं और अपना नाम हम इतिहास में जोड़ सकते हैं, बाद में आने वालों के लिए यह पदचिह्नों का काम करते हैं।

जब लौकिक चरित्र इतने प्रेरणादायी होते हैं, तब अलौकिक पुरुषों के जीवन चरित्र का तो कहना ही क्या? पूर्वाचार्यों ने तीर्थंकर आदि महापुरुषों के जीवन-चरित्र पुराण-साहित्य के माध्यम से लिखे हैं। जैन-दर्शन में महापुरुष उन्हें कहते हैं, जो अपनी आत्मा को मोक्षमार्ग में लगाते हैं और संसार से मुक्ति प्राप्त करते हैं। जैन-दर्शन में प्रसिद्ध आचार्यों आदि के चरित्र बहुत कम उपलब्ध होते हैं। आचार्य भद्रबाहु के जीवन चरित्र के बाद शायद आचार्य शान्तिसागरजी महाराज का ही जीवन चरित्र लिखा गया जो 'चारित्रचक्रवर्ती' के नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

वर्तमान में आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज एक महान्, अतिविशिष्ट आचार्य हैं, जिनके

जीवन की निस्पृहता, चर्या की निर्दोषता, बालयति संघ का अनुशासन, शिक्षित युवा-युवतियों को ब्रह्मचर्य की राह पर चलाना, अध्यात्म-सिद्धान्त का एक अपूर्व जोड़, लोककल्याण के लिए जनहितकारी कार्य, पशु-रक्षा और संवर्धन का अभियान, संस्कारित स्त्री-जगत् के लिए अद्‌भुत सोच, भारत की संस्कृति के बचाव के लिए राजनेताओं को समय-समय पर मार्ग-दर्शन, राष्ट्र-भाषा हिन्दी के लिए समर्पण, प्राचीन तीर्थों का प्राचीन शैली में पाषाण के जिनायतनों का निर्माण, सरकारी सेवाओं में नियुक्ति हेतु प्रशिक्षण संस्थानों की स्थापना आदि न जाने कितने कार्य करते हुए, कभी अपने षट्‌आवश्यकों में शिथिलता के बिना एक विशाल महासंघ का संचालन, आपको सहज ही एक महानायक के रूप में प्रतिष्ठित करने के साथ, आचार्य परमेष्ठी की गरिमा को बढ़ाने वाला, एक उच्च कीर्तिमान स्थापित करता है।

जैसे आचार्य गुरुदेव का जीवन महान् एवं प्रेरणादायी है, वैसे ही आपके गुरु आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज का जीवन जिनवाणी के प्रति समर्पण, उच्चकोटि के साहित्य निर्माण, सहज-सरल, विनम्रता आदि गुणों के धनी, अपने शिष्य को स्वयं आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके, उनसे समाधि की याचना करना और क्रमशः भक्तप्रत्याख्यानमरण अंगीकार करके आधि-व्याधि-उपाधि से रहित निर्दोष समाधिमरण करना महान् आचार्यों की श्रेणी में, आपको सबसे अग्रणी प्रतिष्ठापित कर देता है।

ऐसे महान् द्वय आचार्यों के बारे में मैंने कुछ लिखा, मानो लिखते हुए भी उनके जीवन चरित्र को गहराई से अनुभूत करने का अवसर मिला, इससे बढ़कर एक आत्मसाधक की उपलब्धि और क्या हो सकती है? यह चरित्र लिखने का भाव सहसा तब उत्पन्न हुआ जब मैं आचार्यसंघ में ही रहकर अध्ययन कार्य में मग्न रहता था। तब संस्कृत भाषा में वैदिक धर्मानुयायियों के सरल भाषा में लिखे हुए संस्मरण और कुछ लघु जीवन चरित्र पढ़े। उन लघु पुस्तिकाओं को पढ़कर मन में भाव आया कि संस्कृत में ऐसे ही सरल भाषा में आचार्य परमेष्ठी के वे संस्मरण लिखने चाहिए, जो विद्वानों के साथ घटित हुए हैं। उस समय पर आचार्यश्री के सम्पूर्ण जीवन चरित्र पर कुछ लिखना है, ऐसा भाव भी नहीं था। मात्र विद्वानों के साथ घटी घटनाओं को लिखने का भाव था, ये घटनायें आचार्यश्री के ऊपर लिखे किसी भी जीवन चरित्र (विद्याधर से विद्यासागर आदि) में उपलब्ध नहीं होती थी। संघ में आचार्यश्री के साथ सदैव रहने वाले उन्हीं के लघु भ्राता वर्तमान में मुनिश्री योगसागरजी हैं, उन्हीं के पास जाकर मैंने निवेदन किया तो उन्होंने भी सहर्ष हमें समय देकर संस्मरणों से अवगत कराया। जब महाराजश्री बताते थे, तो ऐसा लगता था, मानो जैसे अभी-अभी साक्षात् कुछ घटित हुआ हो। ई० सन् सहित उन्हें प्रत्येक विद्वानों के नाम सहित घटना सुनाते हुए, सुना तो मैं उनकी स्मृति पर चकित रह गया।

जब विद्वानों के संस्मरण सुनने और लिखने में मुझे आनन्द आया, तो मेरा मन हुआ कि क्यों

न आचार्यश्री का पूरा जीवनवृत्त प्रारम्भ से लिखा जाये। मुनि श्रीयोगसागरजी ने इसके लिए भी समय दिया। यह बात अमरकंटक चातुर्मास २००६ ई० सन् की है। चातुर्मास के बाद भी यह कार्य चलता रहा। फिर जबलपुर मढ़ियाजी में शीतप्रवास के दौरान किसी ने वह डायरी गायब कर दी। इस बात से मैं थोड़ा खेद-खिन्न हुआ। उस डायरी के कुछ पन्नों की ही फोटोकॉपी मेरे पास शेष बची थी। जब मैंने कुछ संघस्थ मुनियों को इस बारे में कहा, कि ऐसा हुआ है, तो उन मुनिराजों ने मुझे साहस बँधाया कि आप तो इस कार्य को पुनः भी कर सकते हैं, कोई डायरी या कॉपी हरण कर सकता है, ज्ञान नहीं। फिर भी मेरा मन तुरन्त उस कार्य को पूर्ण करने का नहीं हुआ। मेरे मन में आया कि आचार्य महाराज के जीवनवृत्त को लगभग पूर्ण करके भी मैं अधूरा रह गया, इतनी मेहनत व्यर्थ चली गई। साहित्य पढ़ने में मेरी रुचि थी ही, सो मैं ग्रीष्मकाल में कुण्डलपुर में जयोदय आदि महाकाव्य पढ़ रहा था। उस साहित्य को पढ़ने से मन में एक स्फूर्ति उत्पन्न हुई। आचार्य श्रीज्ञानसागरजी की लेखनी और उनके महाकाव्य देखकर लगा, कि इन महामनीषियों ने कितना श्रम, कितना समय, कितना चिन्तन-मन्थन किया होगा, तब इतने बड़े-बड़े महाकाव्यों की रचना की और उन पर स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी। मेरी थोड़ी सी मेहनत यदि काम न आई तो क्या हुआ? फिर लिखने का मन हुआ, तो मन में विचार आया कि मैं अब आचार्य श्रीज्ञानसागरजी के जीवन चरित्र को लिखूँगा। नया काम करने के लिए मन तैयार हो गया। फिर महाकाव्यों की शैली गद्य-पद्य रचनामयी चम्पूकाव्य की तरह उनका चरित्र लिखना प्रारम्भ किया। वह पूर्ण हुआ तो मन में विचार आया कि आचार्य गुरुदेव विद्यासागरजी के जीवन विषय में कुछ तो लिखा रखा है, कुछ और लिख दें, तो दोनों ही महान् आचार्यों का एक सम्पूर्ण जीवनवृत्त बन जायेगा। यह कार्य भी संघ से पृथक् विहार करके सिरोंज चातुर्मास २००९ में पूर्ण कर लिया। पश्चात् यह कार्य पूर्ण होकर रखा रहा। मैं भी निश्चिन्त होकर अन्य साहित्य सृजन के कार्य में लगा रहा।

ई० सन् २०१४ में मुनि श्री योगसागरजी का पुनः संकेत मिला, कि उस जीवन चरित्र को व्यवस्थित करना है, तो आचार्यश्री के अनेक कार्य-कलापों के परिचय के साथ अन्त के सर्ग भी तैयार किए और इस तरह आचार्यश्री की ५०वीं दीक्षा जयन्ती पर, उनके महान् संयमोत्सव दिवस पर अपने संयम में अधिकाधिक वृद्धि हेतु मंगलकामना करता हुआ उनके करकमलों में यह एक लघु भेंट प्रदान करके, मैं अपने जीवन को सार्थक अनुभव कर रहा हूँ। आचार्यपरमेष्ठी के गुणों का गान असंभव है, उनके द्वारा जो धर्म की प्रभावना हुई, उसी से हम कहते हैं, कि समीचीन मार्ग का निर्दोष रूप से उन्होंने जो उद्योतन किया है, इसी से मुक्ति उनके हाथ में स्थित है। आचार्य गुणभद्रदेव के शब्दों में-

चिन्तामणिसमाः केचित्प्रार्थितार्थप्रदायिनः।
दुर्लभा धीमतां पूज्या धन्या धर्मप्रकाशकाः॥

रुचि: प्रवर्तते यस्य जैनशासनभासने।
हस्ते तस्य स्थिता मुक्तिरिति सूत्रे निगद्यते॥
(उ० पु० ७६/४२१-४२२)

अर्थात् चिन्तामणि रत्न के समान अभिलषित पदार्थों को देकर धर्म की प्रभावना करने वाले, बुद्धिमानों के द्वारा पूज्य, धन्य पुरुष इस संसार में दुर्लभ हैं। जैनशासन की प्रभावना करने में जिनकी रुचि प्रवर्तमान है, मानो मुक्ति उसके हाथ में ही स्थित है, ऐसा जिनागम में कहा है।

अभी ई० सन् २०१६ के भोपाल चातुर्मास में आचार्य महाराज मध्यप्रदेश विधानसभा में मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री शिवराजसिंह चौहान आदि गणमान्य नेताओं के निवेदन पर विधानसभा में उपदेशार्थ पहुँचे। दिनांक २८.०७.२०१६ दिन गुरुवार को हुए उपदेश में आपने अहिंसा, दयाधर्म का उद्घोष किया। भारत देश के नेता भगवान महावीर के अपरिग्रह के सिद्धान्त को अपनाये और जैसे वृक्ष की जड़ में पहुँचा भोजन पूरे वृक्ष में वितरित किया जाता है, इसी तरह धन-अनाज आदि सभी के लिए समान रूप से वितरित होना चाहिए। भारत के विद्यार्थी यहीं रहकर भारत का विकास करें और हिन्दी भाषा को अपनायें इत्यादि सूत्रों से आपने जैनशासन की महती प्रभावना की है। आपके ही सदुपदेश से मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री ने प्रान्तीय स्तर पर होने वाले सभी कार्यों की लेखन विधा में हिन्दी भाषा को ही अपनाने का निर्णय लिया है। 'दयोदय' नाम की गौशालाओं का प्रभाव इतना अधिक शासन पर पड़ा कि एक 'दयोदय एक्सप्रेस' के नाम से रेलगाड़ी निरन्तर गमन करती है। अभी मध्यप्रदेश शासन ने आपके नाम पर गौशाला की योजना क्रियान्वित की है।

अन्त में इतनी ही भावना करता हूँ कि-

यावत्प्रतिष्ठत इला गगनाम्बुराशि-
मार्तण्ड कारित दिवा रजनी विभाग:।
यावत्प्रवन्द्यजिनचैत्यवृषञ्च भूमौ
तावत्तनोतु सुगुरोर्गुणकीर्तिगानम्॥

जब तक इस धरती पर पृथ्वी, आकाश, समुद्र सूर्य के द्वारा किया हुआ दिन और रात्रि का विभाजन चल रहा है, जब तक इस पृथ्वी पर वंदनीय जिनचैत्य और जिनधर्म है, तब तक श्रेष्ठ गुरु के गुणों की कीर्ति का गान होता रहे।

मुनि प्रणम्यसागर

ज्ञानाष्टकम्

(वसन्ततिलका छन्द)

श्रीमच्चातुर्भुजभुजारमणास्पदीया
सौभाग्यवद्-घृतवरी तनयश्च तस्याः।
योऽभूत् कवित् कविवरो यमधर्ममस्तु
तज्ज्ञानसागरयतेः पदयोर्नमोऽस्तु ॥१॥

अन्वयार्थ—(श्रीमच्चतुर्भुजभुजारमणास्पदीया) श्रीमान् चतुर्भुज की भुजाओं में रमण के स्थान को प्राप्त **(च)** तथा **(सौभाग्यवद्घृतवरी)** सौभाग्यवती घृतवरी स्त्री थी **(तस्याः)** उनका **(तनयः)** पुत्र **(यः तु)** जो कि **(कवित्)** आत्मा को जानने वाला **(कविवरः)** कवियों में श्रेष्ठ **(यमधर्ममः)** यमरूपी धर्म की लक्ष्मी वाला **(अभूत्)** था **(तज्ज्ञानसागरयतेः)** उन श्रीज्ञानसागरयति के **(पदयोः)** चरणों में **(नमोऽस्तु)** मेरा नमस्कार हो।

अर्थ—श्रीमान् चतुर्भुज की भुजाओं में रमण के स्थान को प्राप्त तथा सौभाग्यवती घृतवरी स्त्री थी। उनका पुत्र जो कि आत्मा को जानने वाला, कवियों में श्रेष्ठ, यमरूपी धर्म की लक्ष्मी वाला था, उन श्री ज्ञानसागर यति के चरणों में मेरा नमस्कार हो।

भावार्थ—श्रेष्ठी चतुर्भुज और माता घृतवरी के श्रेष्ठ पुत्र पं. भूरामल जी हुए हैं, वही आगे जाकर श्री ज्ञानसागर आचार्य कहलाए।

वीरोदयप्रभृतयो भुवि यस्य शस्ता
ग्रन्थाश्च लक्षणभृता विदुषां प्रसक्ताः।
व्याहन्ति मंक्षु तिमिराररिवाघवस्तु
तज्ज्ञानसागरयतेः पदयोर्नमोऽस्तु ॥२॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिनके **(ग्रन्थाः)** ग्रन्थ **(वीरोदय प्रभृतयः)** वीरोदय आदि **(भुवि)** पृथ्वी पर **(शस्ताः)** व्याकरण, साहित्य आदि के लक्षणों से परिपूर्ण हैं, तथा **(विदुषां प्रसक्ताः)** विद्वानों को आसक्त करने वाले हैं **(तु)** और जो **(मंक्षु)** शीघ्र ही **(तिमिरारिःइव)** सूर्य के समान **(अघवस्तु)** पाप अन्धकाररूपी पदार्थों का **(व्याहन्ति)** नाश करने वाले हैं **(तज्ज्ञानसागरयतेः)** उन श्री ज्ञानसागर मुनिराज के **(पदयोः)** चरणों में**(नमोऽस्तु)** नमस्कार हो।

अर्थ—जिनके ग्रंथ वीरोदय आदि पृथ्वी पर प्रशंसनीय है, व्याकरण, साहित्य आदि के लक्षणों से परिपूर्ण तथा विद्वानों को आसक्त करने वाले हैं और जो शीघ्र ही सूर्य के समान पाप अन्धकाररूपी पदार्थों का नाश करने वाले हैं, उन श्री ज्ञानसागर मुनिराज के चरणों में नमस्कार हो।

भिन्नार्त्तरौद्रहृदयो जननार्त्तदूरो
मिथ्याप्रपञ्चरहितः शुभभावपूरः।
शुद्धात्मवृत्तिरसिकः सुखमात्मनोऽस्तु
तज्ज्ञानसागरयतेः पदयोर्नमोऽस्तु ॥३॥

अन्वयार्थ—(भिन्नार्त्तरौद्रहृदयः) जिनका हृदय आर्त्त, रौद्रध्यान से रहित है, **(जननार्त्तदूरः)** जो जन्म के दुःखो से दूर हैं **(मिथ्याप्रपञ्चरहितः)** जो मिथ्या प्रपञ्चों से रहित हैं, **(शुभभावपूरः)** जो शुभभावों से वृद्धिंगत हैं **(शुद्धात्मवृत्तिरसिकः)** शुद्धत्मा में प्रवृत्ति करने में जिन्हें रस आता है **(तज्ज्ञानसागरयतेः)** उन श्री ज्ञानसागर आचार्य के **(पदयोः)** चरणों में **(नमोऽस्तु)** मेरा नमन हो ताकि **(आत्मनः)** मेरी आत्मा को **(सुखं)** सुख **(अस्तु)** हो।

अर्थ—जिनका हृदय आर्त्त, रौद्रध्यान से रहित है, जो जन्म के दुःखों से दूर है, जो मिथ्या प्रपंचों से रहित हैं, जो शुभभावों से वृद्धिंगत हैं, शुद्धात्मा में प्रवृत्ति करने में जिन्हें रस आता है, उन श्री ज्ञानसागर आचार्य के चरणों में मेरा नमन हो ताकि मेरी आत्मा को सुख हो।

पंचाक्षकृष्णफणिने पृथुवैनतेयः
कामानलस्य जलदो जिनभानुभा यः।
गङ्गापवित्रजलवद्विमलं मनस्तु
तज्ज्ञानसागरयतेः पदयोर्नमोऽस्तु ॥४॥

अन्वयार्थ—(यः) जो **(पंचाक्षकृष्णफणिने)** पाँच इन्द्रियरूपी काले सर्प के लिए **(पृथु-वैनतेयः)** विशाल गरुड़ के समान हैं **(कामानलस्य)** जो काम-वासनारूपी अग्नि को बुझाने के लिए **(जलदः)** मेघ के समान हैं **(जिनभानुभा)** जिनकी आभा जिनेन्द्र भगवान् रूपी सूर्य के समान है **(मनः तु)** तथा जिनका मन **(गङ्गापवित्रजलवत्)** गंगा के पवित्र जल के समान **(विमलं)** निर्मल है, **(तत् ज्ञानसागरयतेः)** उन श्री ज्ञानसागर आचार्य के **(पदयोः)** चरणों में **(नमः अस्तु)** मेरा नमन हो।

अर्थ—जो पाँच इन्द्रिय रूपी काले सर्प के लिए विशाल गरुड़ के समान हैं, जो काम-वासना रूपी अग्नि को बुझाने के लिए मेघ के समान हैं, जिनकी आभा जिनेन्द्र भगवान् रूपी सूर्य के समान है तथा जिनका मन गंगा के पवित्र जल के समान निर्मल है, उन श्री ज्ञानसागर आचार्य के चरणों में मेरा नमन हो।

भूरामलेऽपि विमलः कलिरूढिपङ्कज्
ज्ञानार्णवे विमलचिन्मयभङ्गलीनः।
यस्मात् सदैव कुशलं जगतां समस्तु
तज्ज्ञानसागरयतेः पदयोर्नमोऽस्तु ॥५॥

अन्वयार्थ—(भूरामले अपि) जो ब्रह्मचारी अवस्था में पं० भूरामल होने पर भी **(कलिरूढिपङ्कात्)** कलिकाल सम्बन्धी रूढ़ि के कीचड़ से **(विमल:)** रहित रहे, जो **(ज्ञानार्णवे)** श्री ज्ञानसागर होने पर **(विमलचिन्मयभङ्गलीन:)** निर्मल चिन्मय की तरंगों में लीन रहे **(यस्मात्)** जिनसे **(सदैव)** हमेशा **(जगतां)** इस जगत् का **(कुशलं)** कल्याण **(समस्तु)** होता हो **(तत् ज्ञानसागरयते:)** उन श्री ज्ञानसागर आचार्य के **(पदयो:)** चरणों में **(नम:अस्तु)** मेरा नमस्कार हो।

अर्थ—जो ब्रह्मचारी अवस्था में पं० भूरामल होने पर भी कलिकाल सम्बन्धी रूढ़ि के कीचड़ से रहित रहे, जो श्री ज्ञानसागर होने पर निर्मल चिन्मय की तरंगों में लीन रहे, जिनसे हमेशा इस जगत् का कल्याण होता हो उन श्री ज्ञानसागर आचार्य के चरणों में मेरा नमस्कार हो।

चित्ते दया विनिवसत्यभिभूतमेति
दुष्टापकीर्तिरघताऽपि विभीतिमेति।
आचार्यवर्य! समतासुखवस्तु नस्तु
तज्ज्ञानसागरयते: पदयोर्नमोऽस्तु ॥६॥

अन्वयार्थ—(चित्ते) जिनके चित्त में **(दया)** दया **(विनिवसति)** रहती है **(दुष्टापकीर्ति:)** दुष्ट अपयश जिनसे **(अभिभूतं)** पराजय को **(एति)** प्राप्त होता है **(अघता)** पाप भाव **(अपि)** भी जिनसे **(विभीतिं)** भय को **(एति)** प्राप्त होता है **(आचार्यवर्य!)** ऐसे हे आचार्यश्रेष्ठ **(न:)** हमको **(तु)** भी **(समतासुखवस्तु)** समता सुख की वस्तु मिले अत: **(तत् ज्ञानसागरयते:)** उन श्री ज्ञानसागर आचार्य के **(पदयो:)** चरणों में **(नम: अस्तु)** मेरा नमस्कार हो।

अर्थ—जिनके चित्त में दया रहती है, दुष्ट अपयश जिनसे पराजय को प्राप्त होता है, पाप भाव भी जिनसे भय को प्राप्त होता है, ऐसे हे आचार्य हमको भी समता सुख की वस्तु मिले, अत: उन श्री ज्ञानसागर आचार्य के चरणों में मेरा नमस्कार हो।

यत्नात् शशास वृषवीरशिवार्यसंघे
सिद्धान्तसंस्कृतकथादिसुशास्त्रसंघम्
पूज्योऽपि योऽत्र मृदुतालयकेतुरस्तु
तज्ज्ञानसागरयते: पदयोर्नमोऽस्तु ॥७॥

अन्वयार्थ—(वृषवीरशिवार्यसंघे) श्री आचार्य धर्मसागर, वीरसागर एवं शिवसागरजी के संघ में **(सिद्धान्तसंस्कृतकथादिसुशास्त्रसंघम्)** सिद्धान्त, संस्कृत, प्रथमानुयोग आदि श्रेष्ठ शास्त्रों को **(यत्नात्)** यत्नपूर्वक **(शशास)** जो पढ़ाते थे। **(य:)** जो **(अत्र)** इस लोक में **(पूज्य: अपि)** पूज्य होते हुए भी **(मृदुतालयकेतु:)** मृदुतारूपी महल की पताका **(अस्तु)** हैं **(तत् ज्ञानसागरयते:)** उन श्री ज्ञानसागर आचार्य के **(पदयो:)** चरणों में **(नम: अस्तु)** मेरा नमस्कार हो।

अर्थ—श्री आचार्य धर्मसागर, वीरसागर एवं शिवसागरजी के संघ में सिद्धान्त, संस्कृत,

प्रथमानुयोग आदि श्रेष्ठ शास्त्रों को यत्नपूर्वक जो पढ़ाते थे। जो इस लोक में पूज्य होते हुए भी मृदुता रूपी महल की पताका हैं, उन श्री ज्ञानसागर आचार्य के चरणों में मेरा नमन हो।

त्वं चित्तगेहकमलं मुनिप! प्रविश्य
सद्ध्यानतोरणसमागत आप्रतिष्ठ।
भिक्षाचरोऽपि विददाति सुवस्तु नस्तु
तज्ज्ञानसागरयतेः पदयोर्नमोऽस्तु ॥८॥

अन्वयार्थ—(मुनिप!) हे मुनिश्रेष्ठ! **(त्वं)** आप **(सद्ध्यान-तोरणसमागतः)** समीचीन ध्यानरूपी तोरण द्वार से आए हुए **(चित्तगेहकमलं)** मेरे चित्तरूपी गृह कमल में **(प्रविश्य)** प्रवेश करके **(आप्रतिष्ठ)** विराजमान होओ। **(भिक्षाचरः अपि)** जो भिक्षाचर्या करते हुए भी **(नः)** हमको **(सुवस्तु)** श्रेष्ठवस्तु **(तु)** अवश्य **(विददाति)** देते हैं **(तत् ज्ञानसागरयतेः)** उन श्री ज्ञानसागर आचार्य के **(पदयोः)** चरणों में **(नमः अस्तु)** मेरा नमस्कार हो।

अर्थ—हे मुनिश्रेष्ठ! आप समीचीन ध्यानरूपी तोरण द्वार से आते हुए मेरे चित्तरूपी गृह कमल में प्रवेश करके विराजमान होओ। जो भिक्षाचर्या करते हुए भी हमको श्रेष्ठवस्तु अवश्य देते हैं उन श्री ज्ञानसागर आचार्य के चरणों में मेरा नमस्कार हो।

मालिनी छन्द

सुनयकमलचन्द्रं विश्वशान्त्यैकमन्त्रं
विविधविबुधमान्यं चित्तभूपुण्यधान्यम्।
भवजलजतुषारं मूर्तिमध्यात्मसारां
वृणु सुगुणमगम्यं ज्ञानसूरिं प्रणम्य ॥९॥

अन्वयार्थ—(सुनयकमलचन्द्रं) समीचीन नयरूपी कमलों को खिलाने के लिए चन्द्र के समान **(विश्व-शान्त्यैक-मन्त्रं)** विश्व की शान्ति के लिए एक मात्र मन्त्र **(विविध-विबुध-मान्यं)** अनेक ज्ञानियों से मान्य **(चित्तभू-पुण्य-धान्यम्)** चित्तरूपी पृथ्वी पर पुण्य की धान्य स्वरूप **(भवजलज-तुषारम्)** संसाररूपी कमल के लिए **(अध्यात्मसाराम् मूर्तिम्)** अध्यात्म की सार स्वरूप मूर्ति **(ज्ञानसूरिम्)** ज्ञानसागर आचार्य को **(प्रणम्य)** प्रणाम करके **(अगम्यं)** इन्द्रियों से जानने योग्य **(सुगुणम्)** श्रेष्ठ गुणों का **(वृणु)** तुम वरण (ग्रहण) करो।

अर्थ—सुनयरूपी कमल को खिलाने के लिए चन्द्रमा के समान विश्वशान्ति का एक मात्र मन्त्र, अनेक विद्वानों से मान्य, चित्तरूपी पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाली पुण्य रूपी धान्य स्वरूप, संसाररूपी कमल को नष्ट करने के लिए तुषार के समान, अध्यात्म की सारभूत मूर्ति श्री ज्ञानसागर आचार्य को प्रणाम करके, उनके इन्द्रियों से अगोचर श्रेष्ठ गुणों का हे भव्य! वरण करो।

❑ ❑ ❑

विद्याष्टकम्

(वसन्ततिलका छन्द)

सुश्रीमंतीह जननी च पिता मलप्पा
जज्ञे द्वितीयतनयो भुवि योऽद्वितीयः।
विद्याधरोऽपि सुतरां हृदयस्थविद्यो
विद्यादिसागरमुनीन्द्र! हरारिविद्याः ॥१॥

अन्वयार्थ—(इह) इस लोक में **(सुश्रीमंती)** श्रीमंती **(जननी)** माँ **(च)** और **(मलप्पा)** मलप्पा **(पिता)** पिता थे। **(द्वितीयतनयः)** जिनका द्वितीय पुत्र **(भुवि)** इस पृथ्वी पर **(जज्ञे)** उत्पन्न हुआ **(यः)** जो कि **(अद्वितीयः)** अद्वितीय था **(विद्याधरः अपि)** जिसका नाम विद्याधर था फिर भी **(सुतरां)** अच्छी तरह **(हृदयस्थविद्यः)** सभी विधाएँ उन्हें हृदयस्थ थीं। **(विद्यादिसागर मुनीन्द्र)** ऐसे विद्यासागर आचार्य! आप **(अरिविद्याः)** मेरी दुष्ट विद्याओं का **(हर)** नाश करें।

अर्थ—इस भारतदेश के दक्षिण प्रान्त में श्रेष्ठ माता श्रीमंती और मल्लप्पा पिता थे। जिनका द्वितीय पुत्र विद्याधर हुआ। जो पृथ्वी पर द्वितीय पुत्र होकर भी अद्वितीय था। विद्यायें जिनके अधरों पे रहते हुए भी अच्छी तरह से उन्हें हृदयस्थ थीं, इस विरोधाभास का परिहार यह है कि विद्याधर उनका नाम था और उन्हें सभी विद्यायें हृदयस्थ थीं। ऐसे श्री विद्यासागर आचार्य! हमारी दुष्ट विद्याओं का नाश करें।

पापास्पदानि निबिडानि विभञ्जनार्थं
पुण्यास्पदानि विविधानि विवर्धनार्थम्।
कर्माणि वर्यवर! ते शरणं दधेऽहं
प्रीणातु मां भवहरं चरणारविन्दम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(पापास्पदानि) पाप के स्थानभूत **(कर्माणि)** कर्म **(निबिडानि)** सघन हैं (तेषां) **(विभञ्जनार्थं)** उनका विनाश करने के लिए तथा **(पुण्यास्पदानि)** पुण्य के स्थान भूत **(विविधानि कर्माणि)** अनेक प्रकार के कर्म हैं (तेषां) **(विवर्धनार्थं)** उनकी वृद्धि के लिए **(वर्यवर!)** हे श्रेष्ठों में श्रेष्ठ! आचार्य देव! **(ते)** आपकी **(शरणं)** शरण को **(अहं दधे)** मैं धारण करता हूँ। **(भवहरं)** संसार के नाशक **(चरणारविन्दं)** आपके चरण कमल **(मां)** मुझे **(प्रीणातु)** प्रसन्न करें।

अर्थ—हे श्रेष्ठ पुरुषों में श्रेष्ठ! मैं आपकी शरण को धारण करता हूँ क्योंकि मुझे पाप के स्थानभूत सघन कर्मों का विनाश करना है और पुण्य के स्थानभूत अनेक प्रकार के कर्मों की वृद्धि करना है। इस संसार का विनाश करने वाले आपके चरण कमल मुझे प्रसन्न करें।

सद्दृष्टिबोधचरणावरणैकभूषा -
सद्वीर्यवासिततपोधरणैकवेषम् ।
यस्यांगदेवनिलयस्य विभूषणं स्यात्
तस्य प्रवन्द्यचरणं परिणौमि भक्त्या॥ ३॥

अन्वयार्थ–(यस्य) जिनके **(अंगदेवनिलयस्य)** चैतन्य आत्मा का **(विभूषणं)** अलंकार **(सद्दृष्टि-बोध-चरणावरणैकभूषा-सद्वीर्यवासित-तपोधरणैकवेषम्)** सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का आवरण ही एक आभूषण तथा अच्छी शक्ति के साथ तप धारण करना ही एक वेष (पहनावा) **(स्यात्)** हो **(तस्य)** उन आचार्य देव के **(प्रवन्द्यचरणं)** वन्दनीय चरणों को **(भक्त्या)** भक्ति से **(परिणौमि)** मैं नमस्कार करता हूँ।

अर्थ–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र का आवरण ही जिनका भेष है। समीचीन शक्ति से युक्त तप को धारण करना ही जिनका प्रमुख गहना है। जिस चैतन्य निलय के ये ही आभूषण हैं। उनके वन्दनीय चरणों को मैं भक्ति से नमस्कार करता हूँ।

यस्मान्भवद्विशददेहमनोविचेष्टास्
स्याद्वादगुम्फितवचाः प्रमुदे विशुद्धाः।
तस्मात् सदैव सुजनैः परिवेष्टमानश्
चन्द्रो यथा वियति राजति तारकाभिः॥ ४॥

अन्वयार्थ–(यस्मात्) चूँकि **(भवद्-विशद-देह-मनोविचेष्टाः)** आपके सुन्दर शरीर और मन की चेष्टाएँ **(विशुद्धाः)** विशुद्ध हैं **(स्याद्वाद-गुम्फितवचाः)** और आपके वचन स्याद्वाद से युक्त हैं। **(तस्मात्)** इसलिए **(सदैव)** हमेशा आप **(सुजनैः)** श्रेष्ठ व्यक्तियों से **(परिवेष्टमानः)** घिरे रहते हुए **(प्रमुदे)** उनके आनंद के लिए हैं **(यथा)** जैसे **(चन्द्रः)** चन्द्रमा **(वियति)** आकाश में **(तारकाभिः)** ताराओं से घिरा हुआ **(प्रमुदे)** सबके आनंद के लिए **(राजति)** सुशोभित होता है।

अर्थ–चूँकि आपके सुन्दर शरीर और मन की चेष्टाएँ विशुद्ध हैं तथा वचन स्याद्वाद से गुंथे रहते हैं इसीलिए आप सदैव श्रेष्ठजनों से घिरे हुए सुशोभित हैं, जिस प्रकार आकाश में अनेक ताराओं के साथ घिरा हुआ चन्द्र सुशोभित होता है।

संसारसिन्धुमतुलं तरितुं तु कोऽलं
यस्मिन् विमूढमनसा विगतोऽतिकालः।
विद्यापते! गुरुगुरो! कृपया महाध्वा
प्राप्तो मयाऽपि भवतो भवतः सुरक्षा ॥५॥

अन्वयार्थ–(अतुलं) अपार **(संसारसिन्धुं)** संसार सागर को **(तरितुं)** तैरने के लिए **(तु कः अलं)** कौन समर्थ हो? **(यस्मिन्)** जिस संसार सागर में **(विमूढमनसा)** मूढ़बुद्धि से **(अतिकालः)**

अत्यधिक काल **(विगतः)** बीत गया है। **(गुरुगुरो!)** हे गुरुओं के गुरु **(विद्यापते!)** आचार्य विद्यासागरजी **(भवतः)** आपकी **(कृपया)** कृपा से **(मया)** मैंने **(अपि)** भी **(महाध्वा)** उत्कृष्ट मार्ग **(प्राप्तः)** प्राप्त किया है **(भवतः)** इस संसार से **(सुरक्ष)** आप मेरी रक्षा करें।

अर्थ—यह संसार सागर अपार है, इसे तैरने के लिए कौन समर्थ हो सकता है। इस संसार सागर में मेरा मूढ़बुद्धि से बहुत काल बीता है। हे अनेक विद्याओं के स्वामिन्! हे गुरुओं के गुरु! आपकी कृपा से मुझे भी अब इस संसार सागर से पार करने का महान् रास्ता मिल गया है। इसलिए इस संसार से आप मुझे बचायें।

नाशीर्वचः कमपि पश्यति नापि दृग्भ्या-
मात्यन्तिकं विरतभावमुखं विधत्ते।
तस्मादहं भगवतोप्यनुभामि शस्यो
नम्रे जने वितनुते रतिमेष सूरिः॥६॥

अन्वयार्थ—भगवान् **(कमपि)** किसी को भी **(नाशीर्वचः)** आशीष वचन नहीं देते **(नापि)** और ना ही **(दृग्भ्यां)** अपनी आँखों से **(पश्यति)** किसी को देखते हैं तथा **(आत्यन्तिकं)** अत्यधिक **(विरतभावमुखं)** विरक्त भाव वाला मुख **(विधत्ते)** धारण करते हैं **(तस्मात्)** इसलिए **(भगवतः अपि)** भगवान् से भी **(शस्यः)** प्रशंसनीय **(अहं अनुभामि)** मैं आपको मानता हूँ **(एष सूरिः)** यह आचार्य कम से कम **(नम्रे जने)** नम्र हुए व्यक्ति में तो **(रतिं)** राग **(वितनुते)** उत्पन्न करते हैं।

अर्थ—भगवान् न तो किसी को आशीर्वचन कहते हैं, न ही आँखों से देखते हैं और अत्यन्त उदासीन भावरूप मुख को धारण करते हैं, इसलिए मैं भगवान् से भी ज्यादा प्रशंसनीय इन आचार्य देव को समझता हूँ क्योंकि ये आचार्यदेव अपने नम्रजनों में रति को बढ़ाते हैं।

येनैध्यते विनयमूलमुदस्य दोषं
ज्ञानार्कभूरिकिरणैर्भुवि पुण्यसस्यम्।
क्षिप्तं क्षणं प्रतिनवं जगतां हिताय
किं चिन्त्यते नु महते सुगुरोर्हिताय ॥७॥

अन्वयार्थ—(येन) जिन्होंने **(दोषं)** दोष को **(उदस्य)** उखाड़कर **(विनयमूलं)** विनय जड़ को **(एध्यते)** बढ़ाया है **(ज्ञानार्कभूरिकिरणैः)** ज्ञानरूपी सूर्य की अनेक किरणों से **(भुवि)** पृथ्वी पर जिन्होंने **(पुण्यसस्यं)** पुण्य की फसल को बढ़ाया है **(प्रतिनवं क्षणं)** जिनका प्रत्येक नया क्षण **(जगतां)** संसार के **(हिताय)** हित के लिए **(क्षिप्तं)** निकला है ऐसे **(महते)** महान् **(सुगुरोः)** श्रेष्ठ गुरु के **(हिताय)** हित के लिए **(किं नु)** क्या **(चिन्त्यते)** सोचा जाए।

अर्थ—जो दोषों को उखाड़कर विनयरूपी जड़ को बढ़ाते हैं और ज्ञान रूपी सूर्य की बहुत-सी किरणों से पुण्य रूपी फसल को जो बढ़ाते हैं। जिनका प्रत्येक नया समय जगत् के हित के लिए

गुजरता है, ऐसे श्रेष्ठ गुरु के हित के लिए क्या चिन्ता करना? अर्थात् ऐसे गुरु का अपना हित तो स्वयं हो रहा है उसमें दूसरों को सोचने की जरूरत नहीं है।

यावत्प्रतिष्ठत इला गगनाम्बुराशि-
र्मार्तण्डकारितदिवारजनीविभागः ।
यावत्प्रवन्द्यजिनचैत्यवृषञ्च भूमौ
तावत्तनोतु सुगुरोर्गुणकीर्तिगानम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(यावत्) जब तक **(इला गगनाम्बुराशिः)** पृथ्वी, आकाश का परिमाण तथा समुद्र **(मार्तण्ड-कारित-दिवा-रजनी-विभागः)** सूर्य के द्वारा किया हुए दिन-रात का विभाजन **(प्रतिष्ठते)** हो रहा है **(च यावत्)** और जब तक **(भूमौ)** पृथ्वी पर **(प्रवन्द्य-जिनचैत्य-वृषम्)** वन्दनीय जिनचैत्य तथा जिनधर्म हैं **(तावत्)** तब तक **(सुगुरोः)** श्रेष्ठ गुरु के **(गुण-कीर्ति-गानम्)** गुणों की कीर्ति का गान **(तनोतु)** फैलता रहे।

अर्थ—जब तक यह धरती है, आकाश है, समुद्र की राशि है और सूर्य के द्वारा किया गया दिन-रात का विभाग है तथा जब तक वन्दनीय जिनचैत्य और जिनधर्म भूमि पर है तब तक मेरे श्रेष्ठ गुरु के गुणों की कीर्ति का गायन फैलता रहे।

(मन्दाक्रान्ता छन्द)

विद्यावार्धेः शुभकरकृपाबाणविद्धं शिरो मे
बोधेर्लाभो विबुधचरितं चास्तु तुल्यात्मभावः।
कामारातीभमददलने साहसं पापताति -
र्दूरे प्रास्तां हृदयसरसीष्टं चिरं वर्धतां वा ॥९॥

अन्वयार्थ—(मे शिरः) मेरा मस्तक **(विद्यावार्धेः)** विद्यासागर आचार्य के **(शुभ-कर-कृपा-बाण-विद्धं)** शुभ हाथों की कृपा रूपी बाणों से विद्ध रहे **(बोधेः)** बोधि का **(लाभः)** लाभ हो **(विबुधचरितं)** गणधरों का चरित्र **(अस्तु)** मेरे लिए हो और **(तुल्यात्मभावः)** सभी में समान आत्म भाव हो। **(कामारातीभ-मद-दलने)** काम शत्रु रूपी हाथी के मद का नाश करने में **(साहसं)** साहस हो **(पाप-तातिः)** पापों का समूह **(दूरे प्रास्तां)** दूर रहे **(वा)** तथा **(हृदयसरसि)** हृदय सरोवर में **(इष्टं)** अभीष्ट की **(चिरं)** चिरकाल तक **(वर्धतां)** वृद्धि हो।

अर्थ—आचार्य श्री विद्यासागरजी के शुभ हाथों की कृपा रूपी बाणों से मेरा शीश हमेशा विद्ध रहे। मुझे सम्यग्ज्ञान का लाभ हो, मुझे विशिष्टज्ञानियों का चरित्र प्राप्त हो, सभी में मेरा समान भाव रहे, काम रूपी शत्रु हाथियों का मद नाश करने का मुझमें साहस आये, पाप का समूह मुझसे दूर ही रहे और मेरे हृदय रूपी सरोवर में चिरकाल तक इष्ट की वृद्धि होवे।

❑ ❑ ❑

अनुक्रमणिका

चारित्र चक्रवर्ती
आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज
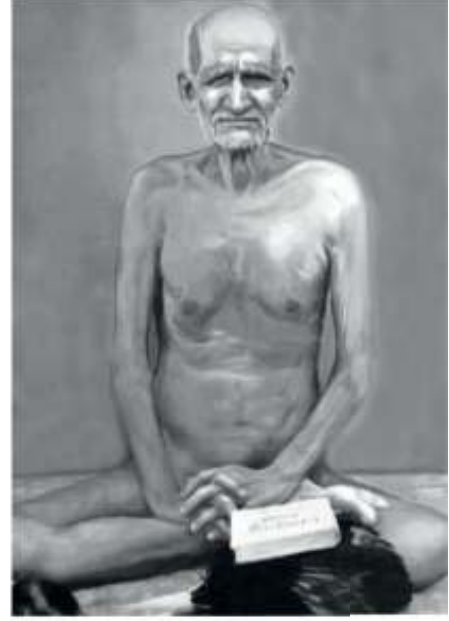
परम पूज्य
आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज
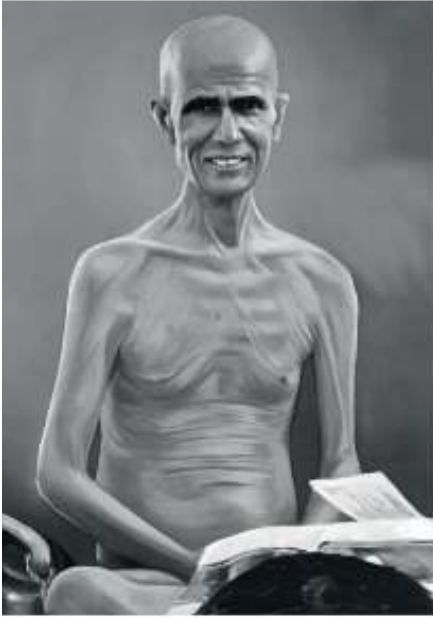
परम पूज्य
आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज
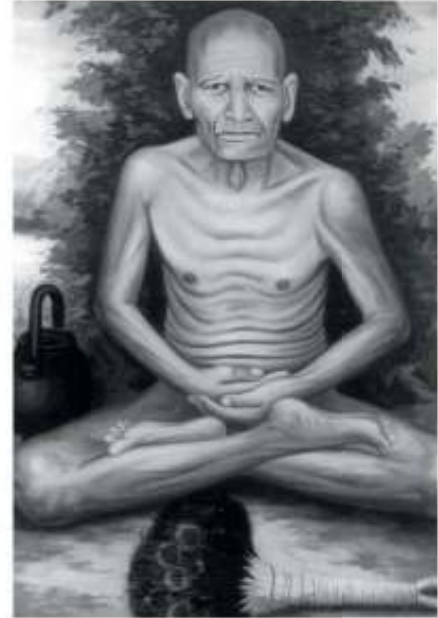
परम पूज्य
आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज
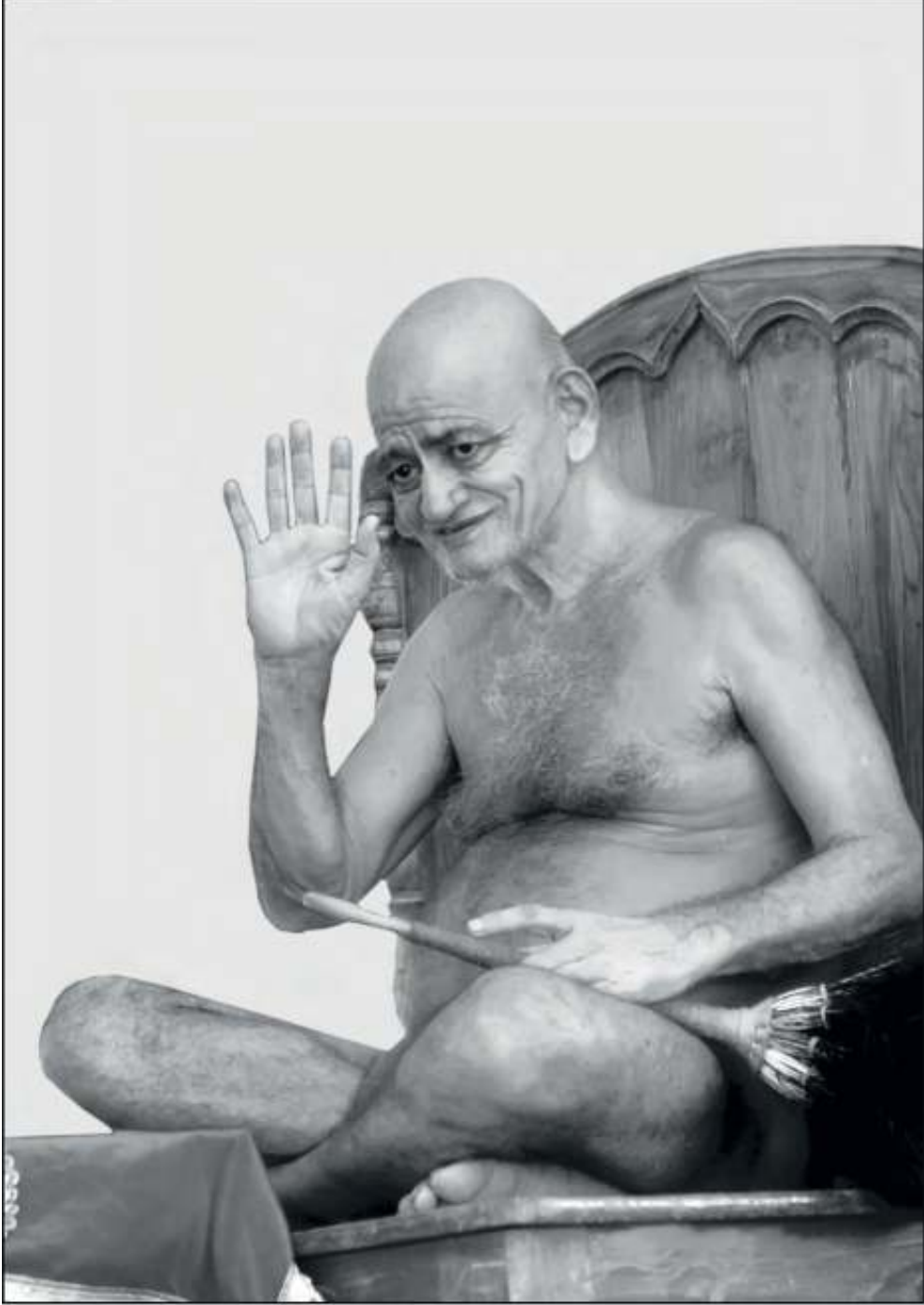
संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज

ॐ

प्रथमः सर्गः

बीज भूमि

मंगलाचरण

(वसन्ततिलका)

निःशङ्कितादिगुणतोयबलेन पुष्टा ये क्षायिकामलसुखादिफलेन जुष्टाः।
जीवन्ति शुद्धबलदर्शनबोधभावैस्ते सिद्धकल्पतरवो वरदा भवन्तु ॥१॥

दग्धं विदग्धेन हि घातिकर्म ध्यानाग्निनार्हन्निति नामधेयः।
जिनो हरिर्वा त्वमिति स्मरन्तो जना लभन्ते निजधर्मसिद्धिम् ॥२॥

आचारयन्ति त्रयमात्मधर्ममेकत्वभावेन समाचरन्ति।
ते सूरयो वै भुवनोपकारे भव्यात्मशिष्यान् परिपालयन्ति ॥३॥

जिनेन्द्रवाक्यं कलिवर्तमानं निजं परं वा समयं विजानन्।
रत्नत्रयस्य प्रतिमूर्तिरिष्टो नन्द्याच्च तद्देशकदेशना सा ॥४॥

मंगलाचरण

जो निःशंकित आदि गुणरूपी जल के बल से पुष्ट हुए हैं, जो क्षायिक/निर्मल सुख आदि फलों से युक्त हैं। जो शुद्ध बल, शुद्ध दर्शन, शुद्ध ज्ञान आदि भावों से जीवित रहते हैं, वह सिद्धरूपी कल्पवृक्ष उत्कृष्ट सिद्धि को देवें ॥१॥

ध्यानरूपी अग्नि से घातिकर्मों को विवेकी पुरुष ने जलाया है, वही अर्हत्, जिन अथवा हरि नाम वाले हैं। इस प्रकार आपको स्मरण करते हुए, मनुष्य आत्म-धर्म की सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं ॥२॥

जो रत्नत्रयरूपी आत्म-धर्म का एकत्व भाव से आचरण करते हैं तथा अन्यों को आचरण कराते हैं, वे आचार्य परमेष्ठी इस लोक का उपकार करने के लिए निश्चित ही भव्यात्मा शिष्यों का पालन करते हैं ॥३॥

इस कलिकाल में प्रवर्तमान स्व-पर शास्त्रों को तथा जिनेन्द्र भगवान् के वचनों को, जो जानते हैं, जो रत्नत्रय की प्रतिमूर्ति हैं तथा सभी को इष्ट हैं। उन उपाध्याय परमेष्ठी की वह देशना सदा वृद्धिंगत रहे ॥४॥

भवाङ्गतो भीर्हतभीर्विलोभी, शमी दमी यः कृतिकर्मकर्मी।
ज्ञानी प्रदानी स मुनिर्विमानी, पात्वात्मनीनः श्रमणः सदा माम् ॥५॥

(द्रुतविलम्बित)

जगति तीर्थकरं जिन सन्मतिं, श्रुतविधातृगणिं गुरुगौतमम्।
जिनवचोजिनचैत्यजिनालयं, परममङ्गलकं विनमाम्यहम् ॥६॥
विमलपञ्चगुरोरिह मङ्गलं, सकलविघ्नविनाशकरं मतम्।
शिवकरं सुखदं समतालयं, कुरुत भव्यजनाः सुखभावनम् ॥७॥

(शार्दूलविक्रीडित)

सम्यग्दर्शनरक्षणाय रुचिरा बिम्बा जिनेन्द्रस्य वै
सम्यग्ज्ञानसुरक्षणाय वसतौ सिद्धान्तशास्त्राणि च।
सम्यग्वृत्तसुरक्षणाय मुनयश्चित्रं तपश्चारिणः।
धर्मस्याङ्गतया त्रयं विजयते तद्दक्षिणाशापथः ॥८॥

(उपजाति)

आकर्मभूमेस्तपसस्तुलायामभून्न कोऽपीति निगीर्यमाणा।
उच्छ्रायतो दक्षिणदिक्प्रदेशे, मूर्तिः सदा दोर्बलिनस्तु जयतात् ॥९॥

जो संसार, शरीर से भयभीत हैं, जिनका भय नष्ट हो चुका है, जो लोभ से रहित हैं, शमी हैं, इन्द्रियों का दमन करने वाले हैं तथा साधु सम्बन्धी सभी कृति कर्मों को करते हैं, ज्ञानी हैं, प्रकृष्ट दानी हैं, मान रहित हैं, अपनी आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले हैं, श्रमण हैं, वह मुनि सदा मेरी रक्षा करें ॥५॥

सन्मति–महावीर जिनेन्द्र तीर्थंकर, श्रुत की रचना करने वाले गुरु गौतम गणी, जिनेन्द्र भगवान् के वचन, जिनचैत्य, जिनालय यह सभी इस संसार में परम मंगल करने वाले हैं, मैं इन सभी को नमन करता हूँ ॥६॥

इस संसार में निर्मल पंचपरमेष्ठी का मंगल समस्त विघ्नों का विनाश करने वाला माना गया है। मोक्ष का कारक, सुख देने वाला, समता का आलय, सुख उत्पन्न करने वाले, इस मंगल को भव्य पुरुषो अवश्य करो ॥७॥

सम्यग्दर्शन की रक्षा के लिए जिनेन्द्र भगवान् के मनोहर बिम्ब, सम्यग्ज्ञान की रक्षा के लिए वसति में सिद्धान्त–शास्त्र और चारित्र की रक्षा के लिए विचित्र तपश्चरण करने वाले मुनि, यह तीनों ही धर्म के अवयव स्वरूप जहाँ रहते हैं, वह दक्षिणापथ जयवन्त रहे ॥८॥

कर्म–भूमि पर्यन्त तप की तुलना में अग्रणी कोई भी नहीं हुआ है, इस प्रकार अपने उत्सेध से कहती हुई, दक्षिण दिशा में भगवान् बाहुबली की मूर्ति है, वह सदा जयवन्त रहे ॥९॥

(शार्दूलविक्रीडित)

तत्राभून् मुनिशान्तिसागरसुधीः सूरिप्रधानो महान्
तच्छिष्या भुवि वीरवार्धिशिवतज्ज्ञानाब्धिसंज्ञक्रमाः।
विद्यासागरनामधेयमुनिपस्तत्पट्टशिष्यो गणी
कोऽनासक्तसुयोगिनोऽत्र चरितं तस्यैव वक्तुं क्षमः ॥१०॥

(उपजाति)

तथापि भक्त्या सुगुणानुरागाद्, यथामति स्वाचरणस्य शुद्ध्यै।
करोमि तस्य प्रगुणानुगानं, को नात्मभक्तं दिशतीष्टसिद्धिम् ॥११॥
पुण्येन यस्य प्रभवः प्रभावः, स्वायत्तलाभाय कुतन्त्रहान्यै।
सहस्त्ररश्मेरुदयस्य पश्चात्, तमोविनाशः किमु न स्वतः स्यात् ॥१२॥
नमो मोहमहाकृष्ण-पटलच्छन्न- भानवे।
घातिकर्मनगौघानां वज्राघाताय पातने ॥१३॥
कलिकालसमुद्भूत - शैथिल्यरजनीचरम्।
उत्सारयति यो दूरं भानुरिवात्र कीटकम् ॥१४॥

उसी दक्षिण में आचार्यों में प्रमुख महान् मुनि श्रेष्ठ बुद्धिमान् शान्तिसागरजी हुए हैं। उन्हीं के शिष्य इस पृथ्वी पर आचार्य वीरसागरजी, उनके शिष्य आचार्य शिवसागरजी और उनके शिष्य आचार्य ज्ञानसागर जी और उनके पट्ट शिष्य, विशाल संघ को धारण करने वाले आचार्य विद्यासागरजी मुनिश्रेष्ठ हुए हैं। उन 'अनासक्त महायोगी' के चरित्र को कहने में, इस धरती पर कौन समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं है ॥१०॥

फिर भी उनके श्रेष्ठ गुणों में अनुराग के कारण, भक्ति से अपने आचरण की शुद्धि के लिए उनके प्रकृष्ट गुणों का गान यथाबुद्धि करता हूँ। अपने भक्त के लिए इष्ट सिद्धि कौन महापुरुष नहीं देता है? अर्थात् सभी देते हैं ॥११॥

पुण्य योग से जिनका प्रभावशाली जन्म स्वतन्त्रता के लाभ के लिए और कुतन्त्र की हानि के लिए हुआ है। सच तो है सूर्य के उदय होने के पश्चात् क्या अन्धकार का नाश अपने आप नहीं हो जाता है? अर्थात् हो जाता है ॥१२॥

मोहरूपी महा काले पटलों से आच्छादित आत्मा के लिए भानु के समान तथा घातिकर्म रूपी पर्वतों के समूहों को गिराने के लिए वज्राघात के समान आपको नमस्कार हो ॥१३॥

कलिकाल में उत्पन्न हुए शैथिल्य रूपी रात्रि में चलने वाले कीड़ों को जो इस धरती पर भानु की तरह दूर ही फेंक देते हैं ॥१४॥

सम्यक्त्वदृढखड्गेण कुलिङ्गानां कुशासनम्।
छित्वा सुरक्षितं येन मुक्त्यङ्गं जिनशासनम् ॥१५॥
सिद्धान्ताध्यात्मसाहित्य - न्यायशब्दानुशासनम्।
एकपात्रे समुद्भूतं विस्मयतां गता बुधा: ॥१६॥
यस्य चारित्रवार्त्तायां विद्यानन्दार्य-साधव:।
गत्वा तत्रैव पश्यन्तु सुवृत्तं ब्रुवते मुदा ॥१७॥
द्वादशमगुणस्थाने स्थितं वावीतरागिणम्।
यदीच्छति भवान्द्रष्टुं पश्येद् विद्यार्णवं मुनिम् ॥१८॥
बालभानुमिवारूढमेव - मुद्भासि खाङ्गणे।
प्रशंसन्ति चिरारूढा: श्रुतकल्पार्यसन्निभा: ॥१९॥
सज्ज्ञानवारिधाराभि: कूलङ्कषयमद्वयम्।
परीषहोच्छलद्भङ्गै: राजते वाहिनीव य: ॥२०॥
अशेषशास्त्रेषु वैदुष्यात् विदुषामग्रणीर्मत:।
लोकस्थितिपरिज्ञानात् व्यवहारविदीह य: ॥२१॥

सम्यक्त्व रूपी दृढ़ तलवार से कुलिंगियों के कुशासन को छेदकर जिन्होंने मुक्ति के लिये साधनभूत जिनशासन की सुरक्षा की है ॥१५॥

सिद्धान्त, अध्यात्म, साहित्य, न्याय, शब्दानुशासन (व्याकरण) इनको एक पात्र में (आत्मा में) उत्पन्न हुआ देखकर विद्वान् लोग विस्मयता को प्राप्त हुए हैं ॥१६॥

जिनके चारित्र की चर्चा में विद्यानन्दि आचार्य और अनेक साधु प्रसन्नता के साथ कहते हैं कि श्रेष्ठ चारित्र को वहीं पर (आचार्य विद्यासागर के पास) जाकर के देखो ॥१७॥

बारहवें गुणस्थान में स्थित वीतरागी को यदि आप देखना चाहते हो तो विद्यासागर मुनिराज को देखो ॥१८॥

इस प्रकार आकाशमण्डल में प्रकाशमान हुए बालसूर्य के समान जिन मुनिराज की आचार्यकल्प श्रुतसागर जैसे चिरदीक्षित साधु भी प्रशंसा करते हैं ॥१९॥

सम्यग्ज्ञानरूपी जलधारा के द्वारा, अंतरंग और बहिरंग यमरूपी कूलों को कसने वाली तथा परीषहों रूपी तरंगों से उछलती हुई नदी के समान जो मुनिराज सुशोभित हैं ॥२०॥

समस्त शास्त्रों में पाण्डित्य प्राप्त करने से जो विद्वानों में अग्रणी माने गये हैं तथा लोक स्थिति (संसार की परिस्थिति) का परिज्ञान होने से जो इस लोक में व्यवहार को जानने में भी कुशल हैं ॥२१॥

यमाश्रित्य सुखिनः स्यात् नृपाश्रयमिवाश्रिताः।
विभीता निर्भया जाता वीरस्य सदसीह वा ॥२२॥
वात्सल्यप्रकृपाच्छायां यस्य स्थित्वा सुसाहसम्।
दुःसहे पथि संप्राप्य सहजं यान्ति सज्जनाः ॥२३॥
यस्य निर्दुष्टचारित्रं समीक्ष्यानुक्षणं गतम्।
मूलाचारमजानन्ता आचरन्ति समाचरम् ॥२४॥
युगप्रमाणा मालोक्य समित्या यस्य गच्छतः।
इत्थमेव मया नूनं गन्तव्यं कलयन्ति ते ॥२५॥
दशनज्योत्सना - स्फुरद् - वाक्संदर्भसुरश्मयः।
स्वयमेव प्रकाशन्ते भाषासमितिलक्षणम् ॥२६॥
कृतकारितमानसैः पानाहारेषु न स्पृहा।
एषणासमितिर्नित्यं निस्पृहस्यैव जायते ॥२७॥
उपधिस्थापनादाने विलोक्य संप्रमार्ज्य च।
वृत्तिं संवीक्ष्य शिष्यास्तु समितिर्नाम मन्वते ॥२८॥

इस लोक में राजा की शरण में आये हुए आश्रितों की तरह जिनका आश्रय पाकर के जीव सुखी होते हैं तथा वीर भगवान् की सभा में पहुँचे हुए प्राणियों की तरह जिनके पास पहुँचकर डरे हुए जीव निर्भय हो जाते हैं ॥२२॥

जिनके वात्सल्य की प्रकृष्ट कृपा रूपी छाया में स्थित होकर के दुःसह पथ को प्राप्त करके अच्छे साहस के साथ सज्जन पुरुष सहज ही चलते जाते हैं। अर्थात् मोक्षमार्ग कठिन है वह जिनकी कृपा छाया से सरल लगने लग जाता है और भव्य जीव उस पर सहजता से चलते चले जाते हैं ॥२३॥

जिनका प्रतिक्षण का निर्दोष चारित्र देखकर के मूलाचार को नहीं जानते हुए भी शिष्य समीचीन आचरण करने लग जाते हैं ॥२४॥

चार हाथ प्रमाण भूमि को देखकर ईर्यासमिति से चलते हुए जिन्हें देखकर ''इस प्रकार से ही मुझे चलना चाहिए'' ऐसा शिष्य जान लेते हैं ॥२५॥

जिनके दंतपक्तियों की कांति से स्फुरायमान वचन संदर्भों की श्रेष्ठ रश्मियाँ भाषा समिति के लक्षण को स्वयं ही प्रकाशित कर देती हैं ॥२६॥

कृत-कारित और मानसिक अनुमोदना से आहारपान में स्पृहा नहीं होना ऐषणा समिति है। वह ऐषणा समिति नित्य निस्पृह पुरुष के लिए ही होती है ॥२७॥

देखकर के और अच्छी तरह से परिमार्जित करके उपकरणों के रखने और ग्रहण करने में जिनकी वृत्ति को देखकर शिष्य (आदाननिक्षेपण समिति) तो इसका नाम है, ऐसा मानकर समिति को जान लेते हैं ॥२८॥

निकटे निर्मिते शौच-गृहे विप्रासुके निशि।
पुरीषक्षेपणं नैव समितिः कल्यते बुधैः ॥२९॥
समित्या वर्तनं यस्य गृहीत्वाऽपि महाव्रतम्।
वर्तते संयमी सो हि कलावपिभवान् मतः ॥३०॥
ब्रह्मचारिगणाः शिष्याः कौमारा यस्य वा स्वकम्।
उच्चशिक्षां गृहीत्वापि प्रभावाद्यस्य दीक्षिताः ॥३१॥
यौवनगुणसंपूर्णाः ज्ञानविज्ञानसंभृताः।
आर्यिकायाः अशेषा हि तेषां यः खलु नायकः ॥३२॥
कलङ्को दृश्यते चन्द्रे पूर्णे व्यभ्रे प्रकाशने।
निष्कलंका यस्य कीर्तिरुपमीयेत केन सः ॥३३॥
भुजस्थानेऽत्र भूकम्पे गेहधनविनाशिते।
भित्तौ यत्र भवद्बिम्बं तद्‌गृहमेव रक्षितम् ॥३४॥
यस्य स्मरणमात्रेण रोगविघ्नविनाशनम्।
प्रतिजनमुखाद् वार्ता श्रूयते स्माप्यतेजनैः ॥३५॥

निकट में निर्मित शौच गृह में, प्रासुकता से रहित स्थान में रात्रि में जो शौचक्रिया नहीं करते हैं वही उच्चार प्रस्रवण समिति विद्वानों ने जानी है ॥२९॥

महाव्रतों के ग्रहण करने पर भी जिनका समिति के साथ प्रवर्तन होता है वह ही संयमी होते हैं। कलिकाल में ऐसे संयमी आप माने गये हैं ॥३०॥

जिनके ब्रह्मचारी शिष्य स्वयं के समान ही कौमार (अविवाहित) हैं और उच्च शिक्षा को ग्रहण करके भी जिनके प्रभाव से दीक्षित हुए हैं ॥३१॥

जिनके सभी शिष्य मुनि और आर्यिकाएँ यौवन गुण से सम्पन्न और ज्ञान-विज्ञान से भरे हुए हैं उन सभी शिष्यों के जो नायक हैं ॥३२॥

मेघरहित आकाश में पूर्णमासी के चन्द्रमा के प्रकाशित होने पर भी उसमें कलंक दिखाई देता है। किन्तु जिनकी कीर्ति निष्कलंक है उनकी उपमा किससे दी जाये? ॥३३॥

इस भारतवर्ष में भुज (गुजरात) में भूकंप आने पर लोगों के गृह और धन विनाश को प्राप्त हो गये किन्तु जिस दीवाल पर आपका बिम्ब (चित्र) लटक रहा था वह घर ही सुरक्षित रहा ॥३४॥

जिनके स्मरण मात्र से रोग और विघ्न दूर हो जाते हैं इस तरह की वार्ता प्रत्येक व्यक्ति के मुख से सुनी जाती है जो लोगों के लिए विस्मय उत्पन्न करती है ॥३५॥

स्वस्य वान्यस्य विघ्नानि ब्रह्मचर्यप्रभावतः।
नश्यन्ति विश्रुतं पूर्वं संप्रति दृश्यते तथा ॥३६॥
अन्यथा नो वदत्येव बहु मौनेन तिष्ठति।
यदुच्चरत्यनुष्ठति प्राणे कण्ठगतेऽपि यः ॥३७॥
उत्कीर्णेवगुरोर्मूर्ति - यस्य चेतसि विद्यते।
दिव्यज्ञानस्वरूपेण साधितिष्ठति साम्प्रतम् ॥३८॥
तस्यां वद कुतो दुःखं मे स्यादिति वदद्गुरुः।
तपत्यां रविकान्त्यां किं नलिन्या दौस्थ्यमश्नुते ॥३९॥
गमनस्य पथं कालं क्षणं पूर्वं न मीयते।
सदाऽनियतगामी योऽतिथिसंज्ञोऽतिसार्थकः ॥४०॥
ऋतुकाले विना पिच्छमार्यिकाणां प्रवर्तनम्।
दीक्षां प्रदाय संघातो दूरं गमनवर्तनम् ॥४१॥
पिण्डग्रहो भवेत्तासां नवभक्त्या विना सदा।
निर्दोष-संघवृत्त्यर्थं सुगुरोर्दूरदर्शिता ॥४२॥

जैसा कि पहले सुना जाता था कि ब्रह्मचर्य के प्रभाव से स्वयं के और दूसरों के विघ्न नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार से वर्तमान में आपके सान्निध्य में देखा जाता है ॥३६॥

जो अन्यथा नहीं बोलते हैं और बहुत कुछ मौन से ही रहते हैं तथा जो बोलते हैं उसका प्राणों के कण्ठगत होने पर भी पालन करते हैं ॥३७॥

जिनके चित्त में गुरु की मूर्ति टाँकी से उकेरे हुए की तरह सदैव विद्यमान रहती है और वह मूर्ति दिव्यज्ञान स्वरूप से आज भी अधिष्ठित है ॥३८॥

तपते हुए रवि की कांति होने पर क्या कमलिनी दुख को प्राप्त होती है? अर्थात् विकसित नहीं होती है? अवश्य ही होती है। इसी प्रकार गुरु की मूर्ति चित्त में होने पर आप ही बताएँ कि मुझे क्या दुःख हो सकता है? इस प्रकार से जो गुरु अपने गुरु के लिए कहते हैं ॥३९॥

जिनके गमन के पथ और काल का एक क्षण पूर्व भी कोई अनुमान नहीं कर सकता। अतिथि संज्ञा को सार्थक करने वाले जो सदा अनियतगामी हैं ॥४०॥

ऋतुकाल में बिना पिच्छी के आर्यिकाओं का प्रवर्तन होता है और दीक्षा को प्रदान करके संघ से दूर ही जिनका विहार और प्रवास होता है ॥४१॥

उन आर्यिकाओं का नवधाभक्ति के बिना ही सदैव आहार ग्रहण होता है। निर्दोष संघ की वृत्ति के लिए श्रेष्ठ गुरु की यह दूरदर्शिता है ॥४२॥

यस्य संघे जलं पाने कूपस्यैव नियम्यते।
रात्रौ विद्युत्प्रयोगश्च तदुपधिर्निषिध्यते ॥४३॥
शुद्ध्यां न मृद्प्रयोगोऽस्ति ग्रीष्मे न व्यजनादयः।
अग्निपक्वं फलं सेव्यं रसं वा प्रासुकं मतम् ॥४४॥
एवमेकेन्द्रियाणां च जीवानां रक्षणं परम्।
दयाधर्मात्तचित्तेन करोत्यन्यान् सुकारयेत् ॥४५॥
कटप्रयोगसंत्यागी शीते नावरणं कदा।
रात्रौ मौनं त्रिसंध्यायां सामायिकधरः सदा ॥४६॥
मिष्टेष्टलवणत्यागी भुज्यैकग्रहगामुकः।
चर्यार्थमेकवारं हि गम्यतामिति देशना ॥४७॥
मितभाषी मिताहारी प्रणिधानी प्रसन्नधीः।
अदर्शी दूरदर्शी वै इंगितेन प्रवक्ति यः ॥४८॥
तीर्थे क्षेत्रे सदावासी तत्रैवागत्य श्रावकाः।
पिण्डं प्रदाय मोदेन दानं यच्छन्ति भूरिशः ॥४९॥

जिनके संघ में पीने का जल कुए का ही नियम से लिया जाता है और रात्रि में बिजली का प्रयोग तथा उसके बने उपकरण निषेध किये गये हैं ॥४३॥

शुद्धि के समय पर मिट्टी का प्रयोग नहीं होता है। गर्मी में पंखे आदि का प्रयोग नहीं होता। अग्निपक्व फल अथवा उन फलों का रस ही सेवनीय है और उसी को प्रासुक माना है ॥४४॥

एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा करना परम धर्म है। दया धर्म से युक्त चित्त से जो स्वयं करते हैं और अन्यों को भी कराते हैं ॥४५॥

चटाई के प्रयोग करने के जो त्यागी हैं। शीत में भी कभी आवरण नहीं करते हैं। रात्रि में मौन और सदा तीनों संध्याओं में सामायिक को धारण करते हैं ॥४६॥

मीठा, इष्ट व्यंजन और नमक के जो त्यागी हैं। आहार के लिए एक घर में ही प्रवेश करने का नियम है तथा चर्या के लिए भी एक बार ही जाना चाहिए, इस प्रकार जिनकी देशना है ॥४७॥

जो थोड़ा बोलते हैं, थोड़ा आहार करते हैं, चित्त को एकाग्र रखते हैं, प्रसन्न बुद्धि वाले हैं, देखते नहीं हैं फिर भी दूरदर्शी हैं। जो अपने संकेतों में ही सब कुछ कह देते हैं ॥४८॥

तीर्थ पर और क्षेत्रों पर सदा वास करते हैं। वहीं पर आकर श्रावक आहार प्रदान करके प्रसन्नता के साथ बहुत दान देते हैं ॥४९॥

तद्दानेन विकासो वा निर्माणं हि नवं भवेत्।
यत्प्रभावात्सुतीर्थानामुद्धरणं सहजेन तत् ॥५०॥
याचितं न धनं क्वापि तीर्थायापीह तेन भोः।
अकिञ्चनो गुरुर्मे स वक्ष्यामि तत्कथां ततः ॥५१॥
यस्य माहात्म्यतःकूपात् श्रावकैर्व्रतमिच्छुकैः।
शुष्कादपि जलं प्राप्तं करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥५२॥
यस्य माहात्म्यतो नागा नैनागिर्यां सुक्रीडिताः।
दृष्टाश च फलकस्याधः करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥५३॥
यस्य माहात्म्यतो दुष्टा वर्षायोगं समास्थया।
दस्यवो याचितवन्तः करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥५४॥
यस्य माहात्म्यतोऽजैनाः दर्शनार्थं स्वयं मुदा।
आयान्ति साधवः पण्डाः करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥५५॥
यस्य माहात्म्यतो राज्यप्रधानमन्त्रिणो जनाः।
आयान्ति स्वयं हर्षात् करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥५६॥

उस दान से तीर्थों का विकास होता है और नवनिर्माण होता है। जिनके प्रभाव से तीर्थों का उद्धार सहजता से हो जाता है ॥५०॥

भो! जिन्होंने कभी भी इस संसार में तीर्थ के लिए भी धन की याचना नहीं की। इसी कारण से वह मेरे गुरु अकिंचन हैं। इसलिए उनकी कथा मैं कहूँगा ॥५१॥

जिनकी महिमा से व्रत की इच्छा रखने वाले श्रावकों ने सूखे कुए से भी जल प्राप्त किया है, उनकी मैं स्तुति करूँगा ॥५२॥

जिनकी महिमा से नैनागिरि सिद्धक्षेत्र पर पाटे के नीचे नाग क्रीड़ा करते हुए देखे गये हैं, उनकी मैं स्तुति करूँगा ॥५३॥

जिनकी महिमा से दुष्ट जन (डकैत) भी समीचीन आस्था को रखते हुए वर्षायोग की याचना करते देखे गये, उनकी मैं स्तुति करूँगा ॥५४॥

जिनकी महिमा से अजैन पण्डा साधु स्वयं प्रसन्न होकर के दर्शन करने के लिए आते हैं, उनकी मैं स्तुति करूँगा ॥५५॥

जिनकी महिमा से प्रधानमंत्री राज्यमंत्री जैसे मुख्य जन स्वयं ही दर्शन करने के लिए हर्ष से आते हैं, उनकी मैं स्तुति करूँगा ॥५६॥

यस्य माहात्म्यतः कूपं घंसोरे कुंडिकाजलात्।
शुष्कं पानीयवन्तं स्यात् करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥५७॥
यस्य माहात्म्यतो गुप्तं गोशालासु गवां धनम्।
या श्रीः सा गौःसदुक्तेश्च करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥५८॥
यस्य माहात्म्यतो नार्यः आर्यिकाव्रतमाश्रिताः।
द्वासप्तत्यधिकैः शतं करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥५९॥
यस्य माहात्म्यतः कन्या ब्रह्मचर्यमुपस्थिताः।
पंचशतमिता नूनं करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥६०॥
यस्य माहात्म्यतो देशे हथकरघोद्योगता।
पुनः प्रचलिता भूरि करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥६१॥
यस्य माहात्म्यतः स्थिता नारीसंस्कारकारणे।
प्रतिभास्थलिसंस्थाऽत्र करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥६२॥
शेते न दिवसे क्वापि भित्तादौ नावलम्बनम्।
सदाऽप्रमत्तता चित्ते करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥६३॥

जिनकी महिमा से घंसौर गाँव में सूखा हुआ कुँआ जिनके कमण्डलु के जल के द्वारा जलवान हो गया, उनकी मैं स्तुति करूँगा ॥५७॥

जिनकी महिमा से गोशालाओं में गौधन की रक्षा की गई और जैसा श्रीधवला ग्रंथ में लिखा है– ''जो गोधन है वही लक्ष्मी है'' इस युक्ति को जिन्होंने चरितार्थ किया है, उनकी मैं स्तुति करूँगा ॥५८॥

जिनकी महिमा से स्त्रियों ने आर्यिका व्रतों को धारण किया और १७२ आर्यिका विचरण कर रहीं हैं, उनकी मैं स्तुति करूँगा ॥५९॥

जिनकी महिमा से कन्यायें ब्रह्मचर्य व्रत को प्राप्त हुईं। जिनकी संख्या लगभग पाँच सौ प्रमाण है, उनकी मैं स्तुति करूँगा ॥६०॥

जिनकी महिमा से देश में हथकरघा उद्योग पुनः प्रचलित हो गया, उनकी मैं स्तुति करूँगा ॥६१॥

जिनकी महिमा से नारी संस्कारित करने के लिए प्रतिभास्थली के नाम से संस्था इस देश में स्थापित हुई, उनकी मैं स्तुति करूँगा ॥६२॥

जो दिन में कभी सोते नहीं, दीवाल का आलम्बन लेते नहीं, सदा अप्रमत्तचित्त रहते हैं, उनकी मैं स्तुति करूँगा ॥६३॥

मे सिंहासनमेतत् तिष्ठाम्यस्योपरीत्यहम्।
इत्यासनाग्रहान्मुक्तः करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥६४॥
यस्य माहात्म्यनिश्चयै-कान्तवादीभदुर्मदः।
शोषितः सूरिसिंहस्य करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥६५॥
यस्य माहात्म्यतो विद्वद्-वर्यैः सम्प्राप्य संयमम्।
अन्ते सल्लेखना प्राप्ता करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥६६॥
यस्य माहात्म्यतः स्वस्य भ्रातारौ संयमं गतौ।
तिष्ठतोगुरुसामीप्यं करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥६७॥
यस्य माहात्म्यतो वाद-कण्डूतिर्वादिनां हता।
सन्मार्गं प्राप्य हृष्टाश्च करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥६८॥
मूलाचारादिशास्त्राणां दीक्षितेभ्यो नियामकम्।
अध्ययनं सदा सङ्घे करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥६९॥
यन्त्रमन्त्रादिभिर्येन प्रभावना निषिध्यते।
पट्टबन्धो गृहस्थानां करिष्ये तस्य संस्तुतिम् ॥७०॥

''ये मेरा सिंहासन है इसी पर मैं बैठूँगा'' इस प्रकार के आग्रह से जो मुक्त हैं, ऐसे गुरु की मैं स्तुति करूँगा ॥६४॥

जिनकी महिमा से निश्चय एकान्तवादियों के वादी रूपी हाथियों के दुर्मद सूख गये हैं, ऐसे आचार्य सिंह की मैं स्तुति करूँगा ॥६५॥

जिनकी महिमा से विद्वानों के द्वारा वर्तमान में संयम प्राप्त किया गया है और अंत में सल्लेखना प्राप्त की गई है, उनकी मैं स्तुति करूँगा ॥६६॥

जिनकी महिमा से स्वयं के ही दोनों भाई संयम को प्राप्त हुए और जो गुरु के समीप ही रहते हैं, उनकी मैं स्तुति करूँगा ॥६७॥

जिनकी महिमा से वाद-विवाद करने वाले वादियों की खाज दूर हो जाती है और सन्मार्ग को प्राप्त करके वे प्रसन्न हो जाते हैं, ऐसे गुरु की मैं स्तुति करूँगा ॥६८॥

मूलाचार आदि शास्त्रों का अध्ययन संघ में सदा दीक्षित शिष्यों के लिए नियामक है, उन आचार्य देव की मैं स्तुति करूँगा ॥६९॥

यन्त्र, मन्त्र आदि के द्वारा प्रभावना करना जिन्होंने निषिद्ध की है और गृहस्थों के हाथों में पट्टा बाँधना मना है, उन आचार्य की मैं स्तुति करूँगा ॥७०॥

एवं गुण गरिष्ठस्य गरिमोपेत-सद्गुरोः।
कथामाख्यानकं काव्यं यत्स्याद्वक्ष्ये सुभक्तितः ॥७१॥
कथा चतुर्विधा प्रोक्ता प्रथमाऽऽक्षेपिणी मता।
विक्षेपणी द्वितीयाऽस्ति तथा संवेदिनी सुधा ॥७२॥
अन्या निर्वेदिनी जाता धर्मफलाभ्युदायिनी।
एताभ्योऽस्त्यन्यवार्ताभिर्विकथा पापदायिनी ॥७३॥
तासु वाऽस्मिन् प्रसंगेऽहं कथयाम्यन्तिमां द्वयीम्।
संवेगसुविरागाभ्यामन्यानां न्यायदर्शनात् ॥७४॥
सप्ताङ्गसहितो राजा सप्तर्द्धिभूषितो मुनिः।
सप्तभेदयुतं तत्त्वं सप्ताङ्गेषु कथा मता ॥७५॥
यस्यां जीवादि द्रव्याणां त्रिलोककालजुषां च।
तीर्थभावफलानां च प्रकृतस्य प्रपञ्चनम् ॥७६॥
तत्र वीरस्य तीर्थेऽस्मिन्नुपशमे नवसंयुतम्।
प्रकृतमाचार्यचारित्र - कथावस्तुप्रकल्पितम् ॥७७॥

इस प्रकार गुणों से भरे हुए, गरिमा से युक्त समीचीन गुरु की कथा, आख्यान या काव्य जो कुछ भी हो, उसे मैं श्रेष्ठ भक्ति से कहूँगा ॥७१॥

कथा चार प्रकार की कही गई है। उसमें पहली आक्षेपिणी कथा है, दूसरी विक्षेपिणी, तीसरी अमृत स्वरूप संवेदिनी कथा है ॥७२॥

अन्य चौथी निर्वेदिनी कथा है। ये कथाएँ धर्मफल के अभ्युदय को देने वाली हैं। इनसे अन्य वार्ताएँ विकथाएँ हैं जो पाप देने वाली हैं ॥७३॥

इन कथाओं में से इस प्रसंग में मैं अंत की दो कथाओं को संवेग और वैराग्य के साथ कहूँगा। अन्य कथाओं को तो न्याय ग्रंथों में कहा जाता है ॥७४॥

सप्त अंगों से सहित राजा होता है। सात ऋद्धिओं से विभूषित मुनि होते हैं। सात भेदों से युक्त तत्त्व होता है। इसी तरह से सात अंगों से युक्त कथा होती है ॥७५॥

जिसमें जीव आदि द्रव्यों का, तीन लोक का, तीन काल का, तीर्थ का, भाव का और फलों का तथा प्रकृत विषय का विस्तार होता है। वह धर्मकथा है ॥७६॥

उन अंगों में इस वीर भगवान के तीर्थ में उपशम भाव से संयुक्त प्रासंगिक विषयवस्तु के रूप में आचार्य परमेष्ठि के चारित्र की कथावस्तु रची गई है ॥७७॥

वैराग्यं तत्त्वविज्ञान - माचारशुद्धिरञ्जसा।
फलं तस्य विजानीयात् लोकद्वयहितावहम् ॥७८॥
धर्मानुबन्धि सत्काव्यं साङ्गं सर्वहितेप्सया।
प्राकृतसंस्कृतैर्वाचा यथेच्छं तन्यते मया ॥७९॥
मत्काव्यं नास्ति लोकाना-मनुरञ्जनमात्रकम्।
नास्ति वा तत्प्रियं लोके शृङ्गाररसकामिनाम् ॥८०॥
पाडित्यदर्शनार्थं वा क्लिष्टश्लिष्टपदेषु नो।
केवलं बुद्धिभाराय प्रस्तरशकलोहनम् ॥८१॥
नास्ति भासादिकाव्यं वा स्थानापन्नाय मे मनः।
नेह पूर्वपुराणं वा कथावर्धनलक्ष्यकम् ॥८२॥
रसालङ्कारशब्देषु येषामस्त्याग्रहो बुधाम्।
तेषामग्रे प्रहासाय भीतिर्दीपस्य का रवेः ॥८३॥
सुभाषितैःपरिपूर्णं क्वचिदर्थस्य संपदा।
क्वचित्पृथक्पदन्यासः कस्मिन्सर्गे समासता ॥८४॥

इस कथा का फल वैराग्य, तत्त्वविज्ञान, स्पष्ट रूप से आचार शुद्धि और दोनों लोकों का हित करना जानना चाहिए ॥७८॥

यह समीचीन काव्य धर्म से सहित है, सभी अंगों से सहित है, सभी के हित की इच्छा से प्राकृत और संस्कृत वचनों के द्वारा अपनी इच्छा के अनुसार मेरे द्वारा विस्तारित किया जा रहा है ॥७९॥

मेरा यह काव्य लोगों के मनोरंजन मात्र के लिए नहीं है और ना ही यह काव्य लोक में शृंगार रस के कामी पुरुषों के लिए प्रिय है ॥८०॥

अथवा पाडित्य को दिखाने के लिए क्लिष्ट और श्लिष्ट(मिलेजुले समास पद) पदों में नहीं है। ऐसे काव्य तो पत्थरों के टुकड़ों को ढोने के समान केवल बुद्धि के भार के लिए हैं ॥८१॥

अथवा भास आदि के काव्य के समान काव्यों की गिनती में स्थापना के लिए भी मेरा मन नहीं है और ना ही इस काव्य में प्राचीन पुराणों की तरह कथा वृद्धि का उद्देश्य है ॥८२॥

जिन बुद्धिमानों का आग्रह रस, अलंकार और शब्दों में होता है उनके आगे यह काव्य भले ही हास्य के लिए हो फिर भी कोई भय नहीं है। रवि के समक्ष दीपक को क्या भय होता है ॥८३॥

यह काव्य कहीं तो सुभाषितों से परिपूर्ण है, कहीं पर अर्थ की संपदा है, कहीं पर पृथक्-पृथक् पदों का न्यास है और किसी सर्ग में समासान्त पदों का समावेश है ॥८४॥

विलक्षण-प्रधीनां तु प्रमोदाय नवविधा।
पूर्वाग्रहपरीताना - मास्यविकृति - हेतुकी ॥८५॥
शंसिष्यन्ति परे मामि-ति चिन्त्वा न चरेत्सुधीः।
श्रेयोऽर्थं श्रेयसः प्रार्थी श्रायसपथमादिशेत् ॥८६॥

(पृथ्वी)

महापुरुष पालितं च महदर्थसंदायकं
यतः किल महाव्रतं भुवि महद्भिरागीयते।
महाव्रतधृतः कथा तु मुनिना मया कथ्यते
ततश्च मम काव्य-मेतदतुलं महत्सम्मतम् ॥८७॥
ये दोषान्वेषणे तुष्टा दुर्जनास्ते सतां मताः।
सर्षिप्मात्रगुणान् मेरुं मन्यन्ते सज्जनाः मताः ॥८८॥

(शार्दूलविक्रीडित)

दृष्ट्वा यो विदधाति सौख्यमतुलं दुःखान्वितं चापरं
वृद्धिं पश्य करोति तापधिषणं पुण्यात्मनां पुण्यतः।
यो धत्तेऽत्त कदाहितं न च परस्यास्योपरि द्वेष्टि च
एवं दुर्जनलक्षणं सुमतिमान् विज्ञाय दूरान्नमेत् ॥८९॥

जो विलक्षण बुद्धि वाले हैं उनके लिए तो यह नई विधा प्रमोद के लिए होगी किन्तु जो पूर्वाग्रह से ग्रसित हैं उनके लिए मात्र मुँह बिगाड़ने का हेतु होगी ॥८५॥

दूसरे लोग मेरी प्रशंसा करें, ऐसा चिंतन करके बुद्धिमान कभी आचरण नहीं करते। कल्याण की इच्छा करने वाला कल्याण के लिए ही कल्याण के रास्ते को दिखाता है ॥८६॥

जो महापुरुषों के द्वारा पाले गये हैं और जो महान् अर्थ (मोक्ष) को देने वाले हैं निश्चय से महान् व्यक्तियों के द्वारा इस पृथ्वी पर इसीलिए उन्हें महाव्रत कहा गया है। मुझ महाव्रतधारी मुनि के द्वारा महाव्रतधारी की कथा कही जा रही है इसलिए मेरा यह महाकाव्य अतुलनीय माना गया है ॥८७॥

जो दोषों के खोजने में संतुष्ट होते हैं सज्जनों ने उन्हें दुर्जन माना है। किन्तु जो सरसों मात्र गुणों को भी मेरु के समान मानते हैं उन्हें सज्जन माना गया है ॥८८॥

जो दूसरे दुखी जनों को देखकर के बहुत अतुलनीय सुख धारण करता है और जो पुण्यात्माओं के पुण्य से होने वाली वृद्धि को देखकर ताप बुद्धि करता है अर्थात् अपने मन में ताप उत्पन्न करता है। जो दूसरों का कभी हित नहीं करते हैं और उनके ऊपर द्वेष करते हैं ये सब दुर्जन के लक्षण हैं। बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे दुर्जनों को जानकर दूर से ही नमस्कार करे ॥८९॥

यः पापत्रयलेश्यकोऽस्ति कुधियस्तापत्रया वर्धकः
आहारादिचतुष्कलो भनिरतः संलग्नपापक्रियः।
प्राक्प्रीतिं तनुते प्रसन्नमनसा पश्चात् भवेद् वक्रता
काले कार्यविधातकं खलजनं दूरात् त्यजेत् सज्जनः ॥९०॥

(मन्दाक्रान्ता)

त्यक्त्वा मोहं सऋतहृदयो बन्धुवर्गेषु जातं
नान्यायं यो कमपि सहते नापकीर्तिं कदाऽपि।
यो निर्लोभी सवृषमतिको नात्मशंसां करोति
निन्दादूरः सकृपधिषणः सज्जनः संमतःस्यात् ॥९१॥
जाते ज्ञाने वहति नितरां मौनमन्यस्य चाग्रे
जाते शौर्ये शमयति वपुः क्रूरभावाद्विमुक्तः।
जाते वित्ते विरहितमदो नापशब्दं हि वक्ति
प्राहुः प्रायः परमपुरुषाः पुण्यवन्तं तमेव ॥९२॥
दुर्जनेषु न रुष्यन्ति तुष्यन्ति सज्जनेषु न।
रागद्वेषनिवृत्तेश्च श्रमणे सुमनस्कता ॥९३॥

जो पाप रूप तीन लेश्याओं वाला है, दुर्बुद्धि है तथा जन्म-जरा-मृत्यु इन तापत्रय को बढ़ाने वाला है, आहारादि चार संज्ञाओं के लोभ में रत रहता है तथा पाप क्रियाओं में संलग्न रहता है। पहले तो प्रसन्न मन के साथ प्रीति उत्पन्न करता है बाद में वक्रता धारण कर लेता है तथा समय आने पर कार्य का विघात करने वाला होता है ऐसे दुष्ट मनुष्य को सज्जन लोग दूर से ही छोड़ते हैं ॥९०॥

जो मोह को छोड़कर सत्य हृदय वाला जीव बन्धु वर्ग में कभी भी अन्याय नहीं करता है, बन्धुवर्ग में होने वाले अन्याय को सहता नहीं है और न कभी अपकीर्ति को सहन करता है। जो निर्लोभी है सदैव धर्म बुद्धि को धारण करता है तथा आत्मप्रशंसा नहीं करता, निंदा से दूर रहता है। दया बुद्धि को धारण करने वाला वह जीव ही सज्जन माना गया है ॥९१॥

जिसके अंदर ज्ञान होने पर भी जो दूसरों के आगे मौन धारण करता है। शौर्य होने पर भी शरीर को शांत रखता है और क्रूर भावों से दूर रहता है। धन होने पर भी मद से रहित होता है और कभी भी अपशब्द नहीं बोलता है उसको परम पुरुष प्रायः पुण्यवान जीव कहते हैं ॥९२॥

दुर्जनों में जो रोष नहीं करते हैं और सज्जनों में जो संतुष्ट नहीं होते हैं। राग-द्वेष की निवृत्ति हो जाने से श्रमण में ही सुमनस्कता होती है ॥९३॥

श्रोता भवेद्गुणग्राही वक्ता स्याद्हितदेशकः।
संक्षेपेण तयोर्नित्यं जानीयात् लक्षणं सुधीः ॥९४॥
क्वचिदितीह गतं पठनात्मकं क्वचिदथप्रमृदुव्यतिगेयकम्।
उभयभासितशब्दकदम्बकं जयतु काव्यमिदं सर्वात्मकम् ॥९५॥
अतिविशिष्टमहापुरुषाविले सुगुणयुक्तसुधर्मसुधारके।
कृतसुभक्तिसमुत्थपदावली शिवदसौख्यसुदायि-पदावली ॥९६॥

(हरिणी)

जगति जनता भीतिं यान्ति प्रसिद्धविकष्टतः
भजति समतां साधुर्नित्यं परीषहधारणात्।
गुरुरिह हि तस्मात् लोचोत्कृष्टमार्ह्ममपास्य भो
भवतु नितरां मासैर्द्वै चेत् स्थितेः प्रतिकूलता ॥९७॥

(स्रग्धरा)

भव्या जीवाः पृथिव्यामनुविदधति चोत्कृष्टपुण्यस्य वृत्तिं
दृष्टं चैवं स्वभावात् सपदि तनुभृतो धर्मसंदेशनाद्वा।

श्रोता गुण को ग्रहण करने वाला हो और वक्ता हित का उपदेशक हो। संक्षेप से बुद्धिमान् पुरुष श्रोता और वक्ता के यही लक्षण जानते हैं ॥९४॥

इस प्रकार कहीं पर तो यह काव्य गद्य में पढ़ने रूप है, कहीं पर यह बहुत ही मृदु गेयात्मक है। दोनों प्रकार की भाषाओं के शब्द समूह से यह काव्य सर्वात्मक (सर्व रूप) है। ऐसा यह काव्य जयवंत हो ॥९५॥

श्रेष्ठ गुणों से युक्त, श्रेष्ठ धर्म को अच्छी तरह धारण करने वाले, अतिविशिष्ट महापुरुष के विषय में की गई यह श्रेष्ठ भक्ति से उत्पन्न यह पदावलि मोक्ष को देने वाले सुख को देने के लिए पदावलि के समान है अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त करने के लिए नसैनी के समान है ॥९६॥

भो! इस संसार में प्रसिद्ध विशेष कष्टों के कारण से जनता भय को प्राप्त होती है। वहीं पर साधु हमेशा परीषहों को धारण करने से समता को भजता है। इस कारण से ही आर्त्त ध्यान को छोड़कर गुरुदेव दो मासों में उत्कृष्ट केशलोंच करते हैं चाहे प्रतिकूलता की स्थिति क्यों न हो? ॥९७॥

इस पृथ्वी पर भव्य जीव उत्कृष्ट पुण्य वालों की वृत्ति को धारण करते हैं। धर्म के संदेश के बिना संसारी प्राणियों को स्वभाव से ही इस प्रकार करते हुए देखा गया है। सत्य ही है–मोही जीवों के मोह से उत्पन्न हुए अंधकार का प्रसार तभी तक रहता है जब तक कि किरणों को स्फुरायमान

सत्यं तावत्प्रसारः प्रभवति विना मोहिनां मोहजातः
यावन्नात्राभ्युदेति स्फुरितकिरणभानोर्महो वा विसूरिः ॥९८॥

(आर्या)

सङ्घे प्रवेशकालात् शिक्षा दत्ता य सञ्चिता वात्सल्यात्।
सोऽहं यस्य कृतज्ञो वन्दे तं मुनि-समयसारम् ॥९९॥
मुनियोगार्णवस्यास्य - कमलनिर्गताद्भुताः।
सद्-वाक्यतन्तवो मेने सुकाव्यपटहेतवः ॥१००॥

इति मुनिप्रणम्यसागरविरचिते अनासक्तमहायोगिनाममहाकाव्ये आचार्य विद्यासागरचरित-व्यावर्णने दिव्यावतरणसंज्ञकः प्रथमः सर्गः समाप्तः।

करता हुआ सूर्य के समान तेजस्वी कोई विशेष आचार्य का उदय इस पृथ्वी पर नहीं होता है ॥९८॥

संघ में प्रवेशकाल से लेकर जिन्होंने शिक्षा प्रदान की और वात्सल्य से सिंचित किया वह मैं (प्रणम्यसागर) जिनका कृतज्ञ हूँ उन मुनि समयसागर की वंदना करता हूँ ॥९९॥

मुनि योगसागर जी के मुख कमल से निर्गत समीचीन वाक्य रूपी अद्भुत तन्तु ही इस श्रेष्ठकाव्य पट के लिए हेतु हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ॥१००॥

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला बीजभूमि संज्ञक पहला सर्ग समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

द्वितीय सर्गः

दिव्यावतरण

संख्याव्यतीतेषु सदाऽथ जम्बू मध्यस्थितो य सकलेषु चाद्यः।
द्वीपस्तु सर्वोपरि च प्रतिष्ठः द्वीपेषु शोभाविषयेऽविरुद्धः ॥१॥
तन्मध्यमे मेरुगिरिर्विभाति यो योजनेन विततैकलक्षम्।
स्वर्गापवर्गार्थमहो यतध्वं उच्छ्रायतो वक्ति जना इवात्र ॥२॥
भागे दिशायां खलु दक्षिणे वै धनुःसमो वार्द्धकलाधरो वा
क्षेत्रं विलोक्यं भरताख्यकञ्च षट्खण्डयुक्तं समयेन षट् च ॥३॥
षट्खण्डभूमेर्विजयी स चक्री चाद्यः सुनाम्ना भरतः प्रसिद्धः।
तन्नामतो भारतवर्षनाम ख्यातं परेषामपि तत्पुराणे ॥४॥
शैलेन भिन्नं विजयार्धनाम्ना गङ्गानदी-सिन्धुनदीविभागैः।
म्लेच्छार्यखण्डेषु विभक्तमेति षड्भागवर्ति प्रवरं हि क्षेत्रम् ॥५॥

असंख्यात संख्या वाले समस्त द्वीपों में जम्बूद्वीप सदा मध्य में स्थित है तथा सभी द्वीपों में सर्वोपरि है। इसकी शोभा किसी से विरोध को प्राप्त नहीं है ॥१॥

उस जम्बूद्वीप के मध्य में मेरु पर्वत शोभित होता है जो एक लाख योजन विस्तार वाला है। अहो! मनुष्यो! तुम सब स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो मानो अपनी ऊँचाई से वह यहाँ सभी से कह रहा है ॥२॥

उस सुमेरु पर्वत के दक्षिण दिशा भाग में धनुष के समान अथवा अर्ध चन्द्रमा के समान भरत नाम का क्षेत्र है जो छह खण्डों से युक्त है तथा छह प्रकार के कालों से परिवर्तित होने वाला है। वह क्षेत्र दर्शनीय है ॥३॥

छह खण्ड की भूमि को जीतने वाले प्रथम चक्रवर्ती भरत राजा प्रसिद्ध हैं। उन्हीं के नाम से भारतवर्ष यह नाम इस खण्ड का विख्यात हुआ है। जैनों के अलावा अन्य पुराणों में भी उनका उल्लेख है ॥४॥

वह भरत क्षेत्र विजयार्ध नाम के पर्वत से तथा गंगा नदी और सिंधु नदी के विभाजन से म्लेच्छखण्ड और आर्यखण्डों में विभाजित है। ऐसा वह क्षेत्र छह भागों में विभाजित हुआ श्रेष्ठ है ॥५॥

श्रीचन्द्रगुप्तैश्च पुरा सुदृष्टः स्वप्नेषु धर्मो दिशि दक्षिणे यत्।
आचार्यसाधुप्रभवाः प्रमुख्याः प्रभावका ज्ञानतपोऽधिकास्तत् ॥६॥

श्रीभद्रबाहुः श्रुतकेवली वा श्रीपुष्पदन्तो धरसेननामा।
समन्तभद्रादिकपूज्यपादा भट्टाकलङ्कोभुवि सिद्धसेनः ॥७॥

(द्रुतविलम्बित)

गुणधरः खलु पञ्चमपूर्ववित् श्रुतधरार्यवरेषु वरो मतः।
यतिवरो वृषभो मुनिनायकः सुरचिता खलु येन सुचूर्णिका ॥८॥

ये राष्ट्रकूटाख्यकुलोपपन्नाः श्रीवीरसेनो जिनसेनसूरिः
तच्छिष्यवर्यो गुणभद्रसंज्ञो ह्यमोघवर्षो नृपराजशिष्यः ॥९॥

शिवार्यवर्यः किल कार्तिकेयः विद्यादिमाणिक्यविनन्दिनो वा
इत्यादिनेका मुनयश्च जाताः श्रीवर्धमानस्य परम्परायाम् ॥१०॥

तथाऽस्ति दिशि दक्षिणे जिनपवर्त्मसंवर्धकः सतां
जनपदो मतो सवृष-जैनबाहुल्यकः।
स वेणुपुरनामतो भुवि पुरा हि विज्ञायते सुतिष्ठति
च तालुका सुखकरा चिकोड़ी ततः ॥११॥

पहले सम्राट् चन्द्रगुप्त के द्वारा जो स्वप्नों में देखा गया कि दक्षिण दिशा में धर्म होगा। प्रमुख, प्रभावक, ज्ञान और तप में श्रेष्ठ आचार्य और साधुओं की उत्पत्ति दक्षिण दिशा में ही होगी ॥६॥

उसी पृथ्वी पर श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली, श्री धरसेनाचार्य, श्री पुष्पदन्त आचार्य, श्री समन्तभद्र आदि, आचार्य श्री पूज्यपाद, भट्टाकलंक देव और सिद्धसेनादि आचार्य हुए हैं ॥७॥

श्रुतधर श्रेष्ठ आचार्यों में गुणधराचार्य श्रेष्ठ माने गये हैं जो पाँचवें पूर्व के आंशिक ज्ञाता थे। यतिवृषभ आचार्यदेव ने गुणधराचार्य रचित कषाय पाहुड़ सूत्र पर श्रेष्ठ चूर्णिसूत्रों की रचना की है ॥८॥

जो राष्ट्रकूट वंश में उत्पन्न हुए हैं ऐसे श्री वीरसेन, जिनसेनाचार्य, उन्हीं के श्रेष्ठ शिष्य गुणभद्राचार्य हुए हैं जिनके शिष्य नृपराज अमोघवर्ष हुए हैं ॥९॥

शिवार्य, कार्तिकेय, विद्यानन्दि और माणिक्यनन्दि इत्यादि अनेक मुनि श्री वर्धमान भगवान् की परम्परा में इसी भूमि पर हुए हैं ॥१०॥

दक्षिण दिशा में जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग को बढ़ाने वाला, धर्म सहित जैनों की बहुलता वाला, सज्जनों के द्वारा मान्य वह वैणुपुर नाम से जनपद है। जो इस पृथ्वी पर पहले से ही जाना जाता है। उसी जनपद में सुख को देने वाली चिक्कोड़ी तालुका है ॥११॥

स शान्तिगिरितीर्थकः सकलजीवनेत्रंगतः
हि शान्ति जलधेस्ततो जननभूमिसंबन्धितः।
असूत जिनरूपको सुखिनि शेडबाले तथा
परे निकटतां गते सुमुनिनन्दविद्यार्यकः ॥१२॥

तथैव निकटे च तस्य किल कोथलीग्रामके
स्वपत्यमिह भूषणं समभवच्च देशादिकं।
यथा भवति सागरे विविधरत्नसंप्रापणं
भवः सुगुणरत्नभावित महात्मनां दृश्यते ॥१३॥

जत्थ कण्णाटगे अणेयजणपदमंडिदे वि बेलगामजणवदे चिकोड़ी-णिपाणीपहे संतिगिरि खेत्तं परिदो भोजगामे आइरियसंतिसायरस्स सेडवाले आइरियविज्जाणंदिस्स कोथलीगामे आइरिय देसभूसणस्स जम्मभूमी सोहेदि।

जत्थ कण्णाटगे समणाणं सेदसरोवरो सवणबेलगोलतित्थं पुरादणणामेण कडवप्पो अइपसिद्धोत्थि। वत्थ गोमटेसरविसालपडिमा संपुण्णविस्से णिग्गंथदियंबररूवे खलु णिरहंकारदा, अकिंचणभावे खु अप्पसुहसंपदा, वेरग्गभावे हि णिब्भयजीविदा, तवोकम्मे अप्पसुद्धिजोग्गदा त्ति जिणधम्मस्स कित्तिपडागं विप्फुरदि।

वह शांतिगिरि नाम का तीर्थक्षेत्र समस्त जीवों के नेत्रों के गोचर है। उसी से आचार्य शांतिसागर की जन्मभूमि से संबंधित क्षेत्र भी लगा हुआ है तथा उसी के पास निकटता को प्राप्त सुखमय शेडवाल ग्राम में जिनरूप को धारण करने वाले विद्यानंद महाराज का जन्म हुआ ॥१२॥

इसी प्रकार उस ग्राम के निकट कोथली ग्राम है जहाँ पर श्रेष्ठी पुत्र देशभूषण का जन्म हुआ। जैसे सागर में विविध रत्नों की प्राप्ति होती है उसी प्रकार श्रेष्ठ गुणरूपी रत्नों से भावित महात्माओं की उत्पत्ति यहाँ देखी जाती है ॥१३॥

जिस कर्नाटक प्रदेश में अनेक प्रदेशों से मण्डित होने पर भी बेलगाँव प्रदेश में चिक्कोड़ी-निपानी पथ पर शांतिगिरि क्षेत्र के चारों ओर भोजग्राम में आचार्य शांतिसागर महाराज, शेडवाल में आचार्य विद्यानंदि महाराज और कोथली ग्राम में आचार्य देशभूषण महाराज की जन्म भूमि शोभित होती है।

जिस कर्नाटक में श्रमणों का श्वेत सरोवर श्रवणबेलगोल तीर्थ प्राचीन नाम कटवप्र अति प्रसिद्ध है। वहाँ पर गोम्मटेश्वर की विशाल प्रतिमा सम्पूर्ण विश्व में निर्ग्रन्थ दिगम्बर रूप में ही वास्तव में निरहंकारता है, अकिंचन भाव में ही आत्मसुख की संपदा है, वैराग्य भाव में ही निर्भय जीवन है, तपः कर्म में ही आत्मशुद्धि की योग्यता है इत्यादि रूप से जिनधर्म की कीर्तिपताका को प्रकट करती है।

ताए पडिमापडिट्ठावगो महापुरिसो चामुण्डराओ गंगवंसिराचमल्लणिवस्स पमुहो मंती सेणावदी य आसि। जस्स जिणभत्तिपरायणा काललदेवी जणणी बाहुबली पडिमाअ दंसणं काऊण दुद्धं गिण्हेमि त्ति णियमं कदवदी। तण्णियमस्स पुत्तीए माउभत्तचामुण्डराएण सा पडिमा णिम्माविदा। तदट्ठं हि आइरियणेमिचंद-सिद्धंतचक्कवट्टिदेवेण 'गोम्मटसार' गंथस्स रयणा कदा।

तत्थ खलु आइरियभद्दबाहुस्स अंतिमसुदकेवलिणो तस्सीसस्स अंतिममउडबद्धराय-सम्माड-चंदगुत्तमोरियस्स य संलेहणा बहुविस्सुदा।

तत्थ पंचसदेहि अहिया सिलालेहा अइमहत्तपुण्णा बहुदिट्ठीए। तेसु केई सिलालेहेसु संलेहणाविसए केई दक्खिणभाददीआणं उत्तरभारदीआणं य जत्ता संबंधिणो कई जिणालयजिणबिंबणिम्माणविसए केई दाणे पसिद्धणरणारीणामविसए केई भयवंतमहावीरस्स आइरियपरंपरस्स य संबंधविसए। केई जिणभत्त-महिलाविसए जहा-अक्कव्वे, जक्कणव्वे, णागियक्क, माचिकव्वे सांतिकब्बे, एचलदेवी, संतला, सिरियादेवी, पोम्मलदेवी इच्चादि।

केई सिप्पियसंबंधविसए जहा दासोज, अरिट्ठणेमि चेवमादि। केई मूलसंघस्स वंसरुक्खविसए,

---

उस प्रतिमा की प्रतिष्ठापना करने वाले महापुरुष चामुण्डराय गंगवंशीय राचमल्ल राजा के प्रमुख मंत्री और सेनापति थे। उन चामुण्डराय की जिनभक्ति में तत्पर काललदेवी माता थी। ''बाहुबली की प्रतिमा का दर्शन करके ही मैं दूध ग्रहण करूँगी'' इस प्रकार का नियम उस माँ ने लिया था। उसी नियम की पूर्ति के लिए मातृभक्त चामुण्डराय ने वह गोम्मटेश्वर की प्रतिमा बनवाई। उस चामुण्डराय के लिए ही आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तिदेव ने गोम्मट्टसार ग्रंथ की रचना की थी।

उसी श्रवणबेलगोल में अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु की और उन्हीं के शिष्य अंतिम मुकुटबद्ध राजा सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य की सल्लेखना बहुत विख्यात है।

उसी श्रवणबेलगोल में पाँच सौ से अधिक शिलालेख हैं जो बहुत प्रकार की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण हैं। उनमें से कितने ही शिलालेख सल्लेखना संबंधी हैं, कितने ही शिलालेखों में दक्षिणभारतीय और उत्तरभारतीय जनों की यात्रा संबंधी वृत्तांत हैं, कितने ही शिलालेखों में जिनालय और जिनबिंब के निर्माण के विषय में, कितने ही शिलालेखों में दान में प्रसिद्ध पुरुष और स्त्रियों के नाम के विषय में तथा कितने ही शिलालेखों में भगवान महावीर की आचार्य परम्परा के संबंध में पर्याप्त जानकारी है। कितने ही शिलालेख जिनभक्त महिलाओं के विषय में हैं जैसे अक्कव्वे, जक्कनव्वे, नागियक्क, माचिकव्वे, शांतिकव्वे, एचलदेवी, शांतला, श्रीदेवी, पोम्मलदेवी इत्यादि प्रमुख हैं।

कितने ही शिलालेख शिल्पियों से संबंधित हैं जैसे-दासोज, अरिष्टनेमि इत्यादि। कितने ही शिलालेख मूल संघ के वंश वृक्ष के विषय में हैं, आचार्य भद्रबाहु चंद्रगुप्त आदि की सल्लेखना और संघ के आगमन आदि के विषय में हैं।

आइरियभद्दबाहु-चंदगुत्तादि-संलेहणासंघागमणादिविसए य संति।

जत्थ कण्णाटगे मूडविद्दीमठे तित्थयरभयवंतमहावीर देशना समागदपुव्वगदसिद्धंतंसा धवलजयधवलमहाबंधगंथा ताडपत्ते समुक्किण्णा दिट्ठा।

जत्थ कण्णाटगे बहुचच्चिदो धम्मिलो राजणायगो होयसलसम्मज्जस्स पमुहसंट्ठावगो विण्हुवड्ढणो (११०६-११४१ ई०) जिणधम्मपरायणो अणेगसिलालेहेसु पत्तदाणपसंसगो 'सम्मत्तचूडामणि' त्ति उवाहिणा संथुदो तस्स पट्टराणी मारसिंगय्यस्स सेवधम्मावलंबणस्स जणगस्स जिणधम्माणुजीविमाउमाचिकब्बे जणणीए य अणिंदसुंदरी णच्चगायणरज्जधम्मसंचालिया संतला वि तहेव जिणभत्ता आसि। धम्मगुरुपहाचंद सिद्धंतदेवस्स गुरुचरणाणुराइणी जाणगी व पइव्वदा पइहिदे सच्चभामा णिउणमंतिव्व पइउववण्णमई गीदणच्चवज्जादिकलासु सग्गच्छरेव जई इव जिणमदपसारणसीला सई चंदणेव आहारादिदाणपराजाए य सवणबेगोले 'सवतिगन्धवारणवसदि' ति णामेण णिम्माविदो संतितित्थयरस्स भव्वजिणालओ जिणगंधोदएण पवित्तदेहा भव्वजणवच्छला वयगुणसीलधरा सिवगंगणामट्ठाणे अंतिमे गुरुसमक्खे समाहिमरणेण मुआ।

अनादिनिधने अस्मिन् लोके अनन्तानन्ताः जीवाः परिभ्रमन्ति। तेषां संख्या सदा हि शाश्वतिकी लोकवत्। क्वचित् कालादिलब्धिवशात् अतिदुर्लभं मनुष्यपर्यायं केचित् उपलभन्ते। तस्मिन् अपि

जिस कर्नाटक में मूड़बद्री मठ में तीर्थंकर भगवान् महावीर की देशना से आये हुए पूर्वगत सिद्धान्त के अंश रूप धवल, जयधवल, महाबंध ग्रंथ ताड़पत्र पर उत्कीर्ण देखे गये हैं।

जिस कर्नाटक में बहुचर्चित, धार्मिक, राजनायक होयसल साम्राज्य का प्रमुख संस्थापक विष्णुवर्धन (११०६-११४१ ई०) जिनधर्म परायण राजा हुआ। जिसके दान की प्रशंसा अनेक शिलालेखों में प्राप्त है। 'सम्यक्त्व चूड़ामणि' इस उपाधि से जो स्तुति को प्राप्त हुआ है। शैवधर्मावलंबी मारसिंगय्य पिता और जिनधर्मानुजीवी माता माचिकब्बे की अनिद्यसुंदरी शांतला नाम की पुत्री उस राजा की पट्टरानी थी। जो नृत्य गायन और राज्यधर्म की संचालिका थी तथा अपनी माँ के समान ही जिनभक्त थी। धर्मगुरु प्रभाचंद्र सिद्धान्तदेव के गुरुचरणों की अनुरागिणी, सीता के समान पतिव्रता, पति हित में सत्यभामा, निपुण मंत्री के समान प्रत्युत्पन्नमति, गीत, नृत्य वाद्य आदि कलाओं में स्वर्ग की अप्सरा के समान, जिनमत के प्रसार करने में यति के समान, आहारादि दान में सती चंदना के समान तत्पर रहने वाली थी। जिसके द्वारा श्रवणबेलगोल में 'सवतिगन्धवारणवसदि' इस नाम से शांतिनाथ तीर्थंकर का भव्य जिनालय बनवाया गया। जो जिन गंधोदक से पवित्र देह वाली, भव्यजनों के लिए वात्सल्य धारण करने वाली, व्रत-गुण-शील को धारण करने वाली वह शांतला शिवगंग नामक स्थान पर अंतिम समय में समाधिमरण को प्राप्त हुई।

अनादि अनिधन इस लोक में अनन्तानन्त जीव परिभ्रमण करते हैं। उनकी संख्या सदा ही लोक के समान शाश्वत होती है। कभी काल आदि लब्धि के वश से अतिदुर्लभ मनुष्य-पर्याय किसी

उत्तमदेशगृहकुलबुद्धिदेहविनम्रतादयः उत्तरोत्तराः दुर्लभाः सन्ति। एतत् सर्वं अपि सम्प्राप्य यः अनादिकालात् प्रवर्तमानात् जन्ममृत्युचक्रात् विमुक्तिं वाञ्छति सः तु अत्यन्तम् दुर्लभः अस्ति। एनां दुर्लभतां अपि दैवपुरुषार्थसंयोगेन उपलभ्य अस्मात् चातुर्गतिकेषु शश्वद्भ्रमणात् ये विमुक्ताः ते हि सतां वन्द्याः प्रशस्याः च भवन्ति।

सच्चमेव–

जं लद्धमज्ज किंचि वि तद्देवेणेव विहव-सोहग्गं।
तं परिचइदुं भावो पुरिसत्थो दुल्लहो लोए ॥१४॥

अयं मुक्तेः प्राप्तेः क्रमः सर्वक्षेत्रेषु न यद्यपि वर्तते तथापि सर्वकालेषु नियतम्। अन्तिमः तीर्थकरः भगवान् श्रीवर्द्धमानस्वामी इमां भारतभूमिं पवित्रीकृत्य निर्वाणं गतः। एतस्यां एव भूमौ अनेके गणधरदेवाः केवलिश्रुतकेवलिनः आचार्योपाध्यायसाधवः च समये समये स्वात्मानं श्रुतगङ्गायां कलिकाल-कलुषापकर्षणसमर्थायां स्नात्वा भुक्तिमुक्तिपात्राणि अभवन्। तेषां निर्मलाचरणेन इदं जगत् समस्तं हि पवित्रम् अस्ति। अद्यापि तेषां चरित्रकथाश्रवणं पुनःतस्य चेतसि भावनं सतां हृदयं पुनाति।

सच्चमेव–

जीव को प्राप्त हो जाती है। उसमें भी उत्तम देश, उत्तम गृह, उत्तम कुल, उत्तम बुद्धि, उत्तम देह और विनम्रता आदि गुण उत्तरोत्तर दुर्लभ होते हैं। यह सब कुछ प्राप्त करके भी, जो अनादिकाल से आए हुए जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्ति की इच्छा करता है, वह तो अत्यन्त दुर्लभ है। इतनी दुर्लभतायें भी भाग्य और पुरुषार्थ के संयोग से प्राप्त करके इस चार गति रूप शाश्वत भ्रमण से जो विमुक्त हुए हैं, वे ही सज्जनों के द्वारा वंदनीय और प्रशंसनीय हैं।

सच ही है–जो कुछ भी वैभव और सौभाग्य आज प्राप्त हुआ है, वह दैव (भाग्य) से ही होता है। उसे त्याग करने का भाव लोक में दुर्लभ पुरुषार्थ है ॥१४॥

यद्यपि यह मुक्ति की प्राप्ति का क्रम सभी क्षेत्रों में नहीं होता, फिर भी सभी कालों में नियत होता है। अंतिम तीर्थंकर श्री वर्धमान स्वामी इस भारत-भूमि को पवित्र करके निर्वाण को प्राप्त हुए। इस ही भूमि पर अनेक गणधर-देव, केवली, श्रुतकेवली, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु समय-समय पर स्वयं की आत्मा को कलिकाल सम्बन्धी पापों को समाप्त करने में समर्थ (ऐसी) श्रुतगंगा में स्नान करके भुक्ति (स्वर्गादि) और मुक्ति के पात्र हुए। उनके निर्मल आचरण से यह समस्त जगत् ही पवित्र हुआ है। आज भी उनकी चरित्र कथा का श्रवण एवं उनकी कथा को मन में भाना सज्जनों के हृदय को पवित्र करता है।

सच ही है–

पुण्णपुरिसाण चरियं सोहदि हिययं च पुण्णमावहदि।
वेरग्गं खलु जायदि हवदि विसोही चरित्तस्स ॥१५॥

तेषु पूतात्मसु केषाञ्चित् चरित्रं अद्यावधि श्रुतिगोचरं भवति। ये खलु महान्तः ते तु सर्वेषां अन्तःकरणं स्वकीयनिर्मल-यशःकीर्तिकिरणैः निरपेक्षया निर्मलीकुर्वन्ति। ये खलु महान्तः तेषां सम्पर्कमात्रेण जनानां मानसपटले टङ्कोत्कीर्णा इव छविः सदा लुठंति। ये खलु महान्तः तेषां प्रवृत्तयः आदर्शवत् आदर्शवत्यः भव्यानां मानसे अग्रे अग्रे सञ्चरन्त्यः तत्पथं प्रकाशयन्ति। ये खलु महान्तः ते सुरभिवत् सर्वत्र वान्ति। ये खलु महान्तः ते गङ्गाजलधारावत् सर्वजनमनोमालिन्यं निर्धूय निर्धूय प्रवहन्ति। ततः तेषां प्रवहमानचारित्रस्य कथनं निबन्धनं वा कर्तुं शक्रः अपि न शक्तः कथं पुनः अस्मादृशां बालानां शक्तिः भवेत्? इत्थं विज्ञाय अपि यथाशक्ति यथामति कार्यकरणं न हानये। नूनं कल्पवृक्षाः हि पुष्पफलच्छायां तोषकरीं प्रयच्छन्ति तथापि स्वशक्त्या सामान्यवृक्षाः अपि किं न? किञ्च येषां गुणव्यावर्णनं कर्तुं उद्युक्तः अहं ते हि किं न मयि शक्तिं मतिं च निपातयिष्यन्ति? अतः एव बद्धकक्षः अहं भवामि।

सच्चमेव–

पूर्ववर्ती महापुरुषों का चरित्र हृदय को शोभित करता है और पुण्य का आह्वान करता है। महापुरुषों का चरित्र वैराग्य उत्पन्न कराता है और इससे चरित्र की विशुद्धि होती है ॥१५॥

उन पवित्र आत्माओं में कितने ही महापुरुषों का चरित्र आज भी सुनने में आता है। जो महान् पुरुष होते हैं, वे तो सभी जीवों के अन्तःकरण (हृदय) को स्वयं की निर्मल यशकीर्तिरूपी किरणों के द्वारा निरपेक्ष रूप से निर्मल करते हैं। जो महान् पुरुष होते हैं, उनके संपर्क मात्र से जीवों के मानस पटल पर, उनकी छवि टाँकी से उकेरी गयी के समान सदा तैरती है। जो महान् पुरुष होते हैं, उनकी आदर्श प्रवृत्तियाँ आदर्श (दर्पण) के समान भव्य जीवों के मन में आगे-आगे सञ्चरण करती हुयीं, उनके पथ को प्रकाशित करती हैं। जो महान् पुरुष होते हैं, वे सुगन्धि के समान सर्वत्र फैलते हैं। जो महान् पुरुष होते हैं, वे गंगा की जलधारा के समान सब जीवों के मन की (गंदगी) मलिनता को धोते-धोते बहते हैं। इसलिए उनके प्रवहमान चारित्र का कथन करने के लिए अथवा बाँधने के लिए इन्द्र भी समर्थ नहीं है, फिर मेरे जैसे बालकों की कैसे शक्ति हो सकती है? ऐसा जानकर भी अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार कार्य करने में हानि नहीं है, क्योंकि निश्चय ही कल्पवृक्ष संतोषकारी पुष्प, फल और छाया को देते हैं, फिर सामान्य वृक्ष भी अपनी शक्ति से क्या फल नहीं देते? दूसरी बात यह है, कि जिनके गुणों का वर्णन करने के लिए मैं उद्यत हुआ हूँ, वे ही मुझमें क्या शक्ति और बुद्धि नहीं पहुँचा देंगे? इसलिए ही मैं कमर कसकर तैयार हो गया हूँ।

सच ही है–

भत्तीए कित्तीए सप्पुरिसाणं ण हवदि जदि सत्ती।
तो वि हु कुव्वदि भत्ती का हाणी सेट्ठकज्जम्मि ॥१६॥

अस्य भारतदेशस्य कर्णाटकप्रदेशे सदलगानामा एकः ग्रामः अस्ति। कृषिमुख्यः अयं ग्रामः अतीव मनोहरः। तस्य निवासिनां स्वच्छसाधारणाः वेशभूषाः हि तेषां स्वच्छनिष्कपटहृदयं प्रकटयन्ति। ग्रामान् बहिः दूधगङ्गा नदी अनवरतं प्रवहति। सा च आरक्षकवत् ग्रामं त्रिवारं स्पृशति। दुग्धघृततक्रादीनां न न्यूनता कथमपि स्यात् इति कथितवती सा ग्रामं परिक्रामति। कृषिकार्यं कुर्वाणाः हृष्टपुष्टाः कृषकाः एतस्य प्रमाणभूताः दृश्यन्ते। सर्वतः उच्चैर्वृक्षाः धनधान्याढ्याः च कृषिभूमयः ग्रामीणानां समृद्धिम् अकथनेन कथयन्ति। मन्दिरेषु विभिन्नमतावलम्बिषु मस्जिदेषु च समुत्पन्नाः ध्वनयः तत्रत्यानां हृदये सौहार्दं व्यक्तयन्ति।

सच्चमेव–

भारदवरिसे धम्मो पदे पदे साहुमंदिरादीहि।
णाणामदवित्थारो दिस्सदि अणेयंतरुक्खस्स ॥१७॥

तत्र एकः अष्टगेगोत्राभिधानः परिवारः अवसत्। मल्लप्पा अष्टगे कुलपरम्परायातः मुख्यः सज्जनः आसीत्। मध्यमोत्सेधवान् धार्मिकः बलिष्ठदेही सः। तस्य पिता पारिसप्पा अष्टगे आसीत्।

महापुरुषों की भक्ति और उनका कीर्तन (गुणगान) करने की यदि शक्ति नहीं होती है, तो भी भक्त भक्ति अवश्य करता है, क्योंकि श्रेष्ठ कार्य करने में आखिर हानि क्या है? ॥१६॥

इस भारत देश के कर्नाटक प्रदेश में सदलगा नाम का एक ग्राम है। कृषि प्रधान यह गाँव अत्यन्त मनोहर है। उस ग्राम के निवासियों की स्वच्छ साधारण वेशभूषायें उनके स्वच्छ निष्कपट हृदय को प्रकट करती हैं। ग्राम से बाहर दूधगंगा नदी लगातार बहती है और वह नदी रक्षक की तरह गाँव को तीन ओर से स्पर्श करती है। दूध, घी और मट्ठा आदि की कमी कभी नहीं हुई, इस प्रकार कहलाने वाली नदी गाँव की परिक्रमा करती है। कृषि कार्य को करने वाले हृष्ट-पुष्ट किसान इस बात के प्रमाण स्वरूप दिखाई देते हैं। सब ओर से ऊँचे-ऊँचे वृक्ष और धन-धान्य से युक्त उपजाऊ भूमि ग्रामीणों की समृद्धि को बिना कहे ही कह रही है। विभिन्न मतावलम्बी मन्दिरों में और मस्जिदों में उत्पन्न होने वाली ध्वनियाँ वहाँ के मनुष्यों के हृदय के सौहार्द को व्यक्त करती हैं।

सच ही है–भारतवर्ष में साधुजन और मंदिर आदि के द्वारा धर्म पद-पद (पग-पग) पर होता है। जो अनेक मत-मतान्तरों का विस्तार देखा जाता है, वह इसी अनेकांत वृक्ष का विस्तार है ॥१७॥

वहाँ पर एक अष्टगे गोत्र नामक परिवार रहता था। मल्लप्पा अष्टगे उसमें कुल परम्परा से आए हुए मुख्य सज्जन थे। वह मध्यम ऊँचाई वाले धार्मिक और बलिष्ठ देह वाले थे। उनके पिता पारिसप्पा अष्टगे थे।

सदलगा गाँव का दृश्य

'पारिसप्पा' सेट्ठिणो सहभागिणी कसमीराबाई आसि। सो खलु धम्मपरायणो दाणपरायणो णायज्जिद-धणेण आजीवियं करीय। धरम्मि चंदप्पहजिणिंदस्स चेइयालये पइदिणं अभिसेयपूजापाढं करिय अण्णकज्जेसु पवट्टीइ। सो सव्वविहवसंपण्णो भूमीसो साहुकारिकज्जं वि कुणीअ। अण्णप्पा, मल्लप्पा आदप्पा य एदे तस्स तिण्णि सुदा संति। चंदाबाई अबलाताई चेदि बे सुदाओ य। तेसु मल्लप्पा सत्तमकक्खापरियंतं कन्नडमज्झिमेण पढीअ। उर्दू-मराठी भाषा वि तेण सिक्खिदा। मल्लप्पा कदा वि सज्झायं ण करीअ। तेण जणगो सया भणीअ-''किं सगजीवणे अहं सज्झायं कुव्वंतं तुमं पासिहिमि''। तो वि सगजणगस्स समक्खं तेण सत्थं पढिउं मणं ण कदं।

यदा मल्लप्पा अष्टादशवर्षीयः अभवत् तदा तस्य मनसि संसारदशाविचिन्तनात् संसारात् वैराग्यम् अजायत। सः च दीक्षां ग्रहणार्थं गृहात् बहिः बेङ्गलूरुनगरे प्रस्थितः। तस्य जनकः एवं समाचारं श्रुत्वा विह्वलः अभूत्। कथमपि सः तत्र नगरे गतः। तत्र आचार्य श्रीशान्तिसागरः अतिष्ठत्। तत्समीपे मल्लप्पा स्थितः। जनकेन तस्य प्रबोधनं कृतम्। गेहे कञ्चित् कालं व्यतीत्य दीक्षाग्रहणे न कापि बाधा। सम्प्रति मम स्वास्थ्यं न उचितं भाति। कर्त्तव्यपराङ्मुखता महते पापाय कारणं इत्यादिप्रकारेण सम्बोधनं कृत्वा तं आनीतवान्। एकवर्षानन्तरं तस्य विवाहः अभूत्। चारुभाषिणी सौम्यमुखी धर्मपरायणा श्रीमन्तिनामधेया तस्य पत्नी आसीत्। पितुः आज्ञया सन्मुखं सः किमपि कर्तुं न शक्नोतिस्म। तथापि हृदये विरतिः सततं प्रावर्तत।

पारिसप्पा श्रेष्ठी की सहभागिनी कश्मीराबाई थी। वह सेठ धर्मपरायण, दानपरायण और न्याय से अर्जित धन से आजीविका करते थे। घर में चंद्रप्रभ जिनेन्द्र के चैत्यालय में प्रतिदिन अभिषेक पूजा पाठ करके, वह अन्य कार्यों में प्रवृत्त होते थे। सभी प्रकार के वैभव से सम्पन्न बड़े जमींदार थे तथा साहूकारी भी करते थे। अण्णप्पा, मल्लप्पा, आदप्पा ये तीन उनके पुत्र थे। चंदाबाई, अबलाताई ये उनकी दो बेटियाँ थीं। उनमें मल्लप्पा सातवीं कक्षा पर्यंत तक कन्नड़ माध्यम से पढ़े थे। उर्दू, मराठी भाषा भी उन्होंने सीख ली थी। मल्लप्पा कभी भी स्वाध्याय नहीं करते थे, इसलिए पिता सदा कहा करते थे- ''क्या अपने जीवन में मैं तुम्हें स्वाध्याय करते हुए देख पाऊँगा?'' तो भी अपने पिता के समक्ष उन्होंने शास्त्र पढ़ने का मन नहीं बनाया।

जब मल्लप्पा अठारह वर्ष के थे, तब उनके मन में संसार की दशा का चिन्तन करने से संसार से वैराग्य हो गया। और वह दीक्षा ग्रहण करने के लिए घर से बाहर बेङ्गलुरु नगर चले गए। उनके पिताजी यह समाचार सुनकर बैचेन हो गए। जैसे-तैसे वह उस नगर में गए। वहाँ आचार्य श्री शान्तिसागरजी बैठे थे। उनके पास ही मल्लप्पा बैठे थे। पिताजी के द्वारा उनको संबोधन किया गया- ''घर में कुछ समय व्यतीत करके दीक्षा ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं है। अब मेरा स्वास्थ्य उचित प्रतीत नहीं होता। कर्त्तव्य से विमुखता बहुत बड़े पाप का कारण है।'' इत्यादि प्रकार से संबोधित करके उन्हें ले आए। एक वर्ष के बाद उनका विवाह हो गया। सुन्दर वचन बोलने वाली, सौम्य मुखी, धर्मपरायण 'श्रीमंती' नाम वाली उनकी पत्नी थी। पिता की आज्ञा के सम्मुख वह कुछ भी करने में समर्थ नहीं हुए। फिर भी हृदय में विरक्ति हमेशा प्रवाहित होती रही।

... विद्याधर का परिवार ...
महावीर प्रसाद जी
विद्याधर
अनन्त नाथ
शान्ति नाथ

सज्ज्ञानस्य फलं त्यागः वस्तुनोऽयोग्ययोग्ययोः।
विवेको भेदविज्ञान-मेवमेव च वर्धते ॥१८॥

आइरिय संतिसायरस्स समक्खं समणदिक्खाणट्ठं णिवेदियं। गुरुदेवेण आणा ण पदत्ता परिवारे लहुआ सुदासुदा संति तस्स पालणं पढमं कत्तव्वं। पच्छा बंभचेरवदपदाणाय पत्थणा कदा। लहुवयं अवलोइय सीलवदं पक्खपव्वादिसु बंभचेरवदं पदत्तं। तदणंतरं कहिदं–किंचि णाणं दायव्वं। गुरुणा वुत्तं–अप्पा भिण्णो देहो भिण्णो त्ति णायव्वं। तदणुसारेण तस्स जीविदं जादं।

सः एकपत्नीव्रतं विवाहे सञ्जाते अपि गृहीतवान्। अस्याः स्त्रियाः यदि कथमपि मरणं भवेत् तथापि पुनर्विवाहं न करिष्यामि इति सङ्कल्पितवान्। आचार्यश्रीशान्तिसागरमुनेः समक्षं तेन एकः संकल्पः कृतः।

सच्चमेव–

सावयजणस्स धम्मो सदारसंतोसेक्कपदिलाहो य।
भणिदो वरो संजमो पुज्जो सो देवमणुजेहिं ॥१९॥

एयदिवसे सहसा जणगस्स उरम्मि पीडा जादा। चउदिवसं बाहिपीडिदे सो सव्ववावारपरिग्गहं सुदमज्झे विअरीअ। णमोक्कारमंतेण सह सव्वचागपुव्वियं समाहिणा मुदो सग्गं गदो य। तदाणिं मल्लप्पा इक्कवीसवरिसो आसि। मरणोवरंतं पिउवयणं मुहु चिंतीअ जं–सज्झायो कादव्वो त्ति। तदा पइण्णा कदा

समीचीन ज्ञान का फल अयोग्य अथवा योग्य वस्तुओं का त्याग है। इस त्याग से ही विवेक और भेद–विज्ञान इसी प्रकार बढ़ता चला जाता है ॥१८॥

आचार्य श्रीशांतिसागरजी से श्रमण–दीक्षा के लिए उन्होंने निवेदन किया। गुरुदेव ने आज्ञा प्रदान नहीं की। परिवार में छोटे पुत्र पुत्रियाँ हैं, उनका पालन करना प्रथम कर्तव्य है। बाद में ब्रह्मचर्य व्रत प्रदान करने की प्रार्थना की। गुरुदेव ने लघु वय को देखकर शीलव्रत दिये और पक्ष तथा पर्वादि में ब्रह्मचर्य व्रत प्रदान किया। तदनन्तर मल्लप्पा ने कहा–कुछ ज्ञान भी दीजिये। गुरु ने कहा–आत्मा भिन्न है, देह भिन्न है, यह जानने योग्य है। उसी के अनुसार उनका जीवन बन गया।

उन्होंने विवाह होने पर भी एक पत्नी व्रत ले लिया। इस स्त्री का यदि कभी मरण हो गया, तो भी मैं फिर से विवाह नहीं करूँगा, ऐसा उन्होंने संकल्प लिया। आचार्य श्री शांतिसागरजी मुनि के समक्ष उनके द्वारा एक संकल्प लिया गया।

सत्य ही है–श्रावकजन का धर्म स्वदार संतोष और एकपति का लाभ होना उत्कृष्ट संयम कहा गया है। वह संयम देव और मनुष्यों से पूज्य है ॥१९॥

एक दिन अचानक पिता के पेट में पीड़ा उत्पन्न हुई। चार दिन तक व्याधि से पीड़ित रहने पर पिता ने सभी व्यापार और परिग्रह को पुत्रों के बीच में बाँट दिया। णमोकार मंत्र के साथ सर्व त्याग पूर्वक समाधि से मरण हुआ और स्वर्ग गये। उस समय मल्लप्पा इक्कीस वर्ष के थे। पिता के मरण के उपरान्त उन्होंने बार–बार पिता के वचनों का चिंतन किया, कि स्वाध्याय करना चाहिए। तब

अहं पइदिणं सज्झायं अवस्सं करिस्सामि। सज्झाओ पारद्धो। गामवासिणो अणेयजणा घरम्मि सज्झायं सुणिऊण हरिसिदा। सणियं सणियं तच्चणाणं गाढं जादं।

यदा पितुः स्वास्थ्यं अत्यन्तं प्रतिकूलम् अभवत् तदा औषधिक्रयणार्थं मल्लप्पा औषधालये गतः। तत्रैव सः शृणोतिस्म यत् पितुः मरणम् अभवत्। तत्काले सः धावन् गृहं आयातः। मध्यपथे तस्य धावतः पादत्राणौ गतौ बाधकौ प्रतीतौ। तस्मात् सः पादत्राणौ हस्ते गृहीत्वा आयातिस्म। तथापि तावत् पितुः मृत्युः अभवत्। एवं दृष्ट्वा सः अतितरां विलपति स्म। तदनन्तरं तेन संकल्पः गृहीतः इतः पश्चात् पादयोः पादत्राणौ न धारयामि क्वापि। विवाहस्य षड्मासानन्तरं हि एषा घटना सञ्जाता। तत्सङ्कल्पनं तेन सदा पालितम्।

संकप्पो खलु सुवदं संकप्पवसेण दु पुण्णपावं च।
जमपालसमो णीचो पुज्जो जादो सुदेवेहिं॥२०॥

आंग्लौषधस्य च त्यागः आ शैशवात् तेन कृतः। दशलक्षणपर्वणि एकान्तरात् भोजनस्य विधिर्भवता संपद्यते। अष्टम्यां चतुर्दश्यां च प्रोषधोपवासो विधीयते। भवतः भगवद्भक्तिः अतिविशिष्टा आसीत्। कमलपुष्पाणां भगवच्चरणेषु समर्पणाय अतिरुचिवान् भवान्। गच्छन् सन् यदा कदापि यत्र कुत्रापि अतिमूल्यं अपि पुष्पं दृष्ट्वा तं क्रीत्वा जिनचरणेषु समर्पणं सर्वस्मै विस्मयन्ति।

उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अब मैं प्रतिदिन स्वाध्याय करूँगा। स्वाध्याय प्रारम्भ हुआ। ग्रामवासी अनेक जन घर में स्वाध्याय सुनने के लिए आते थे और हर्षित होते थे। धीरे-धीरे मल्लप्पा का तत्त्वज्ञान गाढ़ हो गया।

जब पिता का स्वास्थ्य अत्यंत प्रतिकूल हो गया था, तब औषधि खरीदने के लिए मल्लप्पा औषधालय गए। वहाँ ही उन्हें सुनायी दिया, कि पिता का मरण हो गया। उसी समय वह दौड़ते हुए घर आए। बीच रास्ते में दौड़ते हुए उनको जूते चलने में बाधक प्रतीत हुए। उस कारण से वह जूते हाथ में लेकर आ गए। तब तक पिता की मृत्यु हो गयी। यह देखकर उन्होंने बहुत अधिक विलाप किया। इसके बाद उन्होंने संकल्प लिया-''कभी जूते धारण नहीं करूँगा।'' विवाह के छह माह बाद ही यह घटना हो गयी। उस संकल्प का उन्होंने सदा पालन किया।

वास्तव में संकल्प ही सुव्रत है। संकल्प के ही कारण पुण्य और पाप होते हैं। इसी संकल्प से यमपाल सदृश निम्नजाति का व्यक्ति भी श्रेष्ठ देवों से पूज्य हो जाता है॥२०॥

अंग्रेजी दवाओं का बचपन से ही उन्होंने त्याग कर दिया था। दशलक्षण पर्व में एक दिन बाद भोजन करते थे। अष्टमी और चतुर्दशी को प्रोषधोपवास करते थे। आपकी भगवान के प्रति भक्ति अति विशिष्ट थी। आप भगवान के चरणों में कमल पुष्पों को समर्पित करने के लिए अति रुचि रखते थे। रास्ते में जाते हुए जब कभी भी, जहाँ कहीं भी कोई अति मूल्यवान पुष्प दिख जाता था, तो उसे खरीदकर जिनचरणों में समर्पित कर देते थे। यह भक्ति सबके लिए विस्मय उत्पन्न करती थी।

सज्ज्ञान-फलं भक्तिर्जिन-पदारविंदानाम्।
सेवा दानं मुनीनां च व्रतिनां च स्वभावतः ॥२१॥

साधुसेवायां समर्पितः मल्लप्पा एकदा आचार्यश्रीमहावीरकीर्तिमहाराजं स्वग्रामं आनयनार्थं गतः। सहसा वर्षा संजाता। पथमध्ये एका बृहत् प्रणाली जलेन भृता। महाराजस्तत्रैव स्थितः। स च प्रतिनिवृत्तो न भवेत् इतिभयेन मल्लप्पा मुनिराजं स्वसकन्धे संस्थान्य प्रणाल्यां अवतरितवान्। तन्मध्ये पदानि अन्तर्गतानि। उद्धर्तुं अशक्य सः णमोकारमंत्रं पठित्वा यथा तथा अग्रे चलितवान्। तस्य कष्टं दृष्ट्वा कूलात् प्रागेव आचार्यदेवः तद्स्कन्धादुत्तीर्य स्थितः। मल्लप्पा अतिबलिष्ठः इति सर्वैः प्रशंसितः।

दक्खिणदेसे धम्मो पंचमकाले त्ति सुदं सच्चं।
तक्कारणं वि साहूसमागमो सव्वदा तत्थ ॥२२॥

तेण सदलगा-बोरगाँव-शमनेबाडी-भोज-समडोली पहुडिठाणेसु बीस-तीस कि० मी० परिहीसु साहूणं समागमो सव्वदा दिट्ठो। आइरियो संतिसायरो देसभूसणो सुबलसायरो महाबलो अणंतकित्ती य इच्चेव-मादिसमणेहि तप्पदेसो सव्वदा अलंकदो। तेण कारणेण घरे धम्मियसंकारो आसि। मल्लप्पा विज्जाहरं महावीरं च भत्तामरपाढं सिक्खीअ। एगदिणे दो तिण्णि तेण कव्वाणि सुमराविज्जीअ। पारंभे बालाहि कदं

सम्यग्ज्ञान का फल स्वभाव से ही जिनेन्द्र भगवान के चरणकमलों की भक्ति करना, व्रती तथा मुनिजनों को दान देना एवं उनकी सेवा करना है ॥२१॥

साधुसेवा में समर्पित मल्लप्पा एक बार आचार्य श्रीमहावीरकीर्ति महाराज को अपने गाँव में लाने के लिए गए। अचानक से वर्षा होने लगी। रास्ते में एक बहुत बड़ा नाला था, जो जल से भर गया। महाराज वहीं पर रुक गये। महाराज कहीं वापस न लौट जायें, इस भय से मल्लप्पा ने मुनिराज को अपने कंधे पर बिठाकर नाले में उतर गए। बीच रास्ते में मल्लप्पा के पैर धँसने लगे। ऊपर निकलने में अशक्य होने पर वह णमोकार मंत्र को पढ़कर जैसे-तैसे आगे चले। उनके कष्ट को देखकर आचार्य महाराज किनारे से पहले ही उनके कंधे से उतरकर खड़े हो गए। मल्लप्पा अति बलवान हैं, इस प्रकार सभी ने प्रशंसा की।

दक्षिण देश में धर्म पंचमकाल में रहेगा। इस प्रकार जो श्रुत में कहा गया है, वह सत्य है। इसका कारण भी वहाँ सर्वदा साधु समागम होना है ॥२२॥

इसी कारण सदलगा, बोरगाँव, शमनेबाड़ी, भोज, समडोली आदि स्थानों में जो बीस-तीस किलोमीटर की परिधि में हैं, साधुओं का समागम हमेशा यहाँ देखा जाता है। आचार्य शांतिसागर, आचार्य देशभूषण, आचार्य सुबलसागर, मुनि महाबल, अनंतकीर्तिजी इत्यादि श्रमणों के द्वारा वह स्थान हमेशा अलंकृत रहा है। इसी कारण से मल्लप्पा के घर में धार्मिक संस्कार थे। मल्लप्पा विद्याधर और महावीर को भक्तामर पाठ सिखाते थे। एक दिन उन्होंने दो-तीन काव्य याद करा दिये।

पच्छा चत्तं। अकदे सो दोण्णि बाले मारंति। सयं दंडबेठकस्स दंडं दंति। अइअणुसासणं गामे तस्स पसिद्धं। पाढंभरणट्ठं धणलोहो दिण्णो। तेण भेगिणीओ वि पडिप्फद्धेण सुमरंति। पाढे पुण्णे कंठगदे जादे पारितोसियसरूवं वत्थाभरणं पदाणेण ससंकारा बालबालिगाओ कदाओ। एक्कसि णियघरे दियंवरगुरुसत्थस्स समीवे अखण्डदीवं पज्जलइ। सो छत्तीसवरिसपज्जंतं अखंडरूवेण पज्जलमाणो जादो। पंचवरिसं 'स्तवनिधि' इदि खेत्तं गंतुं अमावसतिहीए संकप्पिओ। पडिवरिसं पंचणारिकेलेहि तत्थ गंतूण अमावसतिहीए मेलावसरे दंसणं कीरदि।

गुरुसु अदीवसद्धा तस्स। ''तिण्णिचदुमासंतरेहि एयवारं मुणिदंसणं अवस्सं करिस्सामि, मुणिवासो जदि सत्तरि-असीइ किलोमीटर दूरं वि हवे''। इति संकप्पस्स पूरणं वि तेण सया कदं।

वणप्फदिओसहस्स णाणं वि अत्थि। अप्पवयसिसूणं रोयणिदाणं अहिएण करीअ। अइसीदे वि रण्णे गंतूण ओसहं घेत्तूण कुट्टणपीसणविहिणिम्मिदं किच्चा पदाइ जेण वाही णियमेण पलाएदि।

एवमेव नैकानि नियमव्रतानि समये समये अनुपाल्य सः विरागमनाः गेहे अतिष्ठत्। धर्मेण साकं कामार्थपुरुषार्थं कुर्वन् सः सन्तोषेण आयुषः पर्यायं व्यतीतवान्। कृषिः एव मुख्यः अर्थार्जनाय व्यवसायः आसीत्। मध्ये मध्ये हस्तकरघाउद्योगं छविगृहक्रयणम् च इत्यादिकं अपि तेन प्रारब्धम्। परन्तु न कस्मिन् अपि व्यवसाये सफलीभूतः सः। अन्ते तेन निश्चतं कृषिकार्यं हि उत्तमम् अस्ति। तस्मिन् कार्ये तेन सफलता

प्रारम्भ में उन बालकों ने याद किया बाद में छोड़ दिया। याद नहीं करने पर वह दोनों बालकों को मारते भी थे और सौ-सौ दंडबैठक का दंड देते थे। उनका अति अनुशासन गाँव में प्रसिद्ध था। पाठ याद करने के लिए बच्चों को धन का लोभ भी देते थे जिससे बेटियाँ भी प्रतिस्पर्धा में पाठ याद करतीं थीं। पाठ को पूर्ण याद कर लेने पर वह पारितोषिक के रूप में वस्त्राभरण प्रदान करके बालक-बालिकाओं को सुसंस्कारित करते थे। एक बार अपने घर में दिगम्बर गुरु के चित्र और शास्त्र के समीप अखंड दीप प्रज्वलित किया। वह छत्तीस वर्ष तक अखण्डरूप से जलता रहा। पाँच वर्ष स्तवनिधि क्षेत्र में अमावस की तिथि में जाने का संकल्प लिया था। प्रतिवर्ष पाँच नारियल लेकर अमावस को मेला के समय पर दर्शन करने जाते थे।

गुरुओं में उनकी अत्यधिक श्रद्धा थी। तीन-चार मास के अंतर में एक बार मुनि दर्शन अवश्य करेंगे, चाहे मुनिराज सत्तर-अस्सी किलोमीटर की दूर पर क्यों न हों, इस प्रकार का संकल्प भी उनका था, जिसे उन्होंने सदैव पूर्ण किया।

उन्हें वनस्पति औषधियों का भी ज्ञान था। अल्पवय के शिशुओं का रोग निदान वह अधिकतर करते थे। अति ठंड में भी जंगल में जाकर के औषधि लाकर उसे कूट-पीसकर, विधिपूर्वक बनाकर दे देते थे। जिससे रोग नियम से चला जाता था।

इस प्रकार ही अनेक नियम-व्रतों का समय-समय पर पालन करके वह विरागमना घर में रहे। धर्म के साथ-साथ काम और अर्थ पुरुषार्थ को करते हुए वह संतोषपूर्वक आयु की प्रत्येक पर्याय को (क्षण को) व्यतीत करते थे। धनोपार्जन के लिए कृषि ही मुख्य व्यवसाय था। बीच-बीच में

अपि प्राप्ता। गृहकार्यात् निवृत्तः सः प्रतिदिनं सायंकाले प्रथमानुयोगं नियमेन पठतिस्म। प्रातः देवपूजनादिकं कृत्वा गृहकार्ये उद्युक्तः अभवत्। एवं धर्मसङ्गतं कामार्थपुरुषार्थं कुर्वाणः अपि तस्य मुखे उन्मनस्कता क्वचित् क्वचित् स्पष्टं दृश्यते स्म। सच्चमेव–

हियए विज्जदि सल्लं दिस्सदि णियमेण मुहे पुरिसस्स।
चिट्ठदि कदा ण तेलं जलम्मि गब्भे मुणेयव्वं ॥२३॥

एकदा श्रीमन्ति पार्श्वे उपविश्य पृष्टवती–''भवान् क्वचित् क्वचित् एकान्ते किं चिन्तयति? गृहे तु सर्वं कुशलम् अस्ति तथापि चिन्तायाः कारणं किम् इति अहं ज्ञीप्सामि''। 'किमपि नास्ति' इति मल्लप्पा अब्रवीत्।

पुनः सा उक्तवती, भवता किमपि वक्तव्यम्। नास्तीति कथने अपि प्रतीयते यत् मनसि कश्चित् ऊहापोहः वर्तते एव। किञ्च स्वमनोगतं प्रकटनात् मनोभारः अवश्यं हानिं एति।

मणस्स भारो कहणे विणट्ठो, कम्मस्स भारो तवणेण णट्ठो।
देहस्स भारो य समेण णूणो, कोहस्स भारो वि समेण सुण्णो ॥२४॥

उनके द्वारा हस्तकरघा उद्योग और सिनेमा घर खरीदना इत्यादि व्यवसाय प्रारंभ किए गए, परन्तु वह किसी भी व्यवसाय में सफल नहीं हुए। अन्त में उनके द्वारा निश्चित किया गया कि कृषि कार्य ही उत्तम है। उस कार्य में उन्हें सफलता भी मिली। घर के कार्यों से निवृत्त होकर वह प्रतिदिन शाम को प्रथमानुयोग नियम से पढ़ते थे। प्रातः देवपूजनादिक करके घर के कामों में उद्यत होते थे। इस प्रकार धर्म के साथ काम और अर्थ पुरुषार्थ करते हुए भी उनके मुख पर उदासीनता कभी-कभी स्पष्ट दिखाई देती थी।

सच ही है–जो शल्य हृदय में विद्यमान रहती है, वह नियम से व्यक्ति के मुख पर दिखाई देती है। सच है–जल के भीतर कभी भी तैल नहीं ठहरता है, किन्तु जल के ऊपर तैरता है, यह जानना चाहिए ॥२३॥

एक बार श्रीमंती ने पास बैठकर पूछा–''आप कभी-कभी एकान्त में बैठकर क्या सोचते हैं? घर में तो सब कुशल है, फिर भी चिन्ता का कारण क्या है? मैं यह जानना चाहती हूँ।'' 'कुछ भी नहीं' ऐसा मल्लप्पा बोले।

फिर से उन्होंने कहा–आपको कुछ कहने योग्य है। 'नहीं' यह शब्द कहने में ही प्रतीत होता है कि मन में कुछ ऊहापोह (चिन्ता) चल रही है। दूसरी बात यह है कि अपने मन के भावों को प्रकट करने से मन का भार अवश्य ही कम हो जाता है।

मन का भार कहने से विनष्ट हो जाता है। कर्म का भार तप से नष्ट होता है। देह का भार श्रम से कम होता है और क्रोध का भार शम भाव से समाप्त होता है ॥२४॥

''अहो मति! भवत्याः ज्ञानं अति निपुणं भाति'' इति सहासेन मल्लप्पा कथितवान्। पुनः कथयति सः शृणु! भवत्या सत्यमुक्तम्। एकदा अहं गृहात् बहिः निर्गत्य दीक्षार्थम् अगच्छत्। मम पिता मां प्रतिनिवृत्तवान्। इति त्वया न ज्ञातम् अस्ति। सम्प्रति पिता अपि स्वर्गतः। अतः कदाचित् मम मनसि आयाति यत् मोक्षपुरुषार्थः एवं ज्येष्ठः तच्च अवश्यं हि अनुष्ठेयः।

''भवद्भावना अतिकल्याणी भाति'' इति कथितवती श्रीमती।

पुनः सा अग्रे कथितवती–''तथापि यत्काले यदनुष्ठेयः तदेव सम्यक् कर्त्तव्यः। अपरञ्च धर्मेण सङ्गतं कामार्थपुरुषार्थं कुर्वतः का हानिः यतः गृहस्थानां एषः अपि धर्मः भवति।''

धर्मात् त्रिवर्गनिष्पत्तिः त्रिषु लोकेषु भाषिता।
ततस्तामिच्छता कार्यः सततं धर्मसंग्रहः ॥२५॥

अहो मंति! तथा धर्मः अपि संसारस्य कारणं इति भाति। मोक्षपुरुषार्थः एव मोक्षाय कारणम् अस्ति। इति मल्लप्पा उक्तवान्।

''अहं सम्यक् न विज्ञातवती, किं नाम मोक्षपुरुषार्थः, कः च अस्ति भेदः अनयोः''? श्रीमन्ति गदितवती। अरे! महान् भेदः अनयोः अस्ति। एते धर्मार्थकामपुरुषार्थाः त्रिवर्गाः कथ्यन्ते। एतान् कुर्वाणः न मोक्षं लभते। यः त्रिवर्गं विमुच्य मोक्षार्थं यतते सः एव मोक्षपुरुषार्थी। तेन एव कारणेन मोक्षः अपवर्गः इति

''अरे मति! आपका ज्ञान अत्यंत निपुण प्रतीत होता है।'' ऐसा मल्लप्पाजी ने हँसते हुए कहा। वह पुनः कहते हैं– ''सुनो! आपने सही कहा। एक बार मैं घर से बाहर निकलकर दीक्षा के लिए गया। मेरे पिता मुझे वापस ले आए। यह तुम्हें ज्ञात नहीं है। अब पिताजी भी स्वर्ग चले गए। इसलिए कभी-कभी मेरे मन में आता है कि मोक्ष पुरुषार्थ ही श्रेष्ठ है और वह अवश्य ही करने योग्य है।''

''आपकी भावना अत्यन्त कल्याणकारी प्रतीत होती है।'' ऐसा श्रीमंती ने कहा।

पुनः वह आगे कहती हैं– ''फिर भी इस काल में जो करने योग्य है, वह ही अच्छी तरह कर लेना चाहिए और दूसरी बात धर्म से सहित काम और अर्थ पुरुषार्थ करने में क्या हानि है? क्योंकि यह भी गृहस्थों का धर्म होता है।

धर्म से तीन वर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की प्राप्ति होती है, यह तीनों लोकों में कही गई है। इसलिए इन तीन वर्ग की प्राप्ति की जो इच्छा करते हैं, उन्हें निरन्तर धर्म-संग्रह करना चाहिए ॥२५॥

''अरे मति! वैसा धर्म भी संसार का कारण प्रतीत होता है। मोक्ष पुरुषार्थ ही मोक्ष के लिए कारण है।'' ऐसा मल्लप्पा ने कहा।

''मैं सही नहीं जानती, मोक्ष पुरुषार्थ किसका नाम है और इन दोनों में क्या भेद है?'' श्रीमंती ने कहा–''अरे, इन दोनों में महान् भेद है। धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ ये तीन प्रकार कहे जाते हैं। इनको करते हुए मोक्ष प्राप्त नहीं होता। जो इन तीन प्रकारों को छोड़कर मोक्ष के लिए यत्न करता है वह ही मोक्ष पुरुषार्थी है। उस ही कारण से मोक्ष का 'अपवर्ग' यह दूसरा नाम कहा जाता है।''

अपरनाम्ना उच्यते। इति मल्लप्पा उवाच।

''तथापि बहवः पुराणपुरुषाः गृहे तिष्ठन्तः अन्ते वयसि अनगाराः बभूवुः'' इति अस्मिन् कः अपराधः इति चेत्? श्रीमन्ति एवं ब्रूतेस्म। तदा मल्लप्पा आख्यत्-आम् तत् सत्यम्। तथापि ते दीर्घायुष्मन्तः सर्वे अभवन्। साम्प्रतं सर्वे अल्पायुष्मन्तः सन्ति, तस्मात् अस्मिन् कार्ये प्रमादः न कर्त्तव्यः। अन्धरज्जुवलनवत् गृहस्थानां धार्मिकानुष्ठानं अपि न किमपि कार्यकारि स्यात्। परम्पराकारणत्वात् उपचारेण तद्धर्मः कथ्यते बालजनसम्बोधनवत्।

श्रीमन्ति उक्तवती तथैव अस्तु। पश्चात् सा मनसि चिन्तितवती-निसर्गजनितं वैराग्यम् एतत्। निश्चितम् आसन्नभव्यः एषः आत्मा।

सत्यमेव-

वेरग्गेणप्पसुहं वेरग्गं च पुव्वजणिदकम्मेण।
मरणादिगघडणाए वेरग्गं द्वयमणुण्णादं ॥२६॥

एवं त्रिवर्गसंसाधनेन कञ्चित् कालं व्यतीत्य कामपुरुषार्थस्य फलं आप्तवन्तौ तौ। प्रथमः शिशुः समुत्पन्नः। चन्द्रकुमारः तस्य नाम अभवत्। कदा कदा दैवः बलवान् भवति मनुष्यस्य। तदा पुरुषार्थस्य साफल्यं न भवति। तेन षड्मासानन्तरं सः जीवित्वा मृतः।

ऐसा मल्लप्पा ने कहा।

''फिर भी बहुत से महान् पुरुष घर में रहते हुए, आयु के अन्त में अनगारी मुनि हुए हैं, ऐसा करने में क्या अपराध है?'' इस प्रकार श्रीमंती ने कहा। तब मल्लप्पा कहने लगे-''हाँ वह सत्य है। फिर भी वे सभी दीर्घ आयु वाले हुए थे। अब सभी अल्प आयु वाले हैं। इसलिए इस कार्य में प्रमाद नहीं करना चाहिए। अन्धे पुरुष के रस्सी बटने के समान गृहस्थों के धार्मिक अनुष्ठान भी कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं। परम्परा से कारण होने के कारण उपचार से वह धर्म कहा जाता है, अज्ञानी जनों के संबोधन के समान।

श्रीमंती ने कहा-''ऐसा ही है।'' बाद में वह मन में सोचने लगी- ''यह वैराग्य स्वाभाविक (स्वभाव से उत्पन्न) है। निश्चित ही यह आत्मा (निकट) आसन्न भव्य है।

सत्य ही है-वैराग्य से आत्मसुख होता है और वह वैराग्य एक तो पूर्वजनित कर्म से होता है, दूसरा मरण आदि घटना से होता है, ऐसा दो प्रकार का वैराग्य कहा गया है ॥२६॥

इस प्रकार त्रिवर्ग के उपभोग द्वारा कुछ काल व्यतीत कर उन दोनों को काम पुरुषार्थ का फल प्राप्त हुआ। पहला पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम चन्द्रकुमार रखा गया। कभी-कभी मनुष्य का भाग्य बलवान होता है, तब पुरुषार्थ की सफलता नहीं होती है। इस कारण से छह माह जीवित रहकर वह बालक मर गया।

तदनन्तरं एका पुत्री समुत्पन्ना। तस्याः नाम सुमनः आसीत्। तस्याः जीवनावधौ हि एकः पुत्रः जातः। तस्य नाम महावीर : अभवत्। तयोः स्वास्थ्यं सदैव समानं न स्यात्। प्राक् प्रथमः पुत्रः मृत्युंगतः अतः मनसि भयस्य सञ्चारः वर्तते स्म।

सत्यमेव–

मणुयभवे जम्मं खलु दुल्लहं जीविदं च पुण्णाऊ।
आरोग्गं सण्णाणं जं वुत्तं सच्चमेवं तं ॥२७॥

ग्रामात् बहिः द्वादशमीलदूरे एकस्य दिगम्बरश्रमणभट्टारकस्य समाधिस्थलम् आसीत्। तस्य नाम विद्यासागरः आसीत्। अक्किवाटे स्थितं तत् स्थलम्। अनेके जनाः प्रतिदिनं स्वाभिलषितपूर्त्यर्थं आगच्छन्ति स्म। तस्य स्थलस्य दूरे दूरे प्रभावं माहात्म्यं वा प्रसरितम्। श्रीमन्ति अपि तस्य विषये एकदा वार्तां कृतवती पत्या सह। एतत् श्रुत्वा मल्लप्पा आख्यत्–भाग्यवति! स्वकर्मणः फलम् अवश्यं हि भोक्तव्यम् अस्ति। यत्र तत्र भ्रमणेन किम्। पुण्यं कुरुष्व। तेन एव सर्वं सम्भवति।

सत्यमेव–

जिणभत्तीए पुण्णं पुण्णेण सव्वकज्जसिद्धी होदि।
तम्हा दुक्खखणेसु य जिणगुरुसरणं हि कायव्वं ॥२८॥

श्रीमन्ति आख्यत्–भवान् सत्यं आख्याति। आवां अपि तत्र गत्वा पूजां अर्चनां भक्तिं अभिषेकं

इसके बाद एक पुत्री उत्पन्न हुई। उसका नाम सुमन था। उसके जीवन काल में ही एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम महावीर हुआ। उन दोनों का स्वास्थ्य हमेशा ठीक नहीं रहता था। पहले ही प्रथम पुत्र मृत्यु को प्राप्त हो गया था, अतः मन में भय लगा रहता था।

सत्य ही है–मनुष्य भव में जन्म होना, जीवित रहना, पूर्ण आयु मिलना, आरोग्य होना और सम्यग्ज्ञान होना इन सबको जो दुर्लभ कहा है वह सत्य ही कहा है ॥२७॥

गाँव से बाहर बारह मील दूर एक दिगम्बर श्रमण भट्टारक का समाधिस्थल था। उनका नाम विद्यासागर था। वह स्थल अक्किवाट में स्थित था। बहुत से लोग प्रतिदिन अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए आते थे। उस स्थल का प्रभाव व महिमा दूर-दूर तक फैली हुई थी। एक बार श्रीमंती ने भी उसके विषय में पति के साथ बातचीत की, यह सुनकर मल्लप्पा ने कहा–''भाग्यवति! अपने कर्मों का फल निश्चित ही भोगने योग्य होता है। यहाँ-वहाँ भ्रमण करने से क्या? पुण्य करो। उससे ही सब कुछ संभव होता है।

सत्य ही है–जिनभक्ति से पुण्य होता है। पुण्य से समस्त कार्यों की सिद्धि होती है, इसलिए दु:ख के क्षणों में जिन और गुरु की शरण ही करना चाहिए ॥२८॥

श्रीमंती बोली– ''आप सही कहते हैं। हम दोनों भी वहाँ जाकर पूजा, अर्चना, भक्ति और

करिष्यावः यथा अत्र कुर्वः। अन्यच्च स्थानविशेषात् अपि भावेषु विशिष्टता स्यात्; अन्यथा क्षेत्रप्रत्ययः अनर्थकः एव भवेत्।

''यदि भवत्याः मनोऽभिलाषा तीव्रा वर्तते तर्हि तथा अस्तु। न मे अस्मिन् विषये का अपि आपत्तिः'' इति मल्लप्पा अब्रवीत्।

तदनन्तरं तौ समाधिस्थले गत्वा तच्चरणयोः अभिषेकपूजादिकं कर्तुं आरब्धौ। तदा मातुः गर्भे एकः शिशुः तिष्ठतिस्म। नवमासपर्यन्तं प्रत्येकं अमावस्यायां तत्र गमनं निरन्तरं अभूत्।

तन्मध्ये एकस्यां रात्रौ श्रीमन्ति एकं स्वप्नं दृष्टवती।'गगने तेजोमयी का अपि दिव्या तनूः जिनमूर्तिवत्' इति तया दृष्टम्। अन्यस्मिन् समये मल्लप्पा अपि दृष्टवान् 'अहं क्षेत्रे आम्रवृक्षस्य अधस्तात् तिष्ठामि। एकः सिंहः क्षेत्रे धावन् आयातः, सहसा मां न्यगलत्।'

अणुगूलं पडिगूलं होहिदि अग्गं जीविदे णियमा।
तस्स णिमित्तं पुव्वं दीसदि समणेहि सगुणेहिं ॥२९॥

निमित्तज्ञाता तत्फलं एवं कथयति–मातुः दिव्यमूर्तेः दर्शनं, कस्यचिददतिदिव्यपुण्यात्मनः पुत्रस्य गर्भे स्थितिं सूचयति। तस्य कीर्तिः गगनाङ्गणे प्रसरिष्यति। जिनमूर्तेः सदृशं दृश्यदर्शनात् सः जिनभेषेण विहरिष्यति।

अभिषेक करेंगे, जैसी यहाँ करते हैं। दूसरी बात यह है कि स्थान विशेष से भी भावों में विशिष्टता होती है, अन्यथा क्षेत्र प्रत्यय (अनर्थक) व्यर्थ ही हो जाये।''

''यदि आपकी मन की अभिलाषा तीव्र है, तो वैसा हो। मुझे भी इस विषय में कोई आपत्ति नहीं है।'' ऐसा मल्लप्पा ने कहा।

तत्पश्चात् उन दोनों ने समाधिस्थल जाकर उन दिगम्बर श्रमण भट्टारक के चरण युगलों की अभिषेक–पूजादिक करना प्रारंभ कर दिया। तब माता के गर्भ में एक शिशु आया। नव मास तक प्रत्येक अमावस्या को वहाँ जाना निरन्तर हुआ।

इसी बीच एक रात श्रीमंती के द्वारा स्वप्न में ''आकाश में कोई भी जिनेन्द्र–देव के सामान तेजस्वी दिव्य शरीर'' का दर्शन हुआ। किसी अन्य समय पर मल्लप्पा ने भी देखा कि ''मैं खेत में आम के वृक्ष के नीचे बैठा हूँ। एक सिंह खेत में दौड़ता हुआ आया अचानक मुझे निगलने लगा।''

अनुकूल या प्रतिकूल जो जीवन में नियम से आगे होगा उसका निमित्त पहले ही स्वप्न या शकुन से दिख जाता है ॥२९॥

निमित्तज्ञानी उसका फल इस प्रकार कहता है–''माता के दिव्यमूर्ति के दर्शन का फल कोई दिव्य पुण्यशाली पुत्र के गर्भ में आने को सूचित करता है। उसकी कीर्ति समस्त गगनरूपी आँगन में फैलेगी। जिनेन्द्र–देव की मूर्ति के समान दृश्य के दर्शन से वह जिनेन्द्र–देव के भेष (दिगम्बर भेष) में विहार करेगा।

अक्किवाट का समाधिस्थल

पितुः आम्रवृक्षस्य दर्शनेन आयाति–भवता प्रसूतः सन्ततिवृक्षः सर्वेभ्यः तुभ्यं मिष्टफलं सच्छायां च प्रदास्यति। भवतः समाधिः सहसा भविष्यति। सिंहेन निगलनं वीरमरणं सूचयति।

सत्यमेव–

सच्चं जदि सोक्खफलं फलिहिदि काले हु धम्मरुक्खस्स।
दाणिं सित्तो रुक्खो सुहछायं फलदि सो णियमा ॥३०॥

नवमासानन्तरं प्रसवकालः आगतः। माता महावीरस्य प्रसवपीडां स्मरति। ततः सा मल्लप्पां कथयति–महावीरस्य जन्मकाले मयि महती वेदना जाता तत्स्मरणमात्रेण मम मनः उद्वेजयति। अतः चिकित्सालये मां नेतव्यम्। मल्लप्पा सपदि तां तत्र आनीतवान्। चिक्कोडी सर्वकारीचिकित्सालये प्रसूतिगृहे तस्य दिव्यपुत्रस्य प्रसूतिः अभूत्। जन्मसमये कष्टानुभवः किञ्चिन्मात्रमेव अनुभूतः तया। जातस्य देहप्रभा किञ्चित् विशिष्टा दृष्टा। तत्रत्याः परिचारिकाः अतीव प्रसन्नाः अभवन्। काचित् मातुः समीपं पुत्रम् आनीय ताम् अभिनन्द्य प्रशंसां कृतवती। काचित् पुत्रस्य मुखं चुम्बितवती। काचित् 'पुत्रं प्रथमं मह्यं प्रददातु' इति प्रार्थितवती। काचित् बहिः गत्वा जनकं अभिनन्दितवती। काचित् तदा पुत्रस्य भारं तुलितवती। जातस्य एषः समीचीनः भारः प्राक् मया न दृष्टः इति विस्मितवती काचित्। काचित् मुहुर्मुहुः सर्वाङ्गं निरीक्षितवती। काचित् मातुः चरण सेवायां संलग्ना प्रश्नं पृच्छति–

पिता के आम के वृक्ष के दर्शन से फलित होता है–''आपके द्वारा उत्पन्न सन्तानरूपी वृक्ष तुम सभी को मीठा फल और अच्छी छाया प्रदान करेगा। आपकी समाधि अचानक होगी। सिंह के द्वारा निगलना वीर मरण को सूचित करता है।

सत्य ही है–धर्म वृक्ष के सुखफल यदि समय पर फल देंगे, यह सच है, तो अभी सिंचित किया हुआ वह वृक्ष नियम से सुख की छाया तो देता ही है ॥३०॥

नौ माह के पश्चात् प्रसवकाल आ गया। माता महावीर के समय की प्रसव पीड़ा को याद करती हैं। इसलिए वह मल्लप्पा से कहती हैं– ''महावीर के जन्म के समय मुझे बहुत वेदना हुई थी उसके स्मरण मात्र से मेरा मन काँप जाता है। इसलिए मुझे चिकित्सालय में ले चलो। मल्लप्पा शीघ्र ही उन्हें वहाँ ले गए। चिक्कोड़ी के सरकारी अस्पताल के प्रसूति गृह में उन्हें दिव्य पुत्र की प्राप्ति हुई। जन्म के समय उनके द्वारा किंचित् मात्र कष्ट का अनुभव हुआ। उत्पन्न होने वाले पुत्र की शरीर की कान्ति कुछ विशिष्ट देखी गयी। वहाँ की परिचारिकायें बहुत प्रसन्न हुईं। १. कुछ माता के पास पुत्र को लाकर उनका अभिनंदन करके प्रशंसा करने लगीं। २. कोई पुत्र के मुख को चूमने लगीं। ३. कोई 'पुत्र को पहले मुझे दो' ऐसी प्रार्थना करने लगीं। ४. कोई बाहर जाकर पिता को बधाई देने लगीं। ५. कोई उसी समय पुत्र का भार तौलने लगी। ६. नवजात शिशु का ऐसा समीचीन भार इससे पहले मेरे द्वारा नहीं देखा गया, कोई ऐसा आश्चर्य करने लगी। ७. कोई बार–बार उनके सर्वांग को देखने लगीं। ८. कोई माता के चरण की सेवा में संलग्न हुई, प्रश्न पूछती है कि–

कं जीविदं णराणं बलं धणं वा किमत्थि जीवाणं।
कंबलवंतं जीवं कदाइं ण बाहदे सीदं ॥३१॥
जो उचिदभारसहिदो लावण्णो सत्ततेजसंपण्णो।
सरदस्स पुण्णचंदे लहदि य जम्मो महापुरिसो ॥३२॥

सत्यमेव–

पुव्वज्जिदपुण्णे हु अट्ठकुमारीहि सेविदोव्व सिसू।
सव्वत्थ य सोहग्गं जीवो धम्मेण पावेदि ॥३३॥

शनैः शनैः ग्रामे सन्देशः अयं प्रसरितः। ग्रामीणाः अपि उभयं अभिनन्दितवन्तः। तदानीन्तनसमयः अश्विनसुदीचतुर्दश्यां रात्रौ प्रायशः १२:३० वादने (शरत्पूर्णिमायाम्) विक्रमसंवत्सरे २००३ तदनुसारेण १० अक्टूबर १९४६ रेवती नक्षत्रे २२/०६ अंशे आसीत्।

मनुष्यों का जीवन क्या है? (कं–जल है), जीवों का धन क्या है?(बल है), किस बलवान जीव को शीत कदापि बाधा नहीं देती है (कंबल वालों को) ॥३१॥

जो उचित भार से सहित है, लावण्य पूर्ण है, सत्त्व (बल) और तेज से सहित है, शरदऋतु के पूर्ण चंद्रमा में ऐसा कोई महापुरुष जन्म लेता है ॥३२॥

सत्य ही है–

पूर्व अर्जित पुण्य से ही आठ कुमारियों के द्वारा शिशु सेवित हुआ है। जीव सर्वत्र सौभाग्य धर्म से ही प्राप्त करता है ॥३३॥

धीरे–धीरे गाँव में यह संदेश फैल गया। ग्रामीणों ने भी उन दोनों का अभिनन्दन किया। उनके आने का समय आश्विन (सुदी) शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के लगभग १२:३० बजे था। संवत् २००३ दिनांक १० अक्टूबर १९४६ जब नक्षत्र उत्तरापद में २२/०६ अंश पर था।

जन्म–कुण्डली
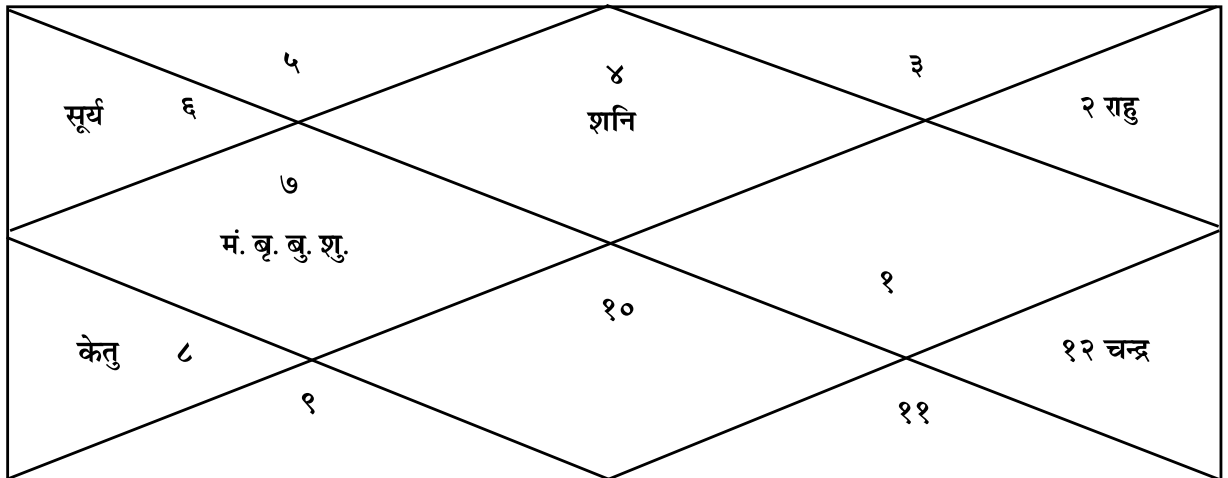
नामसंस्करणार्थं दम्पती परस्परं विचारितवन्तौ। झटिति श्रीमन्ति कथितवान्–अस्मिन् विषये चिन्ता कीदृशी? यस्य स्थलस्य माहात्म्यात् अस्माकं उपलब्धिः जाता तदनुरूपं हि नाम करणीयं अस्ति। विद्यासागरः इति नाम सुष्ठु भाति।

मल्लप्पा अब्रवीत्–न इदं युक्तम्। इदं तु मुनिमहाराजस्य नाम अस्ति इति प्रतिभाति। तीर्थकरेषु नामसु कञ्चित् उच्चिनुयात्। पुनः श्रीमन्ति आख्यत्–न न तत्स्थलानुरूपं हि कञ्चित् कर्त्तव्यम्। क्षणमपि विचिन्त्य सहसा– आम् 'विद्याधरः' मल्लप्पा तदानीं सुष्ठु अस्ति इति स्वीकृतिं प्रदत्तवान्।

णामाणुसारिभावो तम्हा णामं सुहं खु कादव्वं।
ववहारेसु पढमो ववहारो णामणिक्खेवो ॥३४॥

शीघ्रं हि सर्वे उच्चैः उच्चरितवन्तः विद्याधर! विद्याधर!...गृहे सर्वे जनाः निराकुलतां अनुभवन्ति स्म। स्वयमेव पुत्रस्य आयाते हि अपूर्वा शान्तिः सर्वैः अनुभूता। मातापितरौ अपि मनसि प्रसन्नतां अनुभवन्तौ तिष्ठतः स्म।

सुखस्य पश्चात् दुःखं, दुःखस्य पश्चात् सुखं इति संसारे सदैव परिवर्तते घटीयन्त्रभ्रमणवत्। अयं नियमः संसारे सर्वेभ्यः अस्ति। महापुरुषा अपि अस्मात् न विमुञ्चिताः किं ततः साधारण–जनस्य कथा।

नाम संस्कार के लिए दम्पती परस्पर में विचार करने लगे। शीघ्र ही श्रीमंती ने कहा–''इस विषय में चिन्ता कैसी? जिस स्थान के माहात्म्य से हमें यह उपलब्धि हुई है, उसके अनुरूप ही नामकरण करना योग्य है।' विद्यासागर' यह नाम अच्छा प्रतीत होता है।''

मल्लप्पा बोले–''यह युक्त नहीं है। यह तो मुनिमहाराज का नाम है, ऐसा प्रतीत होता है। तीर्थंकरों के नाम में से कोई भी नाम चयन करो। पुनः श्रीमंती ने कहा–''नहीं, नहीं उस स्थल के अनुरूप ही कुछ करना चाहिए। कुछ क्षण सोचकर अचानक–हाँ 'विद्याधर'। मल्लप्पा ने उसी समय 'अच्छा है' ऐसी स्वीकृति प्रदान कर दी।

नाम के अनुसार भाव होता है, इसलिए शुभ नाम ही रखना चाहिए। सभी व्यवहारों में प्रथम व्यवहार नाम निक्षेप ही है ॥३४॥

शीघ्र ही सभी जोर से कहने लगे–विद्याधर! विद्याधर! घर में सभी जन निराकुलता का अनुभव करने लगे। पुत्र के आते ही सभी स्वयमेव अपूर्व शान्ति अनुभव (अनुभूत) करने लगे। माता-पिता भी मन में प्रसन्नता का अनुभव करते हुए रहने लगे।

सुख के पश्चात् दुःख, दुःख के पश्चात् सुख, यह नियम घटीयन्त्र के भ्रमण की तरह संसार में हमेशा चलता रहता है। यह नियम संसार में सभी के लिए है। महापुरुष भी इससे नहीं छूट पाए, तो फिर साधारण मनुष्यों की क्या बात है?

सत्यमेव–

सुखस्यानन्तरं दु:खं दु:खस्यानन्तरं सुखम्।
अध्रुवं सुखदु:खं वा घटीयन्त्रस्य वर्तनम् ॥३५॥

भगिनी सुमन: भ्रातृभ्यां सह सुखेन क्रीडितवती। षड्वर्षदेशीया सा आकस्मिकी अस्वस्था जाता। निदाने कृतेऽपि शनै: शनै: सा कृशा अभवत्। अन्ते सा न रक्षिता अत: यममुखेन च कवलिता।

''पुरा पुत्रस्य मृत्यु: अल्पवयसि अभूत्। अद्य षड्वर्षोपरान्तं पुत्री क्रोडात् निर्गता। अहो विधात:! किमर्थं एतत्? मयि विषये हि किं रुष्ट:? पुरा मया किं किं दुष्कर्म उपार्जितं यस्य फलं अद्य अनुभूयते'' इति श्रीमन्ति विलपितवती पत्यु: अङ्के। मल्लप्पा धीरतया अतिष्ठत्। न किमपि उक्तवान्। किंकर्त्तव्यविमूढः सन् स्तम्भवत् अभवत्। कर्मणां विचित्रां दशां अचिन्तयत्।

सत्यमेव–

जं जीवेण पबद्धं आउगकम्मं च पुव्वजम्मम्मि।
जीवदि तहाणुसारं को सक्कदि अण्णहा कादुं ॥३६॥

कथमपि स्वयं शान्तो भूत्वा स: श्रीमन्तिं प्रबोधितवान्। मन्ति! मा रोदनं विधेहि, पूर्वकृतस्य कर्मण: फलं अवश्यं हि भोक्तव्यम् अस्ति। अस्मिन् विषये न अन्य: कोपि दोषभाक्। यत् घटितं तत् विस्मरितव्यम्

सत्य ही है–सुख के बाद दु:ख और दु:ख के बाद सुख होता है। सुख अथवा दु:ख अध्रुव हैं जो घटीयन्त्र के समान चलते रहते हैं ॥३५॥

बहिन सुमन दोनों भाईयों के साथ सुखपूर्वक खेलती थी। छह वर्ष की अवस्था में वह अचानक अस्वस्थ हो गयी। इलाज करवाने पर भी वह धीरे-धीरे कमजोर (कृश) होती गयी। अन्त में उसकी रक्षा न हो पायी और वह मृत्यु (यम) के मुख में चली गयी।

''पहले अल्प आयु में पुत्र की मृत्यु हो गयी। आज छह वर्ष उपरान्त पुत्री गोदी से चली गयी। अरे विधाता! यह किसलिए हो रहा है। मेरे विषय में ही क्यों रुष्ट हो? पूर्व में मेरे द्वारा क्या-क्या दुष्कर्म किए गए, जिसका फल आज अनुभूत हो रहा है।'' ऐसा श्रीमंती पति की गोद में विलाप करती हैं। मल्लप्पा धैर्यपूर्वक बैठे। कुछ भी नहीं बोले। किंकर्त्तव्यविमूढ़ होते हुए स्थिर हो गए। कर्मों की विचित्र दशा का चिन्तन करने लगे।

सत्य ही है–पूर्व जन्म में जो आयु कर्म जीव ने पहले बांधा है। उसी के अनुसार जीवन चलता है, उसे अन्यथा करने के लिए कौन समर्थ है? ॥३६॥

किसी भी तरह स्वयं शान्त होकर उन्होंने श्रीमंती को संबोधित किया–''अरे मंति! रोओ मत। पहले किए हुए कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। इस विषय में अन्य किसी का भी दोष नहीं। जो घटित हो गया, उसको भूल जाओ, अन्यथा इन दोनों पुत्रों के पालन-पोषण में कमी

अन्यथा एतयोः पुत्रयोः पालनपोषणे न्यूनता भविष्यति। पश्य, साम्प्रतम् एतौ अल्पवयस्कौ, अतः सावधानतया परिपालयितव्यौ।

''पुरा अपि उभयेषां सम्यक् पालनं कृतं प्रत्युत किमपि न प्राप्तम्। मम मनसि अधुना अत्यधिका उदासीनता संसारात् उपपद्यते। कुत्र अपि न चित्तं स्थिरीभवति। एतयोः पालनं अपि निरर्थकं भाति।'' इति श्रीमन्ति रुदितवती।

''न, न इत्थं मा वद। **माता एव शिशोः आद्या पाठशाला अस्ति।** यथा पूर्वं नैसर्गिकप्रेम भवत्याः दृश्यते तथा हि अधुना कार्यम्।''

एवं सान्त्वनावचनेन श्रीमतेः चित्तं शान्तं अभवत्। मल्लप्पा अग्रे कथितवान्-मम मनसि एका घटना पुनः पुनः आयाति। तां श्रावयितुं इच्छामि।

भवान् अवश्यं कथयतु अहं श्रोतुं इच्छामि इति श्रीमन्ति गदितवती। सः कथितवान्-अस्ति विवाहात् प्राक्कालिकी सा घटना, तद्यथा-समीपवर्तिग्रामे पञ्च-कल्याणमहोत्सवः जिनेन्द्रदेवस्य एकदा अभवत्। प्रतिष्ठां कारयित्वा, श्रीमच्चन्द्रप्रभदेवस्य एकां प्रतिमां पितुः आज्ञया अहं गृहं आनीतवान्। गृहचैत्यालयस्य स्थापना च अत्र मया कृता। पितुः मरणस्य पश्चात् तां जिनप्रतिमां श्रीशान्तिनाथजिनालये अहं स्थापितवान्। गृहचैत्यालयं अपि अहं समापितवान्। तेन कारणेन एतत् सर्वं घटते इति मयि भासते।

हो जाएगी। देखो अभी ये दोनों (अल्प वयस्क) छोटी उम्र के हैं अतः सावधानी-पूर्वक इनका पालन करना चाहिए।''

''पहले भी दोनों का अच्छे से पालन किया था, बदले में कुछ भी नहीं मिला। आज मेरे मन में संसार से अत्यधिक उदासीनता उत्पन्न हो गयी है। कहीं भी मन स्थिर नहीं होता है। इन दोनों का पालन भी निरर्थक प्रतीत होता है।'' ऐसा श्रीमंती ने रोते हुए कहा।

''नहीं, नहीं ऐसा मत बोलो। **माता ही बच्चों की प्रथम पाठशाला है।** पहले जैसा स्वाभाविक प्रेम आपका बच्चों के लिए देखा है, वैसा ही अब करना है।

इस प्रकार सान्त्वना भरे वचनों के द्वारा श्रीमंती का चित्त शान्त हुआ। मल्लप्पा ने आगे कहा- ''मेरे मन में एक घटना बार-बार आती है। उसको सुनाना चाहता हूँ।''

''आप अवश्य कहिए, मैं सुनना चाहती हूँ'' ऐसा श्रीमंती ने कहा। उन्होंने कहा-यह घटना विवाह के पूर्व की है। वह इस प्रकार है-एक बार निकट के गाँव में, जिनेन्द्रदेव का पञ्चकल्याणक महोत्सव हुआ। पिता की आज्ञा से श्री चन्द्रप्रभ भगवान की एक प्रतिमा प्रतिष्ठित करवाकर मैं घर में ले आया और मेरे द्वारा घर के चैत्यालय में इस प्रतिमा की स्थापना की गयी। पिता की मृत्यु के बाद मैंने वह प्रतिमा श्री शान्तिनाथ जिनालय में स्थापित कर दी। घर का चैत्यालय भी मैंने समाप्त कर दिया। उसके कारण ही यह सब घटित हो रहा है ऐसा मुझे प्रतीत होता है।

सच्चमेव–

मंगलभूदं भणिदं जिणपडिबिंबं जिणेहिं साहूहिं।
जत्थेव होदि एदं किमण्णमंगलसहस्सेहिं ॥३७॥

''यदि एवं अस्ति तर्हि तस्य उपायः अन्वेषणीयः'' इति श्रीमन्ति उक्तवती। तत्पश्चात् मल्लप्पा कस्यचित् भट्टारकस्य समीपं एवं विचारितवान्। भट्टारकेण विशिष्टजिनपूजाविधानादिकरणार्थं प्रबोधितम्। तदनु सः सम्यक् सर्वं अनुष्ठितवान्। तत्प्रभावेण शनैः शनैः मनांसि सर्वेषां प्रसन्नानि सञ्जातानि।

पूयं पकुव्वंति जिणेसराणं, सयाट्ठदव्वेण सुविसुद्धचित्ता।
जे सावया पावविणासणट्ठं, पावंति ते सोक्खमणुत्तरं तं ॥३८॥

मल्लप्पा पूर्वात् अपि अधिकः धार्मिकः अभूत्। अनेकापदावने पतितः अपि सः कर्त्तव्यविमूढः न अभवत्। ''कष्टाः मनुष्यस्य धैर्यस्य निकषाः भवन्ति। कष्टात् पराङ्मुखः क्लीबः स्यात्। स च अयोग्यः भवति लौकिककार्याय लोकोत्तरकार्याय च।'' इति दृढतरा भावना तस्य चित्ते वर्तते स्म सदा।

सत्यमेवोक्तम्–

उदए सविदा रत्तो भवदि अत्थमणे तहेव।
विवदाए संपदाए महापुरिसाणं समं होदि ॥३९॥

सच ही है–

जिन साधुओं ने जिन प्रतिबिम्ब को मंगलभूत कहा है। जहाँ यह मंगल है, वहाँ अन्य हजारों मंगलों से क्या? ॥३७॥

''यदि ऐसा है तो उसका उपाय खोजना चाहिए'' ऐसा श्रीमंती ने कहा। इसके बाद मल्लप्पा ने किसी भट्टारक के समीप इस प्रकार विचार-विमर्श किया। भट्टारक के द्वारा विशिष्ट जिनपूजा विधान करने के लिए कहा गया। उनके अनुरूप उन्होंने सब भलीभाँति किया। उसके प्रभाव से धीरे-धीरे सबके मन में प्रसन्नता उत्पन्न हुई।

जो श्रावक जिनेश्वरों की पूजा सुविशुद्ध चित्त होकर सदा अष्ट-द्रव्य से पाप का विनाश करने के लिए करते हैं, वे उस अनुत्तर (उत्कृष्ट) सुख को प्राप्त करते हैं ॥३८॥

मल्लप्पाजी पहले से भी अधिक धार्मिक हो गए। अनेक आपदाओं के आने पर भी वह कर्तव्य विमुख नहीं हुए। ''कष्ट मनुष्य के धैर्य की कसौटी होते हैं। कष्टों से पराङ्मुख कायर होता है और वह लौकिक तथा लोकोत्तर कार्यों के लिए अयोग्य होता है।'' ऐसी दृढ़तर भावना उनके हृदय में हमेशा रहती थी।

सत्य ही कहा है–

सूर्य उदय समय पर भी लाल होता है और अस्त समय पर भी लाल होता है। सम्पत्ति और विपत्ति में महान् पुरुषों को एक-रूपता (समभाव) रहती है ॥३९॥

श्रीमन्ति तु विद्याधरं स्वीयाङ्कात् न कदापि निवारयति स्म। विद्याधरेण अपि स्वक्रीडया मातुः मनः प्रसन्नं कृतम्। पुराणि सर्वाणि दुःखानि श्रीमन्ति विस्मरितवती। पुत्रद्वयस्य परिपालने सा हर्षिता अभूत्। ''सुखेन कालः शीघ्रं गमयति'' इति नीत्या हि तौ चन्द्रकला इव वृद्धिं गतौ।

इतः मल्लप्पा कृषिगृहकार्यादिकं समाप्य सायंकाले नियमेन गृहे हि पुराणादिकं पठितस्म। कदाचित् श्रीमन्ति अपि श्रुतवती यदा गृहकार्यात् निर्वर्तते स्म। द्वौ पुत्रौ अपि उपविश्य धर्मामृतं पिबतः स्म। वर्षायोगे निकटवर्तिभिर्गृहस्थैः सह सः प्रथमानुयोगं उपदिशति स्म। शान्तिनाथपुराणम्, वरांगचरितम्, कालिकापुराणम् इत्यादिग्रन्थाः वाचनायाः विषयभूताः मुख्येन आसन्। देवपूजादिषडावश्यकानि तेन नियमेन पालितानि।

जिणबिंब दिट्ठूणं जो भव्वो कुणदि अण्णकज्जाणि।
दिवसे भोजणकारो सो सावय सुद्धजलपायी ॥४०॥

सपरिवारः मल्लप्पा श्रीबेलगोलतीर्थस्य दर्शनार्थं यात्रां कृतवान्। तदा विद्याधरः त्रिवर्षीयः आसीत्। पर्वतस्य उपरि सोपानारोहणक्रमे सर्वे विश्रामं कुर्वन्तः अतिष्ठन्। अवसरं प्राप्य विद्याधरः शिशुः सोपानारोहणाय प्रयासं कृतवान्। द्वित्र्यादिसोपानं आरुह्य सः अधः निपतितवान्। सहसा सर्वे विस्मितवन्तः। श्रीमन्ति तं उत्थाय अङ्गोपाङ्गं परीक्षितवती। मल्लप्पा श्रीमन्तिं ताडितवान्–कथम् एषः प्रमादः सञ्जातः। यदि अस्य अङ्गस्य हानिः भवेत् तस्य कः उत्तरदायी स्यात्। तदानीं विद्याधरः सहासेन क्रीडितवान्। एवम् अवलोक्य

श्रीमंती तो विद्याधर को अपनी गोद से कभी भी दूर नहीं करती थीं। विद्याधर भी अपनी क्रीड़ा से माता के मन को प्रसन्न करते रहते थे। पुराने सभी दुःख श्रीमंती जी भूल गयीं। दोनों पुत्रों का पालन करते हुए वह प्रसन्न रहने लगी। ''सुख का काल शीघ्रता से चला जाता है'' इस नीति के अनुसार वे दोनों चन्द्रमा की कलाओं के समान वृद्धि को प्राप्त हुए।

इधर मल्लप्पा कृषि और घर के कार्यों को पूरा करके सायंकाल में नियम से घर में ही पुराण आदि पढ़ते थे। कभी-कभी श्रीमंती भी सुनती थीं, जब वह घर के कार्यों से निवृत्त होती थीं। दोनों पुत्र भी बैठकर धर्मामृत का पान करते थे। वर्षायोग में निकटवर्ती गृहस्थों के साथ बैठकर वह प्रथमानुयोग का उपदेश देते थे। शांतिनाथ-पुराण, वरांगचरित, कालिकापुराण इत्यादि वाचना के विषयभूत मुख्य ग्रन्थ थे। देवपूजा आदि छह आवश्यकों का वह नियम से पालन करते थे।

जो भव्य जीव जिनबिम्बों का दर्शन करके अन्य (गृह) कार्य करता है, जो दिन में भोजन करता है और शुद्ध जल पीता है, वह श्रावक है ॥४०॥

मल्लप्पाजी ने सपरिवार श्रवणबेलगोल तीर्थ के दर्शन के लिए यात्रा की। तब विद्याधर तीन वर्ष के थे। पर्वत के ऊपर सीढ़ी चलते हुए सभी विश्राम करने बैठ गए। अवसर पाकर शिशु विद्याधर सीढ़ी चढ़ने के लिए प्रयास करने लगा। दो-तीन सीढ़ी चढ़कर वह नीचे गिर गया। अचानक सभी आश्चर्य-चकित हो गए। श्रीमंती ने उसको उठाकर अंग-उपांगों का निरीक्षण किया। मल्लप्पा ने श्रीमंती को डाँटते हुए कहा-''ऐसा प्रमाद कैसे हुआ? यदि उसके अंगों की हानि हो जाती, तो

पितुः रोषः समाप्तिं गतः। तद्रोषेण पितुः आन्तरं प्रेम प्रकटितम्। श्रीमन्ति अपि दीर्घश्वासेन निश्चिन्तितां अनुभूतवती।

उपादाननिमित्तयोः सहजा मैत्री अत्र लक्ष्यते। सपरिवारेण विद्याधरः गुरुदेवस्य आचार्य श्री शान्तिसागरस्य दर्शनं कृतवान्। दर्शनमात्रेण अन्तसि विद्याधरस्य किं घटितम्, न केनापि विज्ञातम्। स्वयं विद्याधरः अपि न जानीते। रवेः समागते सति अरविन्दस्य विकासः कथं इति सम्बन्धः अप्रश्नार्हः। दर्शनानन्तरं विनयेन सर्वे नमोऽस्तु इति कृतवन्तः मल्लल्पा प्रार्थितवान्–

भवद्दर्शनेन अपूर्वः आह्लादः अभवत्। अद्य मे सफलं जन्म, नेत्रे च पवित्रीभूते तथापि चित्तपवित्रीकरणार्थं भवद्दिव्यवचनं श्रोतुकामः अस्मि।

यतश्च–

अस्सिं पंचमकाले केवलि सुदकेवलिणमभावोत्थि।
गुरुवयणं खलु तेण इहलोए अमियभूदं जं ॥४१॥

श्रीगुरुः तदा उपदिष्टवान्। धर्मविहीनं जीवनं निरर्थकं अस्ति अजगलगण्डवत्। धर्मः तु सम्यग्दर्शनम् एव। तदर्थं श्रद्धा दृढतरा भवेत्। अनादिकालेन सर्वैः सर्वं प्राप्तं सद्धर्ममन्तरेण।

उसका उत्तरदायी कौन होता?'' उसी समय विद्याधर हँसता हुआ खेलने लगा। यह देखकर पिता का क्रोध समाप्त हो गया। उस क्रोध से पिता का अन्तरंग प्रेम प्रकट हुआ। श्रीमंती ने भी दीर्घ श्वाँस लेकर निश्चिन्तता की अनुभूति की।

उपादान और निमित्त की मैत्री यहाँ पर सहज ही देखी जाती है। विद्याधर ने परिवार सहित गुरुदेव आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज के दर्शन किए। दर्शन मात्र से विद्याधर के अन्तस् में क्या घटित हुआ, यह कोई नहीं जान सका। स्वयं विद्याधर भी नहीं जान पाये। सूर्य के उदय होने पर कमल का विकास कैसे? यह सम्बन्ध प्रश्न के योग्य नहीं है। दर्शन करने के पश्चात् सभी ने विनय से 'नमोऽस्तु' की। मल्लप्पा ने निवेदन किया–

''आपके दर्शन से अपूर्व आह्लाद (आनन्द) हुआ है। आज मेरा जन्म सफल हो गया और नेत्र पवित्र हो गए, फिर भी चित्त को पवित्र करने के लिए आपके दिव्य वचन सुनने की इच्छा है।''

जैसा कि–

इस पंचमकाल में केवली और श्रुतकेवली का अभाव है इसलिए जो गुरुवचन इस लोक में हैं वह अमृतभूत हैं ॥४१॥

तब श्रीगुरु ने उपदेश दिया–धर्म से रहित जीवन बकरे के गले के स्तन की तरह निरर्थक है। धर्म तो सम्यग्दर्शन ही है। उसके लिए श्रद्धा दृढ़तर होनी चाहिए। अनादिकाल से सच्चे धर्म के अलावा सभी ने सब कुछ प्राप्त किया है।

धर्मे श्रद्धादृढीकरणार्थं त्रीणि दृष्टान्तानि श्रीगुरुणा रत्नत्रयबीजरूपाणि उपदिष्टानि। तं उपदेशम् अवधार्य सर्वे प्रतिनिवृताः। केचन निकटस्थाः गृहस्थिताः च विद्याधरं अन्यनाम्ना अपि आह्वयन्ति स्म। तेषु पीलुः गिनी मरी इत्यादिप्रमुखाः आसन्।

इति मुनिप्रणम्यसागरविरचिते अनासक्तमहायोगिनाममहाकाव्ये आचार्य विद्यासागरचरित-व्यावर्णने दिव्यावतरणसंज्ञकः द्वितीय सर्गः समाप्तः।

धर्म में श्रद्धा को दृढ़ करने के लिए श्रीगुरु ने रत्नत्रय के बीज रूप तीन दृष्टान्त सुनाए। उनके उपदेश को धारण करके सभी वापस घर चले गए। कितने ही निकट रहने वाले और घर में रहने वाले लोग विद्याधर को अन्य नामों से भी पुकारते थे। उनमें पीलू, गिनी, मरी इत्यादि प्रमुख नाम थे।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला दिव्यावतरण संज्ञक दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।

तृतीयः सर्गः
यौवनाङ्गणे प्रवेशः

गृहे अपि सदैव धार्मिकवातावरणं निर्मितम् आसीत्। पितुः मुखात् पुराणपुरुषाणां आख्यानं विद्याधरेण भूरि श्रुतम्। तेषां कथावस्तूनां स्मृतिः मानसपटले स्पष्टतया जाता। माता तु पुत्रद्वयं धार्मिकसंस्कारेण निरन्तरं पोषयतिस्म। ज्येष्ठभ्राता महावीरः यद्यपि धार्मिकः आसीत् तथापि या तीव्रा रुचिः विद्याधरे मात्रा दृष्टा सा ज्येष्ठे न। एकदा जननी पुत्रद्वयं कथयतिस्म–भक्तामर–स्तोत्रं, जिनसहस्रनामस्तोत्रं तत्त्वार्थसूत्रं च उभयेन कण्ठस्थं कर्त्तव्यम्। यः खलु पाठत्रयं प्राक् श्रावयिष्यति तस्य अर्धरूप्यकं प्रदास्ये। कतिपयदिवसानन्तरं विद्याधरः मातुः पाठत्रयं प्राक् श्रावितवान्। महावीरः तत्पश्चात् अपि न युगपत् श्रावितवान्। एतावता विद्याधरेण मातुः मनः अत्यन्तं मोहितम्। पितुः आज्ञां अपि सः झटिति पालयति स्म। तेन मातापितरौ तं प्रति प्रासीदताम्।

अन्यदा सपरिवारः सः शेडवालग्रामं गतः। तत्र **आचार्यश्रीशान्तिसागरः** चारित्रचक्रवर्त्युपाधिना विभूषितः अतिष्ठत्। तेषां जीवितस्य संध्या–समयः तावत् प्रावर्तत। तत्पश्चात् आचार्यदेवः समाधिकरणार्थं कुंथलगिरिं प्रति प्रस्थितः। तदा विद्याधरः नववर्षीयः आसीत्। पुराणवृक्षस्य अन्तिमः किल कालः नव्यवृक्षस्य भाविनः बीजवपनं करोति।

घर में भी हमेशा धार्मिक वातावरण रहता था। पिता के मुख से पुराण–पुरुषों की कथाएँ विद्याधर द्वारा बहुत सुनी गयीं। उन कथावस्तुओं (कथानकों) की स्मृति मानस पटल पर स्पष्ट–रूप से बन गयीं। माता तो दोनों पुत्रों को धार्मिक संस्कारों द्वारा निरन्तर पोषित करती थीं। ज्येष्ठ महावीर यद्यपि धार्मिक थे, फिर भी जितनी तीव्र रुचि विद्याधर में देखी गयी उतनी बड़े भाई में नहीं थी। एक दिन माता ने दोनों पुत्रों से कहा–भक्तामर स्तोत्र, जिनसहस्रनाम स्तोत्र और तत्त्वार्थसूत्र दोनों को कण्ठस्थ करना है। निश्चित रूप से जो इन तीन पाठों को पहले सुनाएगा उसको अठन्नी (आधा रुपया) मिलेगी। कुछ दिनों के बाद विद्याधर ने तीनों पाठ माता को पहले सुना दिये। महावीर उसके बाद भी एक साथ न सुना पाए। इस प्रकार विद्याधर के द्वारा माता का मन अत्यन्त मोह लिया गया। पिता की आज्ञा का भी वह शीघ्रता से पालन करते थे। इस कारण से माता–पिता उनसे प्रसन्न रहते थे।

अन्य समय मल्लप्पा सपरिवार शेडवाल गाँव गए। वहाँ चारित्र–चक्रवर्ती उपाधि से विभूषित आचार्य शान्तिसागरजी महाराज विराजमान थे। उनके जीवन का संध्या समय तब चल रहा था। उसके बाद आचार्यदेव समाधि करने के लिए कुंथलगिरी चले गए। तब विद्याधर नौ वर्ष के थे। पुराने वृक्ष का अन्तिम काल ही आगामी नए वृक्ष का बीज वपन करता है।

सत्यमेव–

णिउणो जो किरियासु बुद्धिधरो णिच्च मातुपिदुसेवी।
एगो हि वरो पुत्तो जेण सुहं वड्ढदे हियए ॥१॥
गुणवंतसुदो एगो णिग्गुणेहिं किं सहस्सेहिं।
एगो चंदो वरो लोए ताराहि सगणेहिं किं ॥२॥

विद्याधरस्य बुद्धिः न केवलं धार्मिकपाठस्मरणे कुशला आसीत् अपितु लौकिकपाठपठने अपि। तेनैव कारणेन सः द्वितीय कक्ष्यामुत्तीर्य चतुर्थकक्ष्यां प्रविष्टवान्। यथा तेन गृहे मातापितरौ प्रसन्नौ कृतौ तथा हि विद्यागृहे अध्यापकाः। तस्य बुद्धेः प्रवीणतां अवबुध्य प्रधानाध्यापकेन तृतीयकक्ष्यां उल्लंघनार्थं स्वीकृतिः प्रदत्ता। सत्यमेव–

गुरुसेवाकरणेण य मादपिदाणं खु मण्णदे आणं।
सगणाणेण य विज्जा चउत्थं पुण कारणं णत्थि ॥३॥
विज्जावंतो लोगे पसंसिदो होदि सगपरजणेहिं।
मउडेसु य मोलिव्व अग्गिमट्ठाणे हि वट्टेदि ॥४॥

सः शिक्षणक्षेत्रे यथा निपुणः तथा हि क्रीडाक्षेत्रे अपि आसीत्। पांशुक्रीडामित्रैः सह सः गिल्लीदण्डं क्रीडतिस्म।

सत्य ही है–जो क्रियाओं में निपुण है, बुद्धिमान् है और नित्य माता–पिता की सेवा करने वाला है, ऐसा एक ही पुत्र श्रेष्ठ है, जिससे हृदय में सुख बढ़ता है ॥१॥

गुणवान पुत्र एक ही पर्याप्त है, हजारों निर्गुण पुत्रों से क्या? सच है लोक में एक चन्द्रमा ही श्रेष्ठ है, अपने समूह सहित ताराओं से क्या है? ॥२॥

विद्याधर की बुद्धि न केवल धार्मिक पाठों का स्मरण करने में कुशल थी, अपितु लौकिक पाठ पढ़ने में भी थी। इस ही कारण से वह द्वितीय कक्षा को पास करके चतुर्थ कक्षा में प्रविष्ट हो गए। जिस प्रकार उन्होंने गृह में माता–पिता को प्रसन्न किया था। उसी प्रकार विद्यालय में शिक्षक जनों को प्रसन्न किया था। उनकी बुद्धि की प्रवीणता को जानकर, प्रधानाध्यापक द्वारा तृतीय कक्षा का उल्लंघन करने की स्वीकृति प्रदान की गयी।

सत्य ही है–गुरु सेवा करने से, माता–पिताओं की आज्ञा मानने से और स्वयं के ज्ञानावरण के क्षयोपशम से विद्या उत्पन्न होती है। विद्या प्राप्ति का कोई चौथा कारण नहीं है ॥३॥

विद्यावान लोक में स्वजन और परजन से प्रशंसित होता है। ऐसा पुत्र मुकुटों में मौलि के समान अग्रिमस्थान पर ही रहता है ॥४॥

वह शिक्षा के क्षेत्र में जितने निपुण थे, उतने ही खेल में भी थे। बचपन के मित्रों के साथ वह गिल्ली डण्डा खेलते थे।

ग्रामात् बहिः एकस्मिन् उच्चस्थानके नियमपद्धतिः प्राचलत्। तस्याः नाम 'गुहामन्दिरम्' सर्वैः उदीर्यते। सा च वसतिका अपि मुनि-महाराजस्य आख्यायते। एकदा श्रीमहाबलनाम्ना विख्यातः मुनिराजः तस्यां स्थितवान्। तस्मात् गुहास्थानात् अधस्तात् क्रीडाक्षेत्रं बालानां आसीत्। यत्र आगत्य ग्रामस्य बालकाः नानाक्रीडासु संलग्नाः अभवन्। एकस्मिन् समये बालकः विद्याधरः मित्रैः सह गिल्लीदण्डं अक्रीडत्। सहसा गिल्लीं उपरिस्थाने सः प्रक्षिप्तवान्। तां आनयनार्थं सः कथमपि गुहायाः समीपे आगतः। गिल्लीं हस्ते आदाय सः अपश्यत्-कश्चित् मुनिराजः अन्तः अतिष्ठत्। गमनपथे स्थिताः जिनमूर्तयः जिनमुद्राधारकाः वा प्रथमं वन्द्यमानाः सन्ति। दर्शनेन विना तेषां अविनयः सम्पद्यते इति द्रुतं विचार्य सः अन्तः प्राविशत्।

सच्चमेव-

गमणपहे मेलंता जिणालया साहवो य जिणतित्थं।
जो वंदिऊण गच्छदि सो खलु पुरिसो विणयजुत्तो ॥५॥
हियए जस्स दु विणओ सो वसंकरेदि सव्वजणहियअं।
हत्थे चिंतामणियं देवा वि य सेवगा तस्स ॥६॥

अन्तर्गत्वा अपश्यत् सः श्रीमुनिः ध्याने निमग्नः अस्ति। तथापि क्षणद्वयं निर्विकारनिःस्पृहमुद्रां अनिमेषेण सः अवलोकितवान्। मनसि "महाभागी अहम्, यत् एतादृशानां मुनीनां दर्शनं मया लब्धम्" इति सञ्चिन्त्य मुखरितः भूत्वा 'नमोऽस्तु' इति। अकस्मात् भव्यस्य भाग्यवशात् मुनिना नेत्रद्वयं उन्मीलितम्-"अग्रे एकः

गाँव के बाहर एक उच्च स्थान पर एक गुफा थी। उसका नाम 'गुहा मन्दिर' सभी कहते थे और वह मुनिमहाराजों की वसतिका (आवास) भी कही जाती थी। एक बार श्री महाबल नाम के प्रसिद्ध मुनि उसमें बैठे थे। उस गुफा स्थान के नीचे बालकों के खेलने का स्थान था। जहाँ आकर गाँव के बालक विभिन्न खेलों में लग जाते थे। एक समय बालक विद्याधर मित्रों के साथ गिल्ली डण्डा खेल रहे थे। अचानक उनकी गिल्ली ऊपर चली गई। उसको लेने के लिए वह बड़ी कठिनता से गुफा के समीप पहुँचे। गिल्ली को हाथ में लेकर उन्होंने देखा-कोई मुनिराज भीतर बैठे हुए हैं। "रास्ते में स्थित जिन मूर्तियाँ अथवा जिन मुद्रा के धारी मुनिराज सर्वप्रथम वंदनीय होते हैं। दर्शन के बिना उनकी अविनय होती है।" ऐसा शीघ्रता से विचार करके वह अन्दर गये।

सच ही है-गमनपथ पर मिलने वाले जिनालय, साधु और जिनतीर्थों की जो वंदना करके आगे बढ़ता है, वह पुरुष विनय से युक्त होता है ॥५॥

जिसके हृदय में विनय है, वह समस्तजनों के हृदय को वश कर लेता है। उसके हाथ में चिंतामणि है। उस विनयवान जीव के सेवक देव भी होते हैं ॥६॥

अन्दर जाकर उसने देखा कि श्रीमुनि ध्यान में लीन हैं। फिर भी दो क्षण को निर्विकार निस्पृह मुद्रा को बिना पलक झपकाए वह देखते रहे। "मैं महाभागी हूँ, जो ऐसे मुनियों का दर्शन प्राप्त हुआ"। मन में इस प्रकार भलीभाँति सोचकर मुख से 'नमोऽस्तु-नमोऽस्तु' कहा। अचानक भव्य

बालकः उपविशति अञ्जलिपुटमुकुलीकृत्य'' इति दृष्टम्। मुखकमलं मुनेः अवलोक्य पुनः नमस्कारं सः कृतवान्। 'धर्मवृद्धिः अस्तु' इति ध्वनिः गुहायां गुञ्जितः। तथापि बालकः तत्रैव उपविशन् आसीत्। 'अस्य चेतसि अन्या काचित् जिज्ञासा वर्त्तते' इति मत्वा श्रीमुनिः उक्तवान्–वत्स! किमर्थं तिष्ठसि? 'भवद्वचनामृत–श्रवणार्थम्' इति विद्याधरः अब्रवीत्।

सच्चमेव–

गुरुदिट्ठीए सेयं गुरुआसीच्छाया कप्परुक्खोव्व।
गुरुवयणं भमहरणं सग्गसुहं गुरुपुच्छिदो हं ॥७॥

बाढं बाढं, किं नामधेयम्? इति मुनिः अपृच्छत्। सः उक्तवान्–विद्याधरः।

''विद्या अधरे तिष्ठति अतः विद्याधरः सुष्ठु नाम'' श्रीमुनिः उवाच। पश्चात् मुनिः तूष्णीं आसीत्।

बुद्धिमद्भिः सह सः शतरंजम् अक्रीडत्। कन्नडभाषया तत् 'बुद्धिवड' इत्याख्यायते। बुद्धेः नैपुण्यात् शतरंजक्रीडायां सः अग्रणीः अभवत्। सकले ग्रामे मित्रैः सवयस्कैः सह तस्य मित्रता आवर्तत्। क्रीडायां शिक्षायां च सः यद्यपि अग्रिमः आसीत् तथापि न अन्यः कः अपि ईर्ष्यां दधाति तं प्रति इति आश्चर्यम्।

तस्मिन् ग्रामे एकः श्रेष्ठी अवसत्। ग्रामे निवसन्नपि सः नगरश्रेष्ठीवत् धनाढ्यः आसीत्। तस्य नाम लोकप्पा आसीत्। तस्मै किल शतरंजक्रीडा अतीव रोचते स्म। केन अपि जनेन कथितं–श्रेष्ठिन्। विद्याधरः

के भाग्य से मुनिराज ने दोनों नेत्र खोले।'' आगे एक बालक दोनों हाथों को जोड़कर बैठा है–ऐसा देखा। मुनि के मुख कमल को देखकर बालक ने पुनः नमस्कार किया। धर्मवृद्धि हो। इस प्रकार की ध्वनि गुफा में गूँज गयी। फिर भी बालक वहीं पर बैठा रहा। ''इसके मन में अन्य कोई जिज्ञासा है'' ऐसा मानकर श्रीमुनि बोले–बेटा! किसलिए बैठे हो? ''आपके वचनरूपी अमृत को सुनने के लिए''–ऐसा विद्याधर ने कहा।

सच ही है–गुरु की दृष्टि में ही कल्याण है, गुरु आशीष की छाया कल्पवृक्ष के समान है। गुरु के वचन भ्रम को दूर करने वाले हैं। गुरु ने मुझे पूछा है, इसमें स्वर्गसुख है ॥७॥

हाँ, हाँ क्या नाम है तुम्हारा?– ऐसा मनिराज ने पूछा, उसने कहा–''विद्याधर, विद्या होठों पर रहती है, इसलिए विद्याधर सुन्दर नाम है'' श्रीमुनि ने ऐसा कहा। तत्पश्चात् मुनि चुप हो गए।

बुद्धिमानों के साथ वह शतरंज खेलते थे। कन्नड़ भाषा में शतरंज को 'बुद्धिवड' कहते हैं। बुद्धि की निपुणता से शतरंज के खेल में वह अग्रणी हुए। संपूर्ण ग्राम में वयस्क मित्रों के साथ उनकी मित्रता थी। खेल और शिक्षा के क्षेत्र में यद्यपि वह आगे थे, फिर भी अन्य कोई भी इनके प्रति ईर्ष्या धारण नहीं करता था, यह आश्चर्य था।

उस ग्राम में एक श्रेष्ठी रहता था। गाँव में रहने पर वह नगर के श्रेष्ठी के समान धनाढ्य था। उनका नाम लोकप्पा था। उनके लिए शतरंज का खेल अत्यन्त पसंद था। किसी व्यक्ति ने कहा–श्रेष्ठिन्! विद्याधर भी शतरंज में सबसे श्रेष्ठ है। यद्यपि वह बालक है तथापि बुद्धिमान् है। मुस्कुराते

अपि शतरंजे श्रेष्ठः अस्ति। यद्यपि सः बालः तथापि बुद्धिमान् अस्ति। सस्मितमुखेन श्रेष्ठी आह–आम् भवतु भवतु। अथ किम्?

''एकबारं तेन सह क्रीडितव्यं अस्ति।'' इति मम अभिप्रायः सः जनः कथितवान्। श्रेष्ठी साश्चर्येण निगदति– ''किं कथयति भवान्'' बालकेन सह अहं क्रीडामि।

''अस्मिन् विषये किं आश्चर्यम्। बुद्धिबलस्य परीक्षायै एतत् क्रीडनम्। भवान् सदैव विजेता अस्ति। किञ्च प्रतिद्वन्द्विनं विना शिक्षा वा क्रीडा वा आनन्दं न जनयति।'' इति सः जनः आख्यत्। श्रेष्ठिना उक्तम्– ''नैवं खलु। बालेन सह क्रीडा न कर्त्तव्या। यतश्च यदि अहं विजेष्ये तर्हि तस्य मनसि व्यथा जायेत। अथ सः विजयेत, तन्न उचितं भवेत् मह्यम्।''

''अहो श्रेष्ठिन्! बालकेन साकं क्रीडाविषये इत्थं आधिक्येन किं चिन्तयसि। अयं विषयः जयपराजयस्य न अस्ति। क्रीडा तु क्रीडा एव। इदं किल द्यूतं नास्ति। बालस्य उत्साहवर्धनार्थं एतत् कौतुकमात्रम्।'' इति तेन जनेन कथितम्। 'भवतु चैवम्' इति श्रेष्ठी स्वीकृतवान्। विद्याधरस्य तत् मित्रं प्रसन्नतया एतं वृत्तान्तं निगदितवान् तम्।''अरे मित्र! तेन किं कृतम्? अहं बालः, सः च नगरश्रेष्ठी तेन सह क्रीडा किं शोभते?'' इति विद्याधरः आख्यत्।

''न, न कौतुकमात्रस्य विषयः अयम्। जयपराजयं न चिन्त्यम् अस्ति अपि तु बुद्धेः परीक्षामात्रम्

हुए श्रेष्ठी ने कहा–हाँ वो होवे। इससे क्या?

''एक बार उसके साथ खेलना चाहिए, ऐसा मेरा अभिप्राय है''–उस व्यक्ति ने कहा। श्रेष्ठी ने आश्चर्यजनक कहा–''आप क्या कहते हो? बालक के साथ मैं खेलूँ?''

''इस विषय में क्या आश्चर्य! बुद्धिबल की परीक्षा के लिए यह खेल होता है। आप सदा ही विजेता हैं। दूसरी बात यह है, कि प्रतिद्वन्द्वी के बिना शिक्षा अथवा खेल आनन्द को उत्पन्न नहीं करते हैं।'' इस प्रकार उस व्यक्ति ने कहा। श्रेष्ठी ने कहा–ऐसी बात नहीं है। बालक के साथ (खेल) क्रीड़ा नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि मैं विजयी हुआ, तो उसके मन में व्यथा (दुःख) होगी। यदि वह विजयी हुआ, तो वह मेरे लिए उचित नहीं होगा।

''अरे श्रेष्ठिन्! बालक के साथ खेलने के विषय में इतना ज्यादा क्यों सोच रहे हो? यह विषय जय और पराजय का नहीं है। खेल तो खेल ही है। यह जुआ नहीं है। यह तो बालक के उत्साहवर्धन के लिए कौतुक मात्र है।'' ऐसा उस व्यक्ति ने कहा। 'ठीक है...इस प्रकार हो' ऐसा कहकर श्रेष्ठी ने स्वीकृति दे दी। विद्याधर के उस मित्र ने प्रसन्नतापूर्वक यह वृत्तान्त उनसे कहा। ''अरे मित्र यह तुमने क्या किया? मैं बालक हूँ और वह नगर श्रेष्ठी। उनके साथ क्रीड़ा कैसे शोभा को प्राप्त होगी?'' ऐसा विद्याधर ने कहा।

''नहीं, नहीं यह विषय कौतुक मात्र का है। जय-पराजय की चिन्ता नहीं है, अपितु यह तो बुद्धि की परीक्षा मात्र है। स्वार्थ के लिए मत करो, यह तो मित्रता के लिए करो।'' ऐसा मित्र ने विचार रखा।

एतत्। मा कार्षीः स्वार्थं एतत् अपितु मित्रार्थम्।'' इति मित्रं मन्त्रितवान्। आम् इति सहजा स्वीकृतिः विद्याधरेण प्रदत्ता।

तेन मित्रेण अयं समाचारः मित्रसमुदाये प्रेषितः। अपरेद्युः सर्वाणि मित्राणि श्रेष्ठिनः गृहे यथासमयं आगतवन्तः। निकटस्थाः अन्ये च जनाः क्रीडाप्रियाः केचित् कौतुकप्रियाः अपि तत्र एकत्रीभूताः। क्रीडारम्भात् प्राक् एव मित्रवर्गाः कथयन्तिस्म–उभयोः जयपराजये वयं किं लप्स्यामहे? विद्याधरः अधोनयनः न किमपि उक्तम्। सभायाः उपरि दृष्टिं निक्षिप्य सस्मितपूर्वं श्रेष्ठी आह–यस्य जयः भवेत् सः फल–वितरणेन सुहृद्मण्डलं तर्पयिष्यति। 'भवतु एवं खलु' इति विद्याधरेण स्वीकृतम्।

क्रीडा आरब्धा। सर्वेषां मनसि अत्यन्तोत्साहः दृश्यतेस्म यत् कस्य जयः भवेत्। तदनु श्रेष्ठिना स्वमत्या विद्याधरं परिवृतवान्। श्रेष्ठिमुखे हर्षकिरणानि प्रसृतानि। सभ्याः करताडनं कृतवन्तः।

इतः विद्याधरः तथापि अधीरः न अभवत्। अवसरं प्राप्य सः तदनन्तरवारे पाशं तुरगस्य उत्थाय अग्रे यथास्थानं निक्षिप्तवान्। तुरगस्य तिर्यग्गतिम् अवगम्य श्रेष्ठी चिन्तामग्नः अभवत्। अधुना न विद्यते कः अपि अवसरः। राजा बन्धी–कृतः विद्याधरेण। एकस्मिन् चाले हि सर्वं वैपरीत्यं गतम्। मनसि हि मनसि हि हसन् सः बालः किञ्चित् दृष्टिं उत्थाय श्रेष्ठिनं अपश्यत्। श्रेष्ठी अपि तस्य मुखं पश्य सहासेन उक्तवान् ''क्रीडा समाप्तिं गता। विद्याधरः विजयी अभूत्।'' तत्रस्थाः सर्वे विद्याधरं स्वभुजासु आदाय अभिनन्दितवन्तः। तदनु विद्याधरः श्रेष्ठिनः चरणं स्पृशन् वदति स्म–''भवदाशीर्वादेन एव एवं अभूत्।''

'हाँ' इस प्रकार सहज स्वीकृति विद्याधर के द्वारा दी गयी।

उसी मित्र ने यह समाचार मित्रों के समुदाय में भेज दिया। दूसरे दिन सभी मित्र श्रेष्ठी के घर समय पर आ गए। निकट रहने वाले कुछ खेलप्रिय और कुछ कौतुकप्रिय अन्य व्यक्ति भी वहाँ एकत्रित हो गए। खेल प्रारंभ होने से पहले ही मित्र वर्ग ने कहा–आप दोनों की हार जीत में हम लोगों को क्या मिलेगा? विद्याधर ने आँखें नीचे कर लीं कुछ नहीं कहा। सभी के ऊपर दृष्टि डालकर मुस्कुराते हुए श्रेष्ठी ने कहा–जिसकी विजय होगी वह फल वितरण के द्वारा मित्र–मण्डल को संतुष्ट करेगा। ''ऐसा ही होगा'' ऐसी विद्याधर के द्वारा स्वीकृति दी गयी।

खेल प्रारंभ हुआ। सभी के मन में अत्यन्त उत्साह देखा गया, कि किसकी विजय होगी। उसके बाद श्रेष्ठी ने अपनी बुद्धि से विद्याधर को घेरा। श्रेष्ठी के मुख पर हर्ष की किरणें फैल गयीं। सभासदों ने तालियाँ बजायीं।

इधर विद्याधर फिर भी अधीर नहीं हुआ। अवसर पाकर उसने दूसरी बार घोड़े का पाशा उठाकर आगे यथास्थान पर रखा। घोड़े की तिरछी गति को जानकर श्रेष्ठी चिन्तामग्न हुआ। अब कोई भी अवसर नहीं रहा। विद्याधर के द्वारा राजा बन्दी बना लिया गया। एक चाल में ही सब विपरीत हो गया। मन ही मन में हँसते हुए उस बालक ने थोड़ी–सी दृष्टि उठाकर श्रेष्ठी को देखा। श्रेष्ठी ने भी उनके मुख को देखकर हँसते हुए कहा–''खेल समाप्त हो गया। विद्याधर विजयी हुआ।'' वहाँ स्थित सभी लोगों ने विद्याधर को अपनी भुजाओं में लेकर स्वागत किया। इसके बाद

बालकस्य निरहंकारतां विनीतभावं च अनुभाव्य श्रेष्ठी तम् आलिङ्गितवान्। अभिनन्द अभिनन्द इति आशीर्वचनं च उक्तवान्। सकलान् दर्शकान् फलं प्रयच्छेत् इति आदिशत् श्रेष्ठी। विद्याधरेण सार्धं सः भुञ्जानः अनुरञ्जितवान्। ततः विद्याधरः स्वगृहं गतवान्।

विद्याभ्यासश्च क्रीडा च बालानां सहितं मतम्।
अतिलालनवित्तानि स्वच्छन्दमहितं मतम् ॥८॥

तत्त्वार्थसूत्रसदृशमतुलनीयग्रन्थ यः पठितुं समर्थः, अदृष्ट्वा वाचस्पतिः इव वाचने सूत्रस्य च यः शक्तः, मुनिरूपप्रारूपदर्शनमात्रेण मयूरवृन्द इव मेघदर्शनेन यः मोदते, भरत इव गृहसंस्थितः अपि यः अनासक्तः चिरकालप्रव्रजितयोगीव यः ललिताङ्गनाहावभावविलासैः न विक्रियते, लवणरसः इव यः सर्वरसेषु बालयुवावृद्धेषु संयुज्य स्वादस्यापूर्वतां विधत्ते श्रमणः इव स्वक्षेत्रे हि श्रमशीलः यः वयोवृद्धः इव परर्द्धिषु अपगृद्धः, राज्यप्राज्यकुशलराजेव शतरंजक्रीडायां चतुरः, इत्यादि भूरिगुणभरितसुवर्णगर्भाश्मवस्तु न कोत्र अभिलषति? यश्च ग्राहकः महार्घ्यवस्तुनः सः अपि महान् इति असंशयः।

ततोऽनन्तरं तद्ग्रामे हि आचार्यदेवः वर्षायोगं स्थापितवान्। उपदेश-श्रवणे, आहारप्रदाने, शयनासन-काले, विहारनिहारसमये, संघमध्ये च विद्याधरः सदा उपस्थितवान्। आचार्यसंघस्य वात्सल्येन सिञ्चितः

विद्याधर ने श्रेष्ठी के चरणों का स्पर्श करते हुए कहा-''आपके आशीर्वाद से ही ऐसा हुआ।''

बालक की निरभिमानता और विनम्रता का अनुभव कर श्रेष्ठी ने उसको गले लगा लिया और 'खूब बढ़ो, खूब बढ़ो' आशीर्वचन कहे। ''सभी दर्शकों को फल दिए जायें'' ऐसा श्रेष्ठी ने आदेश दिया। विद्याधर के साथ वह भोज में अनुरक्त हुए। इसके बाद विद्याधर अपने घर चले गए।

विद्याभ्यास और क्रीड़ा बालकों के लिए हितकारी मानी गई है। अति लालन, अति धन और स्वच्छन्द होना बालकों के लिए अहित करने वाला माना गया है ॥८॥

जो तत्त्वार्थसूत्र सदृश महान् ग्रंथ को पढ़ने में समर्थ है और जो बिना देखे वाचस्पति के समान सूत्रों का वाचन कर सकता है, जो मुनि रूप के दर्शन मात्र से ऐसे प्रसन्न होता है, जैसे मेघों के दर्शन से मयूर समूह प्रसन्न हो जाता है, जो घर में रहते हुए भी भरत के समान अनासक्त है, जो दीर्घ समय से दीक्षित योगी के समान ललितांगना के हाव-भाव विलासों से विकारी नहीं होता, जैसे नमक रस सभी रसों में घुलकर अपूर्व स्वाद को देता है, उसी तरह वह बाल-युवा वृद्धों में जुड़कर अपूर्वता को धारण करता है, जो श्रमण के समान अपने क्षेत्र में ही श्रमशील है, जो वयोवृद्ध के समान दूसरों के वैभव में गृद्धि रहित है, जो राज्यकाज में कुशल राजा की तरह शतरंज के खेल में चतुर है, इत्यादि अनेक गुणों से भरे हुए बालक को स्वर्ण पात्र के समान बहुमूल्य वस्तु की तरह कौन नहीं चाहेगा? जो बहुमूल्य वस्तु का ग्राहक है, वह भी महान् है, इसमें कोई संशय नहीं है।

उसके बाद उस गाँव में ही आचार्य-देव ने वर्षायोग स्थापित किया। उपदेश सुनने में, आहार देने में, शयन-आसन के समय, विहार निहार के समय और संघ के मध्य विद्याधर सदा उपस्थित

सः वृद्धिंगतः।

एतन्मात्रेण विद्याधरः आह्लादितः भूत्वा 'नमोऽस्तु' इति निवेद्य प्रस्थितः। अद्य क्रीडायां पारमार्थिकः आनन्दः अभवत्। हर्षेण समस्तं घटितं मित्रजनेषु संकीर्तितम्। ग्रहे अपि मातुः शाटिकां आकृष्य आकृष्य सर्वं कथितवान् सः।

अपरेद्युः सः पुनः तत्रैव गतः। एवं कृत्वा परिचयः वृद्धिंगतः। आहारचर्यायां क्वचित्आहारप्रदानार्थं गतः। मुनिः अपि तस्य धर्मरुचिं विभाव्य तं प्रति समयं प्रादात्। विद्याधरेण भक्तिपाठादिकं मुनेः समीपं शिक्षितम्।

सच्चमेव–

णिग्गंथसेवगो जो, तस्स सुहं एत्थ वि अब्भुदं होदि।
किं परलोए चिंता भवसमुद्द-तारगो सुगुरू ॥९॥
वट्टदि सयं णिरीहो मोक्खपहे खलु पावट्टयदि अण्णे।
सगपरतारणतरणी ण हि अण्णो गुरुसमो बंधू ॥१०॥
पारसमणी दु लोहं कुणदि सुवण्णं हु फासणे जादे।
सणियं सणियं य गुरू अप्पसमो कुणदि सिस्साणं ॥११॥

विद्याधरस्य पश्चात् कतिपयेषु वर्षेषु व्यतीतेषु क्रमशः द्वे सुते तद्गृहे प्रसूते। एकस्याः नाम शान्ता

रहते थे। आचार्यसंघ के वात्सल्य से वह सिंचित हुए वृद्धि को प्राप्त हुए।

इतने मात्र से ही विद्याधर आह्लादित होकर 'नमोऽस्तु' निवेदित करके चले गये। आज खेल में पारमार्थिक आनन्द हुआ। हर्षपूर्वक सारी घटना मित्र जनों को बतलाई। घर में भी माता की साड़ी खींच-खींच कर सब कुछ कहा।

दूसरे दिन वह फिर वहीं गये। ऐसा करके परिचय बढ़ गया। कभी आहार चर्या के समय आहार देने के लिए गये। मुनिराज भी धर्म के प्रति उसकी रुचि देखकर उसको समय देते थे। विद्याधर ने भक्ति पाठादि मुनिराज के समीप सीखे।

सच ही है–

जो निर्ग्रन्थ गुरु का सेवक है, उसको यहाँ भी अभ्युदय सुख होता है। उसे परलोक की क्या चिंता? सुगुरु भवसमुद्र के तारक हैं ॥९॥

जो स्वयं निरीह होकर रहता है और मोक्षपथ पर अन्यों को प्रवर्तन कराते हैं, ऐसे स्व-पर को तारने वाली नौका गुरु के समान अन्य कोई बंधु नहीं है ॥१०॥

पारसमणी तो लोहे को स्पर्श करने पर स्वर्ण बनाती है, किन्तु गुरु धीरे-धीरे शिष्यों को अपने समान ही बना लेते हैं ॥११॥

विद्याधर के पश्चात् कुछ वर्ष व्यतीत होने पर क्रमशः दो पुत्रियाँ उस गृह में उत्पन्न हुयीं। एक

आसीत् अपरस्याः च सुवर्णा। ब्राह्मीसुन्दरीवत् उभयोः सौन्दर्यं कलानैपुण्यं वैदुष्यं च आसीत्। गृहे सुताव्याजेन लक्ष्मीसरस्वतीदेव्यौ इव द्वयोः अवतारः साक्षात् अभवत्। ज्येष्ठभ्रातृप्रेम्णा सिञ्चिते द्वे वृद्धिं गते सपदि।

एकदा विद्याधरः लघु आग्नेयास्त्रं क्रीत्वा आनीतवान् ''कथं प्रयोगविधिः'' इति सः न अजानीत। विपरीतमुखेन तं गृहीत्वा प्रज्वलितवान्। तेन स्वकीयः हस्तः हि अग्निना दग्धः। अरे! किं एतत् अभवत् एकतः पणस्य व्ययः अभूत् अन्यतः करः दग्धः अपि। यदि गृहे कथयिष्यामि तर्जनापात्रं अपि भवामि इति सः चिन्तितवान्। एतादृशीं दशां अवलोक्य केनापि निकटस्थेन तद्हस्ते तैलेन समं ताम्रमरीचं विलिम्पितम्। कतिपयदिनानन्तरं सः पूर्ववत् अभूत्। भविष्यत्काले सः पुनः एनां क्रीडां न कृतवान् देहधनयोः हानिचिन्तनात्।

जो परहाणिं चिंतिय गिण्हदि सिक्खं स मण्णदे णाणी।
परिसिक्खादो रहिदो सो अण्णाणी मुणेदव्वो ॥१२॥

गृहे धान्यादिस्थानके सः अन्यदा पश्यतिस्म कोणे एकं दीर्घं बिलम् अस्ति। कश्चित् सद्यः प्रसूतः मूषकः तत्र निपतति। स्व-देहस्य संकोचविस्तारे अपि सः असमर्थः भाति। तं हस्ते आधाय निरीक्षितवान् विद्याधरः। अहो! अस्य शरीरे अन्ये जीवाः अपि उत्पन्नाः तेन कारणेन अस्य महती पीडा अस्ति।

अतः सः मूषकस्य शरीरात् जीवान् अपकृष्य अपकृष्य तं जीवितवान्। श्रीमन्ति तदा आगतवती। किं

का नाम शान्ता था और दूसरी का सुवर्णा। ब्राह्मी-सुन्दरी के समान दोनों में सौन्दर्य कलानिपुणता और वैदुष्य था। घर में पुत्रियों के बहाने लक्ष्मी सरस्वती के समान दोनों अवतार साक्षात् हुए। ज्येष्ठ भाइयों के प्रेम से सिंचित हुईं दोनों वृद्धि को प्राप्त होने लगीं।

एक बार विद्याधर छोटा आग्नेय अस्त्र पटाखे खरीदकर लाया। उसको कैसे जलाना चाहिए, वह यह नहीं जानता था। उसको उल्टा पकड़कर जला दिया। जिससे उनका स्वयं का हाथ ही अग्नि से जल गया। अरे! यह क्या हो गया? एक ओर तो पैसा खर्च हो गया। दूसरी ओर हाथ भी जल गया। यदि घर में कहूँगा तो डाँट का पात्र भी बनूँगा। ऐसा सोचकर वह चिन्तित हो गए। इस दशा को देखकर किसी निकट व्यक्ति के द्वारा उस हाथ में तेल के साथ लाल-मिर्ची का लेप किया गया। कुछ दिनों के बाद वह पहले जैसा हो गया। भविष्यकाल में उन्होंने देह और धन की हानि का विचार कर, दोबारा ऐसा कार्य नहीं किया।

जो पर की हानि का विचार करके शिक्षा ग्रहण कर लेता है, वह ज्ञानी माना जाता है, जो दूसरे के माध्यम से शिक्षा नहीं लेता है, वह अज्ञानी मानना चाहिए ॥१२॥

अन्य समय घर में धान्यादिक रखने के स्थान को उन्होंने देखा- कोने में बड़ा बिल है। कोई तुरन्त उत्पन्न हुआ चूहा वहाँ गिर गया। अपने देह के संकोच-विस्तार में भी वह असमर्थ प्रतीत होता था। उसको अपने हाथ में लेकर विद्याधर देखने लगा। अरे! इसके शरीर में तो अन्य जीव भी उत्पन्न हो गये हैं। इस कारण से इसे बहुत पीड़ा है।

इसलिए उन्होंने चूहे के शरीर से जीवों को निकाल-निकाल कर उसको जीवित किया। उसी

करोषि विद्याधर! इति पृष्टवती सा। तद्दृश्यं दृष्ट्वा सा गदितवती–''पुत्र! तिर्यग्गतिः दुःखस्य योनिः अस्ति। एवं प्रकारेण जीवाः अस्मिन् संसारे सदैव सीदन्ति।'' एवं श्रुत्वा विद्याधरः उपरिस्थाने तं निक्षिप्तवान् यतः अन्यजीवाः तं न पीडयेयुः।''नैसर्गिकी दया भव्यस्य हृदये भवति'' इति श्रीमन्ति विचारितवती।

धम्मस्स मूलं खु दया-पवुत्ती, स धम्मिगो जो सुदयाहिदत्थो।
सव्वेसु तित्थेसु सुधम्मदाणे, विणा दयं सव्वणिरत्थयं तं ॥१३॥
बालेसु बुड्ढेसु य दुब्बलेसु, पीडट्टचित्तेसु निरासयेसु।
अभाववंतेसु गिलाणथेरे, जेसिं दया णत्थि ण ते मणुस्सा ॥१४॥

यदा विद्याधरः विद्यालये गच्छतिस्म तदा नित्यं हि अध्यापकमहोदयस्य चरणं संस्पृश्य विद्यारम्भं करोतिस्म। आंग्ल-भाषाप्रयोगः तु उपरिकक्ष्यायां अवर्तत। अष्टमकक्ष्यायां प्रवेशावसरे तेन शिक्षितम्– ''भो! किं अहं आगच्छामि'' (मे आई कम इन सर) तथा च ''किं बहिः गच्छेयम्'' (मे आई गो आउट)।

वर्षायोगकाले सः सचित्रपुराणपठनाय उत्सहते स्म। येषां च आवरणपृष्ठानि सुदृश्यमानानि मनोरंजकानि च तानि गृहं आनीय विपणात् सः अपठत्।

रात्रौ अष्टवादने मन्दिरात् स गृहम् आगच्छत्। तदा सर्वे प्रायः शयाना निद्रादेवीं आराधयन्तिस्म। जिनवाणीरसिकः तावद् अतिरुच्या पितुः सकाशात् पुराणचरितं श्रुत्वा धर्मम् आराधयतिस्म। तेन तानि

समय श्रीमंती जी आ गयीं। विद्याधर क्या करते हो? इस प्रकार उन्होंने कहा। उस दृश्य को देखकर वह बोलीं–''पुत्र! तिर्यंच गति दुःख की योनि है। इस प्रकार से जीव इस संसार में सदा ही दुख उठाते हैं।'' यह सुनकर विद्याधर ने उस चूहे को ऊपर के स्थान पर रख दिया, जिससे अन्य जीव उसे पीड़ा न पहुँचा पायें। भव्यों के हृदय में स्वाभाविक दया होती है, ऐसा श्रीमंती ने विचार किया।

धर्म का मूल दया में प्रवृत्ति करना है। वह धार्मिक है, जो दया हृदय वाला है। सभी तीर्थ में जाना और धर्म के लिए दान देना, यह सब कुछ बिना दया के निरर्थक है ॥१३॥

बालों में, वृद्धों में, दुर्बलों में, पीड़ा से दुःखी चित्तों में, निराश्रय जीवों में, अभावग्रस्तों में, ग्लान और स्थविर (रोगी और अतिवृद्ध) में जिनको दयाभाव नहीं आता है, वे मनुष्य नहीं हैं ॥१४॥

जब विद्याधर विद्यालय में जाते थे, तब नित्य ही अध्यापक महोदय के चरण छूकर पढ़ाई प्रारंभ करते थे। अंग्रेजी भाषा का प्रयोग तो ऊपर की कक्षा में था। आठवीं कक्षा में प्रवेश के समय उनको सिखाया गया–''क्या मैं आ सकता हूँ?'' (मे आई कम इन सर) और ''क्या मैं बाहर जा सकता हूँ?'' (मे आई गो आउट)

वर्षायोग के समय सचित्र (चित्र सहित) पुराण पढ़ने के लिए उत्साहित रहते थे और जिनके आवरण पृष्ठों के चित्र अच्छे और मनोरंजक होते थे, उनको बाजार से घर में लाकर पढ़ते थे।

रात में आठ बजे मन्दिर से घर आते थे, उस समय सभी सोने वाले निद्रा देवी की आराधना करते थे। जिनवाणी का रसिक तब तक अति रुचि से पिता से पुराण के चरित्र को सुनकर धर्म की

घटनानि बुद्धौ सम्यक् अवधृतानि। कालिकापुराणस्य, श्रेणिकपुराणे च अभयकुमारादेः आख्यानानि तस्य स्मृतिपटले सदा स्थिरीभूतानि।

कानिचित् स्फुटघटनानि ग्रामे इतः ततः घटितानि अपि तस्य संसारात् वैराग्यम् उपजनयन्ति स्म। विद्यालये पठन-समये अनेके छात्राः तेन सह अपठन् तेषु बहवः निर्धनाः आसन्। तेषु अन्यतमः मत्स्यग्राहिणः पुत्रः एक अपठत्। सः च क्षुधापीडितः मृतः।'अहो मनुष्यगतौ अपि क्षुधार्दितः म्रियते मनुजः, तिर्यग्गतेः किं कथा? नरकगतौ तु सदा हि बुभुक्षा वर्तते। विचित्रः अयं संसारः' इति विद्याधरः तदानीं विचिन्त्य दुःखं गतः।

सत्यमेव-

णिरयगदीए दुक्खं छेदणभेदणं वहो तिरिक्खेसु।
देवगदीए रागो मणुवेसु बहुविवत्ती दिट्ठा ॥१५॥

अन्यदा एकः मनुष्यः वृक्षस्य उपरि किमपि अन्वकरोत्। तत्रैव एक : सर्पः अपि अतिष्ठत्। सर्पेण दंष्ट्रः सः भूमौ अपतत्। तत्रत्याः जनाः शीघ्रं आगत्य तं शीतवारिणा भूरि स्नापितवान्। कतिपयकालेन स उत्थितः। भीतः विद्याधरः एनां घटनां संपश्य संसारात् उद्विग्नः। अचिन्तयत् च सः ''न केवलं मनुष्याः स्वकृतकर्मणा दुःखिताः अपि तु तिर्यग्भिः अपि।'' ग्रामे एकः धनिकः व्यापारी अवसत्। सः च जनपदस्य सम्पूर्णस्य सर्वोत्तमः धनी आसीत्। कर्मयोगेन तस्य गृहं आपणः उद्योगगृहाणि च शनैः शनैः व्यक्रीणन्।

आराधना करते थे। उन्होंने उन घटनाओं को बुद्धि में अच्छी तरह धारण कर लिया। कालिकापुराण के तथा श्रेणिकपुराण अभयकुमारादि के आख्यान उनके स्मृति-पटल पर सदा स्थिर हो गए।

ग्राम में घटी कोई भी घटना तथा इधर-उधर घटी घटनायें भी उनको संसार से वैराग्य उत्पन्न करतीं थीं। विद्यालय में पढ़ते समय अनेक छात्र उनके साथ पढ़ते थे। उनमें बहुत से निर्धन थे। उनमें एक कोई धीवर का पुत्र पढ़ता था। वह भूख से पीड़ित होकर मर गया। ''अरे! मनुष्यगति में भी मनुष्य भूख से पीड़ित होकर मर जाता है, तिर्यंच गति का क्या कहना? नरक गति में तो हमेशा भूख रहती है। यह संसार विचित्र है।'' ऐसा उस समय सोचकर विद्याधर दुखी हो गये थे।

सत्य ही है-नरकगति में छेदन-भेदन का दुःख है, तिर्यंचों में वध (मारने) का दुःख है, देवगति में राग का दुःख है और मनुष्यों में बहुत विपत्ति देखी जाती है ॥१५॥

एक बार कभी एक मनुष्य वृक्ष के ऊपर कुछ कर रहा था। वहाँ एक सर्प भी बैठा था। साँप ने डँस लिया और वह भूमि पर गिर गया। वहाँ के लोगों ने शीघ्र आकर के उसका ठंडे जल से भली प्रकार स्नान किया। कुछ समय व्यतीत होने पर वह उठ गया। मृत्यु से भयभीत विद्याधर इस घटना को अच्छी तरह देखकर संसार से भयभीत हो गये। वह चिन्तन करने लगे- ''न केवल मनुष्य अपने द्वारा किए कर्म से दुःखी है, अपितु तिर्यंचों के द्वारा भी दुःखी होते हैं। गाँव में एक धनी व्यापारी रहता था और वह संपूर्ण जनपद का सर्वश्रेष्ठ धनी था। कर्म के योग से उसका घर-बाजार और उद्योग-गृह सभी धीरे-धीरे बिक गए। कुछ समय पश्चात् वह उद्योगी व्यवसायी योगी (फकीर) हो गया।

किञ्चित् कालोपरान्तं सः उद्योगी योगी अभवत्। अधुना तस्य पार्श्वे एका टका अपि न अवशिष्टा आसीत्। बुभुक्षितः सः स्वकीयभृत्यालये गत्वा अन्नपानं गृह्णातिस्म। रात्रौ सः निरभ्राकाशे टकटकायते स्म स्वीयगृहाभावात्। तस्य एषा दैन्यदशा विद्याधरेण दृष्टा। ''न कोऽपि जानाति विधेः विधानम् कस्मिन् क्षणे किं घटेत्। दुःखितः अपि जीवः न दुःखमुक्तेः उपायं चिन्तयति'' इति विस्मयः तस्य चेतसि समुत्पन्नः।

परदुहकायरजीवो परदुक्खं मण्णदेव्व अप्पाणं।
दुक्खेण दु वेरग्गं केसिं विरलाणमुवज्जदि ॥१६॥

तस्मिन् काले तेन चलच्चित्रं अपि अवलोकितम्। पुरा मूकं चलच्चित्रं प्राचलत्। संतज्ञानेश्वराख्यकं तेन दृष्टं चित्रम्। नेत्रद्वयं द्वादशहस्ताः गानं गीतं प्रस्तरैः इत्यादि चलचित्राणि दृष्टानि।

पितुः मुखात् तेन श्रुतम् कालिकापुराणात् यत् पुराकाले औषधिज्ञानं चरमसीम्नि आसीत्। केचित् जंघां उत्पाट्य रत्नानि तत्र आस्थाय औषधिलेपेन समीकुर्वन्ति। चर्मणि न किञ्चित् प्रतीयते स्म।

क्वचित् नदी निकटे क्वचित् सरोवर समीपे तिष्ठन् सः प्रस्तरखण्डं जले प्रक्षिपतिस्म। तेन जले बहवः कल्लोलाः अजायन्त। वर्तुलाकृतयः च निर्मिताः आसन्। ताः आकृतीः गणयितुं सः उद्युक्तः आसीत्। अशक्तः अपि पौनःपुन्यं तथा एव कुर्वन् किञ्चित्कालपर्यन्तं तत्र उपाविशत्। ''अस्मिन् लोके अशेषवस्तूनि कल्लोलवत् तीव्रगत्या

अब उसके पास एक भी पैसा न था। वह भूखा अपने नौकरों के घर में जाकर भोजन ग्रहण करता था। रात में वह अपने घर के अभाव में खुले आकाश में टकटकी लगाकर देखता था। उसकी ऐसी दीन दशा विद्याधर ने देखी। ''कोई भी विधि के विधान को नहीं जानता, किस क्षण में क्या हो जाए। दुःखित होते हुए भी जीव दुःख मुक्ति का उपाय नहीं सोचता'' ऐसा विस्मय उनके मन में उत्पन्न हुआ।

जो पर के दुःख में कातर (भीरु) जीव है, जो परदुःख को अपने समान मानता है। उस दुःख से वैराग्य किन्हीं विरलों को उत्पन्न होता है ॥१६॥

उस समय उनके द्वारा चलचित्र भी देखे गए। पहले मूक चलचित्र चलते थे। संत ज्ञानेश्वर की कथा उनके द्वारा चित्र में देखी गई। ''दो आँखें बारह हाथ'', ''गीत गाया पत्थरों ने'' इत्यादि चलचित्र देखे।

कालिका-पुराण में पिता के मुख से उन्होंने सुना, कि प्राचीनकाल में औषधि-ज्ञान चरम सीमा पर था। कोई जंघा को चीरकर रत्नों को रखकर औषधि लेप से ऊपरी त्वचा समान कर लेते थे। त्वचा में कुछ भी प्रतीत नहीं होता था।

कभी नदी किनारे, कभी सरोवर के समीप बैठकर, वह पत्थरों को जल में फेंकते थे। इससे जल में अनेक तरंगे उत्पन्न होती थीं और गोल आकृति बनती थीं। उन आकृतियों को गिनने के लिए उद्यत हो जाते थे। गिनने में अशक्त होते हुए भी वह पुनः पुनः उसी प्रकार करते हुए, कुछ समय तक वहाँ बैठते थे। ''इस संसार में समस्त वस्तुएँ तरंगों के समान तीव्र गति प्रवाहमान हैं। काल के सतत

प्रवहमानाः सन्ति। कालस्य सततप्रवाहं गणयितुं न शक्नोति कोऽपि।'' एवं विचिन्त्य सः प्रतिनिवृत्तः आसीत्।

नवमकक्ष्यायां कागदस्य नानाकृतिं निर्माप्य ज्यामितिगणितं तेन आकलितम्। क्वचित् माचिसशलाकानां आकृतिक्रीडया बुद्धिबलं अवर्धत।

उव्वज्जदि विणस्सदि पज्जाया खलु जले तरंगा इव।
दव्वाणि गुणा तेसिं थिराणि विरला विजाणंति ॥१७॥

तस्य बाल्यकालात् एव चित्रकलायां अपि अभिरुचिः आसीत्। एकस्मिन् दिवसे विद्याधरः पितुः समक्षे अयाचत यत्–''अहं चित्रनिर्मापणार्थं नानारंगं वाञ्छामि''। जनकेन उक्तं–''किं त्वया कदापि एकमपि चित्रं निर्मापितं अस्ति? अप्रयोजनेन वा धनं व्यर्थं कर्तुं इच्छसि। प्रथमं तु एतावता काष्ठलेखनेन चित्रं निर्मापय पश्चात् अन्यवार्तां कुरु।'' एवं श्रुत्वा विद्याधरेण घण्टाद्वयेन अश्वस्थितशिवाजी महाराजस्य चित्रं निर्मापितम्। तं अवलोक्य पिता प्रसन्नः जातः। तदर्थं रङ्गः अपि क्रीतः। तेन निर्मितानि अन्यानि अपि चित्राणि गृहे कक्षस्य भित्तौ योजितानि।

बालकः विद्याधरः सदैव निकटस्थितानां मुनीनां दर्शनार्थं अगच्छत्। आबाल्यात् तेन बहूनां साधूनां दर्शनं कृतं प्रवचनं च श्रुतं तेषाम्। एकदा तेन श्री आदिसागरस्य मुनेः दर्शनोपरान्तं एकं दृष्टान्तं श्रुतम्। तद्यथा–कस्मिंश्चित् मठे एकः भट्टारकः निवसति स्म। अनवरतं तस्य भक्तगणाः तत्र गमनागमनं दर्शनादिकं

प्रवाह को कोई भी नहीं गिन सकता।'' इस प्रकार सोचकर वह लौटता था।

नवमीं कक्षा में कागज की विभिन्न आकृतियाँ बनाकर ज्यामिति गणित का उसके द्वारा आकलन किया जाता था। कभी माचिस की तीलियों की आकृति के खेल से बुद्धि बल को बढ़ाते थे।

जल में तरंगों के समान निश्चित ही पर्यायें उत्पन्न होती हैं और विनष्ट होती है। द्रव्य और उनके गुण स्थिर (नित्य) होते हैं, यह विरले ही जानते हैं ॥१७॥

बालक विद्याधर की बाल्यकाल से ही चित्रकला में भी अभिरुचि थी। एक दिन विद्याधर ने पिता के समक्ष याचना की, कि मैं चित्र बनाने के लिए अनेक रंग (वाटर कलर) चाहता हूँ। पिता ने कहा–''क्या तुमने कभी एक चित्र भी बनाया है? या बिना मतलब के पैसा व्यर्थ करना चाहते हो। पहले तो इस पेन्सिल से चित्र बनाओ बाद में दूसरी (रंग की) बात करना।'' यह सुनकर विद्याधर ने दो घण्टे में अश्व पर बैठे हुए शिवाजी महाराज का चित्र बनाया। उसे देखकर पिताजी प्रसन्न हुए। तब उनके लिए वाटर कलर भी खरीदे। उन रंगों से विद्याधर ने और भी चित्र बनाये, जिन्हें घर में कमरे की दीवाल पर विद्याधर द्वारा बनाया गया चित्र लगा दिया गया।

बालक विद्याधर हमेशा निकट स्थित मुनियों के दर्शन के लिए जाता था। बाल्यकाल से उन्होंने बहुत से साधुओं के दर्शन किए और उनके प्रवचन भी सुने। एक बार श्री आदिसागर मुनि के दर्शन के बाद एक दृष्टान्त भी सुना। वह इस प्रकार है– किसी मठ में एक भट्टारक रहता था। निरन्तर उसके भक्त वहाँ आना जाना और दर्शनादिक करते थे। एक दिन कोई श्रेष्ठी घोड़े पर चढ़कर
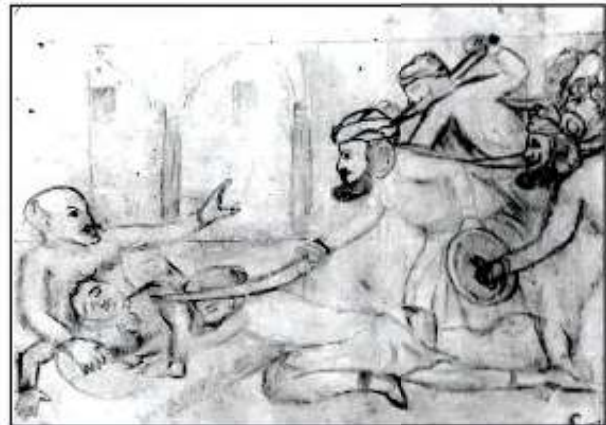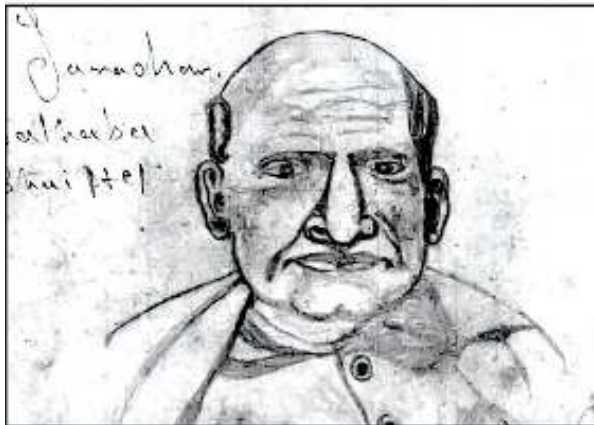
बालक विद्याधर द्वारा पेंशिल से बनाये गये स्केच

अकुर्वन्। एकस्मिन् दिवसे कश्चित् श्रेष्ठी तुरंगस्य उपरि आरुह्य मठे आगतवान्। तुरंगं बहिः स्थाप्य सः मठे प्राविशत्। भट्टारकेण तुरंगः दृष्टः। सः अतीव मनोहारी आसीत्। तदानीं भट्टारकः श्रेष्ठिनः सकाशात् दानार्थं वार्तालापं अकरोत्। श्रेष्ठी सहमतिं दत्तवान्। श्रेष्ठी न जानाति यत् दाने भट्टारकः किं याचिष्यते? अतः श्रेष्ठी कथितवान् भो! किं अभिलषसि। भट्टारकः तदा अब्रुवत्–बहिःस्थितं अश्वम्। श्रेष्ठी चकितवान्। ततः सः अश्वप्रदाने सहमतः न अभवत्। भट्टारकेण बहुप्रकारेण तस्मात् सः याचितः। अन्ते कमपि उपायांन्तरं मत्वा सः भट्टारकः नाटकं कृतवान्। सः खलु उत्पत्य उत्पत्य भूमौ अपतत्। उच्चैः स्वरैः च आक्रन्दनं कृतवान्। मदुपरि कस्यचित् देवस्य प्रकोपः सञ्जातः। सः देवः अपि अश्वं प्रार्थयते। यदि न प्रदास्यसि तर्हि सः श्रेष्ठिनः परिवारं अनेकविधिं क्लेशिष्यति। श्रेष्ठी अनिच्छन् अपि अश्वं प्रायच्छन्। वैमनस्कतया श्रेष्ठी गृहं आगच्छत्। युक्त्या विचार्य दिनद्वयानन्तरं सः मठे पुनः आगतवान्। तदानीं भट्टारकस्य उपदेशसमयः आसीत्। सभामध्ये आगत्य श्रेष्ठी भट्टारकवत् सर्वं चेष्टितं कृतवान्। तथा कथितवान्– भट्टारकस्य उत्तरीयं मदुपरि आगतः देवः वाञ्छति। भट्टारकः चिन्तयतिस्म–

अहो! मदुत्तरीयं महार्घ्यम् अस्ति। तेन एव कारणेन देवः तं याचते। ततः सः आदिशति–स्वाश्वं हि नयेत् उत्तरीयं न दास्ये। देवः शान्तः अभवत्। श्रेष्ठी अश्वं स्वगृहे आनीतवान्। अन्ते श्रीमुनिः शास्ति–यथाजनः तथा लाभः। बलात् परवस्तु न ग्राह्यम्। अतिलोभात् बुद्धिः हीयते इत्यादि।

मठ में आया। घोड़े को बाहर खड़ा करके वह मठ में गया। भट्टारक ने घोड़े को देखा, वह घोड़ा बहुत ही मनोहारी था। उसी समय भट्टारक ने श्रेष्ठी के साथ दान के लिए वार्तालाप किया। श्रेष्ठी ने सहमति दे दी। श्रेष्ठी नहीं जानता था, कि दान में भट्टारक क्या माँगेगा? इसलिए श्रेष्ठी ने कहा–आप क्या चाहते हैं? भट्टारक ने तब कहा–बाहर स्थित घोड़ा। श्रेष्ठी चकित हो गया। तत्पश्चात् वह घोड़े को देने के लिए सहमत नहीं हुआ। भट्टारक के द्वारा बहुत प्रकार से उससे घोड़ा माँगा गया। अन्त में कोई अन्य उपाय विचार कर, उस भट्टारक ने नाटक किया। वह बार–बार उठ–उठ कर भूमि पर गिरने लगा और ऊँचे स्वर में आक्रन्दन करने लगा। मेरे ऊपर किसी देव का प्रकोप हुआ है। वह देव भी अश्व की प्रार्थना करता है। यदि नहीं दोगे तो वह श्रेष्ठी के परिवार को अनेक प्रकार से क्लेश उत्पन्न करेगा। श्रेष्ठी ने नहीं चाहते हुए भी घोड़ा प्रदान कर दिया। वैमनस्य मन से श्रेष्ठी घर आ गया। युक्ति से विचार कर दो दिन के बाद वह सेठ मठ में पुनः आ गया। उस समय भट्टारक के उपदेश का समय था। सभा के बीच में आकर श्रेष्ठी ने भट्टारक के समान सभी प्रकार की चेष्टायें कीं और कहने लगा–मेरे ऊपर देव आकर भट्टारक का उत्तरीय (दुपट्टा) चाहता है। भट्टारक ने सोचा–

अरे! मेरा दुपट्टा बहुत कीमती है। इस कारण से ही वह देव उसे चाहता है। तब वह आदेश देता है–''अपना घोड़ा ही ले जाओ दुपट्टा नहीं दूँगा।'' देव शान्त हुआ। श्रेष्ठी घोड़े को अपने घर ले आया। अन्त में श्री मुनि शिक्षा देते हैं–जैसे को तैसा फल मिलता है। जबरदस्ती दूसरे की वस्तु ग्रहण नहीं करना चाहिए। अति लोभ से बुद्धि की हानि होती है।

सच्चमेव–

कवडो खलु इत्थीणं रायाणं चावि चोरधुत्ताणं।
लोहसहिदपुरिसाणं जो जाणदि सो मदो भगवं ॥१८॥

सदैव वाहनप्रयोगं विना हि ग्रामान्तरे विद्याधरः मुनिगणदर्शनार्थं एकाकी अयात्। ज्येष्ठमासे अपि पदयात्रया हि साधोः प्रवचनार्थं वार्षिकमहोत्सवादिदर्शनार्थं च गमनागमनं व्यधात्। बाल्यकाले मयूरस्य पक्षौघः तस्य मनः प्रीणयति स्म। सदलगाग्रामात् ४–५ कि० मी० दूरे 'बेडकिहाळ' ग्रामः अस्ति। तत्र कश्चित् मुनिराजः समाधिं गृहीतवान्। विद्याधरः तं दृष्टुं तत्र गतः। दाहसंस्कारेण मुनेः देहयष्टिः समापिता। दक्षिणापथे एका प्रथा प्रचलति–समाधौ निष्ठिते सति मुनेः मयूरपिच्छिकां खण्डयित्वा अग्नौ प्रज्वाल्यते। इत्थं च तत्र केचित् पक्षाः इतस्ततः पतन्तिस्म। विद्याधरः संभूय गृहं आनीतवान्। पुस्तकेषु संस्थाप्य तान् रक्षितवान्। एतेन विद्या आयाति इति मत्वा सः अतुषत्। बर्हं प्रति जन्मनः प्रेम तस्य हृदये संयमं प्रति प्रेम प्रकटयतिस्म।

अंबिली महुरं थीणं दुद्धं जाण बलवंत पुरिसाणं।
बरहं पडि संजमीण णाणीणं पोत्थये णेहो ॥१९॥

दशवर्षीयः विद्याधरः गृहे सूचनां विना हि आचार्यदेशभूषणस्य दर्शनार्थं निर्गतवान्। आचार्यः

सच ही है–

स्त्रियों के, राजाओं के, चोरों के, धूर्तों के और लोभ सहित पुरुषों के कपट को जो जानता है, वह भगवान माना गया है ॥१८॥

मुनिगण के दर्शन के लिए विद्याधर हमेशा बिना वाहन के ही अन्य गाँव को अकेले ही जाते। ज्येष्ठ मास में भी पैदल यात्रा के द्वारा साधुओं के प्रवचन के लिए और वार्षिक महोत्सव देखने के लिए गमनागमन करने लगे। बाल्यकाल में मोर के पंखों का समूह उनके मन को प्रसन्न करता था। सदलगा ग्राम से ४–५ किलोमीटर दूर 'बेडकिहाळ' ग्राम है। वहाँ पर किन्हीं मुनिराज ने समाधि ग्रहण की थी। विद्याधर उनको देखने के लिए वहाँ गये। दाह–संस्कार से मुनि की देह को समाप्त किया। दक्षिणपथ में एक प्रथा प्रचलित है कि समाधि के होने पर मुनि की मयूर पिच्छिका को खण्डित करके अग्नि में जला देते हैं। ऐसा करने पर वहाँ कुछ पंख इधर–उधर गिर गए थे। विद्याधर उन्हें इकट्ठा करके घर ले आये। पुस्तकों में रखकर उनकी सुरक्षा की। ऐसा करने से विद्या आती है, ऐसा मानकर वह संतुष्ट हुए। जन्म से ही मयूर पंखों के प्रति उनका प्रेम उनके हृदय में संयम के प्रति प्रेम को प्रकट करता था।

स्त्रियों के लिए इमली मधुर है, बलवान् पुरुषों के लिए दुग्ध मधुर है, संयमियों को बर्ही (मोर पंख) के प्रति स्नेह होता है तथा ज्ञानियों का स्नेह पुस्तकों में होता है ॥१९॥

दसवर्षीय विद्याधर घर में बताए बिना ही आचार्य देशभूषण के दर्शन के लिए चले गए।

सदलगाग्रामे आगत्य तिष्ठतिस्म। पित्रा निवारितः अपि सः हठात् दर्शनार्थं गतः। मुञ्जीसंस्कारः आचार्यैः बालानां संस्क्रियतेस्म। सः च संस्कारः द्वादशवर्षोपरान्तं हि प्रायः विधीयतेस्म। वयसा न्यूनः अपि विद्याधरः तैः संस्कारितः। तस्य कारणं बालकस्य मनोमोहिनी रूपवाहिनी धर्मसम्बन्धिनी च तीव्रा रुचिः आसीत्।

कुलरूवादो अहियो जो पुण अहियो य साहुसेवाए।
तत्तो वि धम्मपढणे रुचिगो खलु णियडभवियो सो ॥२०॥

यज्ञोपवीतधारणं वक्षःस्थले, शिरोमुण्डनं, अधोवस्त्रसंवरणं, परगृहेषु गत्वा भिक्षाभोजनं इत्यादिः तस्य संस्कारस्य नियमपद्धतिः प्राचलत्।

अट्ठवस्सेण उवरि जीवो सम्मत्तं संजमं घेतुं।
णियमा होदि समत्थो किं पुण अण्णेण णियमेण ॥२१॥

सदलगाग्रामे अनन्तकीर्तिमहाराजः विराजमानः आसीत्। तदा हि नांदनीग्रामस्य भट्टारक जिनसेनः आगतवान्। आगमनसमये ग्रामस्य सज्जा तथा कृता यथा विवाहकाले। तेन सह क्षुल्लकः पार्श्वकीर्तिः (सम्प्रति आचार्यविद्यानन्दः) भद्रबाहुः महाराजः च आगतवन्तौ। भट्टारकस्य उच्चैः आसनं निर्मितवान्। ''महानरेशवत् तस्य स्वागतं शय्यासनं च राजतेस्म। मुनिराजः अपि तमेव अनुकरोति। गुणगानं यशकीर्तिः च भट्टारकाणां हि वर्तते।'' इत्यादिकं यद् दष्टं तदपि धारणाविषये गतम्। तदा विद्याधरः त्रयोदशवर्षीयः आसीत्। तीक्ष्णबुद्धेः विशेषात् विद्याधरेण यत् किमपि दृष्टं तत् तस्य मानसे शाश्वतम् अभवत्।

आचार्य श्री सदलगा ग्राम में आकर ठहरे थे। पिता के मना करने पर भी वह जबरदस्ती दर्शन के लिए गये। आचार्यश्री के द्वारा बालकों का मूँजी संस्कार किया जाता था। वह संस्कार बारह वर्ष के उपरांत ही प्रायः किया जाता था। आयु में कम होने पर भी विद्याधर उनके द्वारा संस्कारित किए गए। बालक की मन को मोहने वाली, रूप को बहाने वाली और धर्मसम्बन्धी तीव्र रुचि उसका कारण थी।

जो कुल-रूप से अधिक है, जो साधुसेवा से भरा हुआ है, उससे भी अधिक धर्म पढ़ने में रुचि रखने वाला है, वह निकट भव्य होता है ॥२०॥

हृदय पर यज्ञोपवीत धारण करना, शिर का मुण्डन करना, अधोवस्त्र ओढ़ना, दूसरों के घर जाकर माँगकर भोजन करना इत्यादि उस संस्कार की नियम पद्धति प्रचलित थी।

सच ही है-आठ वर्ष के बाद जीव सम्यक्त्व और संयम को ग्रहण करने के लिए नियम से समर्थ हो जाता है, फिर अन्य नियमों की क्या बात? ॥२१॥

सदलगा ग्राम में अनन्तकीर्ति महाराज विराजमान थे। उस समय ही नांदनीग्राम के भट्टारक जिनसेन आए। उनके आने के समय गाँव की सजावट विवाह काल के समान की गयी। उनके साथ क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति (वर्तमान में आचार्य विद्यानन्द) और भद्रबाहु महाराज भी आए। भट्टारक का ऊँचा आसन बनाया गया। महान् राजा की तरह उनका स्वागत और शय्यासन शोभित हुआ। मुनिराज ने भी वैसा ही अनुकरण किया। गुणगान और यशकीर्ति भट्टारकों की ही हुयी। इस प्रकार जो देखा

यदा विद्याधरः एकादशद्वादशवर्षीयः आसीत्। तदा कोऽपि तं पृच्छति–युवा भूत्वा किं करोषि? अहं भृत्यो न भवामि। अहं तु बृहद्व्यापारं करिष्यामि। कश्चिदाह–कृषिकार्यं कर्तव्यं पूर्वज धर्मात्। स प्राह– न, तस्मिन् हिंसासंभवात्।

१९६१ ई० तमे आचार्यस्य अनन्तकीर्तेः शिष्यः क्षुल्लक श्रीजयकीर्तिः सदलगाग्रामे वर्षायोगं कुर्वन् अतिष्ठत्। तत्सङ्गतौ हि समागते विद्याधरेण चायस्य त्यागः व्यधायि। विद्याधरस्य वयः तावत् पञ्चदशवर्षम् असीत्।

पञ्चदशवर्षीयः विद्याधरः वाचनालयं गत्वा महापुरुषाणं आत्मकथां अपठत्। तेन शिवाजी, कित्तूरचन्नमा, टीपूसुल्तान, गाँधीजी, रवीन्द्रनाथटेगोर, विनोवाभावे, ईश्वरचन्द्रविद्यासागर इत्यादि पुस्तकानि पठितानि। पठित्वा स तद्विषयककथां लघुभ्रातृभगिनीं श्रावयतिस्म। तदन्यत्र महादेवीशांतला, दानचिन्तामणिः, भद्रबाहुचारित्रमित्यादिपुस्तकानि अपि अधीतानि।

इति मुनिप्रणम्यसागरविरचिते अनासक्तमहायोगिनाममहाकाव्ये आचार्य विद्यासागरचरितव्यावर्णने यौवनाङ्गणेप्रवेशसंज्ञको तृतीयः सर्गः समाप्तः।

वह भी धारणा का विषय बन गया। उस समय विद्याधर तेरह वर्ष के थे।

तीक्ष्ण बुद्धि की विशेषता से विद्याधर जो कुछ भी देखते थे, वह उनके मानस में शाश्वत हो जाते थे।

जब विद्याधर ११-१२ वर्ष के थे, तब किसी ने उनसे पूछा–बड़े होकर क्या बनोगे? मैं नौकरी नहीं करूँगा। मैं तो बड़ा व्यापार करूँगा। किसी ने कहा–कृषि कार्य करना चाहिए, क्योंकि पूर्वजों से चला आ रहा धर्म है। विद्याधर ने कहा नहीं, मैं कृषि नहीं करूँगा, क्योंकि उसमें भी हिंसा होती है।

सन् १९६१ ई० में आचार्य अनन्तकीर्ति के शिष्य क्षु० श्री जयकीर्ति सदलगा ग्राम में वर्षायोग करने के लिए ठहरे। उनकी संगति में आकर ही विद्याधर ने चाय का त्याग किया। उस समय विद्याधर की उम्र पन्द्रह वर्ष की थी।

पन्द्रह वर्षीय विद्याधर वाचनालय में जाकर महापुरुषों की आत्मकथाओं को पढ़ते थे। उन्होंने शिवाजी, कित्तूरचन्नमा, टीपूसुल्तान, गाँधीजी, रवीन्द्रनाथटैगोर, विनोबाभावे, ईश्वरचन्द्रविद्यासागर इत्यादि पुस्तकें पढ़ीं। पढ़ करके वह उस विषय की कथा को छोटे भाई-बहनों को सुनाते थे। उसके अलावा उन्होंने महादेवी शांतला, दानचिन्तामणि, भद्रबाहुचरित्र इत्यादि पुस्तकें भी पढ़ीं।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला यौवनाङ्गण प्रवेश संज्ञक तीसरा सर्ग समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

चतुर्थः सर्गः

निरापदपथगमनम्

सुहृदयस्य सुहृदः सन्ति एव। धार्मिकस्य मित्राणि धर्मपराणि भवन्ति, व्यसनिनः किल व्यसनिनः। यादृशी दृष्टिः अन्तस्तिष्ठति तादृशी स्रजति स्रष्टिः बाह्ये। मनोविकारयुक्तानां सङ्गतिः अपि दुर्जनैः सह जायते। शिष्टानां सङ्गतिः शिष्टैः साकं भवति। अतः सङ्गतिः हि मनुष्यस्य हृदयं कथयति तस्य भविष्यद्भव्यतां च निर्धारयति। मातुः संस्कारोपरान्तं मित्रजनितसंस्काराः जीवस्य अशेषजीवनं अवनतये उन्नतये च हेतवः भवन्ति। विद्याधरस्य मित्रनामानि अण्णादो, शिवकुमार, मारुति, पारिसा, अण्णाओ, राजेन्द्र, जिनगोड़ा इत्यादि आसन्।

जेसिं व संति वियारा जारिसा खलु तारिसाणि मित्ताणि।
जोव्वणकाले मित्तं उद्धरदि पडदि सहावेणं ॥१॥
बाले सिक्खाकाले मादापिदरा य दिक्खिदे गुरवो।
धम्मो परलोये खलु सदा सहाया य मित्ताणि ॥२॥
जणबंधूपरिवारा धणधण्णादओ य विहवाणि।
होज्जासु ण वा किंतु मित्तं खलु णिच्च कादव्वं ॥३॥

सुहृदय वाले व्यक्ति के अच्छे मित्र होते ही हैं। धार्मिकों के मित्र धर्म परायण होते हैं, व्यसनियों के निश्चित रूप से व्यसनी मित्र होते हैं। जैसी दृष्टि अन्तस् में होती है, वैसी ही सृष्टि की रचना बाहर होती है। मानसिक विकार से युक्त लोगों की संगति भी दुर्जनों के साथ होती है। शिष्ट लोगों की संगति शिष्टों के साथ होती है। इसलिए संगति ही मनुष्य के हृदय को कहती है और उसकी भविष्य की भव्यता को भी निर्धारित करती है। माता के संस्कार के उपरान्त मित्रों से उत्पन्न संस्कार जीव के संपूर्ण जीवन की उन्नति और अवनति के हेतु होते हैं। विद्याधर के मित्रों के नाम अण्णादो, शिवकुमार, मारुति, पारिसा, अण्णाओ, राजेन्द्र और जिनगौड़ा इत्यादि थे।

जिनके जिस प्रकार के विचार होते हैं, उनके उसी प्रकार के मित्र होते हैं। मित्र यौवन काल में स्वभाव से उद्धार भी करते हैं और पतित भी कर देते हैं ॥१॥

बालपन में, शिक्षाकाल में माता-पिता सहायक होते हैं, दीक्षित होने पर गुरु सहायक होते हैं, धर्म परलोक में सहायक होता है, किन्तु मित्र सदा सहायक होते हैं ॥२॥

लोग, बंधु, परिवार, धन-धान्य और वैभव होवे अथवा नहीं होवे, कोई बात नहीं है, किन्तु मित्र सदा बनाना चाहिए ॥३॥

ग्रामे वा नगरे वा सर्वत्र सर्वप्रकाराः जनाः तिष्ठन्ति। तेषु चयनपद्धतिः स्वमनोऽनुरूपा स्यात्। विद्यालये अपि विद्याधरस्य सुमनस्काः वयस्याः आसन्। बहुषु अपि जनेषु तस्य एकेन वा द्वाभ्यां वा सह नैकट्यं आसीत्। मारुतिः तेषु एकतमः आसीत्। सः च तस्य एव ग्रामस्य निवासी। दृश्यते लोके भोजनपानमनोरंजनविषये सहाया सर्वे सन्ति किन्तु विपत्तिधर्मकार्येषु न। तथा तस्य तत् मित्रं न आसीत्। जिनालये वन्दनापूजनभक्तिकार्येषु ग्रामान्तरे साधुसमाधिदर्शनप्रवचनविधानेषु च मारुतिः अन्वचरत्। रात्रौ स्वाध्यायसमये अपि च सह विद्याधरेण उपविशति स्म शृणोति च। विद्याधरः स्वाध्यायादिकं क्वचित् गृहे क्वचित् जिनालये व्यधात्। तत्रैव 'कल्लबस्ती' (प्रस्तरमन्दिरम्) अस्ति। तच्च शताधिकवर्षं प्राचीनम् स्यात्। बहुलबाहुल्यभित्तिनिर्मितं पूर्णरूपेण बृहत्प्रस्तरखण्डैः रचितं उच्चैःशिखरनिबद्धं महाराजस्य महाप्रासादाङ्गनमिव प्राङ्गणं प्रदोलितध्वजैः परेषां आह्वानकं इव सुरासुरनागभवनवासिप्रभृतिभिः दैवैः प्रेक्षणीयं रमणीयं च तत् मन्दिरं भव्यमनोव्याकर्षकंअस्ति।

सच्चमेव–

अरिहंतस्स य बिंबं जिणालये जाण सव्वहिदकरणं।
भव्वस्स एगसरणं पुज्जं हि मणुजसुरिंदेहिं ॥४॥

विद्याधरः तस्मिन् मन्दिरे गत्वा ध्यानम् अकरोत्। क्वचित् रात्रौ नववादने गृहे आयातिस्म। तदानीन्तने ग्रामे विद्युद्व्यवस्था न अजायत। रात्रौ ९ वादने पश्चात् घोरतिमिरं व्याप्तं अभवत्। ततः ग्रामे आवागमनं

गाँव अथवा नगर सभी जगह सभी प्रकार के जीव रहते हैं। उनकी चयन-पद्धति अपने मन के अनुरूप होती है। विद्यालय में भी विद्याधर के अच्छे मन वाले मित्र थे। बहुत से लोगों में भी उसके एक या दो मित्रों से निकटता थी। मारुति उनमें से एक था। वह उस ही गाँव का निवासी था। इस संसार में देखा जाता है, कि जैसे सभी जन भोजन-पान और मनोरंजन के विषय में सभी सहायक होते हैं, परन्तु विपत्ति और धर्म कार्यों में नहीं। विद्याधर का मित्र वैसा नहीं था। जिनालय में वन्दना, पूजन, भक्ति कार्यों में और गाँव से बाहर साधु-समाधि-दर्शन, प्रवचन, विधानों में मारुति साथ-साथ जाते थे और रात में स्वाध्याय के समय भी वह विद्याधर के साथ बैठते और सुनते थे। विद्याधर स्वाध्यायादि कभी घर में, कभी जिनालय में करते थे। वहाँ ही 'कल्लबस्ती' (प्रस्तरमन्दिर) है। वह सौ वर्षों से अधिक प्राचीन है। बहुत बड़ी-बड़ी दीवारों से निर्मित पूर्ण रूप से बड़े-बड़े पत्थर के खण्डों से रचित ऊँचे शिखरों से युक्त महाराजा के महाप्रासाद (महल) के आँगन के समान आँगन युक्त, लहराती हुई ध्वजाओं से दूसरों को बुलाती हुई के समान सुर, असुर, नाग आदि भवनवासी देवों के द्वारा देखने योग्य और रमणीय वह मन्दिर भव्यों के मन को आकर्षित करने वाला है।

सच ही है–

जिनालय में अरिहंत के बिम्ब भव्यों का हित करने वाले हैं, यह जानो। मनुष्य और सुरेन्द्रों के द्वारा पूज्य वह बिम्ब भव्य जीवों के लिए एकमात्र शरण हैं ॥४॥

विद्याधर उस मन्दिर में जाकर ध्यान करते थे। कभी रात में ९ बजे घर आते थे। उस समय तक

अवरुद्धं। यदा चलच्चित्रं दृष्ट्वा जनाःग्रहे प्रविशन्तिस्म तदा तैः सह सः अपि प्राविशत्। मध्यकाले कुक्कुराणां आतङ्कवशात् गमनागमनं निष्ठापयतिस्म। सामाजिकमन्दिरे अन्यस्मिन् सः शास्त्रश्रवणं अकरोत् क्वचित् तु स्वयं अपाठयत्। क्वचित् मित्रैःसह क्वचित् एकाकी व्यविद्यत। मन्दिरे भरतेशवैभवं अपठत् ग्रहे मूलाचारमपि, इति महावीरेण अवलोकितम्। अन्नासाहेबपाटिलः स्वग्रहे शास्त्र-श्रवणार्थं कदापि कदापि आहूतवान् तम्। अन्यदपि मित्रं आसीत्। तस्य नाम 'जिनगौडा'। एक कि॰ मी॰ दूरे तस्य निवासस्थानम् अस्यग्रामात् विनिर्मितम्। सः खलु विद्याधर इव वैराग्यवान्। कृषिक्षेत्रे तेन पृथग्रूपेण स्वस्य आवासः विनिर्मितः। वासरे अलब्धावसरः प्रायः सः सायंकाले विद्याधरस्य समीपं अयात्। क्वचित् निशायां बृहद्दीपं (लालटेन्) करे गृहीत्वा गमनागमनं आश्रयत्। आगत्य सः तेन सह जिनालये अभजत् पश्चात् स्वाध्यायध्यानचर्चादिकं व्यधात्।

जिणवाणी महदीवो जगदंधयारणासणे खलु एगो।
जिणवयणं पढमाणो लहदि पयासं खुअप्परूवस्स ॥५॥

विद्याधरः मित्रस्य द्विचक्रिकां अचालयत्। द्विचक्रिकाचालनं यतः क्लिष्टकार्यं तथापि तेन मुहुर्मुहुः प्रयोगात् सफलता प्राप्ता। क्वचित् पतनात् तस्याः अस्थिनः स्वस्थानात् अवतरणं अभूत्। स्वस्थानागंतेऽपि भुजायां किञ्चित् वक्रता स्थिरा सञ्जाता। पतनमपि उत्थानकारणं इति मत्वा तेन चक्रिकाचालनं न त्यक्तम्।

गाँव में विद्युत व्यवस्था नहीं थी। रात में ९ बजे के बाद घोर अन्धकार व्याप्त हो जाता था। इसलिए गाँव में आवागमन रुक जाता था। जब चलचित्र को देखकर लोग घर में प्रवेश करते थे, तब उनके साथ वह भी प्रवेश करते थे, क्योंकि मध्य रात्रि काल में कुत्तों के आतंक के कारण-गमनागमन निरुद्ध रहता था। किसी अन्य सामाजिक मंदिर में वह शास्त्र को सुनते थे, कभी वो स्वयं पढ़ते थे। कभी मित्रों के साथ और कभी अकेले रहते थे। मन्दिर में भरतेश वैभव पढ़ते थे तथा घर में मूलाचार भी पढ़ते थे ऐसा महावीर के द्वारा देखा गया। अन्नासाहेब पाटिल अपने घर में शास्त्र श्रवण के लिए कभी कभी विद्याधर को बुलाते थे। एक दूसरा मित्र भी था। उसका नाम 'जिनगौडा' था। इस गाँव से एक किलोमीटर दूर उसका निवास स्थान बना था। वह भी निश्चित रूप से विद्याधर के समान वैराग्यवान था। खेत में उन्होंने पृथक् रूप से अपना आवास बनाया था। दिन में अवसर न मिलने पर प्रायः वह शाम को विद्याधर के पास जाता था। कभी रात में हाथ में लालटेन लेकर आते जाते थे। आकर वह उनके साथ जिनालय में भजन करता था, उसके पश्चात् स्वाध्याय, ध्यान, तत्त्वचर्चादि करते थे।

जगत् के अंधकार को नष्ट करने के लिए जिनवाणी एक महा-दीपक है। जिनवचनों को पढ़ने वाला आत्मस्वरूप के प्रकाश को अवश्य प्राप्त करता है ॥५॥

विद्याधर मित्र की साइकिल चलाते थे। जबकि साइकिल चलाना कठिन कार्य था, फिर भी उन्होंने बार-बार प्रयोग से सफलता प्राप्त कर ली। कभी गिरने से उनकी अस्थि अपने स्थान से उतर

प्राक्कालादपि अधिकरुच्या तच्चालने निष्णातः अभूत्। हस्तद्वयं उपरि उत्थाय सः तां वाहयति स्म। कस्मिञ्चित् दिने चक्रिकाचालनकाले पदिकया पदाङ्गुष्ठस्य नखं तत्रैव संघट्टनात् अन्तर्मुखीभूतम्। अद्यावधि तत् तथैव अन्तः वर्धते पीडयते च।

अहह! राजा अपि विवर्द्धितान् स्वकुलोत्पन्नान् प्रियान् अपि नखान् इव स्वपीडाप्रदसमर्थान् स्खलितपथान् समुच्छिनत्ति। अयं तु राजेव महाराजः भवन्नपि तान् न उच्छेत्स्यति इति राज्ञोऽपि श्रेष्ठतां क्षान्तितां च व्यनक्ति विद्याधरः।

तानि च त्रीणि मित्राणि श्रीवीरसागरमहाराजस्य समाधि-दर्शनार्थं ग्रामात् बहिः एकदा गतवन्ति। महाराजस्य जन्मस्थानं बोरग्रामः आसीत्।

यत्र कोष्ठे महाराजः समाधये समस्थात् तत्रैव गत्वा त्रीणि अतिष्ठन्। चरणं स्पृश्य विद्याधरः लघुना हस्तेन संवाहनं प्रारभत। किञ्चित् कालं नमस्कारमन्त्रं कर्णयोः मधुररीत्या श्रावितम्। मुनिमहाराजस्य अन्तरङ्गं विज्ञाय सः परमानन्दस्तोत्रं गीतवान्। श्रीमुनेः मुखारविन्दे हृदयस्य विशुद्धिः वृद्धिंगता तावत् दृष्टा। तदीयस्य परिचर्यां सर्वकाल एव समादधात्। दिवसोपरान्तं समाधिः निष्ठिताः तदा तानि समाधिक्रियां सकलां कृत्वा दृष्ट्वा च पुनरागतवन्ति।

गई। अपने स्थान पर आ जाने पर भी भुजा में कुछ वक्रता आ गयी। पतन भी उत्थान का कारण है, ऐसा मानकर उन्होंने साइकिल चलाना नहीं छोड़ा। पहले से भी अधिक रुचि के कारण वह उसको चलाने में निपुण हो गए। दोनों हाथ ऊपर उठाकर वह उसे चलाते थे। किसी दिन साइकिल चलाते समय पैडल के द्वारा पैर के अंगूठे का नख वहाँ ही ठोकर के द्वारा अन्दर की ओर हो गया। आज तक वह वैसे ही अन्दर की ओर बढ़ता है और पीड़ा देता है।

अहो! राजा भी नख के समान अपने कुल में उत्पन्न प्रियजनों को भी उखाड़ देता है, यदि वह लोग राजा को पीड़ा देने लगते हैं और अपने रास्ते से स्खलित हो जाते हैं। यह तो राजा के समान महाराजा होकर भी अपने आश्रितों को उखाड़ कर नहीं फेकेंगे। इस प्रकार वह विद्याधर राजा से भी अधिक श्रेष्ठता और क्षमा भाव को व्यक्त करता है।

एक बार वे तीनों मित्र श्री वीरसागर महाराज की समाधि-दर्शन के लिए गाँव से बाहर गए। मुनिराज का जन्म स्थान 'बोरग्राम' था। वहाँ ये मित्र समाधि की क्रिया को करके और देखकर पुनः वापस आ गए।

जिस कमरे में महाराज समाधि के लिए स्थित थे, वहाँ ही जाकर तीनों बैठ गए। चरणों का स्पर्श करके विद्याधर ने अपने छोटे-छोटे हाथों से सहलाना प्रारंभ कर दिया। कुछ समय तक कानों में नमस्कार मंत्र मधुर रीति से सुनाया। मुनि महाराज के अंतरंग को जानकर, उन्हें परमानन्द स्तोत्र सुनाया। उस समय श्रीमुनि के मुखरूपी कमल पर हृदय की विशुद्धि वृद्धिंगत होती देखी गयी। उन्हीं की सेवा पूरे समय तक करते एक दिन के बाद समाधि हो गयी। वे समाधि की क्रिया संपूर्ण

स्थानीय-ग्रामे अपि साधूनां गमनागमनं सदा अवर्तत। केषाञ्चित् वर्षायोगस्थापना तत्र सम्पन्ना अभूत्। अपरः अपि मुनिः आदिसागरः शेडवाल-स्थानीयः आसीत्।

ग्रामे बहुधा आगमनं तस्य अभवत्। एकमासं क्वचित् द्विमासं इत्यादि कालपर्यन्तं निवसनं अपि आसीत्। सः खलु मुनिः विचक्षणः सर्वकारन्यायालये (पब्लिक प्रोसीक्यूटर) प्राक् कार्यरतः आसीत्। प्रवचने तदीयस्य अभिनवसरल-प्रासङ्गिकदृष्टान्तस्य मुख्यता स्फुटं स्फुरति स्म। तेन कारणेन प्रवचनकाले महान् सम्मर्दः एकत्रीभवतिस्म। त्रीणि हि मित्राणि तत्सन्निधौ अतिष्ठन्। भक्त्या भावविशुद्ध्या च दर्शनादिक्रियानुष्ठाने मनोविकारकालुष्यं उपशान्तिंगतम्।

जिणवाणीगंगाए जो अवगाहदि सयं परं देदि।
तेण हि तित्थपवाहो सो उवगारी मुणी झेओ ॥६॥

अन्यदा गृहे कस्यापि ज्ञापनं विना 'मांगूरग्रामे' पञ्चकल्याण-महोत्सवार्थं पञ्चाशत् कि० मी० दूरं मित्रैः सार्धं विद्याधरः निर्गतवान्। प्रतिनिवर्तन-समये घोरा वर्षा सञ्जाता। सर्वत्र नदीनालिकायां पूरस्य प्रकोपः अभूत्। यातायातमार्गः अपि पूर्णतया निरुद्धः। प्राचीनगेहानि तदा भूमेः आलिङ्गितानि। नावि उपविश्य स्वयं नाविकत्वेन संनाह्य यथाकथञ्चित् गृहं आगतवान्। पितुः कोपेन भीतः सः तत्समक्षं न साक्षात्कृतवान्। एकद्विदिवसे गते प्रवृत्तिः सहजा जाता।

करके व देखकर पुनः घर आ गए।

स्थानीय गाँव में भी साधुओं का गमन-आगमन हमेशा होता रहता था। कितने ही साधुओं की वर्षायोग स्थापना वहाँ सम्पन्न हुई। एक दूसरे मुनि भी आदिसागर जी थे, जो शेडवाल के थे।

गाँव में उनका आगमन अधिकतर हुआ। कभी एक माह, कभी दो माह, इतने समय तक उनका निवास भी रहा था। वह मुनि निश्चित रूप से बहुत विचक्षण थे और सरकारी न्यायालय में पब्लिक प्रोसीक्यूटर के रूप में पहले कार्यरत थे। उनके प्रवचनों में अभिनव सरल प्रासंगिक दृष्टान्तों की मुख्यता रहती थी। इस कारण से प्रवचन के समय बहुत भीड़ इकट्ठी होती थी। विद्याधर आदि तीनों मित्र उनके सान्निध्य में रहते थे। भक्ति और भाव विशुद्धि के द्वारा दर्शन आदि क्रिया करने पर उन मित्रों के मन के विकार कलुषता नष्ट हो जाती है।

जिनवाणीरूपी गंगा में, जो स्वयं अवगाहन करता है और दूसरे को भी वह देता है, उसके द्वारा ही तीर्थ-प्रवाह होता है, वह उपकारी मुनि ही ध्येय है ॥६॥

अन्य किसी समय विद्याधर घर में किसी को बताए बिना पंचकल्याणक महोत्सव के लिए ५० कि० मी० दूर 'मांगूरग्राम' मित्रों के साथ चले गये। लौटते समय तेज वर्षा आ गयी। सभी जगह नदी-नालिकाओं के भरने का प्रकोप हो गया। यातायात के मार्ग भी पूर्णतया बन्द हो गए। पुराने घर उस समय भूमि में दब गये। नाव में बैठकर, स्वयं नाव को चलाकर, जिस किसी तरह घर आये। पिता के क्रोध से डरकर, वह उनके सामने नहीं गये। एक-दो दिन बीत जाने पर सब सहज हो गया।

सत्यमेव–

जो दिट्ठुं संगच्छइ पंचकल्लाणादिजिणमहोच्छाइं।
तस्स विणस्सइ सव्वं अमंगलं मंगलं होइ ॥७॥

तावत् खलु विद्याधरस्य एकः अन्यः भ्राता जातः। तस्य आयुषः स्थितिः अत्यल्पा आसीत्। नामकरणसंस्कारमात्रम् तस्य अभूत्। तस्य नाम धनपालः कथितः।

कतिपयवर्षानन्तरं अपरः अपि भ्राता सञ्जातः। सः च भाद्रमासे अनन्तचतुर्दश्याः किञ्चित् प्राक् जन्म अलभत; अत एव तस्य ख्यातिः अनन्तनाम्ना अभवत्। सर्वेषु मासेषु भद्रे भाद्रमासे श्रावकश्राविकाजन–क्रियमाणपूजामङ्गलगानापूरितजिनालये सर्वत्र सर्वशः सकललोककल्याणपरम्परा–सम्पत्तिसम्पन्न–वृषवारिवृष्टिसमापन्ने अनन्तजित्तीर्थंकरदेहभस्मविशिटपुद्गलपरमाणुपिण्डपिण्डीकृत इव भासुरमूर्तिः अवभासते स्म। वर्षद्वयानन्तरं गृहे पुनः जन्मोत्सवःव्यधायि। जन्मक्षणे शरदृतुसमायाते निरभ्रगगनशोभितनिर्मलशीतल–किरणकरप्रसरप्रवृद्ध–सुधारससुधांशुमण्डले जिनप्रणीत–धर्मसदृशसुदूरविस्तारितदिक्पथे शिशुः मल्लप्पा गृहे अशुभत। शुभशान्तमुखकमलसुगन्धिना अशेषगृहं आपूरितम्। अतः षोडशतीर्थंकरमहापुण्ययुतशब्दैः शान्तिनाथसंज्ञया सः संगीर्यते स्म।

सच ही है–

जो पंचकल्याणक आदि जिन महोत्सव को देखने के लिए जाता है, उसके सभी अमंगल विनष्ट हो जाते हैं और मंगल होता है ॥७॥

उस समय तक विद्याधर का एक अन्य भाई भी हो गया। उसकी आयु की स्थिति अत्यन्त अल्प थी। उसका नामकरण संस्कार मात्र हुआ। उसका नाम धनपाल कहा गया।

कुछ वर्ष पश्चात् दूसरा भाई भी हुआ। वह भाद्रमास की अनन्त चतुर्दशी से कुछ समय पहले जन्म लिया। इसलिए उसकी प्रसिद्धि अनन्त नाम से हुई। सभी महीनों में भादों का माह अच्छा (कल्याणकारी) है। इस माह में श्रावक–श्राविकाओं के द्वारा की जाने वाली पूजा के मंगल–गान से जिनालय गूँजते रहते हैं। इस माह में सर्वत्र सब प्रकार से समस्त लोक के कल्याण की परम्परा को वैभव सम्पन्न करने के लिए धर्म–जल की वृष्टि होती है। अनन्तजित् तीर्थंकर की देह की भस्म से विशिष्ट पुद्गल परमाणु के पिण्ड को मानो एकत्रित किया हो, इस तरह वह भासुर देह वाला शिशु अनन्तनाथ सुशोभित होता था। दो वर्ष पश्चात् घर में फिर से जन्मोत्सव हुआ। जन्म के समय शरद ऋतु थी। इस ऋतु में मेघ रहित आकाश में निर्मल शीतल किरणों के समूह के प्रसार से चन्द्र–मण्डल का सुधा रस बढ़ा हुआ रहता है तथा जिनेन्द्र देव प्रणीत धर्म के समान दूर तक दिशा पथ फैला दिखाई देता है। ऐसी ऋतु में शिशु, मल्लप्पा के घर में सुशोभित हुआ। शिशु की शुभ शान्त मुख कमल की सुगन्धि द्वारा पूरा घर भर गया। अतः महान् पुण्य से युक्त सोलहवें तीर्थंकर के शब्द के द्वारा 'शान्तिनाथ' नाम के द्वारा उसे पुकारा गया।

जत्थ एगो महाभागो सुपुत्तो जायदे खलु।
सहोदरा वि तत्थण्णे जम्मंति तस्स पुण्णेण ॥८॥

एगेण वि सुदेणेह गिहे सग्गसुहं हवे।
जत्थ तिण्णि व चत्तारि तस्सुहं को हु वण्णदे ॥९॥

सुदासुदजुदं गेहं सोहग्गेण हि लब्भदे।
अण्णहा पुरिसत्थं दु सव्वेसिं किं ण वट्टदे ॥१०॥

यदा लघुभ्राता अनन्तनाथः त्रिवर्षीयः आसीत् तदा स रीकेट्सरोगेण ग्रस्तः। येन तस्य हस्तपादाः शनैः शनैः शुष्का जाताः, जठरं वृद्धिंगतं, देहमस्थिपञ्जरेण दृष्टम्। नानोपायैरपि स न स्वस्थोऽभवत्। सर्वे विचारयन्ति–मरणं निश्चितमेव। गौरवर्णं सुन्दररूपमपि कथं विद्रूपं जातम्। भ्रातुः एतत्स्थितं अवलोक्य विद्याधरः अतिदुःखी भवन् क्रीडार्थं अपि न अगच्छत्। एकेन ग्रामीणवैद्येन स्थितिं दृष्ट्वा औषधं प्रदत्तम्। उक्तं च–औषधसेवनेन सह एकवर्षपर्यन्तं प्रातःकालात् बारहवादनपर्यन्तं घर्मसेवनं कारयितव्यम्। तथैव कृतम्। तेन तस्य त्वचा कृष्णा जाता किन्तु रोगः पलायितः। तस्य शरीरवर्णं विलोक्य विद्याधरः जनकं कथयति–मम भ्रातुः निदानं केनचित् उच्चतरवैद्येन कारयितव्यम्। अनेकशः स वैद्यं अपृच्छत्–मम भ्राता कदा स्वस्थः भवेत्? इति विद्याधरः स्वभ्रातृभगिनीजनं हृदयेन स्नेहं करोतिस्म।

जहाँ एक महाभाग्यवान सुपुत्र उत्पन्न होता है, वहाँ अन्य भी सहोदर उसके पुण्य से जन्म लेते हैं। एक सुपुत्र से भी इस लोक में घर में स्वर्गसुख होता है, जहाँ तीन व चार पुत्र हों, उनके सुख का वर्णन कौन करे? ॥८–९॥

पुत्र–पुत्रियों से सहित घर सौभाग्य से ही प्राप्त होता है, अन्यथा पुरुषार्थ क्या सभी जीवों में नहीं पाया जाता है? ॥१०॥

जब छोटा भाई अनन्तनाथ तीन वर्ष का था, तब वह रीकेट्स रोग से ग्रस्त हो गया। जिससे अनन्तनाथ के हाथ–पैर धीरे–धीरे सूख गये। पेट बढ़ गया, शरीर अस्थिपंजर दिखाई देने लगा। अनेक उपायों के द्वारा भी वह स्वस्थ नहीं हुआ। सभी विचार करते हैं, कि मरण अब निश्चित ही है। गोरे रंग का सुंदर रूप होते हुए भी कैसा विद्रूप हो गया है? भाई की इस स्थिति को देखकर के विद्याधर अतिदुःखी होते हुए, खेलने के लिए भी नहीं जाते थे। एक ग्रामीण वैद्य ने स्थिति देखकर के औषध दी और कहा–औषध सेवन के साथ एक वर्ष तक प्रातःकाल से बारह बजे तक धूप–सेवन कराना आवश्यक है। उसी प्रकार किया गया, जिससे उस बालक की त्वचा काली पड़ गई किन्तु रोग चला गया। उनके शरीर का रंग देखकर के विद्याधर पिता को कहते हैं–मेरे भाई का निदान किसी उत्कृष्ट वैद्य से कराना चाहिये। वह वैद्य को भी अनेक बार पूछते हैं, कि मेरा भाई कब स्वस्थ होगा? इस तरह विद्याधर अपने भाई–बहन को हृदय से प्रेम करते थे।

विद्याधरेण भ्रातृद्वयं जन्मत एव लालितम्। तस्य हृदये स्वाभाविकं प्रेम कुटुम्बिनं प्रति उपाजायत। स्वयं पठनं पाठनं कृषिकारणेन क्षेत्रगमनं पित्राज्ञया समाजकार्यपरत्वं इत्यादिकं विधाय सः मातुः अनुज्ञां अपि अपालयत्। कस्मिंश्चिद् दिवसे शान्तिनाथेन अतीव रोदनं प्रारब्धम्। माता स्वक्रोडे आदाय नानाविधाभाणकं संश्राव्य गृहांगणे उपावर्तनं कृत्वा च तं तूष्णीं कृतवती। तथापि सः न अतुषत् अतः विलपनेन बहुकालः नीतः। तदानीं मात्रा विद्याधरः आहूतः। तत्कालं आगतं विद्याधरं अवलोक्य जननी तं गदितवती–विद्याधर! इमं बहिः नयेः तूष्णीं विधाय निवर्तयेः बहिः गत्वा विद्याधरः शान्तिनाथं दर्शं दर्शं, गायं गायं, भ्रामं भ्रामं अश्रुरोदनविश्रान्तये भूरि अयतत। बालः तथापि अशान्तः। बहुकालानन्तरं विद्याधरः प्रबोधयति स्म–''शान्तिनाथ! आक्रन्देन किं बहुतरपापं अर्जयसि त्वयि त्रीणि रत्नानि सम्यग्दर्शन–ज्ञानचारित्ररूपाणि तिष्ठन्ति, तानि पश्य पश्य।'' इत्थं आकर्ण्य शिशुः लीलया शान्तः। पश्चात् शिशुः इंगितवान्–आनय आनय, कुतः रत्नानि सन्ति, विद्याधरः करांगुलिदर्शनेन अदर्शयत्–त्वयि हृदये अत्र अत्र। एतादृशं दृश्यं शान्ताभगिनी दूरात् विलोकितवती प्रहृष्य गृहान्ते गत्वा मातरं सर्वं सहासेन च कथितवती।

अन्यस्मिन् समये यदा विद्याधरः गृहं प्रविष्टवान् तदा अपश्यत् उभौ भ्रातरौ परस्परं अक्रीडताम्। समीपं आगत्य सः अभणत्–न अनवरतं क्रीडा हि कर्त्तव्या अपितु पठनेऽपि मनः नियोज्यम्। ततः सः, तौ गृहस्य कोष्ठे आनीतवान्। तत्र उपविश्य–''मयका सह उच्चारणं कुरुताम्' इति आदिशत्। 'णमो

विद्याधर के द्वारा दोनों भाई का जन्म से ही लालन किया गया। उनके हृदय में कुटुम्बियों के प्रति स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न हुआ। स्वयं पढ़ने–लिखने, कृषि के काम से खेत जाना, पिता की आज्ञा से समाज कार्य में तत्परता इत्यादि करके वह माता की आज्ञा भी पालते थे। किसी दिन शान्तिनाथ ने अत्यधिक रोना शुरू कर दिया। माता ने अपनी गोदी में लेकर विभिन्न प्रकार के पहेलियों को सुनाकर और घर के आँगन में घुमा–घुमा करके उसको चुप किया फिर भी वह चुप नहीं हुआ। अतः रोते हुए बहुत समय निकल गया, तब माता ने विद्याधर को बुलाया। उसी समय आए हुए विद्याधर को देखकर माता ने उससे कहा–विद्याधर! इसको बाहर ले जाकर चुप करा दो। बाहर जाकर विद्याधर ने शान्तिनाथ को देखो–देखो, गा–गाकर, घुमा–घुमाकर चुप करने के लिए बहुत प्रयास किया। बालक फिर भी चुप नहीं हुआ। बहुत समय के बाद विद्याधर ने संबोधन किया–''शान्तिनाथ! क्यों , रोने से बहुत पाप का अर्जन करते हैं। तुममें तीन रत्न सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र हैं, उनको देखो, देखो! यह सुनकर शिशु तुरन्त शान्त हो गया। बाद में शिशु ने इशारा किया–लाओ, लाओ कहाँ हैं रत्न? विद्याधर ने हाथ की अंगुलि द्वारा दिखाया यहाँ–यहाँ तुम्हारे हृदय में। यह दृश्य बहिन शान्ता दूर से देखती थी और उसने प्रसन्नता पूर्वक घर में जाकर माता से सब कुछ हँसते हुए कहा।

अन्य समय जब विद्याधर ने घर में प्रवेश किया तब देखा– दोनों भाई आपस में खेलते थे। पास आकर विद्याधर ने कहा–लगातार खेलना ही नहीं चाहिए अपितु पढ़ने में भी मन लगाना

अरिहंताणं.....।''

बारंबारं मन्त्रम् उच्चार्य-एवं पठताम्, एवं न पठताम् इत्यादिप्रकारेण सम्बोधनं कृत्वा तयोः स्मृतिपथे निबद्धः कृतः मन्त्रः। तथा च त्रिकालवर्तिनां चतुर्विंशतितीर्थकराणां नामस्मरणं अपि पाठितम्। कथितं च-प्रतिदिनं मन्त्रस्य जापः करणीयः अपि।

जावो खलु करणिज्जो कारयिदव्वो मंत्त-णमोक्कारो।
संकारो सो जेण्हो जेण विणा किं णु जम्मेणं ॥११॥

इति भ्रातृद्वयस्य उपरि संस्काराः विद्याधरेण तावत् अर्पिताः।

कन्नडभाषामाध्यमेन विद्याधरः नवमकक्ष्यां उत्तीर्णवान्। सदा जनकेन दृष्टा तस्मिन् धर्मग्रन्थपठनरुचिवत् लौकिकग्रन्थपठनरुचिः ''अधिक-पठनेन कः लाभः'' इति अन्यदा मल्लप्पा अपृच्छत्। विद्याधरेण सहजतया कथितः- ''पठनेन बुद्धिविकासः जायते तेन उच्चस्तरीययांत्रिकविभागे इदानींतन-वैज्ञानिकच्छात्रवत् कार्यरतः भविष्यामि।''

णाणावरणस्स खओ उवसमो य जादमिस्सभावगदो।
तेणुप्पज्जदि णाणं विण्णाणं जुज्जदे कज्जे ॥१२॥

''इदं न युक्तं भाति''-पिता आख्यत्। पुनश्च-अस्मदीयानां आगतकुलपरम्परानुकूलकार्यं नास्ति

चाहिए। तब वह उन दोनों को घर के कमरे में लाये, वहाँ बैठकर-''मेरे साथ उच्चारण करो' ऐसा आदेश दिया। ''णमो अरिहंताणं...।''

बार-बार मंत्र का उच्चारण करके-''ऐसा पढ़ो ऐसा नहीं पढ़ो'' इत्यादि प्रकार से सम्बोधन करके उन दोनों के स्मृति-पथ पर मंत्र निबद्ध कर दिया (अर्थात् उन दोनों को मंत्र याद करा दिया) और त्रिकालवर्ती चौबीस तीर्थंकरों के नाम भी स्मरण कराए और कहा-प्रतिदिन मंत्र की जाप भी करनी चाहिए।

मंत्र णमोकार का जाप करना चाहिए और कराना चाहिए। वह संस्कार ही जैनत्व है। इस संस्कार के बिना इस जन्म से क्या है? ॥११॥

इस प्रकार दोनों भाईयों के ऊपर विद्याधर के द्वारा तब संस्कार दिए गए।

कन्नड़ (भाषा) माध्यम के द्वारा विद्याधर ने नवमीं कक्षा पास की। पिता ने हमेशा देखा उसमें धर्म-ग्रंथों के पढ़ने की रुचि के समान लौकिक-ग्रंथों के पढ़ने में भी रुचि थी। ''अधिक पढ़ने से क्या लाभ?'' ऐसा कभी मल्लप्पा ने पूछा। विद्याधर ने सहजता से कहा-'पढ़ने से बुद्धि का विकास होता है। इसके द्वारा उच्चस्तरीय यांत्रिक विभाग में इस समय के वैज्ञानिक छात्रों के समान कार्यरत हो जाऊँगा।''

ज्ञानावरण का क्षय, उपशम से उत्पन्न क्षयोपशम-गत मिश्र-भाव होता है। उस मिश्रभाव से ज्ञान उत्पन्न होता है। उस ज्ञान से उत्पन्न विज्ञान ऐसे कार्य में लगाता है ॥१२॥

एतत्। कृषिः एव उत्तमं कार्यम्। मध्यमं वाणिज्यम्। सेवाकर्म तु जघन्यम्। ततः कृषिसंवर्धनार्थं स्वमनीषां योजयेत्। न चेदं अविचारितं अपि तु अनुभूतम्। मया अपि प्राक् बहुविधकार्यकरणे योजना संयोजिता तदपि न सफलीभूता। तेन निश्चितं कृतं कृषिः एव करणीया अस्ति। अतः परं न पठनीयं आवश्यकम्।

उत्तमं किरिसी कज्जं मज्झमं वणिजेण खु।
जहण्णं णरसेवाए जीविदं पुव्वमागदं ॥१३॥

विद्याधरः पितुः वचनं श्रुत्वा किमपि प्रत्युत्तरं दातुं न अशक्नोत्। मनोभावं मनसि एव संशय्य सः अतिष्ठत्। पितुः अनुज्ञां परिपूर्तये सः कृषिकार्यादिषु संलग्नः अभवत्। तथापि तस्य चेतसि एकः विचारः सदैव आन्दोलयति स्म यत्–''मम मानसे पिपठिषा वर्तते तस्याः शान्तिः कथं भवेत्। शिक्षाभिवृद्धिं बिना जीवनं निष्फलं प्रतीयते।'' सच्चमेव–

बुद्धेर्बलं सर्वबलप्रधानं, बुद्धेर्विहीना भुवि भारभूताः।
बुद्धेर्विकासो न विना प्रशिक्षां, बुद्ध्यर्जनार्थं कुरुतात् प्रयासम् ॥१४॥

प्रायेण चतुर्दशवर्षीयः सः तदा आसीत्। मित्रेण साकं उपविश्य सः ज्ञानस्य अभिनवस्य वृद्धिम् अकरोत्। क्वचित् सः संसारस्य असारतां चिन्तयतिस्म। क्वचित् सः पितुः आज्ञाम् अस्मरत्। क्वचित् सः ग्रामागतानां मुनिजनविषये विचारितवान्। क्वचित् सः निकटस्थ-जनकष्टम् अपश्यत्। क्वचित् सः स्वस्य

''यह ठीक प्रतीत नहीं होता'' पिता ने कहा। फिर–यह हमारी आयी हुई कुल परम्परा के अनुकूल कार्य नहीं है। कृषि ही उत्तम कार्य है। व्यापार मध्यम है। सेवाकर्म तो जघन्य है। इसलिए कृषि की अच्छी वृद्धि के लिए, अपनी बुद्धि को लगाना चाहिए और यह न केवल विचारी गई बात है, अपितु अनुभूत है। मेरे द्वारा भी पहले बहुत प्रकार के कार्य करने की योजना बनाई गईं, फिर भी सफल नहीं हुई। इससे निश्चित किया गया कि कृषि ही करने योग्य है। इसलिए आगे पढ़ना आवश्यक नहीं है।

उत्तम कृषिकार्य है। मध्यम वाणिज्य से तथा दूसरे की सेवा से जीवन चलाना जघन्य है। यह पूर्व परम्परा से चला आ रहा है ॥१३॥

विद्याधर पिता के वचनों को सुनकर कुछ भी उत्तर नहीं दे सका। मन के भावों को मन में ही रखकर वह बैठ गया। पिता की आज्ञा को पूरा करने के लिए वह कृषि कार्य में लग गया। फिर भी उसके मन में, एक विचार सदा ही आन्दोलन करता था, कि मेरे मन में पढ़ने की इच्छा है, उसकी शान्ति कैसे हो? शिक्षा की वृद्धि के बिना जीवन निष्फल प्रतीत होता है।

सच ही है–बुद्धि का बल समस्त बलों में प्रधान है, बुद्धि से विहीन मनुष्य पृथ्वी पर भारभूत हैं, प्रशिक्षण के बिना बुद्धि का विकास नहीं होता है, इसलिए बुद्धि का अर्जन करने के लिए प्रयास करना चाहिए ॥१४॥

उस समय वह लगभग चौदह वर्ष के थे। मित्रों के साथ बैठकर वह ज्ञान की प्रतिदिन नई-नई वृद्धि करते थे। कभी वह संसार की असारता का चिंतन करते थे। कभी वह पिता की आज्ञा का

भविष्यकालम् आकलयत्। क्वचित् सः संसारिसम्बन्धं बन्धनवत् अन्वभूत्। क्वचित् सः मातुः सहजस्नेहे अबध्नात्। क्वचित् सः रहसि जिनबिम्बं अध्यायत्। क्वचित् सः ग्रामान्तरविहितमहोत्सवे गत्वा समयं अयापत्। क्वचित् सः ज्येष्ठस्य भ्रातुः उपालम्भं असहत यत्–''कृषिगृहादिकार्यात् पराङ्मुखः अपौरुषः त्वम्।'' एवं विचारबहुलवीथिकाषु भ्रमणं कृत्वा सः विंशतिवर्षीयः अभवत्।

बुद्धीए खलु कज्जं ण पोत्थयरट्टणं खलु रत्तिदिवं।
किं कारणेण घडिदं जं दिट्ठं चिंतणं करणं ॥१५॥

तदा १९६६ ई. तमे विद्याधरः ग्रामस्य मुख्याभिजनैः साकं समीपस्थं ग्रामं अगच्छत्। शमनेबाडीग्रामे आचार्यः श्रीअनन्तकीर्तिः स्वनिर्मलकीर्त्या अशेषजनकीर्तिविषयः अभूत्। विहारकाले निवेदनं कृत्वा हृदयेन स्वाभिलाषं च प्रदर्श्य कथमपि स्वग्रामे ते आचार्यवर्यं आनीतवन्तः। तदाब्दे वर्षायोगः तद्ग्रामे हि संस्थापितवान् सः। महाराजः अस्ताचलगतः तपन इव स्वायुषः पर्यायान् मन्दगत्या व्यतीतं कुर्वन् समास्त। सहस्रनामपाठं पठित्वा सः महाराजस्य समीपं स्थितः स्वमनोरथं अचीकथत्– ''भगवन्! गृहसम्बन्धि कृष्यादिकार्यं अनर्थकं भाति जिनागमम् अध्येतुं उत्कटा इच्छा मनसि वर्तते, तत्कथं पूर्णीभवेत् इति दिग्दर्शनं भवतः वाञ्छामि, भवान् एव मम हृदयं सम्यक् वेत्ति अतः भवत्समक्षं मया स्वाभिप्रायः प्रकटीकृतः।''

स्मरण करते थे। कभी वह गाँव में आए हुए, मुनिजनों के विषय में विचार करते थे। कभी वह पास के लोगों के कष्ट देखते थे, कभी वह अपने भविष्यकाल का आकलन करते थे। कभी वह संसार के सम्बन्धों को बन्धन के समान अनुभव करते थे, कभी वह माता के सहज स्नेह से बँध जाते थे। कभी वह एकान्त में जिनबिम्ब का ध्यान करते थे। कभी वह दूसरे गाँव में होने वाले महोत्सव में जाकर समय बिताते। कभी वह ज्येष्ठ भाई के उलाहने को सहते थे, कि–तुम कृषि और घर के कार्यों से विमुख हो, तुम पुरुषार्थ विहीन हो। इस प्रकार बहुत विचार रूपी गलियों में भ्रमण करके वह बीस वर्ष के हो गए।

बुद्धि का कार्य केवल रात-दिन पुस्तकों को रटना नहीं है। जो दिखता है, वह किस कारण से घटित होता है, ऐसा चिंतन करना ही बुद्धि का कार्य है ॥१५॥

तब सन् १९६६ ई० में विद्याधर गाँव के मुख्य प्रमुख लोगों के साथ पास में स्थित गाँव में गये। 'शमनेबाड़ी' गाँव में आचार्यश्री अनन्तकीर्ति अपनी निर्मल कीर्ति के द्वारा सम्पूर्ण जनों की कीर्ति के विषय हुए। विहारकाल में निवेदन करके और हृदय से अपनी अभिलाषा को प्रकट करके किसी भी तरह वह लोग आचार्यवर्य को अपने गाँव में लाये। उस वर्ष का वर्षायोग उन्होंने उस ही गाँव में स्थापित किया। महाराज अस्ताचल को प्राप्त सूर्य के समान अपनी आयु की पर्याय को मन्द गति से व्यतीत कर रहे थे। सहस्रनाम पाठ को पढ़कर विद्याधर ने महाराज के समीप स्थित होकर अपनी मन की इच्छा को कहा–''भगवन्! घर सम्बन्धी कृषि आदिक कार्य निरर्थक प्रतीत होते हैं। जिनागम को पढ़ने की तीव्र अभिलाषा मन में है, वह कैसे पूर्ण हो? यह दिग्दर्शन आपसे चाहता हूँ। आप ही मेरे हृदय को अच्छी प्रकार से जानते हो, अतः आपके समक्ष मैंने अपना अभिप्राय प्रकट

जोव्वण काले धम्मे रुइगो जो जाण णियडभव्वो सो।
साहू जाणदि जोग्गं तेण दिसादरिसणं सेयं ॥१६॥

क्षणमपि सुविचार्य श्रीमुनिः सर्वं भाविनं अबुध्यत्। अतः उक्तवान्– ''विद्याधर! शृणु; इतः दक्षिणापथे कोऽपि श्रमणः जिनागमस्य अध्येता नास्ति। आम् उत्तरापथे सम्प्रति एकः आचार्यदेवः अस्ति; यस्य च प्राभवं दिग्दिगान्तरव्यापि अध्ययनं च काष्ठगतं स्यात्। ऐदंयुगीनानां विदुषां परिचयः च तस्य स्यात्। दाक्षिणात्यात् च तस्मात् त्वत्परिचयः अपि सुलभेन जायेत अतः तत्सामीप्यं प्राप्नुयाः।''

जो खलु कंखदि तिव्वं सो जदि पावेदि तिसिदभूदेणं।
तस्स जलं वि य अमियं जत्थ रुई तत्थ मग्गो वि ॥१७॥

गहनकाननभ्रमितपान्थस्य दिग्लाभ इव, समरोद्देशनिर्गतपवनञ्जयस्य विरहितचक्रयुग्मदर्श इव, गाढनिगूढतिमिरिकाल–विकरालरजनी–मुखाकुलितस्य सहसातडिद्भ्रंश इव, दिविजोपपादशय्योत्थितस्य देवस्य पूर्वभवविज्ञातावबोध इव, चिरायातराजरोगरुग्णस्य प्राप्तकुशलवैद्य इव, कपटपटमुखनिपतितमहागर्त–प्रतीक्षमाणदिग्गजस्य दर्शितापरिचितमुख इव, विजयार्धपर्वत समुत्पन्नविद्यासिद्धितीव्रातुरविद्याधरस्य मन्त्रमात्रज्ञप्तिः इव, नैगमनयार्पणपरस्य मुक्तिप्राप्तिः इव विद्याधरस्य अद्य सम्यग्विद्याविधेः प्राप्तिः अभवत्।

किया है।''

यौवनकाल में धर्म में जो रुचि करता है, उसे निकटभव्य जानो। वास्तव में साधु ही योग्य को जानता है, इसलिए साधु के द्वारा दिया गया, दिशानिर्देश ही श्रेयस्कर है ॥१६॥

एक क्षण अच्छी तरह सोचकर श्री मुनि समस्त होनहार को जान गए। इसलिए कहा– ''विद्याधर! सुनो इधर दक्षिणापथ में कोई भी मुनि जिनागम के अध्येता नहीं है। हाँ, उत्तरापथ में अभी एक आचार्य देव हैं और जिनका प्रभाव दिग्दिगान्तर में व्याप्त है और अध्ययन चरम सीमा पर है। इस युग के विद्वानों का परिचय भी उनको है। दक्षिण के होने के कारण उनसे तुम्हारा परिचय भी सुलभतापूर्वक हो जायेगा। अतः उनके पास जाओ।

जो तीव्र इच्छा रखता है, वह तृषित होकर यदि उसकी प्राप्ति कर लेता है, तो उसके लिए जल भी अमृत हो जाता है। सच है– **जहाँ रुचि है, वहाँ मार्ग भी होता है** ॥१७॥

गहन वन में भटके हुए राहगीर को दिशा–लाभ के समान, युद्ध के उद्देश्य से निकलते हुए पवनञ्जय को विरह प्राप्त चकवा–चकवी के दर्शन के समान, अत्यन्त घनघोर अंधकार से व्याप्त रात्रि में दुःखी हुए को, अचानक बिजली की चमक के समान, स्वर्ग की उपपाद शय्या से उठे हुए देव को पूर्व भव के हुए बोध के समान, चिरकाल से चले आए राज रोग के रोगी को कुशलवैद्य की प्राप्ति के समान, महागर्त में गिरे हुए और प्रतीक्षा करते हुए दिग्गज को किसी परिचित का मुख दिखाई देने के समान, विजयार्द्धगिरि पर उत्पन्न विद्या–सिद्धि के लिए अत्यन्त आतुर विद्याधर को, मंत्र मात्र की जानकारी के समान, नैगमनय की मुख्यता वाले को मुक्ति प्राप्ति के समान, विद्याधर

अथ सः रात्रौ भावियोजनाविषये अचिन्तयत्। ''भ्राता च पिता च प्रागेव यतः कोपावेशी ततः तयोः स्वाकूतप्रकटनं अकिञ्चित्करम्। माता तु मयि विषये सम्यक् चिन्तयति तथापि गेहस्य विमोचनवार्ता तच्चित्तं तुदिष्यति। यात्रा खलु दीर्घकालिका दीर्घायामिका च स्यात्। अधिकधनेन विना सा न सम्भवेत्। मित्रादीनां स्वयोजना निवेद्या, अथ न वा। यदि न वक्ष्ये तदा धनस्य व्यवस्था अपि न स्यात्। धर्मकार्यार्थं अपि चौर्यकर्म न उचितम्। अन्यस्मात् श्रेष्ठिनः धनयाचना ऋणेन विना न लभेत। ऋणविमुक्तिः अवश्यं करणीया, अन्यथा कुलस्य प्रतिहानिः।'' इत्यादिना ऊहापोहेन कथमपि यामिनी यापिता।

सच्चमेव–

जो जं इच्छदि पुरिसो तव्विसए खु रत्तिदिवं चिंतेदि।
णिद्दाभोयणमण्णं कज्जं ण हि रोचदे रुइगो ॥१८॥

प्रातः देवगुरुशास्त्रान् सम्यक् आराध्य स्वाभिप्रायं मित्रेषु अपि विश्वासपात्रेषु अभिष्टौतिस्म। जिनगौड़ा तु सह गन्तुं सपदि स्वीकृतवान्। मारुतिः आख्यत्–''अहं न शक्नोमि ईदृशं कर्तुम्। भवदभिप्रायः अत्युत्तमः। वित्तव्यवस्था विषये चिन्तां मा कार्षीः यावदावश्यकं तावत् प्रदास्ये।'' गृहस्थितानां मातृपितृभ्रातृप्रभृतीनां विषये निश्चिन्तः भव। यथाकालं एतत् निवेदये।

''कार्यारम्भात् सर्वत्र अनुकूलता हि कार्यसिद्धिः'' इति संभाव्य मार्च १९६६ ई० तमे जिनगौड़ेन सह

को आज सम्यक् विद्या–विधि की प्राप्ति हुई।

वह रात्रि में भावी योजना के विषय में सोचने लगे–भाई और पिता तो पहले से ही इतने क्रोधित हैं, इसलिए उन दोनों को अपना अभिप्राय बताने से कुछ नहीं होगा। माता तो मेरे विषय में अच्छा सोचती है, फिर भी घर छोड़ने की बात उनके हृदय को दुःख देगी। यात्रा निश्चित रूप से दीर्घ समय वाली और बहुत लम्बी है। अधिक धन के बिना यात्रा सम्भव नहीं है। मित्रों को अपनी योजना निवेदित करूँ अथवा नहीं, यदि नहीं कहूँगा, तो धन की व्यवस्था भी नहीं होगी। धर्म–कार्य के लिए चोरी करना भी उचित नहीं। अन्य किसी श्रेष्ठि से धन माँगना कर्ज के बिना नहीं होगा। कर्ज से मुक्ति भी अवश्य करनी होगी अन्यथा कुल की प्रतिष्ठा की हानि होगी। इत्यादि ऊहापोह में कैसे भी रात्रि निकल गयी।

सच ही है–जो पुरुष जिसकी इच्छा करता है, वह उसके विषय में रात–दिन चिंता करता है। निद्रा, भोजन और अन्य कार्य उस अभिलाषी को रुचते नहीं हैं ॥१८॥

प्रातः देव–शास्त्र–गुरु की सम्यक् आराधना करके, अपने अभिप्राय को मित्रो में भी विश्वासपात्र मित्रों को बताया। जिनगौड़ा ने तो साथ जाने के लिए शीघ्र ही स्वीकृति दे दी। मारुति ने कहा–मैं ऐसा नहीं कर सकता हूँ। आपका अभिप्राय अति उत्तम है। धन–व्यवस्था के संबंध में चिन्ता मत करो, जितना आवश्यक हो उतना दे दूँगा। घर में स्थित माता–पिता– भाईयों के विषय में निश्चिन्त रहो। उचित समय पर इसकी जानकारी दे दूँगा।

विद्याधरः प्रस्थितवान्। जननीपादौ तेन शयनसमये संस्पृष्टौ। जनकपादयोः दूरात् विनयं प्रदर्श्य गतवान्। प्रस्थानसमये तेन जिनालयस्थितानि जिनबिम्बानि भूरि भावनापूरेणवन्दनाभक्तिपाठेन संस्तुत्य संस्तुतानि। आबाल्यात् एतेषां पूजाऽर्चनादिकं व्यधायि, पुनः कदा दर्शनं भवेत् इति न विज्ञायते एवं विचिन्त्य उष्णाश्रुबृहद्बिंदुपातमिषेण जिनाभिषेकं विधाय तस्मात् निर्गतः सः। स्वल्पः हर्षः स्वल्पः शोकः संध्याराग इव संध्यासमये जन्मधरणीतलमोहत्यागी पदं पदं गमनेन निरापद् अभूत्।

धावेदि बुद्धी जदि भागवंतो
अग्गं हि अग्गं पुरिसस्स णिच्चं।
भावेण तिव्वं करणीयकज्जं
कुव्वंति जं ते सहलीभवंति ॥१९॥

तिव्वं अज्झवसाणं तस्स समक्खं ण ठादि ववहाणं।
किं सुज्जस्स समक्खं णिविडं तिमिरं वि चिट्ठेदि ॥२०॥

इति मुनिप्रणम्यसागरविरचिते अनासक्तमहायोगिनाममहाकाव्ये आचार्य विद्यासागरचरितव्यावर्णने निरापदपथनगमनसंज्ञकः चतुर्थः सर्गः समाप्तः।

''कार्य के आरम्भ से ही सर्वत्र अनुकूलता ही कार्य की सिद्धि है'' ऐसी संभावना करके मार्च १९६६ में जिनगौड़ा के साथ विद्याधर चले गये। माँ के पैर उन्होंने सोते समय छू लिए। पिता के पैरों में दूर से ही विनय को प्रदर्शित करके चले गए। जाते समय उन्होंने जिनालय में स्थित जिनबिम्बों की खूब भक्ति-भावों से भरकर वन्दना, भक्ति-पाठ के द्वारा स्तुति कर संस्तुति की। बाल्यकाल से ही इन जिनबिम्बों की पूजा अर्चनादि की है, पुनः कब दर्शन होंगे यह नहीं जानता हूँ ऐसा सोचकर गर्म आँसुओं की मोटी धार के द्वारा मानो जिनाभिषेक करके घर से निकल गए। संध्या राग के समान थोड़ी खुशी, थोड़ा शोक करते हुए संध्या समय जन्म-स्थली के मोह का त्यागी पद-पद गमन करते हुए निरापद हो गया।

यदि व्यक्ति भाग्यवान है, तो उस पुरुष की बुद्धि भाग्य के आगे-आगे हमेशा दौड़ती है। तीव्रभाव के साथ करणीयकार्य को जो करते हैं, वे सफल होते हैं ॥१९॥

तीव्र अध्यवसाय जिसके पास होता है, उसके समक्ष व्यवधान नहीं ठहरते हैं। क्या सूर्य के समक्ष घनघोर तिमिर भी ठहर सकता है? ॥२०॥

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामक महाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला निरापदपथनगमनसंज्ञक चौथा सर्ग समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

पंचमः सर्गः

श्रमणसूर्य

(प्राकृतभाषायां)

अह 'मारुति' मित्तेण धणं घेत्तूण अचिरं तत्थ आगदो विज्जाहरो जत्थ जयपुरणयरे 'खानिया' खेत्ते दक्खिणदेसीओ देसभूसणा-इरिओ चउमासम्मि ट्ठिदो होई। तस्स पासे विणयेण सो कहेदि-हे आइरिअजेट्ठ। संसारदुक्खादो भीदो हं। वदं इच्छामि, जेण मे जम्मं सफलं होउ। किञ्चि चिंतिदूण आइरियेण तेण सह तस्स विसये पुच्छा कदा। गिहट्ठिदिं सिक्खं मायापियरं वावारं इच्चादिविसयं णाऊण संतुट्ठो जादो। जोव्वणे वि तवोभावणा महापरिवारसंजुत्तो वि विरायभावरत्तो सहसापडिदतडिदव्व समागमो अस्स थिरो होदि वा ण होदि इदि जादसंसओ सिग्घं वदप्पदाणे ण समुज्जदो। दोतिण्णिदिणाणंतरं पुणो वि विज्जाहरस्स णिवेदणेण तस्स य अइरुइं दिट्ठूण वदं दिण्णं सूरिणा। गुरुसेवं कुव्वंतो सदा गुरुसमीवे हि णिवसइ सो। जत्थ रत्तीए जादि तत्थेव सो वि। एगदा चूलगिरिपव्वदे संझासमए विच्छुएण गुरू दंसिओ। गुरुकट्ठं पेक्खिदूण सहसा ओसहिणिमित्तं ओदरमाणो सो मग्गम्मि एगं किण्णसप्पं पेक्खिदूण तत्थेव णिट्ठादि। णमोक्कारपदं

'मारुति' मित्र से धन लेकर विद्याधर शीघ्र वहाँ आ गए जहाँ जयपुर नगर के खानियाँजी क्षेत्र में दक्षिणदेशवासी आचार्यश्री देशभूषणजी महाराज चातुर्मास के दौरान स्थित थे। उनके पास आकर विद्याधर ने विनयपूर्वक कहा-''हे आचार्य ज्येष्ठ! मैं संसार के दुःख से डरा हूँ, मैं व्रतों की इच्छा करता हूँ, जिससे मेरा जन्म सफल होवे। कुछ विचार करके आचार्यदेव ने उसके साथ उनके विषय में पूछताछ की। घर की स्थिति, शिक्षा, माता-पिता, व्यापार इत्यादि विषयों के बारे में जानकर वह संतुष्ट हुए। यौवन अवस्था में भी तप की भावना, परिवार से सहित होकर भी वैराग्य भाव से सहित होना, यह आश्चर्यकारी है। अचानक गिरने वाली बिजली की तरह, इस बालक का समागम स्थिर होगा अथवा नहीं होगा, इस प्रकार का संशय धारण किए वह आचार्य शीघ्र ही व्रत प्रदान करने में उद्यत नहीं हुए। दो-तीन दिन बाद फिर से जब विद्याधर ने निवेदन किया, तो उसकी अति रुचि देखकर सूरि ने उन्हें व्रत दे दिया। विद्याधर सदैव गुरु की सेवा करते हुए गुरु के पास ही रहते थे। रात्रि में भी गुरुदेव जहाँ रहते थे, वहीं वह रहते थे। एक बार चूलगिरि पर्वत पर संध्या के समय गुरु को बिच्छू ने डंक मार दिया। गुरु के कष्ट को देखकर वह सहसा औषधि के निमित्त पर्वत से नीचे उतरने लगे। रास्ते में एक काले सर्प को देखकर वह वहीं रुक गये। विद्याधर ने पहले के अभ्यास से तुरन्त णमोकार मन्त्र का चिंतन किया, क्षणभर के लिए आँखें बन्द कर लीं बाद में देखा तो वहाँ

आचार्य देशभूषणजी महाराज के संघ में ब्र० विद्याधर

पुव्वब्भासवसेण तेण चिंतिदं णयणं खणं णिमीलिदं पच्छा पेक्खिओ ण तत्थ सप्पो दिट्ठो। विग्घस्स विणिवारणं जादं इदि जाणित्ता तिव्ववेगेण अंधयारे ओसहं पाऊण सो आगदो। तस्स पओगेण पीडा जदा मंदा जादा तदा पसण्णचित्तेण सूरिणा सो पेक्खिओ, हियये हस्सिदो। सगणिम्मलववहारेण णिम्मदेण सूरिसंघचित्ते अहियारो कदो। सयमेव लहुणा कालेण सूरिणा संघस्स संचालणकज्जं माणिकभगिणीदो (माणिकवाई) तस्स अप्पिदं। विहारकाले संघस्स णिव्वाहणट्ठं सयलवत्थूणं समाजोजणं सो कुव्वंतोवि खिण्णो ण होदि। १९६७ खिट्टद्धे समावण्णे 'गोम्मटेसमहामत्थयाहिसेयमहोच्छवे' भागगहणट्ठं सो-संघेण सूरी विहरिदो। संभवकुमारो (पच्छा सूरि बाहुबलीसायरो) वि तत्थेव वसई। अजमेरु-इन्दौर- पावागढ-बडवाणी, मांगितुंगीमग्गेण विहारो जादो। विहरणकाले कत्थवि जिणालए 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' इदि गंथो तेण पत्तो। संघकज्जं णिट्ठविय लद्धकाले गंथपढणे सो लीणो होदि। जदा कदा विज्जाहरो सिवियाभारवहणं वि कीरदि। सवणवेलगोले चंदगिरिपव्वए सत्तपडिमावयं गिहिदं।

एत्थ गिहे मल्लप्पा रोसेण ट्ठिदो। सयमेव आगच्छेज्ज कोवि ण तं आणयणट्ठं कत्थवि गच्छेज्ज त्ति भण्णमाणेण जदा सुदं-सो अइसमीवे समागदो थवणिहे। पुत्तवामोहेण उवसमिदकोहो सयलपरिजणसमवेदो तत्थ गदो। परिबोहिदो विज्जाहरो। ''गिहं गच्छेज्ज, गिहं गच्छेज्ज'' इदि सव्वे पुणो पुणो भणंति। अण्णे वि

सर्प नहीं दिखा। विघ्न का निवारण हो गया, ऐसा जानकर अंधेरे में ही औषधि को तीव्र वेग से वह लेकर आ गये। औषधि के प्रयोग से पीड़ा जब कम हुई, तो गुरु ने प्रसन्न-चित्त से उन्हें देखा और फिर मन से प्रसन्न हुए। विद्याधर ने अपने अच्छे व्यवहार और निरहंकारवृत्ति से गुरु और संघ के चित्त पर अपना अधिकार कर लिया। आचार्यश्री ने थोड़े ही समय में स्वयं संघ के संचालक का काम माणिकबाई से विद्याधर को दे दिया। विहार के समय संघ के निर्वाह के लिए समस्त सामग्री को वही जुटाते थे, फिर भी वह खिन्न नहीं होते थे। १९६७ ई. में सम्पन्न होने वाले ''गोम्मटेश महामस्तिकाभिषेक महोत्सव'' में भाग लेने के लिए आचार्यश्री ने ससंघ विहार किया। उस समय उनके संघ में संभवकुमार (वर्तमान में आचार्य बाहुबलीसागरजी) भी रहते थे। अजमेर-इन्दौर-पावागढ़-बड़वानी-मांगीतुंगी होते हुए विहार हुआ। विहार काल में कहीं जिनालय में 'जैनसिद्धान्त प्रवेशिका' यह ग्रन्थ उन्हें प्राप्त हुआ। संघ के कार्य को पूरा करके जो समय बचता था, उसमें वह ग्रन्थ पढ़ने में लग जाते थे। जब कभी आवश्यकता पड़ने पर विद्याधर ने डोली भी उठाई। फिर श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर उन्होंने सात प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये।

इधर घर में मल्लप्पा गुस्से में थे। वह कहते थे- ''अपने आप आ जाएगा। कोई भी उसे (विद्याधर) लेने के लिए कहीं नहीं जाएगा।'' इस प्रकार कहते-कहते जब उन्होंने सुना, कि वह विद्याधर पास में ही आ गया है, स्तवनिधि में तो पुत्र के व्यामोह से उनका क्रोध शान्त हो गया और पूरे परिवार के साथ वहाँ मिलने गये। सभी ने विद्याधर को समझाया। ''घर चलो, घर चलो'' इस प्रकार सभी लोग बार-बार कहने लगे। परिचय होने से अन्य लोग भी मिलने को आ जाते। इस

जणा परिचयादो मेलणं कुव्वंति। एत्थकारणेण सो परितत्तो उव्विदो य जादो। अण्णत्थगमणट्ठं तेण पत्थणा कदा। सवियारं य तेण विणयेण अप्पियं कहिदं। मुणिवसहेण आणा दिण्णा–तुमं भव्वो असि। राजत्थाणविसए सिवसायरआइरिओ चेट्ठदि तत्थ गच्छेह। जेण कल्लाणो होज्ज।

गुरुस्स मणं सहिप्पाएण अणुकूलं जाणित्ता अदीवतुट्ठो जादो। **मणाणुगूलं परिट्ठिदिभवणं खलु भग्गं।** बाहुबलिजिणेसं तिव्वभत्तिभावेण पुणो पुणो णमंसित्ता गुरुजणं य सो तट्ठाणादो बहि णिग्गदो। 'किं होहिदि– इदि चिंताकुलो वि णिराकुलो मग्गभयभीदो वि अमग्गभयभीदो असहाओ वि ससहाओ, उव्वेगसहिदो वि अणुव्वेगसहिदो परीदसंसारिओ वि विवरीदसंसारिओ सपरिग्गहो वि णिप्परिग्गहो, स्तवनिधि कोल्हापुर–बम्बई मग्गेण बेदिवसपज्जत्तं अग्गहिदाहारपाणीओ गिम्हतिसातिसिदो अजमेरुपुरं आगच्छइ।

विस्सुदं सोणिणिसीहियं पत्तो रत्तीए विस्समिओ। अणंतरदिवसे पच्चूसे सिग्घं पूजासामाइयादिकज्जं सुट्ठु काऊण अण्णजलं गिहीदं सुत्तो य। पच्छा पुव्वपरिचयादो कजौडीमलसावयं दिट्ठूण एत्थ आगमणकारणं

कारण से विद्याधर परितप्त होते हुए उद्वेग को प्राप्त हुए। अन्यत्र चले जाने के लिए उन्होंने गुरु से प्रार्थना की। विचार करके उन्होंने अपनी मन की बात विनय पूर्वक गुरु को कह दी। मुनिश्रेष्ठ ने उन्हें आज्ञा दे दी और कहा–तुम भव्य हो, राजस्थान प्रान्त में श्री शिवसागर आचार्य हैं, वहाँ चले जाओ। जिससे तुम्हारा कल्याण हो।

गुरु के मन को अपने अभिप्राय के अनुकूल जानकर विद्याधर बहुत सन्तुष्ट हुए। **मन के अनुकूल परिस्थिति का होना ही भाग्य है।** बाहुबली जिनेन्द्रप्रभु को अत्यधिक भक्तिभाव से बार-बार नमस्कार करके और गुरुमहाराज को नमस्कार कर, वह वहाँ से बाहर चले गये। 'क्या होगा' इस चिंता से युक्त होकर भी वह निराकुल थे। इस विरोध का परिहार यह है, कि वह आकुलता अर्थात् क्षोभ से रहित थे। मार्ग के भय से डरे होकर भी मार्ग के भय से डरे नहीं थे, इस विरोध का परिहार यह है कि वह अमार्ग अर्थात् संसार मार्ग से भयभीत थे। वह असहाय होकर भी ससहाय थे। इस विरोध का परिहार यह है, कि वे स्व–आत्मा के सहायक थे। वह उद्वेग सहित होकर अनुद्वेग सहित थे। इस विरोध का परिहार यह है, कि वह अनुद्वेग अर्थात् शान्त थे। वह परीत (निकट) संसारी होकर भी संसारी नहीं थे। इस विरोध का परिहार यह है, कि वह विपरीत अर्थात् संसार से विपरीत थे। वह परिग्रह से सहित होते हुए भी, निष्परिग्रही थे। इस विरोध का परिहार यह है, कि वह भावों से निष्परिग्रही थे। ऐसे विद्याधर स्तवनिधि से कोल्हापुर, वहाँ से बम्बई होते हुए, दो दिन तक आहार–पानी ग्रहण किये बिना, ग्रीष्म की प्यास से तृषित होते हुए अजमेर नगर में आ जाते हैं।

विख्यात सोनीजी की नसिया में पहुँचकर रात्रि में विश्राम किया। दूसरे दिन प्रत्यूष वेला में शीघ्र ही सामायिक पूजादि कार्य अच्छी तरह करके अन्न–जल ग्रहण किया और सो गए। बाद में पूर्व का परिचय होने से कजौड़ीमल श्रावक को देखकर, यहाँ आने का कारण कहा। विद्याधर ने कहा, कि मैं शिवसागर आचार्य जी के पास जाना चाहता हूँ। उन श्रावक ने पूछा–वहीं क्यों जा रहे हो?

वुत्तं। विज्जाहरेण कहिदं–सिवसायराइरियस्स समीवे गंतुकामो हं। सावयो–पुच्छइ–तुमं तत्थेव किं गच्छसि ''सज्झायट्ठं जिणधम्मस्स'' इदि उत्तरं सोच्चा पुणो सो वोल्लेइ–जदि एवं तो मए सह गच्छ। जिणसत्थस्स विण्णू एगो णाणसायरणामधेओ तस्सेव सीसो अइपण्डिओ मुणी 'किसणगढे' ठाइ। अहं ण किंचि जाणामि, जेण मे कुसलो होज्ज सो कायव्वो। एवं परोप्परं वियारिय तं जइं ते उवागच्छंति। विणएण तं पणमंतो समणं कहेदि। सुणिऊण अहिप्पाअं मुणिणा भणिदं–किं णाम अत्थि? विज्जाहरो। इदि सोच्चा पसण्णदिट्ठीए तम्मुहं दट्ठूण वोल्लेई–''बहुओ विज्जाहरा आगच्छंति, सव्वे पढिऊण उड्डंति।'' जदो कण्णडभासिओ विज्जाहरो तदो सहसा तदहिप्पाअं अजाणंतो तुसिणीभूदो चिट्ठदि। पच्छा सावयेणाहि–गदहिप्पाओ अणंतर–दिणे कहेदि–''भंते! तुम्हं पादमूले विज्जाज्झयणं करिहिमि। अज्जपहुडि वाहणं ण पउंजे इदि मे संकप्पो।'' अणेण वियारेण अदीव संतुट्ठो चरित्तं पडि दिढत्तं च पेक्खिय 'ओं' इति वुत्ते आसासिदो।

सुहतिहिणक्खत्तवारे अज्झयणं पारद्धं। संसकिय हिन्दीभासाए सह जिणधम्मविसयं वि सो णिच्चं पढदि। भासावबोधणट्ठं कट्ठसहिये वि परिस्समे णिच्चं उज्जमदि। तेण विणा धम्मविसयस्सावगमो ण होज्ज इदि चिंताए सो गुरुसेवं कुणमाणो अवसिट्ठसमए पढदि एव ण अण्णकज्जे चित्तं देदि। भासावायरणणाममाला 'महेन्द्रकुमार पाटनी' विक्खादेण सावयविदुसेण तस्स संपाढिदा। पच्छा सो सावयो वि मुणी समदासायरो

''जिनधर्म का स्वाध्याय करने के लिए'' यह उत्तर सुनकर पुनः कजौड़ीमल ने कहा–यदि ऐसा है, तो मेरे साथ चलो। जिनशास्त्रों के विज्ञाता एक ज्ञानसागर नाम वाले उन्हीं आचार्य शिवसागर के शिष्य अत्यन्त पंडित मुनि किशनगढ़ में विराजमान हैं। विद्याधर ने कहा–''मैं कुछ नहीं जानता हूँ, जिससे मेरा कल्याण हो वह करना है।'' इस प्रकार परस्पर में विचार करके उन यति के समीप वह लोग पहुँचते हैं। विनयपूर्वक मुनिराज को प्रणाम करते हुए, अपने मन की बात कही। अभिप्राय को सुनकर मुनि ने कहा–क्या नाम है? विद्याधर। यह सुनकर प्रसन्न दृष्टि से विद्याधर का मुख देखकर कहा–''बहुत से विद्याधर आते हैं, सभी पढ़कर उड़ जाते हैं।'' चूँकि विद्याधर कन्नड़भाषी थे, इसलिए सहसा उनके अभिप्राय को नहीं समझकर चुपचाप बैठे रहे। बाद में कजौड़ीमल से उनके अभिप्राय को समझकर दूसरे दिन कहा–''भगवन्! आपके पादमूल में विद्याध्ययन करूँगा। आज के बाद मैं वाहन का प्रयोग नहीं करूँगा, ऐसा मेरा संकल्प है।'' विद्याधर के इस विचार से अत्यन्त संतुष्ट हुए, मुनि ज्ञानसागरजी ने ब्रह्मचारी की चारित्र के प्रति दृढ़ता को देखकर 'ओम्' इस प्रकार का आश्वासन दिया।

शुभतिथि, शुभनक्षत्र और शुभदिन में अध्ययन प्रारम्भ हुआ। संस्कृत, हिन्दी भाषा के साथ जिनधर्म के विषय को भी वह नित्य पढ़ते थे। भाषा का ज्ञान करने के लिए कष्ट सहित परिश्रम में सदा उद्यत रहते थे। भाषा ज्ञान के बिना धर्म विषयक ज्ञान नहीं होता है। इस चिन्ता से वह गुरु की सेवा करते हुए, बचे हुए समय में पढ़ते ही थे, अन्य कार्य में मन नहीं लगाते थे। भाषा–व्याकरण और नाममाला महेन्द्रकुमार पाटनी नाम के विद्वान् श्रावक ने उनको पढ़ाया था। वह पाटनीजी भी बाद में मुनि समतासागर हुए और श्रुतसागर मुनि से समाधि की सम्पत्ति को प्राप्त हुए। एक दिन विद्याधर हिन्दी

जादो समाहिसंपत्तिं य मुणिसुयसायरेण संपत्तो। एगदिवसे हिंदीभासापोत्थिएण पढिदुं उवट्ठिदो तदा गुरुणा वुत्तं सव्वदा मूलेण देवभासाए पढेज्ज। कातंतवायरणं वि मूलभासाए पढिदव्वं। तक्काले अइबुढ्ढत्तादो सद्दत्थसहिएण विज्जाहरेण पढिदगंथं अहियेण सो गुरू सुणदि। मज्झे मज्झे विसयावबोहणं जहावस्सयं होदि। एगदा सायं सामाइयाणंतरं वेज्जावच्चट्ठं गदो तो गुरुणा कहिदं-अज्झयणे चित्तं दादव्वं, ण अण्णकज्जेसु। तप्पहुडि सो रजणीए वि समब्भसदि। एगदा सिरिगुरू 'कजोडीमल' सावयं संलवदि रत्तीए विज्जाहरो किं पढदि अह ण पढदि इदि परिक्खा कादव्वा। तेण सो सावओ गूढदारेण रत्तीए दोतिण्णिवारं पेक्खदि। सदा विज्जाहरो पढणे दिट्ठो। पभासकाले तेण तहेव वुत्तं। सिस्सस्स परिस्समेण गुरू परितुट्ठो। पुणो सव्वट्ठसिद्धिसत्थं चित्ते समवधारिदं। गुरुस्स अणुण्णाए केसलुंचं पकुव्वंतो सो खुड्डियसाहुणा दिट्ठो।

तस्स मुण्डोवरि रुहिरं पवहदि। 'सट्ठ-सट्ठ' इदि झुणिं य सुणदि। तेण उव्विदो भूदो मुणिं समस्सिदो। मा चिंतं कुण इदि आसासिदो। विज्जाहरस्स धीरत्तं दुक्खे अभीरुत्तं य परिलक्खिय पसण्णभूदगुरुसमीवे जदा सो गच्छदि तदा मंदसरेण मुणिणा भणिदं-"बहुविलंबेण समागदो तुमं।" णग्गो हि रत्तीए गुरुपासे सो सयदि। णाणपिवासाए सह चरित्तभोयणं वि णिच्चं इच्छदि, एवं गुरुणा मणम्मि चिंतिदं। एगदा हरगचंदझांझरीसावयो तं भोयणट्ठं सगिहे णेदि पच्छा आगदे सदि गुरू कहेदि-

---

भाषा की पुस्तक लेकर पढ़ने के लिए बैठ गये, तभी गुरु ने कहा हमेशा मूल संस्कृत भाषा से पढ़ा करो। व्याकरण भी मूल भाग से ही पढ़ना चाहिए। उस समय अतिवृद्ध होने से विद्याधर शब्द-अर्थ के साथ ग्रन्थ पढ़ते थे और गुरु बहुलता से सुनते थे। बीच-बीच में जैसा आवश्यक होता विषय ज्ञान भी कराते थे। एक बार सायंकाल की सामायिक के बाद विद्याधर वैय्यावृत्ति करने के लिए गए तो गुरु ने कहा-"अध्ययन में चित्त लगाना है अन्य कार्य में नहीं।" उसके बाद वह रात्रि में विद्याभ्यास करते। एक बार श्रीगुरु कजौड़ीमल श्रावक को कहते हैं- रात्रि में विद्याधर पढ़ता है अथवा नहीं पढ़ता है, यह परीक्षा करना चाहिए। इसी कारण से उस श्रावक ने रात्रि में दो-तीन बार दरवाजे से छिपकर देखा। विद्याधर सदा पढ़ते हुए दिखे। सुबह श्रावक ने जो देखा, सो कह दिया। शिष्य के परिश्रम से गुरु को सन्तुष्टि हुई। फिर सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ को विद्याधर ने हृदय में अवधारित किया। गुरु की आज्ञा से विद्याधर केशलुंचन कर रहे थे, तभी एक क्षुल्लक महाराज ने देखा विद्याधर के शिर पर से खून बह रहा है। 'सट्ट-सट्ट' यह आवाज सुनाई दे रही है। इसलिए उद्विग्न होकर मुनि के पास पहुँचे। 'चिंता मत करो' गुरु ने यह आश्वासन दिया। विद्याधर के धैर्य को और कष्ट में निडरता को देखकर गुरु बहुत प्रसन्न थे। जब वह गुरु के निकट बैठे, तभी धीरे से मुनिराज ने कहा-"बहुत देर से आये हो?" विद्याधर गुरु के निकट नग्न अवस्था में शयन करते। "ज्ञान की प्यास के साथ चारित्र-रूपी भोजन की भी सदा इच्छा करता है।" इस प्रकार गुरुदेव ने मन में चिंतन किया। एक बार 'हरकचन्द्र झांझरी' नाम के श्रावक विद्याधर को भोजन के लिए अपने घर ले गये। जब वह लौट कर आये तो गुरु कहते हैं-

सेठजी! ब्रह्मचारी जी को दूध पिलाना चाहिए घी नहीं। इस प्रकार के वात्सल्य भाव से सिंचित हुआ शिष्य वृद्धिंगत हुआ। धीरे-धीरे गुरु शिष्य के बीच गाय-बछड़े की तरह स्नेह भी बढ़ा।

भो सेट्ठि! ''दुद्धं पायव्वं घिदं ण'' इदि वच्छलेण सित्तो वड्ढिदो। सणियं सणियं गुरुसिस्समज्झे धेणुवच्छोव्व णेहो वड्ढिदो।

एगदा मुणी अवसरं लहिदूण सिस्सस्स अग्गे हि पिच्छिकाभंजणं काऊण देदि कहेदि य पुणो अस्स णिमिणं कुणउ। सोवि पुव्वसंकारदो णिमिऊण आणीदो। एदं सो लक्खिदूण मोक्खमग्गस्म लक्खं लक्खदि। गुरुणा कदा पाणिपत्तेण आहारो वि काउस्सग्गेण कारिदो।

एगदा बंभचारीसिस्सो गुरुणा सह गोट्ठीए परिचरियट्ठं गच्छदि। मज्झपहे तेण एगो उद्दण्डो गोवच्छो दिट्ठो। गुरुरक्खणट्ठं अण्णो को वि उवाओ णत्थित्ति सहसा चिंतिदूण अग्गे पडिदघासपूरकंडगो तेण णिक्खित्तो। तदो उवसमभावगदो सो तं खादेदुं लग्गो। तदा अण्णो कंडगो वि पक्खित्तो। इदि विवेगेण उवसग्गणिवारणं दिट्ठूण गुरुणा मंदहासेण सो पसंसिदो।

सेओ गुरू जोग्गसिस्सं गवेसदि। सिस्सस्स दिण्णं णाणं खलु तस्स णाणसाधणाफलं होदि। सिस्सं लद्धूण गुरुस्स लोमहस्सणं भवंतरज्जिदपुण्णस्स विवागं च होदि। एवं सव्वपयारेण परिक्खाविहिं काऊण णिजाउअं य अप्पं जाणित्ता विज्जाहरस्स मुणिदिक्खासूयणा समाजपमुहाणं कहिदा। ''एसो संदेसो सिग्धं हि सयलणयरे पसरिदो। संपुण्णजोव्वणे दिक्खा ण दायव्वा। णायसायरो दु अणुभवसीलो तहावि एवं

एक बार मुनिराज अवसर पाकर शिष्य के आगे पिच्छिका के पंख अलग-अलग करके दे देते हैं और कहते हैं, कि इसे दुबारा बनाओ। वह शिष्य भी पूर्व संस्कार के कारण उस पिच्छिका को बनाकर ले आता है। इस प्रकार देखकर गुरु ने शिष्य में मोक्षमार्ग के चिह्नों को देखा। कभी गुरु ने कायोत्सर्ग से कर पात्र में आहार भी करवाया।

एक बार ब्रह्मचारी शिष्य गुरु के साथ उनकी परिचर्या के लिए बाड़े में जाते हैं। रास्ते में उन्होंने एक उद्दण्ड बछड़े को देखा। गुरु की रक्षा का अन्य कोई उपाय नहीं है, इस प्रकार सहसा सोचकर पास में पड़े हुए एक घास के पूर (गट्ठे) को उठाकर उस बछड़े के आगे फेंक दिया। तब शान्त हुआ वह बछड़ा उस घास के ढेर को खाने में लग गया। तभी एक दूसरा गट्ठा भी फेंक दिया। इस प्रकार शिष्य के विवेक से उपसर्ग दूर हो गया। यह देखकर गुरु ने मन्द मुस्कान से शिष्य की प्रशंसा की।

श्रेष्ठ गुरु योग्य शिष्य की गवेषणा करता है। शिष्य को दिया हुआ ज्ञान वास्तव में उस गुरु की ज्ञानसाधना का फल होता है। शिष्य को प्राप्त करके गुरु का रोमांचित होना भवान्तर में अर्जित हुए पुण्य का विपाक होता है। इस तरह सभी प्रकार से परीक्षा करके और अपनी को अल्प जानकर के विद्याधर की मुनिदीक्षा की सूचना समाज के प्रमुख लोगों को दी गई। यह संदेश शीघ्र ही पूरे नगर में फैल गया। ''पूर्ण यौवन में दीक्षा नहीं देना चाहिए। ज्ञानसागर तो अनुभवशील हैं, फिर भी ऐसा करते हैं। तत्काल में मोह और गारव के साथ न दीक्षा देना चाहिए और न अभिमान से ग्रहण करना चाहिए। अरे! इतना सुंदर, बलिष्ठ व्यक्ति कैसे आजीवन तप करने में लीन होगा? जब तक क्षुल्लक, ऐलक होकर मनरूपी मरकट का भंजन नहीं किया जाता, तब तक जिनरूप के योग्य कैसे हो सकता

कीरदि। तक्कालियं ण मोहगारवेहिं दिक्खा दायव्वा ण पुण अभिमाणेण घेत्तव्वा। ओ अदीव सुंदरो बलिट्ठो कहं आजीवियं तवोकम्मे सुरदो होज्ज। जाव खुल्लगो एलगो होदूण मणमक्कडं ण भंजदि ताव जिणरूवजोग्गो कधं हवे।'' तेण अम्हेहि गिहत्थेहिं अवस्सं बोहव्वो वारणिज्जो य। इदि सव्वे मिलिदूण मुणिसमीवे समागदा। अच्चंतविणएण भणंति–भंते! एदम्मि दुक्खमे काले जोव्वणपुण्णस्स जिणरूवधारणं ण जुत्तिजुत्तं। तस्स वयं सण्णासजोग्गं णत्थि। तदो दिक्खा विलंबेण कादव्वा इदि अम्हाणं णिण्णयो। मुणिराओ मंदसरेण सगभीरं वोल्लदि–विवादो ण कादव्वो। साहुस्स लिंगं ण परावेक्खं। परस्स सहायेण विणा वि दिक्खा होदि। एयंते मंदिरे उज्जाणे वा कत्थवि पत्थरे ट्ठिदिऊण इदं कज्जं णिट्ठावेमि। एवं सुणिऊण ते परोप्परं चिंतंति पच्छा जेट्ठो कहेदि–वयं खमं इच्छामो। दिक्खा हस्सोल्लासेण होहिदि।'भागचंदसोनी' पमुहसावयो भत्तीए संपुण्णो जिणदिक्खोच्छवे उवट्ठिदो। तेण सव्वासु दिसासु हत्थिहयणिवहाणं आणयणत्थं जणा पेसिदा। कत्थ वि गजा ण दिट्ठा अइ चिंताए ट्ठिदस्स तस्स समीवे सहसा केई जणा आगंतूण भणंति–एत्थ अजमेरुविसये 'जैमिनिसरकस' इदि आयोजणत्थं विउलभूमिं इच्छंति। तस्स अद्धक्खेण मुक्खजणसंमुखं संमेलणं जादं। तस्सम्मत्ते बाहिर आगंतूण श्री छगनलालपाटनी कंग्गेसस्स पमुहवत्तिं केसरीचंदओसवालं दट्ठूण तदट्ठं तेण सुणीदिपुलिसाधिक्ख–समीवे पच्छा विधायगे सिरिमाणकचन्दसोगाणी संकासे गदो आसासिदे अंते करविभागाहियारि मदनलालकाला समीवं समागदो। स कहेदि ''मम हत्थक्खरेण विणा सरकसस्स पारंभो कधं होज्ज।'' तदो चिंता मा कुज्जा। सो अहियारी तस्सामिणं पुच्छदि–ते पासे किं हत्थिणो संति। संति

है?'' इसलिए हम गृहस्थों को समझाना चाहिए और रोकना चाहिए। इस प्रकार सभी मिलकर के मुनि के समीप आए। अत्यंत विनय से कहते हैं– हे स्वामिन्! इस दुखमाकाल में यौवन से पूर्ण व्यक्ति को जिनरूप धारण करना युक्तियुक्त नहीं है। उसकी उम्र अभी संन्यास के योग्य नहीं है। इसलिए विलम्ब से करना चाहिए। ऐसा हम लोगों का निर्णय है। मुनिराज ने मंद स्वर में गंभीरता के साथ कहा–विवाद नहीं करना चाहिए। साधु का लिंग परापेक्षी नहीं है। पर की सहायता के बिना भी दीक्षा हो जाती है। एकान्त में, मंदिर में या किसी उद्यान में कहीं पर भी शिला पर बैठकर के यह कार्य कर लूँगा। इस प्रकार सुनकर वे आपस में चिंतन करते हैं और फिर उनमें से प्रमुख व्यक्ति कहता है– हम सभी लोग क्षमा चाहते हैं। दीक्षा हर्षोल्लास से होगी। भागचंद सोनी प्रमुख श्रावक थे। भक्ति से भरे हुए जिनदीक्षा उत्सव के लिए तैयार हो गए। उन्होंने सभी दिशाओं में हाथी घोड़े आदि बुलाने के लिए लोगों को भेजा। कहीं पर भी हाथी नहीं मिले। अति चिंता से बैठे थे, उसी समय पर सहसा कुछ लोग उनके पास आकर कहते हैं– यहाँ अजमेर में 'जैमिनी सर्कस' का आयोजन करने के लिए बड़ी जमीन चाहिए है। थोड़ी देर से सभी प्रमुखजन आकर बातचीत करने लगे। वह वार्ता होने पर बाहर आकर श्रीछगनलाल पाटनी, कांग्रेस के प्रमुख व्यक्ति केसरीचंद ओसवाल को देखकर जमीन के लिए आये हुए पुलिस अधीक्षक के समीप, बाद में विधायक श्री माणकचंद सोगानी के पास गए। अंत में करविभाग के अधिकारी मदनलाल काला के समीप गए। वह अधिकारी कहते हैं– मेरे हस्ताक्षर के बिना सर्कस का प्रारंभ कैसे हो सकता है? इसलिए आप लोग चिंता मत करो। वह अधिकारी सर्कस के मालिक को पूछता है–

एव, इदि उत्तरं सोच्चा पुणो सो कहेदि-पढमं ताव हत्थिणं आणय पच्छा अण्णं कज्जं होज्ज। सव्वे चिंतंति-पुण्णेण इट्ठसमागमो सयमेव होदि इदि वयणं सच्चमेव।

तदो तिण्णिदिवसपज्जंतं संपुण्णणयरे सत्तट्ठहत्थिसमूहेण अस्सकरहसहियेण विउलजणसंकुलेण पमुहगजुवट्ठिदविज्जाहरस्स महाराजस्स इव महिमाधरस्स रूवेण जिददेवमुहलावण्णस्स सीलादिगुणव्वजेण किरीटकेयूरमालाभरण-बहुलसज्जिदस्स मदणपराजयपदागस्स मुहपेक्खणेण सयलणरणारीओ सयं जम्मं सहलं सोभग्गं य भावेंति। तदा विज्जाहरो बारहभावणं भावेदि-

१. अनित्य भावना

सरीररज्जाउअवित्तसोक्ख - ममिच्चरूवं खणभंगुरं य।
पाणीयविंदु सुरचावतुल्लं सदा ण विज्जंति रमामि कम्हि ॥१॥
विपत्तिमज्झे खलु कामभोगा विज्जूसमाणं मणुजस्स रूवं।
सुहस्स अग्गं दुहमेव जादि ण सुंदरं किंचि विभादि लोए ॥२॥

२. अशरण भावना

कालस्स वेलासुमुहे ण के वि मादा पिऊ बंधु सुबंधवा वा
मित्ताणि वेज्जा ण हि तंतमंता रक्खासमत्थं भुवणे कदावि ॥३॥

क्या तुम्हारे पास हाथी हैं? हाँ हैं। इस प्रकार के उत्तर को सुनकर वह कहते हैं- पहले हाथियों को बुलाओ बाद में दूसरा काम होगा। इस तरह सभी ने विचार किया, कि पुण्य से इष्ट का समागम स्वयमेव ही हो जाता है, यह वचन सत्य हैं।

तब तीन दिन पर्यन्त पूरे नगर में सात-आठ हाथियों के समूह, घोड़े, ऊँट सहित विपुल भीड़ के साथ प्रमुख हाथी के ऊपर विद्याधर स्थित हैं, जो कि किसी महाराजा की तरह महिमा को धारण करने वाले हैं, जिन्होंने अपने मुख से देवों के मुख की सुन्दरता को भी जीत लिया है, शील आदि अनेक गुणों के व्याज से मदन के पराजय की पताका को मुकुट, केसर, माला आभरणों की बहुलता से सजे हुए समस्त नर-नारी जिनके मुख को देखने से ही अपने जन्म की सफलता और सौभाग्य को भाते रहे। तब विद्याधर बारह भावनायें भाते हैं-

शरीर, राज्य, आयु, धन और सुख ये सब अनित्य रूप हैं और क्षणभंगुर हैं। पानी के बूँद से समान तथा इन्द्रधनुष के समान ये सदा नहीं रहते हैं फिर मैं किसमें रमण करूँ ॥१॥

काम और भोग विपत्ति के मध्य में डालने वाले हैं, मनुष्य का रूप विद्युत के समान क्षणभंगुर है और सुख के आगे दुख ही उत्पन्न होता है इस प्रकार इस लोक में कुछ भी सुंदर प्रतिभाषित नहीं होता है ॥२॥

काल के वेला के सम्मुख होने पर माता-पिता-बन्धु और अपने सगे बान्धव मित्र वैद्य, तंत्र-मंत्र ये कोई भी इस लोक में कदापि रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं ॥३॥

गिलंति णिच्चं मणुजस्स जीविदं आऊणिसेगा जमराजभूदा।
तहावि मूढो पुलगुड्ढमत्थगो णिजप्पणो किंचि ण चेह कुव्वदि ॥४॥

३. संसार भावना

णिक्कंतमाणो जठरा किलेसो सहस्सवाहिप्पमुहाहिं पीडा।
इट्ठस्स जादे विरहे विलावो सहंति सव्वं जगमज्झजीवो ॥५॥
जले थले वा णिरएसु जम्मं दुक्खाहिभूदे पसुजोणिमज्झे।
दुक्खाणि भुंजंति मरंति जीवा पंचावि कुव्वंति पवट्टणाणि ॥६॥

४. एकत्व भावना

गिण्हेदि जम्मं एगो वरागो मरेदि रूवेदि च बंधमेदि।
कुडुंविजीवेसु ण कोवि संगं तहावि ताणं हि मरेदि मूढो ॥७॥
पुण्णोदएणं सुरचक्कि भोगा पावोदएणं पसुदुक्खणिरया।
सुहासुहणेत्थ भमेदि मोही पस्सेदि णो कम्मवदिरत्ततच्चं ॥८॥

यमराज के समान आयु के निषेक मनुष्य को जीवन नित्य ही निगलते चले जाते हैं फिर भी मूढ़ जीव हर्षित होकर ऊपर मस्तक उठाकर चलता है किन्तु अपनी आत्मा के लिए कुछ भी नहीं करता ॥४॥

यह जीव माता के उदर से बड़े क्लेश से निकलता है फिर हजारों व्याधियों से अनेक प्रकार की पीड़ाओं को भोगता है। इष्ट का विरह हो जाने पर विलाप करता है। इस संसार के बीच में रहकर यह जीव सब कुछ सहन करता है ॥५॥

इस जीव का जन्म जल में, स्थल पर, नरकों में, देवों में, मनुष्यों में और पशु योनि में भी होता है। दुःखों को भोगता है और मरण को प्राप्त करता है तथा पाँच प्रकार के परावर्तनों को भी करता रहता है ॥६॥

इस लोक में जीव वेचारा अकेला ही जन्म ग्रहण करता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही रोता है और अकेला ही बन्ध को प्राप्त होता है। कुटुम्बी जनों में से कोई भी इसके साथ नहीं होता है फिर भी यह कुटुम्बी जनों के लिए ही मूढ़ बना हुआ मरण करता है ॥७॥

पुण्य के उदय से देव और चक्रवर्ती के भोग मिलते हैं, पाप के उदय से पशु योनि के दुःख और नरक मिलते हैं। शुभ और अशुभ के द्वारा इस प्रकार से मोही जीव भ्रमण करता है किन्तु कर्म से रहित आत्मतत्त्व को कभी भी नहीं देखता है ॥८॥

५. अन्यत्व भावना

पच्चक्खदिट्ठा य पुहत्तभूदा देहादिवित्तादिकलत्तपुत्ता।
मोहेण मोही णियमेण एगं सगं सदा संमुणदिप्परूवं ॥९॥
जीवो विभिण्णो सगलक्खणेहि सद्दंसणेणं सहिदो य णाणी।
एवं ण जाणादि परं विभिण्णं अण्णत्तभावेहि विभादि सम्मं ॥१०॥

६. अशुचि भावना

इदं सरीरं असुहत्थखाणी रोगोरगाणां च विलं अणत्थं।
मंसत्थिरत्तेहिं अपवित्तभूदं दुग्गंधजोणी ण हि णेहहेदुं ॥११॥
देहे हि देही णिवसेदि रागा वीभच्छगब्भे णवमासदिग्धं।
बाले वि भक्खेइ मलं जुवाणो स इत्थिदेहे असुइम्मि मूढो ॥१२॥

७. आस्त्रव भावना

कम्मासवेणं भवभोगभीदी मोहादिरागादिविभावभावा ।
तेणेव मिच्छत्तकसायजोगा भावासवा कम्म समासवंति ॥१३॥

देह, धन आदि स्त्री-पुत्र आदि ये सभी प्रत्यक्ष रूप से पृथकभूत देखने में आते हैं किन्तु मोह के कारण से मोही जीव इन्हें एक रूप मानता है। स्वयं के आत्मस्वरूप को सदा नहीं पहचानता है ॥९॥

जीव अपने लक्षणों के द्वारा भिन्न है। समीचीन दर्शन से सहित है और ज्ञानी है। इस प्रकार से जीव पर से भिन्न अपने आप को नहीं जानता। अन्यत्व भावना के द्वारा ही समीचीन रूप से जीव का स्वरूप प्रकट होता है ॥१०॥

यह शरीर अशुभ पदार्थों की खानी है। रोग रूपी सर्पों के रहने का बिल है और अनर्थ करने वाला है। मांस, अस्थि और रक्त के द्वारा अपवित्र है। दुर्गंध का योनिभूत है इसलिए ये स्नेह का कारणभूत नहीं है ॥११॥

राग से इस देह में आत्मा निवास करता है। नौ मास के दीर्घकाल तक वीभत्स गर्भ में रहता है और बाल्यकाल में भी मल को खाता है। युवा होकर वह अशुचि स्त्री की देह में रमण करता हुआ मूढ़ बना रहता है ॥१२॥

कर्म के आस्त्रव से संसार और भोगों से भीति होती है। मोह-रागादि विभाव भाव उत्पन्न होते हैं और इन्हीं विभाव भावों के कारण से ही मिथ्यात्व कषाय योग आदि भावास्त्रव होते हैं और इन भावास्त्रवों से द्रव्य कर्मों का आस्त्रव होता है ॥१३॥

आहार सण्णा चउरो कसाया च पंच पावाणि च गारवा य
फासादिपंचक्खविसे विसेसे रागादिभावेण हि कम्म सत्ता ॥१४॥

८. संवर भावना

महव्वये हि अघसंवरो खु सव्वक्खरोहे भवसंवरो य।
कसायरुद्धे विहिसंसरोहो सो संवरोहं विहिणा धरेमि ॥१५॥
वदेहि साकं समयस्स सारो विभाजणं जं सपरस्स किच्चा।
पदं णिजं सुद्धविबोहरूवं जदा हि वेदेमि तदा हि संती ॥१६॥

९. निर्जरा भावना

संसंवरेणं णवकम्मरोहा णिबद्धकम्माणि जदा गलामि।
सकामभावेण तवेण ताणि कम्माणि मोदा सणियं झडामि ॥१७॥
सुसम्मभावेण मए तवेण हीणेण जा कम्मविणिज्जरा सा।
अकामभावेण कदा ण ताए भवस्स णासो विहिदो जिणेण ॥१८॥
सहामि हं जं उवसग्गघोरं परीसहेसुं च उरं पदामि।
चारित्तमोहस्स जयं हि काउं चारित्तधम्मं लहु सीकरोमि ॥१९॥

आहार संज्ञा, चार कषाय, पाँच पाप, तीन गारव, स्पर्शादि पाँच इन्द्रियों के विष रूप विषय इन सब विशेष भावों के द्वारा रागादि भावों से युक्त होकर कर्म की सत्ता बनी रहती है ॥१४॥

महाव्रतों के द्वारा पाप का संवर होता है और सभी प्रकार की इन्द्रियों के रोध हो जाने पर संसार का संवर होता है। कषाय के रुक जाने पर कर्म के वंश का अर्थात् परंपरा का निरोध हो जाता है। ऐसे संवर को मैं विधिपूर्वक धारण करता हूँ ॥१५॥

व्रतों के साथ समय का सार अर्थात् शुद्धात्मा के स्वरूप का ज्ञान होना स्व और पर का जो विभाजन है वह करके निज शुद्ध ज्ञानस्वरूप पद को जब मैं वेदन करूँगा तब ही मुझे शांति होगी ॥१६॥

सु-संवर से नवीन कर्मों का आना रुक जाता है। उन निबद्ध तथा पूर्व में बँधे हुए कर्मों को जब मैं गला दूँगा और उन कर्मों को तप के द्वारा अपनी इच्छा के साथ सकाम भाव से प्रसन्नता पूर्वक मैं शीघ्र ही झड़ाता हूँ। इस प्रकार की भावना निर्जरा भावना है ॥१७॥

मेरे द्वारा श्रेष्ठ सम्यक्त्व भाव के साथ अकाम भाव के द्वारा तप के हीन भाव के साथ जो निर्जरा मेरे द्वारा की गई है उस निर्जरा के द्वारा संसार का कभी भी नाश नहीं होता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ॥१८॥

मैं जो घोर उपसर्ग है उसको सहन करता हूँ। परीषहों में अपनी क्षांति देता हूँ प्रदान करता हूँ। चारित्रमोह की जय करने के लिए मैं चारित्र धर्म को शीघ्र ही स्वीकार करता हूँ ॥१९॥

विणाणलेणं ण जहा हि सेला सुवण्णभावस्स कदा वि पत्ती।
तवाणलेणं च तदा असुद्धा सुद्धप्पणो णिज्जरणेण लद्धी ॥२०॥

१०. लोक भावना

अहो दु वेत्तासणसंठिदो य स झल्लरी वा जगमज्झिमे य।
मिदंगतुल्लो उवरिट्ठिदो य सहावणिप्पण्णगदो हि लोओ ॥२१॥
अहो ट्ठिदाओ पुढवी य सत्त बिलेसु तेसुं णिरया वसंति।
जुज्झंतमाणा य सहंति दुक्खं तिव्वाइपावेण सदा हि पावा ॥२२॥
णरा तिरिक्खा खलु मज्झिमाए वसंति लोए पमुहेण णिच्चं।
मिस्सेण पुण्णे कलिलस्स पावा सुहं च दुक्खं वद वेदयंति ॥२३॥
असंखदीवेसु य वारिधीसु मज्झट्ठिदो सोहदि जंबुदीवो।
तस्सावि मज्झे खलु मेरुसेलो सव्वेसु मुक्खो हि विभादि तुंगो ॥२४॥
णरोववत्ती णरसेलअंते ढाइज्जदीवेसु य बे समुद्दे।
तत्तो परं वा पसुवेंतरा य असंक्खदीवेसु वसंतमाणा ॥२५॥

जिस प्रकार से अग्नि के बिना पत्थर से स्वर्ण भाग की प्राप्ति कदापि नहीं होती है उसी प्रकार तप रूपी अग्नि के द्वारा अशुद्ध होने से आत्मा शुद्धात्मा की उपलब्धि निर्जरा से ही करता है ॥२०॥

अहो! यह लोक नीचे तो वेत्रासन से स्थित है, मध्य में झलरी के समान है, ऊपर मृदंग के तुल्य है, ऐसा यह लोक स्वभाव से निस्पन्नता को प्राप्त हुआ है ॥२१॥

नीचे सात पृथ्वियाँ स्थित हैं उन पृथ्वियों में बिल हैं जिनमें नारकी जीव निवास करते हैं। वे नारकी जीव आपस में हमेशा युद्ध करते हुए दुःखों को सहन करते हैं। तीव्र अति पाप के द्वारा वे सदा ही पाप करते हुए पाप जीव कहलाते हैं ॥२२॥

लोक के मध्य भाग में मनुष्य और तिर्यंच रहते हैं। यही इस मध्यलोक में प्रमुखता से निवास करते हैं। यही मनुष्य और तिर्यंच पाप के विपाक से मिश्रित पुण्य के द्वारा सुख और दुःख दोनों का सेवन करते हैं यह खेद की बात है॥२३॥

असंख्य द्वीपों में और असंख्य समुद्रों के बीच जम्बूद्वीप शोभित होता है। जम्बूद्वीप के मध्य में सुमेरु पर्वत है जो मेरु पर्वत सबसे ऊँचा और सबमें मुख्य सुशोभित होता है ॥२४॥

मनुष्यों की उत्पत्ति मानुषोत्तर पर्वत के भीतर ढाई द्वीप और दो समुद्रों में ही होती है। उसके आगे असंख्य द्वीपों में तिर्यंच और व्यंतर जीव निवास करते हैं ॥२५॥

ढाइज्जदीवेसु य कम्मभूमी च भोगभूमी य कहिं ट्ठिदा य।
असास्सदं भोगमहीसु कालो पवट्टणेणं किल छव्विहेसु ॥२६॥

बीइंदिया ते चउरिंदिया वा विज्जंति ते कम्ममहीसु जीवा।
दीवे य अद्धे चरिमे समुद्दे पुण्णे सयंभूरमणे विजाण ॥२७॥

मणुस्स खेत्तस्स बहिं च जाव सयंपहस्सद्धयदीवसीमा।
जहण्णभोगप्पुढवीसमाणा तिरिक्खजोणीण हवे ववत्था ॥२८॥

कालोदए वा लवणोदए वि अंते सयंभूरमणे समुद्दे।
विज्जंति णूणं जलचारिजीवा सेसेसु णो ते णियमेण संति ॥२९॥

जीवा अणंता य सहाव सिद्धा तदो अणंता गुणिदा णिगोदा।
भागा अणंता य अभव्वजीवा तिक्कालिगे ते णिवसंति लोए ॥३०॥

ण बम्हणा केण कदो य लोओ महेसरो वा ण विणासयारी।
अजीवजीवेहि फुडं सहावा उप्पादधोव्वेहि वयेहि चित्तो ॥३१॥

संसारिमुत्ता दुविहा दु जीवा धम्मत्थिकायादि अजीवभेदा।
फासादिजुत्तं किल पोग्गलं तं मुत्तं अमुत्तं इदरं असंसं ॥३२॥

ढाई द्वीपों में कर्म भूमि है और कहीं पर भोगभूमि स्थित है। अशास्वत भोगभूमि में छह प्रकार से काल का परिवर्तन चलता है ॥२६॥

दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीव नियम से कर्मभूमि में ही रहते हैं। तथा अंतिम स्वयंभूरमण आदि द्वीप और पूर्ण स्वयंभूरमण समुद्र में ये जीव होते हैं ॥२७॥

मनुष्य क्षेत्र के बाहर जब तक स्वयंप्रभ पर्वत के अर्द्ध द्वीप की सीमा नहीं आ जाती है तब तक जघन्य भोगभूमि के समान तिर्यंच योनि के जीवों की व्यवस्था रहती है ॥२८॥

कालोदधि समुद्र में, लवणोदधि समुद्र में और अंत से स्वयंभूरमण समुद्र में जलचर जीव नियम से रहते हैं किन्तु अन्य शेष समुद्रों में जलचर जीव नहीं होते हैं ॥२९॥

अनंत जीव स्वभाव से सिद्ध हैं। उन सिद्धों से अनंतगुणे निगोद जीव हैं, उन निगोद जीवों के अनंत भाग जीव अभव्य जीव हैं इस प्रकार से लोक में तीनों कालों में ये जीव इस प्रकार से निवास करते हैं ॥३०॥

किसी ब्राह्मण ने यह लोक बनाया है न किसी महेश्वर के द्वारा यह लोक विनाश स्वभाव वाला है। अजीव और जीव पदार्थ से भरा हुआ यह लोक उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य के द्वारा विचित्र रूप होता रहता है ॥३१॥

जीव संसार और मुक्त के भेद से दो प्रकार के हैं। धर्मास्तिकाय आदि के भेद से अजीव के भेद होते हैं। स्पर्श आदि से युक्त पुद्गल द्रव्य है जो कि अमूर्तिक है और शेष सभी द्रव्य अमूर्तिक हैं ॥३२॥

११. बोधिदुर्लभ भावना

अणाइकालेण अणंतकालं णिगोदवासे हि वसंति जीवा।
कालाइलद्धिप्पवसेण तत्तो भूमादिजीवेसु लहंति जम्मं ॥३३॥
असंखकालं परिवट्टणेण कहं पि तत्तो वि णिगच्छमाणो।
तसत्तणं दुल्लहपज्जयत्तं कदा हि पत्तेहि मणुस्सजम्मं ॥३४॥
ण अज्जदेसे सुलहोववत्ती ण तत्थ गोत्ते य मणोहरत्तं।
णीरोगदा पुण्णणराउजीवं णिप्पावबुद्धी सुलहा ण जीव! ॥३५॥
चरित्तवंतस्स गुरुस्स जोगो सुधम्मसारं सुणिऊण मोदो।
सम्मत्तभावो तह सम्मणाणं तत्तो वि कट्टं धरणं चरित्तं ॥३६॥
कसायवीदं चरणं विसुद्धं संपालणं रे अइदुल्लहत्तं।
समाहिणा तं परजम्मणीदं संपुण्णणाणं परमं य लद्धं ॥३७॥
परंपरेणेवमसारसारं णाऊण मोहा पुणु जे मुहंति।
ते सारभूदं रयणं य पप्पा दहंति मूढा रजभूइहेदू ॥३८॥

अनादिकाल से अनंतकाल तक निगोद वास में ही जीव रहते हैं। काल लब्धि के वश से कुछ जीव निगोद वास से निकलकर पृथ्वीकाय आदि जीवों में जन्म लेते हैं३३॥

असंख्यकाल तक उन पृथ्वी आदि काय में परिभ्रमण करके किसी भी प्रकार से उन से भी निकलकर त्रस पर्याय को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से यह त्रस पर्याय दुर्लभ पर्याय है और उस त्रस पर्याय में कभी यह जीव मनुष्य पर्याय को प्राप्त करता है ॥३४॥

उस मनुष्य जन्म में भी आर्य देश में मनुष्य की उत्पत्ति होना सुलभ नहीं है। आर्य देश में भी उच्च गोत्र में उत्पत्ति होना सुलभ नहीं है। मनोहरपना मिलना, नीरोगता मिलना, पूर्ण मनुष्य की आयु पर्यंत तक जीवित रहना और निष्पाप होना हे जीव! यह सुलभ नहीं है ॥३५॥

चरित्रवान् गुरु का संयोग मिलना, श्रेष्ठ धर्म के सार को सुनकर हर्ष भाव उत्पन्न होना, सम्यक्त्व का भाव उत्पन्न होना तथा सम्यग्ज्ञान होना और उससे भी ज्यादा कष्टप्रद है सम्यक्चारित्र को धारण करना ॥३६॥

कषायों से रहित विशुद्ध आचरण होना, अरे! इस तरह के विशुद्ध आचरण का पालन करना तो अति दुर्लभ है तथा उस विशुद्ध आचरण को समाधि के द्वारा पर जन्म में ले जाना तथा संपूर्ण ज्ञान अर्थात् परमकेवलज्ञान को प्राप्त कर लेना उससे भी दुर्लभ है ॥३७॥

परंपरा से इस प्रकार से सार और असार को जानकर भी जो जीव मोह के कारण से मोहित हो जाते हैं वे सारभूत रत्न को प्राप्त करके भी धूलि और भस्म के निमित्त उस रत्न को जला देते हैं ॥३८॥

१२. धर्म भावना

धम्मो अहिंसा हु जिणेहिं वुत्तो सगस्स सव्वस्सुवयारहेदू।
बहिं सरूवो ण वहो परस्स अब्भंतरे रागविमोहहाणी ॥३९॥

सम्मत्तजुत्तं दसधम्मपूदं सागारणागार दुभेदवंतं।
संपालिदूणं मणुया य णिच्चं चिट्ठंति सिद्धा पवरा य होऊ ॥४०॥

इदो गिहे पिदू मल्लप्पा वहुदिवसेसु रोसं गच्छइ। जदा एगदा विज्जाहरस्स दिक्खासमायारो साविदो तह वि ण सो विस्सासं कुणदि। सज्झायं कुव्वंतेण मे चालीसवस्सं गदं। एसो को वि आइरिओ णत्थि जो अक्कमेण मुणिदिक्खं दाएज्ज। मुसावादो एवं। तारमज्झमेण पुणोवि संदेसो आगदो। एदेण महावीरस्स अग्गजस्स हियए णिच्छओ जादो। दूरवाणीजंतस्स विक्कएणं लद्धधणो मादपिदरं अभिवंदिऊण अजमेरुं पडिणिग्गदो। तत्थ आगंतूण सो पेक्खदि–कोवि महोच्छवो होदि जेण अजमेरपुरी देवकण्णेव सालंकारा जादा। सव्वत्थ तिव्ववेगेण जणाणं गमणागमणं मिदंगढक्कावादेण बहिरीकददिगंतरालं उच्चअट्टालिकाट्ठिद–बालकमहिलाकुलं सव्वजादिकुलाणं एगसंमेलणमिव जयजयकारेण अपुव्वसमायोजणमिव जत्थ तत्थ पेक्खंतो महावीरो विज्जाहरस्स गजट्ठिदस्स णयणपहसम्मुहो होदि। अणुजेण संकेदिदं–महावीरो भादरो एसो खु।

जिनेन्द्र भगवान् के कहा हुआ धर्म अहिंसा रूप है। वह अहिंसा धर्म स्वयं के और सभी जीवों के उपकार का प्रमुख कारण है। उस अहिंसा धर्म का बाहरी स्वरूप दूसरे जीवों का वध नहीं करना है तथा अभ्यन्तर स्वरूप राग और मोह की हानि करना है ॥३९॥

सम्यक्त्व के साथ दस धर्म से पवित्र हुआ सागार और अनगार के भेद से वह धर्म दो प्रकार का है। उस धर्म का संपालन करके मनुष्य सिद्ध बनते हैं तथा श्रेष्ठ हुए हैं ॥४०॥

इधर घर में पिता मल्लप्पा बहुत दिनों से क्रोध को प्राप्त हैं। जब एकबार विद्याधर की दीक्षा का समाचार सुनाया गया, तो भी मल्लप्पा उसका विश्वास नहीं करते हैं। स्वाध्याय करते हुए मेरे चालीस वर्ष बीत गये हैं। ऐसा कोई भी आचार्य नहीं है, जो एक साथ मुनि दीक्षा दे दे। यह सब झूठ है। तार के माध्यम से फिर से संदेश आ गया। इससे बड़े भाई महावीर के हृदय में निश्चय हो गया। रेडियो को बेचकर प्राप्त धन से माता–पिता का अभिवादन करके, वह अजमेर के लिए निकल गए। आकर के वह देखते हैं– कोई महोत्सव हो रहा है, जिस कारण से अजमेरपुरी देवकन्या की तरह सजी हुई है। सभी ओर तीव्र वेग से लोग आना–जाना कर रहे हैं। चारों ओर मृदंग, ढक्का वाद्य यन्त्रों के द्वारा दिशाओं के अन्तराल को बहरा कर दिया है। ऊँची अट्टालिकाओं पर बालक और महिलाओं का समूह ऐसा लग रहा है, मानो सभी जाति और कुल के लोगों का एक जगह कोई सम्मेलन हो रहा हो। जय–जयकारों से किसी अद्‌भुत आयोजन की तरह यहाँ वहाँ देखते हुए महावीर हाथी पर बैठे हुए विद्याधर के नयनपथ के सम्मुख आ जाते हैं। अनुज विद्याधर ने संकेत किया–यही भाई महावीर हैं।

दीक्षा पूर्व ब्र० विद्याधर का बिनौली उत्सव

तदो सो वि गजोवरि ठाविदो। पच्छा समारोहत्थले महावीरेण मंचदो परिचयो दिण्णो। तदो केसलुंचणं आरद्धं। गिम्हदिणे किण्हणिद्धाकुंचिदकेसाणं उप्पाडिडं अदीवदुक्करं कज्जं तहावि साहसवंताणं पुरिसाणं ण किमवि दुक्करं। **दुक्करे कज्जे हि साहसिका आणंदंति।** तेसां पव्वदारोहणं गिहसेढिव्व, समुद्दोत्तिण्णं खुद्दणदीव, सग्गगमणं णयरभमणमिव सहत्थेण केसोप्पाडणं खेत्तकुसोप्पाडणं व होदि इदि सच्चं उक्कडवेरग्गं दट्ठूण केई उच्चसरेण वेरग्गभावणं पढंति, केई वारसाणुवेक्खं उच्चरंति, केई धण्णोसि इदि रटंति, केई देहस्स णिरीहवित्तिं चित्तम्मि भावयंति, तेण विम्महेण किंचिवि ण बोलेंति, कई जयजयकारेण अणुमोदंति, केई तुसणीओ चिट्ठंति, केई णमोकारमंतं कहेंति, केई पुणो पुणो पणमंति, केई परं कोक्कंति, केई ''अस्स जणणी धण्णा अस्स तादो धण्णो'' इदि वण्णंति। केई छिदिं पसंसंति। णिग्गंथो होदूण जिणपडिमा इव काउसग्गेण इव ट्ठिदो तदा ३०.०६.१९६८ ई० तमे सुहदिणे। अण्णस्स किं कहा अकाले तत्थ मरुत्थले वि मेहा पंच णिमिसपज्जंतं वारिसं कुणंति। परोक्खेण देवदाणवा वि चिंतंति-दुक्खमे काले वि सोभग्गसारस्स पुण्णवंतस्स जिदकामदेवस्स देहस्स सोम्मरूवस्स दंसणं सव्वेसिं णयणाणंदकरं होदि। मुणिसंकारविहिं णिट्ठविय तदा मुणिणायसायरेण पबोधणं कदं- ''इदाणीं अप्पकल्लाणत्थं णिरंतरं बड्ढेदव्वं। णिग्गदजीविदविसये खणमवि

तदनन्तर उन्हें भी गज के ऊपर बिठाया गया। बाद में समारोह स्थल पर महावीर ने मंच से परिचय दिया। उसके बाद केशलुंचन प्रारम्भ हुआ। गर्मी के दिनों में काले-चिकने-घुँघराले बालों का उखाड़ना अत्यन्त दुष्कर कार्य था, फिर भी साहसी पुरुषों को कुछ भी दुष्कर नहीं होता है। साहसी पुरुष तो दुष्कर कार्य में ही आनन्दित होते हैं। उन पुरुषों का पर्वत पर आरोहण घर की नसैनी की तरह होता है। समुद्र को तैरना छोटी सी नदी की तरह होता है, स्वर्ग में गमन तो नगर में भ्रमण की तरह होता है, अपने हाथ से केशों का उखाड़ना खेत की घास उखाड़ने की तरह होता है। इस प्रकार उत्कृष्ट वैराग्य को सच्चा देखकर कितने ही लोग ऊँचे स्वरों से वैराग्य भावना पढ़ रहे हैं, कितने ही बारह भावना का उच्चारण कर रहे हैं, कितने ही आप धन्य हो, आप धन्य हो ऐसी रटना लगा रहे हैं, कितने ही देह की निरीह वृत्ति को अपने चित्त में भा रहे हैं, कि वे ही विस्मय से कुछ भी नहीं बोल रहे हैं, कितने ही जय-जयकारों से अनुमोदन कर रहे हैं, कितने ही चुपचाप बैठे हैं, कितने ही णमोकार मंत्र कह रहे हैं, कितने ही पुनः पुनः प्रणाम कर रहे हैं, कितने ही दूसरों को बुला रहे हैं, कितने ही उनकी माता को धन्यवाद, कितने ही उनके पिता को धन्य-धन्य, इस प्रकार वर्णन करते हैं, कितने ही धैर्य की प्रशंसा कर रहे हैं। निर्ग्रन्थ होकर वह विद्याधर जिनेन्द्र प्रतिमा की तरह कायोत्सर्ग से स्थित हो गये। ३० जून, १९६८ का वह शुभ दिन था। अन्य की क्या बात? अकाल में उस मरुस्थल में मेघ भी पाँच मिनट तक वर्षा करते रहे। परोक्ष में देव दानवों ने भी चिंतन किया, कि इस दुःखमकाल में भी सौभाग्य का सारभूत पुण्यवान कामदेव को जीतने वाले सौम्यरूप देह का दर्शन सभी के नयनों को आनन्दकारी हो रहा है। मुनि संस्कार विधि को निष्ठापित करके मुनि ज्ञानसागरजी ने प्रबोधन किया-''अब अपने आत्म-कल्याण के लिए हमेशा बढ़ते रहना है। जो जीवन बीत गया है, उसके विषय में क्षणभर भी चिंतन नहीं करना।

ब्र० विद्याधर के बड़े भाई महावीर मंच से बोलते हुए

ण चिंतेज्ज। मुणिणो धम्मो, उवरि दिट्ठूण गमणस्स, तस्स लक्खो मोक्खपत्ती। तव्विवरीदं गिहत्थो अधो दिट्ठूण गच्छइ संसारावत्थादो। गिहत्थेण जदि जेट्ठे ईसा हेट्ठे विचिकिस्सा कदा तो कल्लाणं ण हवे तस्स।' इदि सारवयणं णवमुणिसंतत्तहियए अमियसेविदं व समाहिदं। तस्स णाम 'मुणि विज्जासायरो' गुरुणा उग्घोसिदो। भागचंदसोनी कहेदि-एवं सोभग्गं पुव्वं ण लद्धं। मे जीवणस्स अभूदपुव्वं आयोजणमिदं। हुकुमचंद-लुहाडिया तस्स भज्जा य मादुपिदरेणेव कत्तव्वस्स पुत्ती कदा। दाणेण सह सीलव्वदं वि गिण्हिदं। धम्मपरायणस्स दाणसीलस्स णयरसेट्ठिपमुहस्स भागचंदस्स 'सोनी' इदि उवणामस्स गिहे पढमा पारणा संपुण्णा। तदणंतरं बहुपरिस्समादो णिदाघादो जरवाहिणा पीडिदो पणछहदिवसपज्जंतं।

सुणिऊण समायारं पव्वज्जाणिच्छियं सपुत्तस्स।
जणणी कुणदि विलावं हा हा पुत्त किं कदं तेण ॥४१॥

तक्कालं मुच्छाए पडिदा पुढवीतले य रोदंती।
जागरिदा सोचंती खणे खणे पुणो वि णिवडंती ॥४२॥

पुज्जाए भिक्खाए जहाकहं पुत्तपत्थणाए य।
आराहणाए बहुसो पत्तोसि बहुपयत्तेण ॥४३॥

मुनि का धर्म ऊपर देखकर चलने का होता है। उसका लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति का होता है। उसके विपरीत गृहस्थ नीचे देखकर चलता है, क्योंकि उसकी संसार अवस्था रहती है। गृहस्थ ने यदि अपने बड़े से ईर्ष्या और छोटे से घृणा की, तो उसका कल्याण नहीं हो सकता है।'' यह सारभूत वचन नये मुनि के संतप्त हृदय में अमृत सेवन की तरह आत्मसात हो गये। उनका नाम गुरु के द्वारा उद्घोषित हुआ- 'मुनि विद्यासागर'।

तभी भागचन्द्र जी सोनी कहते हैं-''ऐसा सौभाग्य पहले नहीं प्राप्त हुआ। मेरे जीवन का यह अभूतपूर्व आयोजन है।'' श्री हुकुमचद्र जी लुहाड़िया और उनकी पत्नी ने दीक्षित मुनि के माता-पिता के कर्तव्य की पूर्ति की। उन्होंने दान के साथ शीलव्रत को भी ग्रहण किया। धर्मपरायण दानशील नगर के श्रेष्ठी प्रमुख भागचन्द जी 'सोनी' इस उपनाम को धारण करने वाले सेठ के घर में प्रथम पारणा सम्पूर्ण हुई। तदनन्तर बहुत परिश्रम और बहुत गर्मी होने से मुनि विद्यासागर जी पाँच-छह दिन तक ज्वर व्याधि से पीड़ित रहे।

अपने पुत्र विद्याधर की दीक्षा का समाचार सुनकर माता विलाप करती है-हा! हा! पुत्र तुमने यह क्या किया? ॥४१॥

तत्काल ही धरती पर रोती हुई वह मूर्च्छा से गिर पड़ी। जाग्रत होती हुई, शोक करती हुई क्षण-क्षण में वह फिर धरती पर गिर पड़ती हैं ॥४२॥

पूजा से, याचना से जैसे कैसे पुत्र की प्रार्थना से, बहुत प्रकार की आराधना से और बहुत प्रयत्न से तुम प्राप्त हुए ॥४३॥
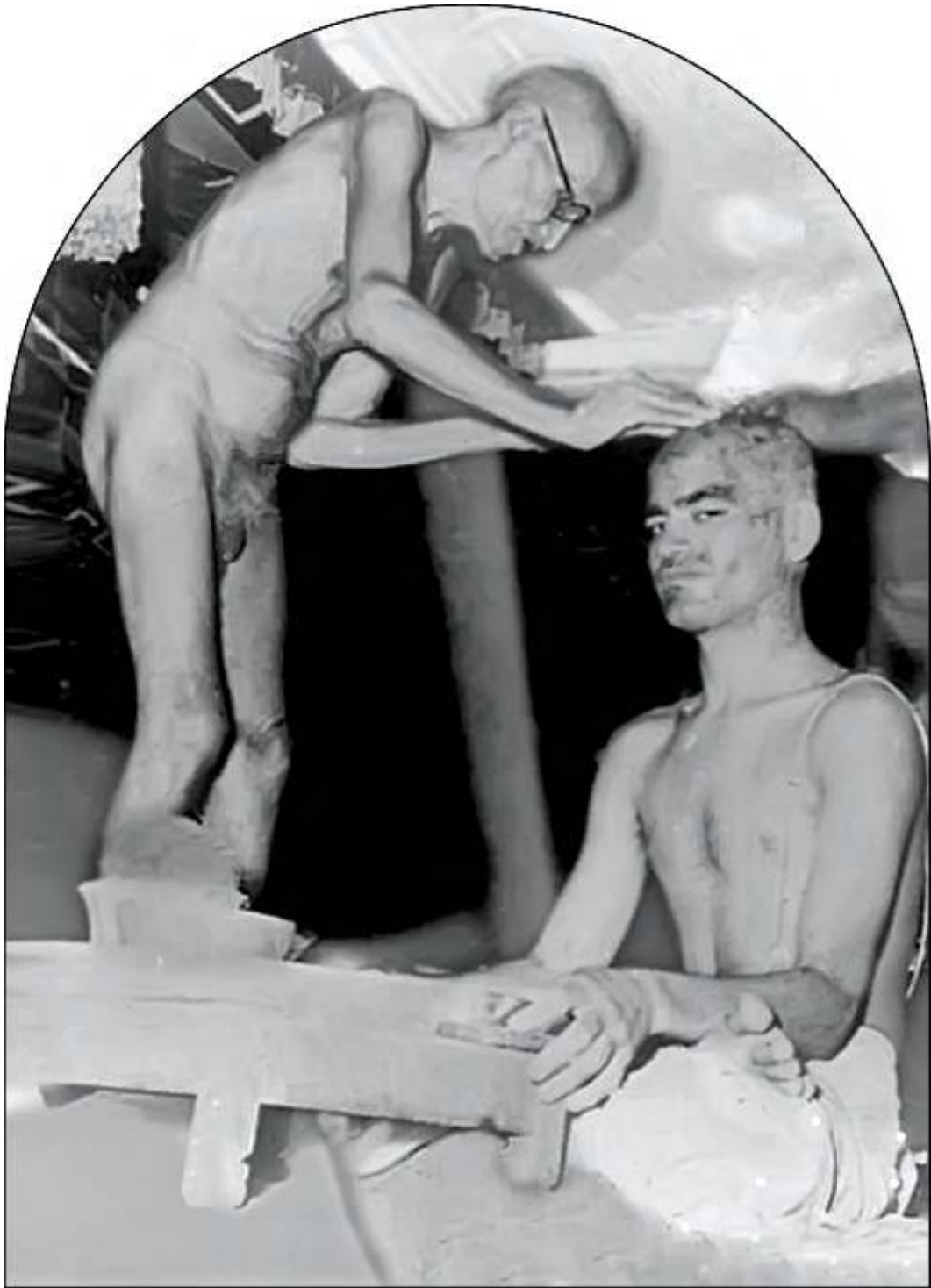
आचार्य ज्ञानसागरजी ब्र० विद्याधर को मुनि दीक्षा के संस्कार करते हुए

रूवकुलं लावण्णं बुद्धिबलं जोव्वणं अणारोग्गं।
बहुपुण्णेण जणस्स य लहदि तं कधं परिच्चयसि ॥४४॥
कुलगामणयरखेत्तं पिदुजणणीबंधुससासुमित्ताणि।
पजहिय खलु सयलाणि य दिक्खाए मदिं किं कीरइ ॥४५॥
णिविदविहूणं णयरं जलरहिदं सरो वि जह ण सोहेदि।
तह वि हु पुत्तविहीणं किं जणणी गिहं य लोगम्मि ॥४६॥
सव्वाणं वि य पुत्ता दुक्खविमोक्खं कुणंति सत्तीए।
मज्झं विसोगदुक्खं कहं ण वत्थ! तुमं विणासेसि ॥४७॥
वीरपुरिसचिण्णाइं एगं वारं हि भत्तपाणाइं।
केसाणं लोचं तह कधं करिज्ज सुहम्मि देहम्मि ॥४८॥
परिसहसहणं णिच्चं वरिसायाले य गिम्हसीदगदे।
अच्चेलक्कं सयणे परगिहभोयणे हि मोणेण ॥४९॥
वाहीहिं जराहिं य णग्गो भूदो हि सव्वकालम्मि।
चरिया वि णिव्वियारा विम्महकारी य देवाणं ॥५०॥
सोगागुला हि जणणी भत्तपाणस्स रुचीए विरदा।
जादा य दुब्बला सा वाहिपराभूदसारिस्सा ॥५१॥

यह रूप, कुल, लावण्य, बुद्धि, बल, यौवन और अनारोग्य यह बहुत पुण्य से मनुष्य प्राप्त करता है। उस सबको तुमने कैसे छोड़ दिया ॥४४॥

कुल, ग्राम, नगर, खेत, पिता, माता, बंधु, बहिन और अच्छे मित्र इन सभी को छोड़कर तुमने दीक्षा में बुद्धि क्यों की? ॥४५॥

राजा के बिना नगर, जल के बिना सरोवर जैसे शोभित नहीं होता है, उसी प्रकार क्या इस संसार में पुत्र के बिना माता और घर शोभित होते हैं ॥४६॥

इस संसार में सभी माँ के पुत्र अपनी शक्ति से माँ को दुःख से छुड़ाते हैं। फिर मेरा शोक, दुःख हे पुत्र! तुम क्यों नहीं दूर करते हो? ॥४७॥

वीर पुरुषों के द्वारा आचरण किये जाने वाले कार्य हैं, एक बार ही भोजन-पान करना और केशों का लोंच यह सब तुम शुभ शरीर में कैसे करोगे? ॥४८॥

हमेशा परीषह को सहना, वर्षाकाल में, ग्रीष्मकाल में और शीतकाल में हमेशा वस्त्र रहित शयन तथा दूसरे के घर में मौन-पूर्वक भोजन तथा सर्वकाल चाहे व्याधि हो या बुढ़ापा नग्न रहकर ही निर्विकार चर्या करना देवों को भी विस्मय करने वाली है ॥४९-५०॥

शोकाकुल माता भोजन-पान की रुचि से विरक्त हो गयी और ऐसी दुर्बल हो गयी मानो किसी

इय मल्लप्पा पेक्खदि ण णासेज्ज इणं दुल्लहं जम्मं।
सोगो हि महा अग्गी दड्ढदि देहं व परलोयं ॥५२॥
बहुपुण्णेण हि जीवो गच्छइ सिवमग्गम्मि सगिच्छाए।
जणणी तित्थयराणं जह धण्णा मण्णए लोगे ॥५३॥
केसिं पि य पुत्ताणं मरणं गब्भे य जादकाले वा।
दुग्घडणाए केसिं केसिं खलु वाहिपीडाए ॥५४॥
संजोगो सव्वाणं आउगकम्मस्स परवसेणेव।
दिढणेहबधणं जो छिण्णह सो दुल्लहो लोगे ॥५५॥
इदि चिंतिऊण णिच्चं सोगं मा कुणह पुण्णवंतम्मि।
सोहग्गं मण्णंतो गंतव्वं दंसणेच्छाए ॥५६॥
सप्परिवारो गच्छइ मल्लप्पा दिट्ठुं जिणस्स रूवस्स।
मे करणिज्जं कज्जं पुत्तकदंति चिंतिदं तेण ॥५७॥

इति मुनिप्रणम्यसागरविरचिते अनासक्तमहायोगिनाममहाकाव्ये आचार्य विद्यासागरचरितव्यावर्णने श्रमणसूर्यसंज्ञकः पंचमः सर्गः समाप्तः।

रोग से पीड़ित हो गयी हो ॥५१॥

जब मल्लप्पा ऐसा देखते हैं, तो वह समझाते हैं, कि श्रीमंती! इस दुर्लभ जन्म का नाश मत करो। शोक ही महा अग्नि है, जो इस शरीर और परलोक को जलाती है ॥५२॥

बहुत पुण्य से ही यह जीव अपनी इच्छा से मोक्षमार्ग में जाता है। लोक में जैसे तीर्थंकर की माता ही धन्य मानी जाती है ॥५३॥

कितनी ही माँ के पुत्र गर्भकाल में मर जाते हैं, कितने ही पुत्र उत्पन्न होते ही मर जाते हैं, कितने ही पुत्र दुर्घटना से मर जाते हैं और कितने ही रोग से पीड़ित होकर मर जाते हैं ॥५४॥

आयु कर्म की परतन्त्रता से ही सभी जीवों को संयोग होता है। जो पुरुष इस दृढ़ स्नेह के बंधन को छोड़ता है, वह लोक में दुर्लभ है ॥५५॥

ऐसा सोचकर पुण्यवान पुत्र में शोक मत करो। हमेशा अपने सौभाग्य को मानते हुए, उस पुत्र के दर्शन की इच्छा से चलना चाहिए ॥५६॥

तब मल्लप्पा परिवार सहित उस जिनदेव के रूप को देखने के लिए चल देते हैं। मन में सोचते हैं, कि मेरे करने योग्य कार्य पुत्र ने कर लिया ॥५७॥

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला श्रमणसूर्य संज्ञक पाँचवा सर्ग समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

षष्ठः सर्गः

गुरुजीवनदर्शनम्

(वंशस्थ)

स्वघातिकर्म-प्रकृतिप्रणाशकः, स्वधामचिन्मात्रचिदार्चिषोग्रकः।
यतस्ततो लोकघनार्तिशान्तिता, प्रवर्तते श्रीजिनपार्श्वपार्श्वतः ॥१॥
निरन्तरं द्वादशवर्षकालतः, स्वयं प्रबुद्धो दशधर्मवह्निना।
अनादिकालायतमोहकिट्टिमं, ननाश यो वीर जिनेन्द्र रक्ष माम् ॥२॥
जनेन केनाऽपि मम प्रयासता, पुरार्जितस्याघविधेर्विनाशिता।
तथापि नाऽहं विरमामि कार्ये, कुतः स्खलेदर्जुन ऊर्जितार्थात् ॥३॥
न दुर्जनः कोऽपि निजो न सज्जनः, समानवृत्तःसकलेषु यो जनः।
मुनिः स तस्मै तु विधेर्विधानं, करोति किं दुःखसुखाभिधानम् ॥४॥

(उपजाति)

प्रकाशघातो न च दीपघाते, वीणावियोगे न च मोदनाशः।
न बोधनाशो हतसञ्चिकायां, प्रकाशमुद्बोधमनःस्थवस्तु ॥५॥

श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्र भगवान् के निकट होने से लोक के घनीभूत दुःखों की शान्ति होती है, क्योंकि वह भगवान् उग्र वंश के हैं तथा अपने चैतन्य धाम की चैतन्यमात्र अग्नि के द्वारा अपने घातिकर्म प्रकृति के विनाशक हैं ॥१॥

जिन्होंने स्वयं प्रतिबुद्ध (वैराग्य को प्राप्त) होकर दश धर्म रूपी अग्नि के द्वारा अनादिकाल से चली किट्टिमा को बारह वर्ष में नष्ट कर दिया, ऐसे हे वीर! हे जिनेन्द्र! मेरी रक्षा करो ॥२॥

पूर्व में अर्जित मेरे पाप कर्म से किसी व्यक्ति के द्वारा मेरा प्रयास नष्ट किया गया, फिर भी मैं अपने कार्य से विराम नहीं लूँगा। अर्जुन अपने उत्कृष्ट लक्ष्य से स्खलित कैसे हो सकता है? ॥३॥

न कोई दुर्जन है, न कोई सज्जन है और न कोई अपना है, इस प्रकार जो व्यक्ति सभी में समता चारित्र को धारण करता है, वह मुनि है। उस मुनि के लिए दुःख-सुख रूप कहा जाने वाला विधि का विधान क्या करे ? अर्थात् जो समभाव धारण करता है, उस मुनि के लिए दुःख सुख कोई वस्तु नहीं है ॥४॥

दीपक का नाश हो जाने पर, प्रकाश का नाश नहीं हो जाता है, वीणा का वियोग हो जाने पर, आनन्द का नाश नहीं हो जाता है और सञ्चिका (कॉपी, डायरी) के चले जाने से ज्ञान का नाश नहीं हो जाता है, क्योंकि प्रकाश, आनन्द और ज्ञान शरीर में न रहने वाली अर्थात् हृदय में रहने वाली चीज हैं ॥५॥

विलासहासैः कुलभूमिभासिनी, वधूरिवात्यन्तसुखप्रदायिनी।
विराजते भारतभूमि रिष्टदा, मुनिप्रवेकस्य न तत्र कष्टता ॥६॥
त्रिलोकसंक्षोभितजन्मभूतिभिः, प्रसूतवन्तः सुरसंघगीतिभिः।
स्तुताः सुमेरौ वृषभादयो जिनाः, पवित्रभूः सा परमा पुनातु नः ॥७॥
विधैरनेकै र्नगराज्यसिन्धुभि, र्बहुप्रभाषा वचनप्रदायिभिः।
वसुन्धरा राजति दीपमालिका, यथा तथैवात्मसमप्रकाशिका ॥८॥
रराज सा क्षत्रकुलप्रसूतै, राणाप्रतापैः सदृशैः सुपूतैः।
शाहान्तभामाऽमरचन्द्ररूपैः, पुरा विशिष्टैः किल राजपूतैः ॥९॥
पृथक्त्वनामा पृथुसारराज्यः, स्थानान्तराजस्त्वनलीकसंज्ञः।
तैः कारणैः साम्प्रतमत्र नित्यं, प्रगीयते देशजनैरपीत्थम्॥ युगलम् ॥१०॥

(मन्दाक्रान्ता)

तत्रास्त्येवं जनपदवरे सीकरे नामधेये
राणानाम्ना प्रथितविषयो भोगपूर्णाभिधारः।

यह भारत भूमि वधू के समान है, अत्यन्त सुख और इष्ट वस्तु को देने वाली है। जिस प्रकार वधू अपने हास्य विलास से कुल को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार यह भूमि अपने वैभवविलास से कुलकरों की भूमि को प्रकाशित करती सुशोभित होती है। ऐसी भूमि में किसी मुनि श्रेष्ठ को कोई कष्ट नहीं होता है ॥६॥

इस भूमि पर वृषभ-आदि जिनेन्द्र-प्रभु उत्पन्न हुए हैं। वह प्रभु सुमेरु-पर्वत पर तीन लोक को शोभित करने वाले जन्मकल्याणक महोत्सव में देवों के समूह से गाये जाने वाले गीतों से स्तुत हुए हैं। ऐसी वह परम पवित्र भूमि मुझे पवित्र करे ॥७॥

अनेक प्रकार के पर्वत, राज्य, समुद्र और अनेक प्रकार की भाषा वचनावली को प्रदान करने वाली यह वसुन्धरा (पृथ्वी) ऐसी सुशोभित होती है, जैसे दीपों की माला सुशोभित होती है और अपनी तरह सभी को प्रकाशित करती है। अर्थात् जैसे दीप भिन्न-भिन्न होते हैं, किन्तु प्रकाश समान होता है, उसी प्रकार अनेक विविधताओं में भी यहाँ आत्मज्ञान समान रूप से प्रकाशित है ॥८॥

क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए महाराणा प्रताप जैसे सपूत और भामाशाह तथा अमरचन्द दीवान जैसे विशिष्ट राजपूतों से जो पृथ्वी पहले सुशोभित हो चुकी है ॥९॥

जो विशाल सारभूत राज्य है तथा भिन्न नाम वाला है, ऐसा वह राजस्थान प्रान्त सत्यसंज्ञा वाला है। इसी कारण से वर्तमान में इस भूमि पर हमेशा देशवासियों के द्वारा 'राजस्थान' इस प्रकार कहा जाता है ॥१०॥

राणोलीग्राम उचितखचितो जातिभिः श्रेष्ठिभिश्च
यत्रातिष्ठद् गुणरुचिधिया सौख्यदेवाभिधानः ॥११॥

एष खलु सुतमुखकमलावलोकनसुखेनामन्यत निजनामसार्थकं सुखदेवः। आत्मजसमुत्पत्तिनिमित्तेन निजभुजबलमन्वभूद्द्विगुणितं यतस्ततश्चतुर्भुजसंज्ञया संज्ञितःसः। देहवृद्धिसमुपचितपुण्याङ्गः कालेन वनितावित्तश्रियञ्च समाश्रयत्।

(वसन्ततिलका)

श्रीमच्चतुर्भुजभुजारमणाऽस्पदीया, सौभाग्यवद्-घृतवरी रमणी यदीया।
पञ्चप्रपञ्चरहितास्तनयाः प्रसूताः, पाण्डोः सुता इव मृतो जननेऽपि षष्ठः ॥१२॥

धर्मधनकामपुरुषार्थपरायणभूतयोस्तयोः कामपुरुषार्थफलेन बालभानुरिव रक्तपिञ्जरद्युतिभालः समुपलेभे जन्म छगनलालः स्वगोत्रेण खण्डेलवालः। वर्षद्वयान्तरे सम्प्राप्तसुतवित्तस्य क्षेमतया नूतनसुतयुग्मयोगमपि समापत् कुशलभूपाल इव। एतौ तु सुतौ क्षणविनाशी शक्रचाप इव मृतप्रायः प्रतीतिमायातौ जन्मक्षण एव जनमानसस्य। स्थानीयैः प्रबुद्धैः पौरजनैश्च वैद्यैः कृतोपचारौ किञ्चिल्लब्धसंज्ञौ मनसि ज्ञात्वा मातृपित्रोः

उसी प्रान्त में, सीकर नामक जिले में, महाराणाप्रताप के नाम से भोगों की धारा से परिपूर्ण बहुत विस्तृत 'राणोली' नाम का ग्राम है। वह ग्राम श्रेष्ठ जाति वालों और सेठियों से अच्छी तरह भरा है। जिसमें सुखदेव नाम के श्रेष्ठी गुणों में रुचि रूप बुद्धि के साथ रहते थे ॥११॥

यह सुखदेव अपने पुत्र के मुखकमल के अवलोकन के सुख से अपने 'सुखदेव' नाम को सार्थक मानते थे। पुत्र प्राप्ति के निमित्त से अपनी भुजाओं का बल दूना अनुभव करते थे, इसलिए उन्होंने पुत्र को 'चतुर्भुज' की संज्ञा से पुकारा। देह की वृद्धि के साथ पुण्यरूपी देह की वृद्धि वाले चतुर्भुज ने समय-समय पर स्त्री, धन और वैभव का आश्रय लिया था।

श्रीमान् चतुर्भुज की भुजाओं में रमण के स्थान को प्राप्त जिनकी स्त्री सौभाग्यवती घृतवरी थी। इन दोनों के पाण्डु के पुत्र की तरह प्रपञ्च से रहित पाँच पुत्र उत्पन्न हुए और छठवाँ पुत्र जन्म होने पर मरण को प्राप्त हुआ ॥१२॥

धर्म, धन और काम पुरुषार्थ में परायण उस दम्पति के कामपुरुषार्थ के फल से बालभानु के समान लाल-पीली कान्ति युक्त भाल (मस्तक) वाला, अपने गोत्र से खण्डेलवाल छगनलाल नाम का पुत्र जन्म लिया। दो वर्ष के बाद प्राप्त हुए पुत्ररूपी धन की क्षेम-भावना के साथ एक कुशल राजा की तरह नये पुत्र युगल के संयोग को भी सुखदेव ने प्राप्त किया। प्राप्त हुए धन की रक्षा करना राजा की नीति होती है, उसी की यहाँ उपमा दी। जन्म के क्षण से ही यह दोनों पुत्र क्षण भर में नष्ट होने वाले इन्द्र धनुष की तरह लोगों के मानस में मृत प्रायः प्रतीति में आये। स्थानीय, प्रबुद्ध, नगरवैद्य के द्वारा उपचार किये जाने पर कुछ संज्ञा (चेतना) को दोनों पुत्र प्राप्त हुए। ऐसा जानकर माता-पिता के मन में उल्लास की प्राप्ति हुई। बन्धु-सम्बन्धी आदि जनों के द्वारा किये गये अनेक

समुल्लासराजिरजायत। बहुप्रकारैर्मन्त्रस्तोत्रादिभिर्विहित- बन्धुसम्बन्धिभिरपि तयोरेकतमस्तथापि पञ्चतां गतः। अपरस्तु पूर्वजन्मविहित-पुण्यानुयोगादभूत् खलु लब्धायुष्कः। सत्यमस्ति यतः-

(आर्या)

सहवासी सहभोगी सहयोगी मिथः सहगतायुष्कः।
अनुभवति फलं तथापि भावानुसारिपापायस्य ॥१३॥

(वसन्ततिलका)

तस्माद्दधातु जिनधर्ममपास्य मोहं
कालं करोतु परित्यज्य निदानशल्यम्।
धर्मादृते न हि मनः - परितापशुद्धिः
शुद्धिं विना भुवि सुखं लभते न बुद्धिः ॥१४॥

ततः समानान्तरायतोभयराजिसदृशयोरपि तयोर्विगलितमेकतमं तोकम्। इतरस्तु भासुराङ्गो गौरवर्णः कमलायतलोचनः भवान्तरार्जितसुकृतपरिपाकवशेनालोचितवानिदं जगत्। अशेषनष्टाद्यदेवावशिष्टं तदेव शिष्टमिति समाश्वासितवन्तौ दम्पती। यतश्च-

(अनुष्टुप्)

दुःखं कुत्रापि नास्तीह नैव कुत्रापि वैसुखम्।
वियोगे सम्प्रयोगस्य दुःखं योगे च सौख्यता ॥१५॥
कस्यचिद्वस्तुनो नाशो नागमः कस्यचित् क्वचित्।
यातायातं करादन्यात् स्वकरे कन्दुक इव ॥१६॥

प्रकार के मन्त्र, स्तोत्र आदि के द्वारा भी उनमें से एक पुत्र मरण को प्राप्त हो गया। पूर्व जन्म में किये पुण्य के योग से दूसरा पुत्र आयुष्मान हुआ।

सत्य ही है-आपस में साथ रहने वाला, साथ में भोग करने वाला, सहयोगी, एक समान आयु वाला हो, फिर भी भावों के अनुसार पाप-पुण्य के फल का ही जीव अनुभव करता है ॥१३॥

इसलिए मोह को छोड़कर जिनधर्म को धारण करो। निदान शल्य को छोड़कर मृत्यु को प्राप्त करो। धर्म के बिना मन के परिताप की शुद्धि नहीं होती है। शुद्धि के बिना बुद्धि इस पृथ्वी पर सुख को प्राप्त नहीं करती है ॥१४॥

समान अन्तर से बढ़े हुए दो बालों की तरह बालकों में एक बालक नष्ट हो गया। इधर गौर वर्ण, भासुर देह, कमल के समान बड़ी आँखों वाला दूसरा पुत्र पूर्वभव में अर्जित पुण्य के फल के कारण इस संसार को देखने लगा। सब कुछ नष्ट होने से, जो बच गया, वही ठीक है इस प्रकार दम्पती ने सन्तोष की श्वांस ली। क्योंकि-इस संसार में वस्तुतः न कहीं दुःख है और न कहीं सुख है। प्राप्त वस्तु के वियोग होने पर दुःख और पुनः उसी का संयोग होने पर सुख हो जाता है ॥१५॥

कहीं भी किसी वस्तु का न नाश होता है और न किसी वस्तु का आगमन होता है। यह आना-

क्रीडनासक्तबाल्यान् तु दृष्ट्वा प्रौढो निवारयेत्।
तेषां वैषयिकीं क्रीड़ां बुद्ध्वा कोऽत्र प्रबोधयेत् ॥१७॥

इति विभाव्यमानेऽपि दैवतदेवताप्रतापावशिष्टमिव स्वहृदयशकलमवलोक्य स्नेहनिर्भरभरेण शोकविक्लवतामपाकर्तुं समर्थोऽभवज्जनकः। बालमुखमुखरितरुदनध्वनिधारामाकर्ण्य पयःपानसमय-निर्झरिताकृत्रिमस्नेहधारया सञ्जातलोमहर्षकण्टकाङ्गना विगतसकलदुःखदेहा बभूव जननी। तदा जन्ममहोत्सवानन्दसंभृतः परिजनोऽपि हृदयमुल्लासेनापूरयत्। काकुदे निहितघृतलेपेन बालरक्षाविधिना गोरोचनाश्लिष्टकण्ठभागेन च परदृष्टिरक्षणाय कपोलभागविन्यस्तकृष्णबिन्दुना समस्तभविष्यदुपद्रवविनाशाय श्रीशान्तितीर्थकरविधानगुञ्जितध्वनिना भुजबद्धमन्त्रलिखितपट्टेन परिपुष्टिमुपानयत् स शिशुः। प्रतिभातिस्म खलु तनुलक्ष्मणा द्वितीयोऽप्यद्वितीयोऽयं तनयः। नामसंस्कारविधौ तु तदनु 'भूरामलः' इति नाम्नाऽऽघोषितः। कतिपयैः किल दिवसैः भद्रातिथिजनितस्य निशीथनाथस्य कलावृद्धिमिव धूलिधूसरक्रीडास्खलद्गतिगमनोत्ता-नशयनविकचकमलास्यप्रभृतिमाकलयन् कौ मुदञ्च समेधयन् वृद्धिंगतः सः। गृहे हि मात्रा व्यञ्जन-स्वरगणनादि-मातृकमाशिक्षितम्। विद्यालये तथापि प्रवेशनं प्रमाणाय केवलम्। अहर्निशं देवाधिदेव-

---

जाना तो गेंद का किसी अन्य के हाथ से अपने हाथ में आने जाने की तरह है ॥१६॥

प्रौढ़ व्यक्ति क्रीड़ा में आसक्त बालकों को देखकर उन्हें खेलने से रोकता है। उन्हीं व्यक्तियों की विषय क्रीड़ा को जानकर उन्हें यहाँ कौन समझाये? ॥१७॥

इस प्रकार विचार करने पर भी भाग्य देवता के प्रताप से बाकी बचा हुआ अपने हृदय का टुकड़ा ही हो, इस तरह देखकर स्नेह भार से सहित होने के कारण पिता शोक की खिन्नता को दूर करने के लिए समर्थ हुए। बालक के मुख से निकली हुई रुदन की लगातार ध्वनि को सुनकर दुग्ध-पान के समय झरते हुए अकृत्रिम स्नेह की धारा से जिनके शरीर में रोम हर्ष कण्टक उठ रहे हैं ऐसी वह माँ समस्त दुःखों से रहित शरीर वाली हुई। तभी जन्म महोत्सव के आनन्द से भरे हुए सगे-सम्बन्धी हृदय में उल्लास को धारण कर लिये। मस्तक पर रखे गये घृत के लेप से और गोरोचन से युक्त कण्ठ भाग से बाल रक्षा विधि की गयी। कपोल (गाल) के मध्य काला बिन्दु लगाकर पर दृष्टि (नजर) लगने से रक्षा की गयी। भविष्य में होने वाले सभी उपद्रवों का नाश करने के लिए श्रीशान्तिनाथ तीर्थंकर विधान की ध्वनि गूँजी और भुजाओं में मन्त्र लिखे पट्ट को बाँधने से वह शिशु परिपुष्टि को प्राप्त हुआ। शरीर के लक्षणों से वह पुत्र द्वितीय होता हुआ भी, अद्वितीय दिखाई देता था। उसके बाद नाम संस्कार विधि में 'भूरामल' इस नाम से कहे गये। कुछ दिनों में भद्रातिथि में उदित हुए चन्द्रमा की कलाओं की वृद्धि की तरह धूलि धूसर क्रीड़ा, स्खलद्गति (टेढ़े मेढ़े चलना) से चलना, ऊपर मुख किये सोना, खिले हुए मुख कमल आदि को करता हुआ, वह पृथ्वी पर आनन्द को बढ़ाता हुआ वृद्धि को प्राप्त हुआ। घर में ही माँ ने व्यंजन, स्वर, गणित आदि प्रारम्भिक ज्ञान की शिक्षा दी। फिर भी विद्यालय में बालक का प्रवेश केवल प्रमाण पत्र के लिए था। प्रतिदिन

बिम्बदर्शनादुपचित-संस्कारादन्तःकरणे किल संक्रामितं प्रतिबिम्बं परोक्षक्षणेऽपि। ''सुखेनातिवाहितः कालः निमेष इव विभाति।'' इति नीत्येव भूरामलो मातृपितृभ्रातृपरिजनैर्लालितः पालितश्च दशवर्षं निमेषान्तरमिव व्यतीतवान्। न खलु सर्वदा महापुरुषाणामपि जीवने किं पुनः क्षुद्राणामेकरूपतेति प्रबोधयन्नेवोपहासकलितः समागतः कालः।

(वंशस्थ)

सदा न तुल्या दिवसा हि देहिनां, वियोगसंयोगजकार्यधारिणाम्।
क्वचिद् घृतं द्वे चणकं क्वचिन्न वा, क्रमेण नेमेः क्षणिकं प्रवर्तते ॥१८॥

(उपजाति)

भूरामलः स्याद्दशवर्षजन्मी, पितुर्वियोगोऽभवदार्तजन्मी।
सुखाप्तिकाले हि वियोगभोगो, द्राक्षागते काकगलस्य रोगः ॥१९॥

तावत्तु पञ्चद्वयवर्षकाले, पुत्रद्वयञ्च समयान्तराले।
बभूवतु र्वृद्धिकरं कुलस्ये-तरस्य सूतिर्जनके यमास्ये ॥२०॥

एवं कथं स्यात् परिपालनञ्च, भ्रात्राकरस्येह सुखेन पञ्च
चिन्ता प्रवृत्ता हृदये वरिष्ठे, वृत्त्याश्रयस्याचिरतो विनष्टे ॥२१॥

देवाधिदेव के प्रतिबिम्ब का दर्शन करने से बढ़े संस्कार के कारण मन में परोक्ष में भी भगवान् का बिम्ब संक्रमित होता था। ''सुख से बीता हुआ काल निमेष की तरह लगता है।'' इस नीति के अनुसार भूरामल माता-पिता-भाई-परिवार जनों से लालित-पालित हुआ और दशवर्ष एक निमेष की तरह व्यतीत हो गये। जब हमेशा महापुरुषों के जीवन में एकरूपता नहीं रहती है, तो फिर क्षुद्र जीवों के जीवन में एकरूपता क्या हो सकती है? इस प्रकार का उपहास करता हुआ ही मानो काल आ गया।

वियोग और संयोग से उत्पन्न कार्य के धारी संसारी जीव के दिन हमेशा एक से नहीं रहते हैं। कभी घी मिलता है, तो कभी चना मिलता है, कभी दोनों ही नहीं मिलते हैं। धुरा क्रम से सब कुछ क्षणिक होकर चलता है ॥१८॥

भूरामल जब जन्म से दश वर्ष के हुए, तो पिता के वियोग से उन्हें दुःख की प्राप्ति हुई। सुख की प्राप्ति के समय पर ही वियोग को भोगना पड़ा। ठीक ही है, दाख के आने पर काक के गले में रोग हो जाता है ॥१९॥

कुल की वृद्धि करने वाले तब दश वर्ष के समयान्तराल में दो पुत्र हुए थे। इधर पुत्र का जन्म हुआ और इधर पिता यम के मुख में चले गये ॥२०॥

इस प्रकार हो जाने पर भ्राता समूह के हृदय में चिन्ता हो गई, कि हम पाँचों का सुख से परिपालन कैसे होगा। जीविका का आश्रय शीघ्र ही नष्ट हो जाने पर बड़े भाई के हृदय में चिन्ता हुई ॥२१॥

हतात्मनो मे किमु जीवितेन, प्रपालको यो मृतिमाप येन।
सर्वोत्तमेनैक-जिजीविषैषा, सर्वात्मसूच्चैरवलोकिता हा ॥२२॥
प्राणान् विहायाथ न कोऽपि कस्मिन्, स्नेहानुबन्धं कुरुते परस्मिन्।
सुस्पष्टमाभाति ममान्तरङ्गे, स्वार्थाय लोको रमतेऽनुषङ्गे ॥२३॥
मिथ्यात्मिकैषा व्यवहारवृत्ति-राजन्मतो मूढमतेः प्रवृत्तिः।
मोहाभिभूत्या सुखभासिवृत्ति-र्दुष्त्याज्यरूपा विषयप्रसक्तिः ॥२४॥

विनष्टे शाखिनि कुतः सुखी स्यादिति शाखामृग इव, यातेऽस्ताचले काकबन्धुनः कोकविरहदुःखमिव, वारिधिमध्ये सहसा परित्यक्तदण्डस्य नौसञ्चालनमिव क्षपायां विद्युद्विलोपनमिव, दीक्षाग्रहणक्षणे हि गुरुविरह इव, प्रलयपवनप्रवाहे प्राणरक्षणमिव, सुनामिभङ्गप्रकोपे देहसंधारणमिव ज्येष्ठपुत्रो विंशद्वाविंशवर्षीयः सर्वतः स्वकमनर्हममन्यत। स चाग्रजत्वाद्रोदितुमशक्यः प्रपालयितुञ्च स्वपरान् बालप्रायेण दूरातिदूरमपि विक्लान्त-पारावतस्येवास्मिन्नपारसंसारपारावारेऽसहायः सञ्जातः। सकलवस्तुसुखसंभृतेऽपि संसृतौ शून्यतां भावयन् मनोदुःखमप्रकटयन्नन्तर्वाष्पान्तःकरणः स्वजीवितं विफलमिव मन्यमानः किंकर्त्तव्यविमूढः शुचा गृहीतग्रह

चूँकि घर का पालक जो था, वह ही मृत्यु को प्राप्त हो गया तब मुझ अभागे के जीवन से क्या? हा! सभी आत्माओं में एक जिजीविषा (जीने की इच्छा) ही सबसे बढ़कर के देखी गई है ॥२२॥

प्राणों को छोड़कर कोई भी किसी दूसरे में स्नेह का अनुबन्ध नहीं करता है। मेरे हृदय में यह बात स्पष्ट प्रतीत हो रही है, कि स्नेह के बन्धन में यह लोक स्वार्थ के लिए ही प्रवृत्ति करता है ॥२३॥

विशेषार्थ–किसी के स्नेह में कोई भी अपने प्राणों को नहीं छोड़ता है, क्योंकि सबके भीतर सबसे बड़ी इच्छा जीने की इच्छा होती है।

अनादि संसार से मूढ़मति की यह प्रवृत्ति मिथ्या-रूप है और व्यवहार से है। मोह से अभिभूत होने से यह प्रवृत्ति सुख का आभास देती है। विषयों में यह संलग्नता त्याग करना बहुत कठिन है ॥२४॥

वृक्ष के नष्ट हो जाने पर बन्दर की तरह सुखी कैसे हो? सूर्य के अस्ताचल पर चले जाने पर चकवा के विरह दुःख के समान, समुद्र के मध्य अचानक पतवार टूटे हुए मल्लाह के नाव संचालन की तरह, रात्रि में बिजली चले जाने की तरह, दीक्षा ग्रहण के समय ही गुरु के विरह की तरह, प्रलय कालीन वायु के प्रवाह में प्राण रक्षण की तरह, 'सुनामी' लहरों के कुपित होने पर शरीर धारण की तरह, बीस-बावीस वर्ष के ज्येष्ठ पुत्र ने सभी तरह से अपने को अयोग्य मान लिया। वह अग्रज होने से रोना भी नहीं कर सकते और स्व-पर को पालन करने में भी असमर्थ हो रहे थे। बाल होने से दूर-बहुत दूर तक थके हुए कबूतर की तरह, इस अपार संसार-समुद्र में वह असहाय हो गये। समस्त सुखों की वस्तु से भरे हुए भी इस संसार में शून्यता की भावना करते हुए, मन के दुःख को प्रकट नहीं करते हुए भी, मन में आँसू पीते हुए, अपने जीवन को निष्फल के समान मानते हुए, कि किंकर्तव्यविमूढ़ हो शोक के कारण किसी पिशाच से ग्रहण हुए के समान उनका मन कहीं नहीं लगता

इवोन्मनस्कः किल व्यलोकि परिचितलौकैः। ततश्च प्रतिबोधितः–

(अनुष्टुप्)

संयोगो जायते यस्य वियोगस्तस्य निश्चितम्।
परिवर्तिनि संसारे स्वभावादेष वर्तते ॥२५॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
नियतेऽवस्थिते कार्ये माध्यस्थ्यं भाव्यते बुधैः ॥२६॥
न हि शाश्वतिकं भाति त्रिभुवनोदरवस्तुषु।
कालरक्षःसमाक्रान्ते वस्तुतो मित्र! वस्तु तु ॥२७॥
राक्षसोऽयं महाकायः सर्ववस्तुषु तिष्ठति।
स दृष्टादृष्टपर्यायः सदा सर्वत्र सर्वगः ॥२८॥
श्रुतं त्वया न किं पूर्वं वियोगो रामसीतयोः।
स्वपत्युरञ्जनायाश्च मातुश्च जीवकस्य वा ॥२९॥
वियोगे देहिनश्चापि विनष्टे स्वेष्टवस्तुनः।
शुचा व्यापि मनो न स्यात् तद्भाव्यं श्रेष्ठबुद्धिभिः ॥३०॥
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं मूढत्वे किं न शोचसि।
लोकस्य येन लोकोऽयं मुहुर्दुःखं समश्नुते ॥३१॥

था। तभी उनके परिचित लोगों ने उन्हें देखा और समझाया–

जिसका संयोग होता है, उसका वियोग भी निश्चित है। इस परिवर्तन रूप संसार में यह स्वभाव से चलता रहता है ॥२५॥

जन्म लेने वाले प्राणी की मृत्यु निश्चित है और मरने वाले का जन्म निश्चित है। निश्चित रूप से सदा होने वाले कार्य में ज्ञानी जीव माध्यस्थ भाव धारण करते हैं ॥२६॥

तीन लोक में रहने वाली सभी वस्तुएँ काल रूपी राक्षस से घिरी हुई हैं। इसलिए मित्र! कोई भी वस्तु वस्तुतः शाश्वत नहीं दिखाई देती है ॥२७॥

वह दृष्ट–अदृष्ट पर्याय वाला महाकाय कालरूपी राक्षस सदा, सर्वत्र, सब जगह जाने वाला, सभी वस्तुओं में रहता है ॥२८॥

क्या आपने पहले राम–सीता का वियोग नहीं सुना है, अपने पति से अञ्जना का और माँ से जीवंधर का वियोग क्या आपने नहीं सुना है ॥२९॥

प्राणी का वियोग हो जाने पर और अपनी इष्ट वस्तु के नष्ट हो जाने पर श्रेष्ठ बुद्धि वालों को वही भावना करनी चाहिए, जिससे मन शोक से व्याप्त न हो ॥३०॥

जो शोक करने लायक नहीं है, उसका तुम शोक करते हो। इस लोक की मूर्खता पर शोक क्यों नहीं करते हो, जिससे यह संसारी प्राणी बार–बार दुःख को प्राप्त करता है ॥३१॥

शुचा व्यापि मनो यस्य शरीरं तस्य नश्यति।
नष्टे देहे कुतः सौख्यं सुखाय यतते जनः ॥३२॥
उत्पद्येत हितं मातुः बन्धुसम्बन्धिनां तथा।
तत्कर्तव्यं त्वया बन्धो! लोकद्वयहिताय च ॥३३॥

इति प्रबुद्धवचनश्रवणमात्रेण सघनान्धकारमेघमालामध्यप्रकटितविद्युल्लेखेव समजनि मनसि विविक्त-बुद्धिः। तेन च बुद्धिकिरणप्रसारैर्ग्रामीणानामाजीविकार्थं निजगेहपरिवारपोषणार्थमितरराज्येषु निर्गम्यमानानां स्वीयग्रामे च स्वीयराज्ये कृषिवाणिज्यसेवाविषयसुविधान्यूनतां विज्ञाय व्यधायि समीचीनः परिचयः। बहुशः संविचार्य मतौ परिवर्त्य च साधनसाध्यफलं सः 'गम्यतां विहारप्रान्ते' इति समवधार्य स्वाभिमतं न्यवेदयन् मातरम्।

आकलय्य च तनयस्य दूरदर्शितां किञ्चिद् मुदितवती दूरगामिताञ्च किञ्चिद् रुदितवती निपति-तापायानामन्योपायाभावञ्च सद्यो हि माध्यस्थ्यबुद्धिकरी घृतवरी निर्लोभता परस्त्रीद्रव्यानभिलाषता समुपार्जितद्रव्ये च सन्तुष्टिता इत्याद्युपदिश्य विनतोत्तमाङ्गमाघ्रायाशीःशतैः कौशल्येव दाशरथेर्विजनगमनाय मनस्विनी कथमपि स्वापत्यं प्रेषितवती। स खलु ततो भूरामलं किञ्चिन्न्यूनवयसं निजीयकार्ययोजनाविषये

जिसका मन शोक से व्याप्त है, उसका शरीर नष्ट हो जाता है। देह के नष्ट हो जाने पर सुख कैसे हो? सभी लोग सुख के लिए ही तो प्रयत्न करते हैं ॥३२॥

अरे बन्धो! आपको वह करना चाहिए जिससे माँ को, बन्धुओं को तथा सगे सम्बन्धियों का हित हो और इह-पर लोक के हित के लिए कुछ करना चाहिए ॥३३॥

इस प्रकार किसी समझदार के वचन सुनने मात्र से घने अन्धकार में मेघ-समूह के बीच प्रकट हुई बिजली की रेखा के समान सुखदेव के मन में विवेकज्ञान उत्पन्न हुआ। तब उन्होंने अपने गाँव तथा अपने राज्य में कृषि, व्यापार, नौकरी, विषय-सुविधा की कमी को जानकर आजीविका के लिए और अपने घर-परिवार के पोषण के लिए अन्य राज्यों में चले गये ग्रामवासियों का समीचीन परिचय बुद्धि की किरणें फैलाकर किया। बहुत प्रकार से विचार करके और बुद्धि में साधन-साध्य के फल को परिवर्तित करके सोचकर ''बिहार प्रान्त में चलना चाहिए'' ऐसा निश्चित किया। और माँ को अपना अभिप्राय बताया।

पुत्र की दूरदर्शिता को जानकर माँ कुछ प्रसन्न हुई, फिर पुत्र के दूर चले जाने से कुछ रोती रही। आये हुए कष्टों का और कोई उपाय नहीं है, यह सोचकर घृतवरी माँ ने माध्यस्थ बुद्धि को धारण किया। लोभ से रहितपना, पर-स्त्री और परधन की अभिलाषा नहीं होना, अर्जित किये धन में सन्तोष होना इत्यादि उपदेश देकर पुत्र के झुके हुए मस्तक को सूँघकर, सैकड़ों आशीषों से राम को वनवास के लिए कौशल्या माँ की तरह सहनशील माँ ने किसी तरह अपने पुत्र को भेज दिया। वह सुखदेव अपने से कुछ कम उम्र वाले भूरामल को पुत्र के समान मानते हुए अपनी कार्य-योजना के

पुत्रमिव मन्यमानः सर्वं निवेद्य लघुभ्रातरञ्च गंगागौरीदेवदत्ताभिधानं प्रेमसीकरेणाभिसिंच्य विहार-राज्यस्थितगयानगरं प्रति निर्जगाम। तदनु भूरामलो ग्रामीणविद्यालयेऽधीतेस्म मनोयोगेन। विगते सति कतिपये वर्षे सोऽचिन्तयत् करणीयविषये।

(उपजाति)

संविद्यते या सुविधा सुशिक्षा ग्रामे स्वकीये तदनुस्वधीतः।
न शिक्षकाः सन्ति करोमि किंवाऽधुनाऽनधीतस्य गतिर्न वृत्तिः ॥३४॥

विद्याबलाल्लोकहिते प्रवृत्तिर्विद्याबलात् स्वस्य कृते निवृत्तिः।
विद्योपयोगाद् विषमे प्रवेशो ग्रासोपभोगाद् गवि दुग्धलेशः ॥३५॥

यदिष्यते देहसुखं किलाद्य सुखं द्वितीयञ्च गृहं धनाढ्यम्।
तदिष्यते चित्त! सदाऽनवद्यं ताभ्यां विना किं वद कार्यसाध्यम् ॥३६॥

भाग्ये मयि स्यात् किमु वा न हि स्यात् पदार्थमाला पुरुषार्थगम्या।
न पौरुषस्यात्र कृतेऽपि सिद्धिर्भवेत्तदा भाग्यविहीनसिद्धिः ॥३७॥

विषय में सब कुछ कहकर तथा गंगादत्त, गौरीदत्त और देवदत्त नाम के छोटे भाइयों को प्रेम-रूपी शीतल जल से सिंचित करके बिहार राज्य में स्थित 'गया' नगर के लिए चले गए। उसके बाद भूरामल गाँव के विद्यालय में मनोयोग से अध्ययन करने लगे। कुछ वर्ष बीतने पर वह करने योग्य विषय के बारे में सोचने लगे।

अपने ग्राम में जो शिक्षा और सुविधा है, उसके अनुसार हमने अच्छे से पढ़ लिया। आगे पढ़ने के लिए शिक्षक नहीं हैं, अब मैं क्या करूँ? बिना पढ़े-लिखे को न कहीं शरण है और न कोई आजीविका ॥३४॥

विद्या के बल से ही लोक हित में प्रवृत्ति होती है, विद्या बल से ही अपने लिए निवृत्ति (सुख) होती है। विद्या के उपयोग से ही विषम स्थान में भी प्रवेश हो सकता है। ठीक ही है-गाय भले ही घास खावे पर, उसी से उसमें थोड़ा दूध आता है ॥३५॥

जो यह कहा जाता है, कि शरीर का सुख पहला सुख है और दूसरा सुख घर में धन-समृद्धि हो। हे मन! वह ठीक ही कहा जाता है क्योंकि देह सुख और धन के बिना क्या कोई कार्य साधा जा सकता है, यह बताओ? अर्थात् भूरामल ने ''पहला सुख निरोगी काया दूजा सुख हो घर में माया'' इस उक्ति का विचार किया ॥३६॥

कोई भी पदार्थों का समूह मेरे भाग्य में है अथवा नहीं है, यह तो पुरुषार्थ करने पर ही जाना जा सकता है। पुरुषार्थ करने पर भी यहाँ जब सिद्धि न हो तभी भाग्य नहीं है यह सिद्ध होगा ॥३७॥

भ्रातुः प्रदत्ते धनसेवने तु कर्त्तव्यनिष्ठा मयि नो विभातु।
मतौ विभाव्येति शनैः स मातुः समन्तिकं प्राप्य जगाद वस्तु ॥३८॥

जलातिभारेण भृतास्तटान्ता मध्ये भवन्त्योज्ज्वलरत्नमुक्ताः।
सत्कर्तुमेवोदयते समुद्रः श्रियं समाप्नोत् किमहो दरिद्रः ॥३९॥

ततो गमिष्यामि गयानगर्यां यत्रास्थितोऽस्मत्सहकुक्षिवर्यः।
यथैकपक्षोऽन्यसहायमिच्छुर्नारायणो रामसहायभिक्षुः ॥४०॥

इति लोचनाभिरामस्य प्रियपुत्रस्य परत्र गमनवार्तां संश्रुत्य विललाप जन्मप्रदात्री जननी। अभिलषामि खल्वत्र यकं यकं स एव मामपहाय प्रयाति। परलोकगतो मम प्राणनाथः। परदेशगतः पश्चात् मम गर्भशायी। सम्प्रति त्वमपि गन्तुमपरत्रोद्यतोऽसि। सर्वे वाच्छन्ति द्रविणमेव। नास्ति कश्चन मूल्यो मातुः सुखस्य, न विस्मृता ममेदानीं प्रसवपीडाऽन्या च पुनर्नूतना निपतति। ''सुखं सुखमेव दुःखं दुःखमेवानुबध्नाति।'' इति सत्यं श्रूयते।

मा दुःखी भव मातः! नाहं त्यजामि भवतीम्। स किं पुत्रो यो दुःखयति स्वमातरम्। मातः! शृणु मम हितेच्छया-ग्रामेऽस्मिन् विद्याऽध्ययनं न विद्यते। विद्यया विना जीवनं तु पशुतुल्यमेव। किं वाञ्छति भवती

भ्राता के दिये धन का सेवन करने पर, तो मुझमें कर्तव्यनिष्ठा शोभित नहीं होती है। इस प्रकार बुद्धि में विचार करके भूरामल माँ के पास जाकर वस्तु-स्थिति को कहने लगे ॥३८॥

तट के निकटवर्ती भाग जल से भरे हैं। और जिसके मध्य में उज्ज्वल रत्न और मोती हैं ऐसा समुद्र अच्छा कर्म करने के लिए ही मानो उदित होता है और मानो कह रहा हो- अहो! दरिद्र क्यों हो? लक्ष्मी को प्राप्त करो। तात्पर्य यह है, कि लक्ष्मी से भरा समुद्र हमारे समक्ष है, पर रत्न निकालने का पुरुषार्थ तो हमें करना ही होगा ॥३९॥

इसलिए माँ! मैं 'गया' नगर में जाऊँगा, जहाँ पर मेरा ही बड़ा भाई रहता है। जैसे एक पंख दूसरे पंख की सहायता की इच्छा करता है, जैसे लक्ष्मण नारायण भाई राम की सहायता करने के लिए भिक्षु बन गये, वैसे ही मैं भी अपने भाई की सहायता करूँगा ॥४०॥

इस प्रकार नयनों को मनोहर लगने वाले प्रिय पुत्र के अन्यत्र जाने की बात सुनकर जन्मदात्री माँ विलाप करने लगी। मैं जिस-जिस की इच्छा करती हूँ, वहीं मुझे छोड़कर चला जाता है। मेरे स्वामी परलोक सिधार गये। बाद में मेरा बड़ा बेटा परदेश चला गया और अब तुम भी अन्यत्र जाने के लिए तैयार हुए हो। सभी को धन की पड़ी है, माँ के सुख का कुछ भी मूल्य नहीं है। मैं अभी प्रसव की वेदना भुला नहीं पायी और दूसरी पीड़ा सामने आ गयी। सही सुना है कि सुख सुख को ही बाँधता है और दुःख दुःख को ही।

माँ! दुःखी मत होओ। मैं तुम्हें छोड़ के नहीं जा रहा हूँ। जो माँ को दुःखी करता है, वह तो खोटा पुत्र होता है। माँ! हित की इच्छा से मेरी बात सुनो-इस गाँव में विद्या अध्ययन है नहीं, विद्या

यत्तव पुत्रो मूर्खो भवेत्। न च मे चित्ते वित्तासक्तिः। परत्र गमने साधयामि सममुभयम्।

इति भूरामल भावनामाकर्ण्य प्रत्युक्तवती किञ्चिन्न्यूनदुःखमुखी स्थिरचित्तेन-वत्स! न भवति सर्वेषु वस्तुषु वृत्तिः समाना जनानामनुरागान्वितानाम्। कथमपि न युष्मच्छविप्रतिबिम्बनयनविकलाशया शक्नोमि जीवितुम्। अल्पवयःपर्यायेषु समारूढान्न परित्यक्तुमर्हसि त्वमप्यनुजान् नवकिसलयप्ररूढान्निव। किञ्च परदेशवासे याऽऽयासता, भयार्द्रमनस्कता, प्रतिकार्येऽ समर्थता सर्वेष्वनात्मीयता इत्यादिकष्टं कथं सहेतातः बालाग्रहं विमुच्य सुखेनात्रैवास्थीयतामिति। ततः सदुत्साहपरः पुत्रः प्रत्यवदत्-

(अनुष्टुप्)

यो करणीयकार्येषु जन्तुरेतेषु मुह्यति।
इहामुत्र सुखं त्यक्त्वा दुःखीभवति सर्वशः ॥४१॥

किञ्च;

किं भयं जिनभक्तानां किं दुःखं दुःखभाविनाम्।
किं कष्टं सुसमर्थानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥४२॥

काऽलब्धिर्मातृप्रीतानां को विदेशो विवेकिनाम्।
को दुष्टो दृढवृत्तानां को दूरो व्यवसायिनाम् ॥४३॥

के बिना जीवन पशु तुल्य ही होता है। क्या आप यह चाहती हैं, कि आपका पुत्र मूर्ख हो। मेरे मन में धन की आसक्ति नहीं है। अन्यत्र चले जाने पर मैं धन और विद्या दोनों एक साथ साधूँगा।

भूरामल की भावना को सुनकर जिसके मुख पर दुःख कुछ कम हुआ हो। ऐसी माँ स्थिर-चित्त के साथ कहने लगी- बेटा! अनुराग रखने वाले जनों की सभी वस्तुओं में एक समान वृत्ति नहीं होती है। इन आँखों में तुम्हारी छवि के प्रतिबिम्ब बिना मैं जी नहीं सकती हूँ। नये किसलय की उत्पत्ति के समान अल्प उम्र पर आरूढ़ हुए छोटे भाइयों को छोड़ना तुम्हें योग्य नहीं है। दूसरी बात यह है, कि परदेश में रहने पर जो कष्ट होता है, मन भयभीत रहता है, प्रत्येक कार्य में असमर्थता रहती है, कोई भी आत्मीय-जन नहीं होते हैं इत्यादि कष्टों को कैसे सहोगे? इसलिए बाल हठ को छोड़कर सुख से यहीं पर रहो। फिर समीचीन उत्साह से युक्त पुत्र कहने लगा-

माँ! जो जीव इन करने योग्य कार्यों में मोह को प्राप्त होता है, वह इस लोक और परलोक के सुख को छोड़कर सभी जगह दुःखी रहता है ॥४१॥

और जिनेन्द्र भगवान के भक्तों को भय किस बात का? दुःख की भावना करने वालों को दुःख क्या वस्तु है? जो अच्छी तरह समर्थ है, उन्हें कष्ट क्या? और जो प्रिय वचन बोलते हैं, उनके लिए पर (अनात्मीय) कौन है? ॥४२॥

जो माँ के प्रिय है, उनके लिए क्या प्राप्त नहीं है?, जो विवेकी हैं उनके लिए विदेश क्या है?, दृढ़चारित्र वालों को दुष्ट कौन है? और जो परिश्रमी हैं, उन्हें क्या दूर है? ॥४३॥

इति स्वसंकल्पिते दार्ढ्यमालक्ष्य रागोद्भूतविकचमनःपुण्डरीकस्य संध्येव मध्यस्था संकुचितवती सवित्री। ततो युक्तोचितसमाचारमाचर्य परिजनेषु स्वजनेषु परजनेषु च प्रक्षालयन्मातुश्चरणसरोजं विरहाश्रुजलकणेन भ्रातृमित्रक्रीडास्थानगतस्मृतिमवधार्य मतौ मोहपरिणतिमपि दूरीकृत्य मतिमानतिकृच्छ्रेण 'मोहः खलु बलवान्' इति प्रथमतोऽनुभवन् मोहभुवनाद् विरहयांचकार। ज्येष्ठस्य हि भ्रातुः सन्निधिमवाप्यागमनकारणं समादेशि सः। अवगम्य च वृत्तिमग्रजः स्वावलम्बिनीं प्रसन्नमनाः कस्यचिज्जैनश्रेष्ठिनः पणके कतिपयैरहोभिर्कृत्यर्थमेनं नियोजितवान्।

(रथोद्धता)

तत्र पूर्वकृतधर्मसंस्कृतो देवदर्शनविधौ सुसम्मतः।
कस्यचिच्च कथनं विना हि स वाति वायुरिव निर्मलाशयः ॥४४॥

अन्यजन्मकृतपुण्यपाकतो जैनजन्मनि निमित्तमात्रतः।
योग्यता खलु निजात्मनस्सदा वर्धतेऽतिवृषसेवने मुदा ॥४५॥
जन्मरोगबहुलस्य चौषधो देवपूजनसुदानषड्विधः।
सेव्यतां तदनु जीविकाकला भैषजं न यदि खर्जनेऽफला ॥४६॥

रागजनित मन कमल से खिले हुए पुत्र की अपने संकल्प के विषय में दृढ़ता को देखकर संध्या के समान मध्यस्थ होती हुई माँ ने अपने आपको संभाला। तब परिजन–स्वजन और अन्य जनों में युक्त, उचित समाचार को करके माँ के चरण कमलों की विरह के अश्रुजल से प्रक्षालित करते हुए, भाई और मित्र की क्रीड़ा स्थानगत स्मृति को बुद्धि में अवधारित करके, बुद्धि की मोह परिणति को दूर करके वह बुद्धिमान् बड़े कष्ट से ''मोह वास्तव में बलवान है'' इस प्रकार अनुभव करते हुए मोह संसार से दूर हो गया।

बड़े भाई के सान्निध्य को प्राप्त करके अपने आगमन के कारण को कहा। अग्रज अपने भाई की स्वावलम्बिनी वृत्ति को जानकर मन से प्रसन्न हुए। किसी जैन श्रेष्ठी की दुकान पर अग्रज ने कुछ दिनों के लिए आजीविका के लिए भूरामल को नियुक्त कर दिया।

वायु के समान निर्मल बुद्धि वाले भूरामल किसी के कहे बिना ही गया में पूर्वकृत धर्म से संस्कारित देवदर्शन की विधि में सम्मत होते हुए विहरते रहे ॥४४॥

जैन कुल में जन्म लेना तो निमित्त मात्र है, किन्तु अन्य जन्म में किये हुए पुण्य के फल से अपनी आत्मा की धर्म सेवन में योग्यता हर्ष से सदा बढ़ती रहती है ॥४५॥

बड़े हुए जन्म रोग की औषधि देवपूजन, दान आदि छह प्रकार की है। उसके अनुरूप जीविका की कला सेवन करना चाहिए। यदि औषधि नहीं है, तो खुजाने से कुछ फल नहीं है ॥४६॥

सच्चरित्ररमणे सतां क्रिया दुश्चरित्ररमणेऽसतां धिया।
आचरन्ति सुजनाः सतां मतं लोकमान्यतिलके न तर्कणम् ॥४७॥

सन्ति सन्त इह देहिषु प्रधीः भोः कियन्त इति चिन्तयेः सदा।
बालुकामयमहीषु सम्पदा रत्नमौक्तिकफला न सर्वदा ॥४८॥

एवमेव कलयन् सुवृत्तितां धर्ममुख्यधनचिन्तनार्पिताम्।
कालमेति किल वर्षमात्रकं पश्यतिस्म भुवि विस्मयात्मकम् ॥४९॥

(उपजाति)

विद्यालयेऽधीतसुबालकानां तुल्येव पंक्तिः कलहंसकानाम्।
सुवेषभूषाबहुभाषणानि लौकान्तिका वा जनरञ्जनानि ॥५०॥

विलोक्य चैतान् नगरे च कस्मिन् पठन्ति यस्मान् मतिवैभवोऽस्मिन्।
चित्ते च तस्मिन् जनितो विचारो किं चिन्तितो नैव मया प्रकारः ॥५१॥

वाराणसीवासकृता विभिन्ना देशागता ये पठनार्थिनश्च।
स्वदेशधर्मस्य हितं प्रपन्नाः प्रत्युत्तरं प्राप्य बभूव खिन्नः ॥५२॥

सज्जनों की क्रिया समीचीन आचरण में रमण करना है और दुर्जनों की बुद्धि से दुश्चारित्र में रमण होता है। श्रेष्ठजन सज्जनों के मत का ही आचरण करते हैं। लोकमान्यतिलक के विषय में कोई तर्क नहीं होता है अर्थात् जो पुरुष लोकमान्य होता है, उसके विषय में कोई विचार नहीं करता है। अथवा 'लोकमान्य तिलक' राजनेता के विषय में क्या तर्क करना? जिन्होंने जेल में भी रात्रि-भोजन नहीं किया ॥४७॥

हे बुद्धिमान् आत्मन्! इन देहधारियों में कितने सन्त पुरुष होते हैं, सदा यह चिन्तन करना चाहिए। बालूमय इस पृथ्वी में रत्न और मोती फल की सम्पदा हमेशा नहीं होती है ॥४८॥

इस प्रकार ही धर्म की मुख्यता से धन और चिन्तन की प्रमुखता सहित श्रेष्ठ आचरण को करते हुए, एक वर्ष का समय व्यतीत हो गया। तभी भूरामल ने इस धरती पर कुछ विस्मय की वस्तु देखी ॥४९॥

मनोहर हंसों की पंक्ति के समान ही विद्यालय में पढ़े हुए अच्छे बालकों को देखा। उनकी वेष-भूषा और बोलचाल लौकान्तिक देवों के समान लोगों को आनन्दित करने वाली थी ॥५०॥

इन विद्यार्थियों को देखकर भूरामल के चित्त में विचार उत्पन्न हुआ, कि ये किस नगर में पढ़ते हैं, जिससे इनमें ऐसी बुद्धि का वैभव उत्पन्न हुआ और मैंने इस प्रकार चिन्तन क्यों नहीं किया ॥५१॥

पढ़ने के इच्छुक ये विभिन्न देशों से आये और वाराणसी में रहने लगे। ये सभी अपने देश और धर्म के हित में लगे है, इस प्रकार प्रत्युत्तर को प्राप्त करके भूरामल खिन्न हुए ॥५२॥

विद्याप्तये या खलु भावनासीदुज्जीविता सा भवभावनाशी।
सुस्फीतकालेन यथातिशुष्का शैवालराजिर्जलसिञ्चितैका ॥५३॥

तावच्चिन्तितम्–अहो बुद्धिविनाशप्रवणा खलु धनतृष्णा। स्वभावत एव पिप्पलपत्रवच्चपलं वायुनेवेतस्ततश्चित्तं विक्षिप्यते यया। हिताहितकार्यमतिः पिशाचेनेव ग्रस्यते यया। मदिरापानमत्तमिव हृदयमभिभूयते यया। ग्रहगृहीतेनेवापशब्द्यते यया। दोषेव दोषाकरो निपत्यते विषयगर्ते विषयी यया। कुलटेव सम्मोहिनी महाकुलजानामप्याकर्ष्यते मनो यया। कुलाचलभेदिनी विषमजलधारेवान्तराऽन्तरा निपत्य स्नेहबन्धोऽपि विपाट्यते यया। मातुश्चरणे कृतसंकल्पोऽपि वञ्चितोऽहं यया। इन्द्रस्य वक्षःस्थले वसित्वा दशाननभुजपञ्जरे समालिङ्ग्य हरेर्हृदयमास्थिता या दुष्टेव पुरा दशतिस्म साऽद्याऽपि तथैव विप्रलभते। भुजंगिनीव वाममार्गमनुकरोति। पिशाचिनीव सर्वत्र प्रविशति। मेनिकेव तपस्विनामपि हृदयं विडम्बयति। त एव धन्या यैरुज्झिता मृत्तिकेव राज्यसम्पदा। त एव धन्या बालकुमारा यैर्नाराधितां मिथ्यादैवतेव चित्रलिखिताऽपि। त एव धन्याः कवयो यैर्न विक्रीता कविसम्पदा। त एव धन्या विद्वांसः यैर्न स्वीकृता

संसार के भावों का नाश करने वाली जो भावना भूरामल में ज्ञान प्राप्ति के लिए थी, वह पुनर्जीवित हो गई। जैसे बहुत समय से अत्यन्त सूखी हुई काई की पंक्ति एक मात्र जल सिंचन से पुनः हरी हो जाती है ॥५३॥

तभी भूरामल ने विचार किया–अहो! वास्तव में धन की तृष्णा बुद्धि का नाश करने में चतुर है। जिस तृष्णा के द्वारा हवा से हिलते हुए पीपल के पत्ते की तरह मन स्वभाव से ही इधर-उधर डोलता हुआ, विक्षिप्त रहता है। जो तृष्णा पिशाच की तरह हित-अहित की बुद्धि को ग्रस्त कर लेती है। मदिरा पान करके उन्मत्त हुए की तरह जिस तृष्णा से हृदय पीड़ित होता है। भूत से ग्रहण किये की तरह यह तृष्णा अपशब्द करती है। रात्रि के समान दोषों का भण्डार विषयी पुरुष विषयरूपी गड्ढे में जिसके द्वारा गिरा दिया जाता है। यह तृष्णा कुलटा स्त्री के समान सम्मोहन करती है, जो कि उत्कृष्ट कुल में जन्मे पुरुषों के मन को भी आकर्षित कर लेती है। कुलपर्वतों का भेदन करने वाली विषम जल की धारा के समान बीच-बीच में गिरकर स्नेह के बन्धन को भी यह तृष्णा उखाड़ देती है। माँ के चरणों में संकल्प करके भी मैं इस धन की तृष्णा से ठगा गया हूँ। इन्द्र के वक्षःस्थल पर रहकर, रावण प्रतिनारायण की भुजाओं का आलिंगन करके, नारायण के हृदय में जो दुष्ट तृष्णा ठहर गयी और इनको डंक मारती थी, वही तृष्णा आज भी उसी प्रकार ठग रही है। जो सर्पिणी के समान कुटिल मार्ग का अनुकरण करती है। पिशाचिनी के समान सब जगह प्रवेश कर जाती है। मेनिका के समान तपस्वियों के हृदय को भी विडम्बित करती है। वे ही धन्य हैं, जिन्होंने मिट्टी के समान राज्य सम्पदा को छोड़ दिया। वे ही बाल, कुमार धन्य है, जिन्होंने चित्र में बने हुए मिथ्या देवता की भी आराधना नहीं की है। वे ही कवि धन्य हैं जिन्होंने कवि सम्पदा को बेचा नहीं। वे विद्वान् ही धन्य

दासता अस्याः। त एव धन्या राजकुमारा यैः परित्यक्तेव दूरादेव परित्यक्ता। त एव धन्याः पुण्यवन्तो यैर्विषमाद सद्यः पीतोद्वमिताः। त एव धन्या गृहस्था यैर्नापन्ना वश्यतां खगा इव। त एव धन्या यदुपरि नाधिकारं कृतवती स्त्रीव। त एव धन्याः कुलीना ये नास्या महामायागर्ते निलीनाः।

इति त्रिदश इव जातस्मृतिः प्रबुध्य पितरमिव भ्रातरं बभासे स्वाभिमतम्। भ्रातः! अपार्थकमेव भाति जीवितं विद्याध्ययनादृतम्। द्रविणसञ्चयमोहादहं प्रमादीभूतः शास्त्रसंस्कारविषये। नाहं विधास्यामि भवन्तमतिरिक्तभारवन्तम्। तत्रापि मात्रानुसारि वित्तमर्जयित्वाऽत्मानं संस्करोमि। यतश्च–

(आर्या)

प्रथमे तु वयसि विद्या सुमहत्तपो मतं विद्याविद्भिः।
तत्र हि ये प्रमाद्यन्ति ते शोचन्ति जीवितान्तेऽपि ॥५४॥
विद्या चरित्रयुक्ता संगीता जिनपैः स्वपरोन्नतये।
विद्या चरित्रमुक्ता गन्धविमुक्तौदनैस्तुल्या ॥५५॥
विद्याऽर्थकरी येषां पापोपचयकारिणी सा तेषाम्।
बाह्ये मनोहारिणी तनुरिव मलधारिणी चान्तः ॥५६॥

हैं, जिन्होंने इस तृष्णा की दासता को स्वीकारा नहीं। वे राजकुमार ही धन्य हैं, जिन्होंने त्यक्ता स्त्री की तरह दूर से ही धन की तृष्णा को छोड़ दिया। वे पुण्यवान भी धन्य हैं, जिन्होंने तृष्णा विष को खाया और उन्हीं के द्वारा शीघ्र वह वमन कर दिया गया। वह गृहस्थ ही धन्य हैं जो कभी पक्षियों के समान इस तृष्णा के वशीभूत नहीं हुए। वही पुरुष धन्य हैं, जिनके ऊपर तृष्णा ने स्त्री के समान अपना अधिकार नहीं किया। वे ही धन्य हैं, कुलीन हैं, जो इस तृष्णा की महामाया रूप गड्ढे में नहीं गिरे हैं।

इस प्रकार इन्द्र के समान जिन्हें स्मरण आया है, ऐसे 'भूरामल' विवेक से जाग्रत होकर पिता के समान भाई को अपना अभिमत कहने लगे। भ्रात! विद्या-अध्ययन के बिना जीवन व्यर्थ लगता है। धन-संचय के मोह से मैं शास्त्रों के संस्कार के विषय में प्रमादी हो गया। अब मैं आप पर अतिरिक्त भार नहीं बनूँगा। वहाँ वाराणसी में भी मात्रा के अनुसार ही धन का अर्जन करके आत्म-संस्कार करूँगा। क्योंकि–

ज्ञानवानों के द्वारा प्रथम वय में विद्या ही महान् तप माना गया है। उस तप में जो प्रमाद करते हैं, वे जीवन के अन्त में निश्चित ही शोक करते हैं ॥५४॥

चरित्र से सहित विद्या जिनेन्द्र भगवान के द्वारा स्व-पर की उन्नति के लिए कही गई है और चरित्र रहित विद्या गन्ध रहित भात के समान है ॥५५॥

जिनकी विद्या अर्थकरी (धन के लिए) है, उनको वह पाप की वृद्धि कराती है। ऐसी विद्या शरीर की तरह बाहर दिखने में तो मनोहर लगती है और भीतर मल धारण करती है ॥५६॥

एकैव हि सद्विद्या धर्मकामवित्तत्रिवर्गाय।
हारं ग्रथ्नाथि यथा सूत्रमिव सुसाधनायालम् ॥५७॥
अद्यतने दत्ता या विद्या विद्यालयेषु बालानाम्।
आजीविकाग्रहेतुः स्वपरहिताऽनाथिनी माद्यति ॥५८॥

किं खलु दुष्करं व्यवसायिनामिति मत्वाऽग्रजानुमतिमादाय सः प्रस्थितो लोहपथगामिनीयानेन वाराणसीं प्रति। ददर्श स गत्वा तत्र दृश्यमानम् उच्चाट्टालिकाप्रासादैर्महाभूधारिणीव भासमाना, चित्रकर्बुरितभित्ति-चित्रितैश्चित्रकारापणशालेवानुशील्यमानाः, समुदारचरितपुरुषसमूहैः कल्पतरुरिव शोभमाना, पद्मनीलमणि-मुक्ताहाटकैरपरनदीस्वामिनीव संभाव्यमाना त्रयोविंशदेवदेवस्य जन्मस्थलीवाद्यापि मनोमोदमाना, जलधि-समालोडनवेलेव भीरपल्लिकापूरितदिगन्तराभिः प्रतीयामाना, देवायतनोच्छ्रायैर्जिनवरप्रणीतवृषातिशय-माख्यमाना, महाप्रवाहपूरितानेकान्तकल्लोलमालाभिरनादिप्रवाहमुत्कृष्टजिनतीर्थस्योदीर्यमाणा, यत्र नक्षत्रमाला कण्ठहारसंगतं श्यामाङ्गीनामास्यं रजनीव विराजमाना, कृष्णागरुधूम्रमण्डलसंगतगगनतलेन देवायतनेषु श्रावकाणमनवरताष्टकर्मदहनमिव संलक्ष्यमाणा, कुटिलमार्गाऽपि संलक्ष्या, भोगियुक्ताऽपि निश्छिद्रा,

---

एक समीचीन विद्या ही धर्म, काम, धन इन त्रिवर्ग के लिए है। जैसे सूत्र हार को गूँथता है, उसी तरह अन्य श्रेष्ठ साधनों से क्या? ॥५७॥

बालकों को जो विद्या आजकल विद्यालयों में दी जाती है, वह आजीविका का हेतु होती है, स्व-पर हित से रहित होती है और मद उत्पन्न करती है ॥५८॥

परिश्रमी लोगों को क्या दुष्कर है? इस प्रकार से सोचकर बड़े भाई की अनुमति ग्रहण कर, रेलगाड़ी से वाराणसी के लिए 'भूरामल' ने प्रस्थान किया। वहाँ वह जा करके देखते हैं- यह बनारस नगरी बहुत शोभायमान है। यह नगरी ऊँची-ऊँची अट्टालिका और महलों से किसी महान पर्वत के समान है। दीवालों पर बने विचित्र अनेक रंगों के चित्रों से किसी चित्रकार की दुकान के समान समझ आ रही है। जो अति उदार चरित्र वाले पुरुषों से कल्पवृक्ष के समान शोभित है। पद्मरागमणि, नीलमणि और मोती की दुकानों से किसी अन्य समुद्र की संभावना कर रही थी। तेईसवें तीर्थंकर की जन्म-स्थली पहले की तरह आज भी मन को आनन्द देने वाली है। जो समुद्री तट के उमड़ते हुए तट की तरह किसी भील की बस्ती की तरह आपूरित दिशाओं के द्वारा दिखने में आ रही है। जो जिनालयों की ऊँचाई से मानो वह जिनवर प्रणीत धर्म का ही अतिशय रूप से बखान कर रही है। जो महा-प्रवाह से भरे हुए अनेकान्तरूपी तरंगों के द्वारा उत्कृष्ट जिन-तीर्थ के अनादिकालीन प्रवाह को कह रही है। जहाँ कण्ठगत हार से युक्त स्त्रियों के मुख नक्षत्र समूह से युक्त रात्रि की तरह शोभित हो रहे हैं। काले-धुएं से युक्त गगन तल से वह नगरी ऐसी दिख रही थी, मानो जिनायतन में श्रावक निरन्तर आठकर्मों को जला रहे हों। वह नगरी अनेक कुटिल मार्ग से युक्त होते हुए भी

विलासिन्यपि नान्यकामुका, विचित्रभूरपि नान्यविभ्रमा, नानाचरित्राचरिताऽपि सदोपगम्या, भूरिभुजङ्गा-स्थानिकाऽपि अखण्डवृत्ता दोषोल्लसिताऽपि गुणाधिष्ठाना, पतिरहिताऽपि सौभाग्यवती, पुष्पवत्यपि स्पृश्या, अविरलदानार्द्रस्थलाऽपि सकलङ्का, क्वचित् पद्मपुराणकथेव विरागवती, क्वचित् सीतेव कुशलवयुता, क्वचिच्चन्द्र इव हरिणाश्रिता, क्वचित् कुट्टिनीव कुटिलपथा, क्वचिद् विवाहमण्डप इव नागरिकाकुला, क्वचिद् विदेहभूमिरिव जिनधर्ममात्रप्रचारा, क्वचिद् भवनवासिन इव शृङ्गारकुमाराकुला, क्वचिद्विद्याधरभूरिव तन्त्रमन्त्रप्रसाधिका, क्वचिज्जिनमूर्तिरिव प्रशान्तस्थला, क्वचिन्नन्दनवनमिव भोगसार्थश्रीः, क्वचिन्नदीतटभूमि-

---

अच्छी तरह देखने में आती है। इस विरोध का परिहार यह है, कि वह नगरी अनेक प्रकार के कुटिलमार्ग अर्थात् गूढ़ गलियों से सहित थी। वह नगरी अनेक सर्पों से युक्त होकर भी छिद्र रहित थी। जहाँ सर्प बहुत होते हैं, वहाँ बहुत से बिल होते हैं, इस विरोध का परिहार यह है कि वह नगरी भोगि अर्थात् भोगी व्यक्ति से सहित थी। वह नगरी विलासिनी (वेश्या) होते हुए भी अन्य पुरुष में कामुक नहीं थी। इस विरोध का परिहार यह है, कि वह विलासिनी अर्थात् वैभव सम्पन्न थी। वहाँ अनेक प्रकार के चित्रों वाली भूमि होते हुए भी, किसी अन्य को विभ्रम उत्पन्न नहीं करती थी। इस विरोध का परिहार यह है, कि वहाँ की भूमि विचित्र अर्थात् अनेक प्रकार की थी। वह नगरी अनेक प्रकार के चरित्र वाले (अर्थात् जिनका चरित्र स्थिर नहीं हो) लोगों से आचरित होने पर सदा सबके लिए स्वीकार्य थी। जिसका चरित्र स्थिर नहीं होता है, वह किसी के द्वारा स्वीकार्य नहीं होता है, इस विरोध का परिहार यह है, कि वह नानाचरित्र अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार के चारित्र वाले लोगों ने यहाँ आचरण किया है। बहुत प्रकार के भोगियों का स्थान होकर भी इसका चरित्र अखण्डित है, इस विरोध का परिहार यह है, कि वह नगरी अनेक भुजङ्ग अर्थात् सर्पों का स्थान थी। वह नगरी दोषों से भरी होकर भी गुणों का आधार थी, इस विरोध का परिहार यह है, कि वह (दोषा+उल्लसिता) रात्रि में और अधिक सुशोभित होती थी। वह पति रहित होकर भी सौभाग्यवती थी, इस विरोध का परिहार यह है कि वह पति अर्थात् राजा से रहित होकर भी भाग्य सम्पन्न थी। वह पुष्पवती (रजस्वला) होकर भी स्पर्श योग्य थी, इस विरोध का परिहार यह है, कि वह पुष्पवती अर्थात् फूलों से सहित थी। निरन्तर दानरूपी जल वाली स्थली होकर भी कलंक सहित थी। इस विरोध का परिहार यह है, कि निरन्तर मद को बहाने वाले हाथी से सहित स्थल होने से वह कलंक कीचड़ से सहित थी। वह नगरी कहीं तो पद्मपुराण की कथा के समान वैराग्य से सहित थी, कहीं वह सीता के समान कुश-लव अर्थात् थोड़े से कुश सहित थी। कहीं पर वह चन्द्रमा के समान हरिण से सहित अर्थात् वहाँ हिरण घूमते थे। कहीं वह वेश्या के समान कुटिलता के रास्तों अर्थात् गलियों से सहित थी। कहीं पर वह विवाहमण्डप के समान विशिष्ट जनों से अर्थात् नगर के लोगों से भरी रहती थी। कहीं पर वह विदेह भूमि के समान जिनधर्म के प्रचार मात्र वाली थी। कहीं पर वह भवनवासी देवों के समान शृंगार किये कुमारों से सहित थी। कहीं पर वह विद्याधर की भूमि के समान तन्त्र-मन्त्र की सिद्धि वाली थी। कहीं पर जिनमूर्ति के समान प्रशान्त स्थल वाली थी। कहीं पर वह

रिवानेकमतसेविता वाराणसी-नाम-नगरी भूरि शुशुभे।

यत्र चाभूत् समुद्भवो जिनयुग्मस्य। यत्र च विहिता तपोऽतिशयपूजा पूज्यजिनानाम्। यस्माच्चानतिदूरे श्रीश्रेयोजिनस्य गर्भसंभूतिनिष्क्रमणबोधिकल्याणातिशया सुनासीरप्रमुखैः सर्वातिशयत्वेन सिंहपुर्यामुद्योतिताश्च चन्द्रप्रभजिनस्य चन्द्रपुर्याम्। यत्र च बभूव युगादौ वृषभराजप्रदत्तराज्येणाऽकम्पनो नाम-राजा। यत्र च समायोजितः प्रथमं स्वयंवरः सुलोचनाया राजकन्यायाः। यत्र च समागतः केवलबोधिलब्धयः श्रीपार्श्वजिनो विहरमाणः। यत्र चोपशान्तिमितः स्वामिनोऽसातकर्मजनितमहाभस्मकव्याधिः पिनाकिमन्दिरे। यत्र चाद्याप्यस्ति गुदौलियाचतुष्पथे 'फटे महादेवः' इति नाम्ना ख्यातो भङ्गशिवपिण्डः शिवालये। यश्च पञ्चाशद्वर्षेभ्यः पूर्वं समन्तभद्रेश्वरमन्दिरत्वेनाख्यायते स्मेति ख्यातिः। यत्र च मातृभाषया विश्रुतकवि 'बनारसीदासो' नगरनाम्नैव नामसंस्कारमुपलेभे। यत्र च वैदिकानां शिवलिङ्गादित्यविनायकभैरवदुर्गानृसिंहकेशवालया गङ्गातीरेषु नानासम्प्रदायसम्भवाः समालोक्यन्ते। यत्र च दृश्यते विश्रम्भो विजृम्भमाणो ब्राह्मणानाम् यत्-''काश्यां हि मरणान्मुक्तिः।'' यत्र च ख्यातिः सूत्रकण्ठानाम् यत्-सप्तमहापुरीषु काशीप्रधाना त्र्यम्बकस्य त्रिशूलोपरि समवस्थात्। यत्र च रचितस्तुलसीदासेन रामायणोऽसिघाटतीरे परित्यक्तं च शरीरम्। यत्र च प्रवहति प्रेमप्रवाहो

नन्दन वन के समान भोगों के समूह वाली शोभा को धारण करती थी। कहीं पर नदी की तट भूमि के समान अनेक मतों से सहित तापसियों से युक्त थी, ऐसी वह वाराणसी नाम की नगरी अत्यधिक शोभती थी।

जहाँ पर दो जिनेन्द्र प्रभु (पार्श्वनाथ एवं सुपार्श्वनाथ) का जन्म हुआ था। जहाँ पर इन्हीं पूज्य जिनेन्द्रों के तप कल्याणक की पूजा की गई थी। जिसके बहुत पास में ही सिंहपुरी में श्री श्रेयांसनाथ भगवान तथा चन्द्रपुरी में श्री चन्द्रप्रभ भगवान का गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान कल्याणकों के अतिशय प्रमुख इन्द्रों के द्वारा बहुत अतिशय रूप से सम्पन्न हुए थे। युग की आदि में जहाँ अकम्पन नाम के राजा हुए थे, जिन्हें वृषभराजा ने यहाँ का राज्य प्रदान किया था। इसी नगरी में सबसे पहला स्वयंवर अकम्पन राजा की पुत्री सुलोचना का हुआ था। यहाँ पर केवलज्ञान लब्धि से सम्पन्न श्री पार्श्वनाथ भगवान विहार करते हुए आये थे। यहीं पर समन्तभद्रस्वामी की असाता कर्म के उदय से उत्पन्न हुई भस्मकव्याधि महादेव के मन्दिर में शान्त हुई थी। यहाँ आज भी गुदौलिया मार्ग में एक शिवालय में 'फटे महादेव' इस नाम से प्रसिद्ध खण्डित शिवपिण्ड रखा हुआ है। जो कि पचास वर्ष पहले समन्तभद्रेश्वर मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध था; ऐसी प्रसिद्धि हैं। यहाँ पर हिन्दी भाषा के प्रसिद्ध कवि 'बनारसीदास' का नाम संस्कार इसी नगरी के नाम से हुआ था। जहाँ पर वैदिक सम्प्रदाय के शिवलिङ्ग, सूर्य, विनायक, भैरव, दुर्गा, नृसिंह, केशव के मन्दिर अनेक सम्प्रदाय से उत्पन्न हुए गंगा नदी के तटों पर आज भी देखे जाते हैं। जहाँ ब्राह्मणों का बहुत बढ़ा हुआ विश्वास दिखाई देता है कि-'काशी में मरण होने से मुक्ति होती है।' जहाँ पर ब्राह्मणों की यह भी प्रसिद्धि है, कि सात महास्थानों में काशी प्रधान है, क्योंकि यहाँ त्रिशूल के ऊपर शिवजी बैठे हैं। यहीं पर तुलसीदास ने 'अस्सीघाट' पर रामायण की रचना की, और शरीर को छोड़ा। यहाँ पर गंगा और जमुना नदी का

जाह्नवीवरुणाभ्यां मिलितामिव सखीभ्याम्।

यत्र चास्ति जिनजन्मावसथे भदैनीघाटे श्री सुपार्श्वदेवाधिदेवस्यापूर्वचैत्यालयेन सह श्रीगणेशप्रसाद-वर्णिनानल्पप्रयासेन विनिर्मितानेकान्तज्योतिःसमुद्योतकप्रकाशकलालयः समस्तविषयपठनसामग्रीसहित-पुस्तकालयः स्याद्वादमहाविद्यालयः।

(वंशस्थ)

समागतः सोऽत्र समुत्कया धिया, सुतोरणद्वारि विलासिनि श्रिया।
यथा हि कः पञ्चमलब्धिशुद्धिकः, प्रसत्तिमाप्नोति दृशा प्रतीक्षितः॥५९॥
समुद्भवेद् बोधसमञ्जसी दशा, क्षणप्रभेदेन बिना यथा दशा।
प्रवेशमाप्तः स सुबोधसद्मनि, प्रयासमात्रेण कृतान्यजन्मनि ॥६०॥
ततः समासाद्य निजावलम्बिनीं, चरित्रवृत्तिं सुदृगानुरूपिणीम्।
करोति भव्यः स तनोः प्रसाधनं, तटेषु विक्रीय दिनेषु वाससम् ॥६१॥

कथमिति स्यान्निर्वाहः परप्रदेशे प्रत्येकवस्तुसमादानद्रविणसन्निवेशे प्रभूतधनेन विनेति विचिन्त्यैव वित्तं स्वानुजाय ज्येष्ठेन प्रेषितम्। मयि विषयैःमाऽगाः चिन्तामपि तु गृहविषये इति भूरामलेन संसूचितम्।

प्रेमप्रवाह दो सखियों के मिलन की तरह प्रवाहित होता है।

जहाँ श्री सुपार्श्वनाथ देवाधिदेव के जन्म स्थान 'भदैनी घाट' पर उन्हीं का अपूर्व चैत्यालय है। उसी के साथ स्याद्वाद महाविद्यालय है, जो कि गणेशप्रसाद वर्णी के महान् प्रयासों से निर्मित हुआ। उसमें अनेकान्त ज्योति को प्रकाशित करने वाले प्रकाश की अनेक किरणों की तरह सभी विषय पढ़ने की सामग्री सहित पुस्तकालय उपलब्ध है।

इस प्रकार भूरामल उत्कण्ठित बुद्धि से उस नगरी के तोरण द्वार पर आ गये, जो द्वार अपने वैभव से सुशोभित है। वह अपनी दृष्टि से प्रतीक्षा करते हुए इस तरह प्रसन्न थे, जैसे कि कोई पाँचवी करण लब्धि से विशुद्धि को प्राप्त जीव सम्यग्दर्शन से प्रतीक्षित हुआ प्रसन्नता को प्राप्त होता है ॥५९॥

जैसे सम्यग्दर्शन के साथ उसी क्षण सम्यग्ज्ञान की दशा उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार वह उस विद्यालय में प्रवेश थोड़े से प्रयास से प्राप्त कर लिये। मानो अन्य जन्म में इसके लिए वह प्रयास कर चुके हों ॥६०॥

गङ्गा नदी के तट पर कपड़े बेचकर वह श्रावक सम्यग्दर्शन के अनुरूप स्वावलम्बन वाली प्रवृत्ति को प्राप्त करके अपने शरीर के लिए आवश्यक साधन सामग्री प्राप्त कर लेते थे ॥६१॥

जहाँ प्रत्येक वस्तु को लेने के लिए बहुत धन लगता है, ऐसे परदेश में भाई का निर्वाह कैसे होगा? यह सोचकर ही बड़े भाई ने छोटे भ्राता भूरामल के लिए धन भेजा। भूरामल ने बड़े भाई को सूचना दी, कि आप मेरे विषय में चिन्ता न करें, अपितु घर के बारे में सोचें। भूरामल का लक्ष्य मात्र

न्यायार्जितयाऽजीविकया विद्याग्रहणमात्रलक्ष्यः सोऽहरहो हि करवस्त्रग्रन्थिविक्रीणनतया जिनदर्शनार्चनादि-विधिना स्वगुरुजनान् प्रति प्रतिबद्धविनयोऽधीतवानशेषशास्त्राणि न्यायव्याकरणच्छन्दोनीतिधर्मशास्त्रसाहित्य-प्रतिपादनपराणि।

(उपजाति)

स चिन्तयन्नाह कदा स्वकीये, मतौ कथं पाठितमस्मदीये।
जिनप्रणीतं श्रमणैः स्वधीतं, विद्यालये नो भवभारवीतम् ॥६२॥
स भाषयामास तदातिनम्रस्तथा नियुक्ताय च देहभद्रः।
अध्यापकायार्पितवैदिकाय, प्रसीदयेत्मां जिनगां प्रदाय ॥६३॥
दृष्ट्वाग्रहं तस्य जिनैकशास्त्रे, सनाथकोपोऽखिलवेदशास्त्रे।
ग्रन्थाः कियन्तः किल तावकस्य, प्रसिद्धिमन्तो न्यगदीन् मतस्य ॥६४॥
नच्छन्दशास्त्रं न च काव्यशास्त्रं, न न्यायशास्त्रं न च शब्दशास्त्रम्।
एकाधिपत्यं पृथुकालतस्तु, सद्ब्राह्मणानामिह वैदिकानाम् ॥६५॥

श्रुतिपथगोचरीभूतानि यदैतत्परुषवचनानि मृदुहृदयाबद्धशरविषाणि यद्यपि विषसाद तथापि न किञ्चिदपि प्रत्युत्तरमुपाददौ ''गुरोरविनीतता किलाविनेयतेति'' मत्वा च ''कःस्यात् क्लीबो यः सहेतावधीरतां मातुः''

विद्या ग्रहण करने का था। वह प्रतिदिन गमछों की एक गड्डी बेचकर न्याय पूर्वक अपनी आजीविका के द्वारा और जिनेन्द्र प्रभु के दर्शन-पूजन आदि विधि से अपने गुरुजनों के प्रति विनय से युक्त हो न्याय, व्याकरण, छन्दशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र और साहित्य का प्रतिपादन करने वाले समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर लिए।

कभी उन्होंने अपनी बुद्धि में विचार किया और अपने मन से कहा कि इस विद्यालय में जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे हुए श्रमणों के द्वारा अच्छी तरह अध्ययन किये गये और संसार के भार को दूर करने वाले शास्त्र क्यों नहीं पढ़ाये जाते हैं ॥६२॥

तब देह से भद्र प्रकृति, अति विनयवान भूरामल ने उस विद्यालय में नियुक्त वैदिक ब्राह्मण अध्यापक से कहा कि आप हमें जिनवाणी को पढ़ाकर प्रसन्न करें ॥६३॥

अन्य समस्त (लौकिक) ज्ञान के लिए शास्त्र के समान जिनेन्द्र देव के ही शास्त्रों में ही आग्रह को देखकर अध्यापक ने क्रोध के साथ कहा कि तुम्हारे मत (जैनदर्शन) में कितने से ग्रन्थ हैं और उनमें भी कितने प्रसिद्धि प्राप्त हैं? ॥६४॥

तुम्हारे यहाँ न छन्दशास्त्र हैं, न काव्य शास्त्र हैं, न न्याय शास्त्र हैं और न शब्द शास्त्र (व्याकरण ग्रन्थ) हैं। दीर्घकाल से वैदिक श्रेष्ठ ब्राह्मणों का ही यहाँ इन विषयों में एकाधिकार चला आ रहा है ॥६५॥

जब भूरामल ने इन कठोर वचनों को सुना, जो कि उनके कोमल हृदय में विष-बाण के समान लगे। यद्यपि इन वचनों से उन्हें खेद उत्पन्न हुआ फिर भी ''गुरु की अविनय करना निश्चित ही शिष्यता

इति चावधार्य सः जैनशास्त्राणां माहात्म्यं प्रकटयिष्यामि पाठ्यक्रमविषये च तानि योजयिष्यामि च स्फीतितामान-यिष्यामीति तत्क्षण एव श्रुतभक्तिपरायणः संकल्पितवानभूत् तेजस्वी।

स्याद्वादमहाविद्यालये पण्डितवंशीधरगोविन्दरायतुलसीरामादयः समासन् भूरामलस्य सतीर्थ्याः।

(उपजाति)

ते वा तथान्ये समुपाधये हि नानापरीक्षोत्तरणे निलग्नाः।
सम्प्रेरयामासुरिति प्रवेकाः त्वयाऽपि कार्या विविधा परीक्षा ॥६६॥
उपाधिभारान्वितबुद्धिजीवा महाभिमानार्थपरा भवन्ति।
विद्या पवित्रा हृदि संगताया सोपासनापद्धतितो विधेया ॥६७॥
उद्देश्यमूलानि हि निर्दिशन्ति वाक्यानि सिद्धान्तमते प्रणीतिः।
तथैव सोद्देशिकवृत्तियुक्त्या चरामि भो नात्र यथेच्छवृत्त्या ॥६८॥
समाप्य शास्त्रं प्रथमं गृहीतं प्रपूर्णरीत्या समवाप्य सारम्।
अन्यं ग्रहिष्यामि ततश्च पश्चादेकस्य साध्ये सकलस्य सिद्धिः ॥६९॥

(वसन्ततिलका)

इत्थं विचारसरणिः स्वयमेव जाता वैचारिकीपरिणतिः पुरुषे विधाता।
अर्को व्युदेति सुमहानपि तद्वदेव प्रोक्तिं विना चरति वै करणीयकार्ये ॥७०॥

नहीं है'' ऐसा सोचकर उन्हें कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दिया। साथ ही ''ऐसा कौन कातर होगा, जो माँ के तिरस्कार को सहन कर ले'' इस प्रकार सोचकर श्रुतभक्ति में परायण तेजस्वी भूरामल ने उसी क्षण संकल्प लिया, कि मैं जैन शास्त्रों के माहात्म्य को प्रकट करूँगा। मैं जैन शास्त्रों के पाठ्यक्रम के विषय में लगाऊँगा और मैं जैन शास्त्रों का विस्तार करूँगा।

स्याद्वाद महाविद्यालय में पण्डित वंशीधर, पण्डित गोविन्दराय, तुलसीराम आदि भूरामल के सहपाठी थे।

ये तथा अन्य भी लोग उस समय उपाधि प्राप्त करने के लिए अनेक परीक्षाओं को उत्तीर्ण करने में लगे थे। उन श्रेष्ठ लोगों ने भूरामल को भी प्रेरित किया कि तुम्हें अनेक परीक्षाएं देनी चाहिए ॥६६॥

उपाधि के भार से सहित बुद्धिमान् लोग महान् अभिमान और धन में तत्पर रहते हैं। वही विद्या पवित्र है, जो हृदयग्राही होती है और उसकी प्राप्ति उपासना पद्धति से की जाती है ॥६७॥

अरे! जिनेन्द्र भगवान के सिद्धान्त में यह कहा है, कि ''वचन उद्देश्य-मूलक होते हैं'' इसलिए उद्‌देश्य के और युक्ति के साथ मैं यहाँ अपनी इच्छा अनुसार चलूँगा अर्थात् अपनी इच्छा के अनुरूप शास्त्र अध्ययन करूँगा ॥६८॥

पहले जो शास्त्र पढ़ना शुरू किया है, उसके सार को पूर्ण रूप से प्राप्त करके ही उसके बाद अन्य शास्त्र को ग्रहण करूँगा, क्योंकि एक को साध लेने पर सभी की सिद्धि हो जाती है ॥६९॥

इस प्रकार के विचारों की परम्परा भूरामल के मन में स्वयं उत्पन्न हुई। आत्मा में यह वैचारिकी

शास्त्रीपरीक्षणफलप्रविदानशक्त-मध्यापनं तु लघुना समयेन साकम्।
पूर्णं व्यधायि खलु तेन सुपण्डितेन सोऽलङ्कृतश्च विदुषा समुपाधिनाऽपि ॥७१॥

कश्चित् छात्रः प्रतिदिवसमुपविंशतिश्लोकान् कण्ठीकरोतिस्म प्रत्युत भूरामलः सप्ताष्टश्लोकान्। तथापि प्रतिभाशालिना परेण सहेर्ष्या न कदापि कार्या इत्यनुचिन्त्य स स्वलक्ष्ये हि प्रतिबद्धचित्तोऽभवत्। प्रत्येकविषये ज्ञानस्य क्षयोपशमदशा भिन्नतया वर्तते। एतस्मात् कारणात् स परीक्षासमये गद्यविषयान् पद्यशैल्यां व्यरचयत्।

एवं काशीविश्वविद्यालयेन समापादितशास्त्रीयोपाधिः स्वविचारपथ संगतानां सतीर्थ्याणां सहयोगेन काशीविश्वविद्यालये च कलकत्तापरीक्षालये पाठ्यक्रमे संनियुक्तवान् तावत्प्रकाशितजैनग्रन्थान्।

स्वयमपि स सदा पपाठ जिनप्रणीतानि शास्त्राणि यद्यपि सहजेन नाध्यापकास्तानि पाठयन्ति स्म। कश्चित्किलानन्य सहयोगी देशककार्यनियोगी सुकृतनियोगेनाध्यापयति स्म सुकृतिनं पण्डितोमरावसिंह-नामप्रयोगी। कदाचित् स भूरामलस्य धनार्जनार्थं व्यर्थीकृतकालकणिकाधनस्य विषये संविचार्य समुवाच- भो! युष्मत्सदृशस्य विचक्षणशालिनः किमर्थमर्थार्थायासः खलु यद्विद्यतेऽत्र छात्रवृत्तिसुविधासुवासः। भूरामलः स्वगतं विचार्य समब्रवीत्–भवतां मयि कृपाभावना चेतसि संस्पृष्टा तथापि धनार्जननेन स्वार्थं कृतव्ययेन यदवशिष्टं स्यात्तदहं मातुःकृते प्रेषयामीति कार्यद्वयं साधयामि। एवं समाकर्ण्य स्वमनसि तस्य स्वावलम्बिनीं

परिणति ही उसका विधाता है। जैसे सूर्य किसी के कहे बिना स्वयं उदय को प्राप्त होता है, उसी प्रकार महान् व्यक्ति भी किसी के कहे बिना करने योग्य कार्य में लग जाते हैं ॥७०॥

बहुत कम समय में ही शास्त्री परीक्षा का फल देने वाला अध्यापन कार्य भूरामल पण्डित ने पूर्ण कर लिया और वह शास्त्री (विद्वान्) की उपाधि से अलंकृत हो गये ॥७१॥

उस समय कोई छात्र प्रतिदिन लगभग बीस श्लोक याद कर लेता था और भूरामल सात-आठ श्लोक ही याद करते थे, फिर भी ''प्रतिभाशाली को दूसरे से ईर्ष्या कदापि नहीं करना चाहिए'' इस प्रकार सोचकर वह अपने लक्ष्य में चित्त को लगाये रखे। प्रत्येक विषय में ज्ञान की क्षयोपशमदशा भिन्न रूप से रहती है। इसी कारण से वह परीक्षा के समय गद्य विषय को पद्य शैली में लिख देते थे।

इस प्रकार भूरामल को काशीविश्वविद्यालय से शास्त्री की उपाधि प्राप्त हुई। अपने अनुरूप विचार वाले सहपाठियों के सहयोग से उस समय जो जैन-ग्रन्थ प्रकाशित थे, उन्हें पं० भूरामल ने काशी विश्वविद्यालय में तथा कलकत्ता से होने वाली परीक्षा के पाठ्यक्रम में जोड़ दिया।

यद्यपि अध्यापक उस समय सहज रूप से जिनेन्द्रदेव प्रणीत शास्त्रों को नहीं पढ़ाते थे, फिर भी वह सदा जिनप्रणीत शास्त्र ही पढ़ते थे। पं० उमरावसिंहजी भूरामल के अनन्य सहयोगी थे। वह अध्यापक पद पर नियुक्त थे और अपने पुण्य के नियोग से पुण्यशाली विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। भूरामल धनार्जन के लिए व्यर्थ में अपने समयरूपी धन को गँवाते है, ऐसा विचार करके कभी उन्होंने भूरामल को कहा-भो! आप जैसे बुद्धिमान् पुरुष को धन के लिए, किसलिए कष्ट उठाना जबकि

वृत्तिं मातृभक्तिञ्च संशितवान् गुरुः। यदाऽङ्गीकृतमुमरावसिंहेन सप्तमप्रतिमाव्रतं तदा ब्र० ज्ञानानन्दनाम्ना सामाजिकैरुदीरितम्। स्व शिक्षागुरोः पवित्रनाम न खलु कदापि विसस्मार भूरामलः कृतज्ञतागुणेन विमलः एवं प्रायशोः दशवर्षपर्यन्तं पण्डितानां पुरीविषये स्वविषयमुपलभ्य तस्मात् प्रस्थितः।

(उपजाति)

गृहीतविद्या भुवि भूषणः स संस्कारयुक्तो गतदूषणश्च।
सन्तप्तहेमद्युतिधूसराङ्गो लब्ध्वेष्टभूतिंमुमुदेऽभिरामः ॥७२॥
विद्यार्जनस्य प्रणपूर्तिपूर्णो बाणाभिघानप्रतिमः प्रतीर्णः।
निःशेषशास्त्रार्णवभावभङ्गात् प्रत्यागतायाशु खवन्निसङ्गः ॥७३॥
प्रत्युद्यतोऽभूत् स्मृतमातृप्रेमा परार्थमेवास्य कवेः प्रकाशः।
रवेरिवांशुप्रसरः प्रथिव्या, मध्यात्मनीदं विदधाति साम्यम् ॥७४॥
अधीत-साहित्य-नयप्रमाण शब्दानुशास्त्रापरकाव्यसारम्।
दृष्ट्वा गुणैर्देहविभूतिजुष्टं साम्राज्यमापन् नवयौवनश्रीः ॥७५॥

विद्यालय में छात्रवृत्ति की सुविधा है। भूरामल ने अपने मन में विचार करके कहा–आपकी मुझमें जो कृपाभावना है, वह मेरे मन को छूती है, फिर भी धन अर्जन से अपने लिए व्यय करने के बाद जो बचता है, वह मैं माँ के लिए भेज देता हूँ। इस प्रकार दोनों कार्य सध जाते हैं। यह सुनकर भूरामल की स्वावलम्बन की वृत्ति की और मातृ-भक्ति की गुरु उमराव जी ने अपने मन में प्रशंसा की। जब उमरावसिंह ने सात प्रतिमा के व्रत अंगीकार किये, तब समाज के लोगों ने उनको ब्र० ज्ञानानन्द के नाम से बुलाया। कृतज्ञता गुण से निर्मल मन वाले भूरामल ने कभी भी अपने शिक्षागुरु का पवित्र नाम नहीं भुलाया। इस प्रकार लगभग दश वर्ष तक पण्डितों की नगरी वाराणसी में अपने लक्ष्य को प्राप्त करके पं० भूरामल जी ने वहाँ से प्रस्थान किया।

तपे हुए स्वर्ण की कान्ति के समान पीत वर्ण देह, मनोहर, विद्या के ग्रहण से पृथ्वी के आभूषण तथा संस्कार युक्त होने से दोषरहित 'भूरामल' अपने इष्ट वैभव (ज्ञान) को प्राप्त करके आनन्दित थे ॥७२॥

बाण कवि के समान जिनका विद्यार्जन करने का प्रण पूर्ण हो गया है, सम्पूर्ण शास्त्र समुद्र की भाव रूपी लहरों से पार गये वह पं० भूरामल आकाश के समान निर्लेप हो, माँ के प्रेम की स्मृति आने से घर वापस आने के लिए उद्यत हुए। सूर्य की किरणों के समान इस कवि का प्रकाश धरती पर दूसरों के लिए था और अध्यात्म (अपने) में साम्य को धारण करते थे ॥७३-७४॥

साहित्य, नय, प्रमाण, शब्दानुशास्त्र और अन्य काव्य सार को पढ़े हुए तथा गुणों से देह वैभव की सहितता को देखकर नवयौवन रूपी लक्ष्मी ने उन पर साम्राज्य प्राप्त कर लिया था ॥७५॥

बुद्धिश्रिया देहकृताधिकारो ललाटलेखामिषतो रराज।
युवश्रिया रोमसमूहराजिच्छलेन मन्ये तु कृतप्रवेशः ॥७६॥
सरस्वती मङ्गलकार्यभाविनी बभूव तस्य प्रगुणाभिलाषिणी।
अधोऽधरस्याङ्ककृतप्रवासिनी गता न कण्ठेऽप्यविलम्बयायिनी ॥७७॥
यतो गृहीतो वरलक्षणाभिर्न तं ववार रतिभाविताऽपि।
लक्ष्मीरतो दूरत एव लोचनैर्नितम्बिनीनां सहजेर्ष्यभावतः ॥७८॥

इति निकसकषितसितकलधौतविहास इव प्रकटिभ्रातृमातृप्रेमसमुल्लासः पतिवियोगेन पुत्रविरहेण च वियोगिनीमकालजरासन्दर्शिनीं निजजननीमवलोक्याश्रुपूरितलोचनजलैः प्राक्षालयच्चरणवेदिकाम्। सघनघन-घटाटोपमालक्षिता मयूरीव हर्षातिरेकैर्नैत्रकमलविकस्वरैश्चिरं स्वतनयं प्रेक्षितवती। प्रवृद्धवयसमनुज-भ्रातारमभिवीक्ष्यासहजतया प्रतिज्ञातुं शशाक सः। कतिपयैः किलाहोभिर्ज्येष्ठोऽपि परप्रदेशव्यापारमुक्तमनाः स्वबन्धुजनैः साकं कृषिव्यापारादिकार्यसम्पादनेनावतिष्ठत। अद्याभवत् समागमो गृहे सुखशान्तिहर्षस्येति

ललाट पर खिंची रेखाओं के छल से बुद्धिरूपी लक्ष्मी ने उनकी देह पर अपना अधिकार करके शोभा प्राप्त की थी। रोम समूह की पंक्ति के छल से मानो यौवनरूपी लक्ष्मी ने उनके शरीर में प्रवेश कर लिया था ॥७६॥

मंगल कार्य करने वाली सरस्वती पं० भूरामल के प्रकृष्ट गुणों की अभिलाषिणी हो गयी थी। उस सरस्वती ने उनके ओठ के नीचे तिल का निशान बनाकर अपना स्थान बना लिया था और वह सरस्वती शीघ्रगामी होने पर भी उनके कण्ठ में नहीं गयी थी अर्थात् वह देवी उनके ओठों पर सदा विराजमान रहती थी ॥७७॥

चूँकि सरस्वती ने अपने श्रेष्ठ लक्षणों से पं० भूरामल को ग्रहण कर लिया था। लक्ष्मी उनमें रति भाव को धारण करती थी, फिर भी उसने उनका वरण नहीं किया था। वह लक्ष्मी उन्हें अपनी आँखों से दूर से ही देखती थी, क्योंकि स्त्रियों में ईर्ष्या का भाव सहज ही होता है ॥७८॥

पति के वियोग और पुत्र के विरह से अपनी वियोगिनी माँ को जो कि असमय में ही बुढ़ापे से ग्रसित हुई दिख रही थी ऐसी माँ की चरण-वेदिका को अश्रुपूरित नेत्रों के जल से भूरामल ने प्रक्षालित किया था। उस समय पं० भूरामल जी कसौटी पर कसे हुए सफेद स्वर्ण की आभा के समान भाई और माँ के प्रति प्रेम का उल्लास प्रकट किये थे। सघन मेघों की घटाओं को देखती हुई, मयूरी के समान माँ हर्ष के अतिरेक से खिले हुए नयन कमलों से, बहुत देर तक अपने पुत्र को देखती रही। अपने छोटे भाइयों की बड़ी उम्र देखकर भूरामल उन्हें सहजता से नहीं पहचान सके। कुछ ही दिनों बाद बड़ा भाई भी दूसरे राज्य में व्यापार करने से मन हटा लिए और अपने बन्धु जनों के साथ कृषि व्यापार आदि कार्य करते हुए रहने लगे। बहुत वर्षों बाद अब घर में सुख शान्ति और हर्ष का समागम

चानुभावितं मात्रा बहुभ्यो वर्षेभ्योऽनन्तरम्। यथा स्वचेतसि सिञ्चितजिनदर्शनज्ञानशीकरैरलौकिकानन्दस्या-नुभूतिः सञ्जाता तथा हि समभिलषितवानन्येष्वपि कारुण्यहृदयः। चिन्तितञ्च-

(अनुष्टुप्)

धनं ज्ञानं जलं साधुः प्रवाहेनैव शुध्यति।
अन्यथाकष्टकारी स्यादनीहारस्य भुक्तिवत् ॥७९॥
व्यामोहरोगरुग्णस्य भैषज्यमिव सेव्यताम्।
धनं लक्ष्यं तु येषाञ्चित्तेऽनादिरोगवर्धकाः ॥८०॥
न मे कामो न मे वाच्छा विषयेषु धनेषु च।
वाञ्छामि शाश्वतं सौख्यं धिक् क्षणभङ्गुरं सुखम् ॥८१॥
अधमाः काममिच्छन्ति धनमिच्छन्ति मध्यमाः।
उत्तमा ज्ञानमिच्छन्ति ज्ञानं हि महतां धनम् ॥८२॥
बालानामाद्यशाला तु जननी कथ्यते बुधैः।
परा संस्कारभूमिश्च पाठशाला हितङ्करी ॥८३॥
इति संभाव्य संरेभे पाठशालासु पाठनम्।
एवं दृष्ट्वा जनैश्चान्यैः शिक्षणार्थं निवेदितम् ॥८४॥

हुआ है, ऐसा माँ ने अनुभव किया। जैसे जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन और जिनवाणी के ज्ञान के जल कणों से सिंचन के द्वारा अपने चित्त में अलौकिक आनन्द की अनुभूति उत्पन्न हुई है, उसी प्रकार करुण हृदय व्यक्ति दूसरों में ऐसा ही आनन्द हो ऐसी इच्छा करता है। इसलिए पं० भूरामल ने विचार किया-

धन, ज्ञान, जल और साधु प्रवाह से ही शुद्ध होते हैं, अन्यथा धन आदि नीहार रहित भोजन की तरह कष्टकारी होते हैं ॥७९॥

व्यामोह रूपी रोग से जो रुग्ण हैं, उन्हें धन का सेवन औषधि की तरह करना चाहिए। जिनका लक्ष्य मात्र धनार्जन होता है, वे उस अनादिकालीन रोग को बढ़ाने वाले हैं ॥८०॥

न मुझे विषयों में अभिलाषा है और न मुझे धन में वाञ्छा है। अब मैं शाश्वत सुख की इच्छा करता हूँ। इन क्षणभंगुर सुखों को धिक्कार है ॥८१॥

अधम (नीच) पुरुष कामवासना की इच्छा करते हैं, मध्यम पुरुष धन की इच्छा करते हैं और श्रेष्ठ पुरुष ज्ञान की इच्छा करते हैं। वास्तव में ज्ञान ही महान् व्यक्तियों का धन होता है ॥८२॥

विद्वानों ने बालक की पहली शिक्षा-शाला माँ को कहा है, बाद में उत्कृष्ट संस्कार की भूमिका हित करने वाली पाठशाला है ॥८३॥

इस प्रकार विचार करके पं० भूरामल ने पाठशालाओं में पढ़ाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार देखकर अन्य लोगों ने भी उनसे शिक्षण प्रदान करने के लिए निवेदन किया ॥८४॥

इति ग्रामाद् ग्रामान्तरेऽपि समजनि शिक्षायाः प्रभावः। अहो बुद्धिमानतीवास्ति भूरामलः, अहो सर्वजनहिताय प्रवर्तते निःस्वार्थतया, अहो युवाऽपि निर्मदः, अहो बुद्धिमानपि विनयी, अहो! बलिष्ठोऽपि परापीडः, अहो रूपवानपि निष्कामी इत्यादिना चर्चितः।

ग्रामेऽपि निकटस्थे रैवासानामके भूरामलस्य सम्प्रेरणया दिगम्बरजैनछाबडासंस्कृत-महाविद्यालयस्य स्थापना विहिता। तथैव तेन दाँताग्रामेऽपि शिक्षणविधिना छात्राणामुपकारः कृतः। अवशिष्टसमये लेखनकार्यं जिनवाणी संवर्धनञ्च क्रियते स्म।

इति मुनिप्रणम्यसागरविरचिते अनासक्तमहायोगिनाममहाकाव्ये आचार्य विद्यासागरचरितव्यावर्णने गुरुजीवनदर्शनसंज्ञकः षष्ठः सर्गः समाप्तः।

इस प्रकार एक गाँव से दूसरे गाँव में भी शिक्षा का प्रभाव बढ़ने लगा। सर्वत्र चर्चा होने लगी कि अहो! भूरामल बहुत बुद्धिमान् हैं, अहो! भूरामल निःस्वार्थ रूप से सब लोगों के हित में प्रवृत्ति करते हैं। अहो! युवा होते हुए भी वह घमण्ड रहित हैं। अहो! बुद्धिमान् होकर भी विनयवान हैं। अहो! बलिष्ठ होकर भी दूसरे को पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं। अहो! रूपवान होकर भी काम वासना से रहित हैं।

समीपवर्ती रैवासा नाम के गाँव में पं० भूरामल की प्रेरणा से ''दिगम्बर जैन छाबड़ा संस्कृत महाविद्यालय'' की स्थापना हुई। इसी प्रकार दाँता गाँव में भी शिक्षण विधि से छात्रों का उपकार किया और बचे हुए समय में लेखन कार्य को करके जिनवाणी का संवर्धन करते थे।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला गुरुजीवनदर्शन संज्ञक छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।
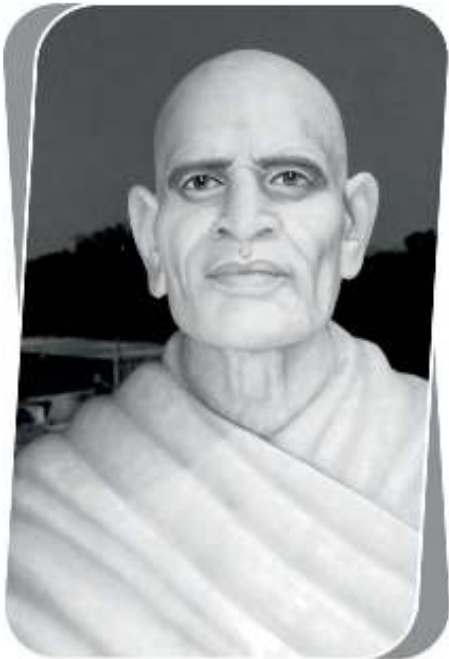
ब्र० भूरामल जी शास्त्री का स्मारक

सप्तमः सर्गः

गुरुगरिमाख्यानम्

अथ ग्रामान्तराद् ग्रामाद्वा सम्बन्धिजनैः सम्प्रेषितो विवाहप्रस्तावः। तेनैकदा सा चोक्तवती– किमु वर्तते युष्मन्मनसि विषये चैतस्मिन्। प्रकृत्या सह पुरुषस्य सम्बन्धस्तु नैसर्गिकः। अनन्तकामनानिरोधनाय गजस्यालानवदियं प्रामाणिकी व्यवस्था समाजस्य। नितान्तविश्रान्तपुरुषस्यापरेव प्रकृतिर्विश्रामस्थलीयम्। किमसि वाचंयमस्त्वम्। भवदुद्वाहेन विनाऽनुजानामपि विलम्बः तुभ्यं यया सह रोचते सम्बन्धस्तन्निसंकोचतया वक्तव्यः। ज्येष्ठस्तु नैतद्विषये करोति लज्जया वार्ताम्। मामेव सर्वे पृच्छन्ति तेन किमुत्तरं तेषां प्रदद्यादित्याकर्ण्याह भूरामलः–

(अनुष्टुप्)

स्वभावः प्रकृतिः शीलं समानार्थे हि गम्यताम्
प्रकृतिरात्मनो ज्ञानं ज्ञानं रागविरोधकम् ॥१॥
रागज्वलनपिण्डीव वनिता भासते मम।
यस्यां निपत्यमानो हि ज्ञानशीलं च भस्मयेत् ॥२॥
कामात् कामस्य वृद्धित्वं प्रकामं जायते नृणाम्।
दृश्यन्ते नात्र कुत्रापि स्वेन्धनैर्वह्नितर्पणम् ॥३॥

अब गाँव–गाँव से सम्बन्धिजनों के द्वारा पं० भूरामल के विवाह का प्रस्ताव आने लगा। जिस कारण एक बार माँ ने भूरामल से कहा–तुम्हारे मन में इस विषय में क्या है? प्रकृति के साथ पुरुष का सम्बन्ध नैसर्गिक है। अनन्त इच्छाओं को रोकने के लिए समाज की यह व्यवस्था हाथी को खूँटे पर बांधने की तरह प्रामाणिक है। बहुत थके हुए पुरुष की यह विश्राम स्थली मानो दूसरी ही प्रकृति है। तुम मौन क्यों हो? आपके विवाह के बिना छोटे भाइयों को भी विलम्ब होगा। तुम्हें जिसके साथ भी सम्बन्ध की इच्छा हो, निःसंकोच होकर कहो। बड़ा भाई तो लज्जा के कारण इस विषय में कोई बात नहीं करेगा। मुझे ही सभी लोग पूछते हैं, जिससे उन्हें क्या उत्तर दूँ? यह सुनकर भूरामल ने कहा–

प्रकृति, स्वभाव और शील ये सभी शब्द समान अर्थ में रहते हैं। आत्मा की प्रकृति अर्थात् स्वभाव तो ज्ञान है और ज्ञान राग का विरोधी है ॥१॥

मुझे तो यह स्त्री राग अग्नि के पिण्ड की तरह दिखाई देती है, जिस अग्नि में गिर जाने वाले पुरुष के ज्ञान और शील भस्म हो जाते हैं ॥२॥

मनुष्यों की काम से काम की वृद्धि खूब होती है। कहीं भी ऐसा नहीं देखा जाता है, कि खूब ईंधन से अग्नि को सन्तुष्टि हो जाती हो ॥३॥

प्रशान्तभङ्गगम्भीरे ह्यनेकान्ते महार्णवे।
मज्जनाज्जायते जन्तो-र्जातिमृत्युदवात् शमः ॥४॥
भुक्त्वा भोगांश्चिरं नापि मया शान्तिरुपागता।
साम्प्रतं तुच्छभोगेन स्वल्पायुषि किमु भवेत् ॥५॥
पुरा दीर्घायुपर्यन्तं चक्रिभिरर्द्धचक्रिभिः।
यथेच्छं सेविता भोगा न तृप्तिं समयासिषुः ॥६॥
सरस्वतीमहं सेवेऽस्मिन् भवे भावना तराम्।
तस्यामेव मनःसक्ति-र्व्यामोहं हन्ति मानसम् ॥७॥
वीरभगवतस्तीर्थमकालुष्यञ्च शुद्धिदम्।
वरिष्ठमन्यतीर्थेषु स्नामि वै श्रद्दधाम्यहम् ॥८॥
सुदुर्लभमिदं तीर्थं जानन्ति नो जगज्जनाः।
जानन्तोऽपि न सेवन्ते केचिच्च मुग्धमानसाः ॥९॥
धर्मो न धार्यते यावत् तावन्न प्रत्ययो भवेत्।
निषधे प्रोदयत्यर्के तिमिरं विलयं व्रजेत् ॥१०॥

शान्त लहरों से जो गम्भीर हैं, ऐसे अनेकान्तरूपी महासागर में डुबकी लगाने से ही इस प्राणी को जन्म और मृत्यु के दावानल से शान्ति मिल सकती है ॥४॥

चिरकाल तक भोगों को भोगकर भी मुझे शान्ति प्राप्त नहीं हुई। अब वर्तमान में तुच्छ भोगों से इस अल्प आयु में क्या शान्ति हो सकती है ॥५॥

पहले दीर्घकाल तक चक्रवर्ती और नारायणों के द्वारा इच्छानुसार भोगों का सेवन किया गया है, किन्तु वे भी तृप्ति को प्राप्त नहीं हुए हैं ॥६॥

इस भव में मैं सरस्वती की अच्छी तरह सेवा करूँगा, ऐसी मेरी भावना है। उसी में मन की आसक्ति मानसिक मोह का नाश करती है ॥७॥

भगवान् महावीर का यह तीर्थ कलुषता रहित और शुद्धि को देने वाला है, अन्य तीर्थों में वरिष्ठ है। इसलिए मैं इसी में स्नान करूँगा और इसी का श्रद्धान करूँगा ॥८॥

यह तीर्थ इतना सुलभ है, फिर भी संसारी लोग इसे नहीं जानते हैं और कितने ही मूढ़ मन वाले लोग इसे जानते हुए भी इसका सेवन नहीं करते हैं ॥९॥

जब तक धर्म को धारण नहीं किया जाता है, तब तक उसका विश्वास नहीं होता है। ठीक ही है, जब निषध पर्वत पर सूर्य का उदय होता है, तभी अन्धकार का नाश होता है ॥१०॥

एतत् श्रुत्वान्तर्मुहुर्तमात्रं तूष्णीं स्थित्वा दीर्घमुष्णं निश्वस्यान्तस्तरलजललोचना कण्ठावरुद्धेन चान्तरा ससाहसमाख्यातवती जननी। कोमलाङ्गस्य तव न युज्यते कर्तुमेतन्मध्यमवयसः। गृहस्थाश्रमं प्रविश्य जीवितान्ते तपोवनं किलाश्रयन्ति मनस्विनः। अक्रमेण पथि प्रवर्तमानस्य नोपलभ्यतेऽभीष्टम्। भरतसगररामादिसदृशा अपि महापुरुषाः त्रिपुरुषार्थं संसाध्य प्रव्रजिता आसन्। दुःषमेऽस्मिन् काले भावावेशेन न खलु कर्त्तव्यं किमपि। तदेव कर्तव्यं येन स्वस्य परस्य च भवेत् समाधानम्। अतिदुष्करं खलु ब्रह्मचर्येण जीवनयापनम्। महासाहसिका अपि प्रविचलन्ति दीर्घं प्रतप्य ब्रह्मपथाद्विश्वामित्रवदिति नु श्रूयते न। किञ्च निखिल-शास्त्रमन्थनरसानन्दी माघनन्दी कथमभवत् कुलालजायामभिवन्दी। समीक्ष्य च मातुर्वचनमेतद् भूरामलो जगाद दृढीभूतात्मबलः-

(वंशस्थ)

अपारसंसारपथप्रवर्तिषु व्यतीत्यमानेषु विपर्ययेषु च।
क्वचिद्विपर्यासविधा समञ्जसी क्वचिच्च नित्यं दिनरात्रिचक्रवत् ॥११॥

(उपजाति)

तथापि तेषूचितवृत्तिभाव्यैश् चिन्त्या सकारात्मकवृत्तिता वै।
मुक्ताश्च भ्रष्टाः प्रतितीर्थदृष्टा गुणेषु निष्ठा महतां प्रतिष्ठा ॥१२॥

यह सुनकर थोड़ी देर चुप रहकर दीर्घ गरम श्वास छोड़ती हुई, भीतर से गीली आँखों वाली बीच-बीच में कण्ठ के अवरोध के साथ बड़ा साहस जुटाकर माँ ने कहा-तुम्हारी उम्र मध्यम है और तुम्हारा शरीर कोमल है। ऐसा करना अभी तुम्हारे लिए ठीक नहीं है। बुद्धिमान् लोग गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके जीवन के अन्त में तपोवन का आश्रय लेते हैं। जो अक्रम से पथ पर चलता है, उसे अपने अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती है। भरत, सगर, राम आदि महापुरुष भी तीनों पुरुषार्थ करके दीक्षित हुए थे। इस दुःखमा काल में भाव-आवेश से कुछ भी नहीं करना चाहिए। वही कार्य करना चाहिए, जिससे स्व-पर का चित्त निराकुल रहे। ब्रह्मचर्य से जीवन-यापन करना बहुत कठिन है। क्या तुमने नहीं सुना है, कि विश्वामित्र जैसे महान साहसी लोग भी दीर्घकाल तक तपस्या करके इस मार्ग से विचलित हो जाते हैं और सम्पूर्ण शास्त्रों के मन्थन रस से आनन्दित होने वाले माघनन्दी कुम्हार की पुत्री में कैसे बन्दी हो गये। माँ के इन वचनों का विचार करके भूरामल का आत्मबल और दृढ़ हो गया। तब भूरामल ने कहा-अतीत काल में अनेक विपरीततायें इस अपार संसार में मार्ग पर चलने वालों में हुई हैं। विपरीतता भी कहीं हुई है और कहीं पर समीचीनता भी रही है, यह तो दिन-रात के चक्र के समान हमेशा चलता रहता है। फिर भी इन सभी चरित्रों में उचित आचरण की भावना करने वालों को निश्चित ही सकारात्मक चरित्रता के बारे में ही चिन्तन करना चाहिए। यह तो प्रत्येक तीर्थ में देखा जाता है, कि कुछ लोग मुक्त होते हैं, तो कुछ भ्रष्ट हो जाते हैं। फिर भी महान व्यक्तियों की प्रतिष्ठा गुणों में निष्ठा (रुचि) होने से ही होती है ॥११-१२॥

ये जीवितान्ते वृषमाश्रयन्ति ते केवलं कष्टभरं धरन्ति।
स्वयं तथाऽन्यानपि पीडयन्ति श्रुतं तपो वा न हि शीलयन्ति ॥१३॥
रामादयो ये समदृष्टयस्ते स्मोत्कृष्टशक्तिं वपुषा धरन्ते।
निदर्शनाभासगतास्ततस्ते निदर्शनेभ्यो न समर्थयन्ते ॥१४॥
भुक्त्वातिकामांश्च यथेच्छया ये त्यक्त्वा तथा तान् भववार्धिमध्ये।
नित्यं यतन्ते शिवसौख्यकामास्ते संलभन्ते पुरुषार्थसंज्ञाम् ॥१५॥
न भोगमात्रं पुरुषार्थनाम नार्थार्जनं वा पुरुषार्थधाम।
संसेव्य युग्मं परिहृत्य चान्ते वने प्रवासः पुरुषार्थनाम ॥१६॥

अतो विधातव्यं यदन्ते तदद्यैव किं न खलु ग्राह्यम् श्वो विवस्वन्तं द्रक्ष्यामि न वेति को जानाति। तेन मातर्नाभ्युपगम्यते परकान्तेति निश्चितिः।

आवयःपर्यन्तमात्मानमेव जिनभारतीविलासेनोपास्यामीति संक्लृप्तिः। सुतस्य दृढतां माता शिथिलीकर्तुं न शशाक। तदाह जननी–यावन्न मे मरणं तावन्न गृहं परित्याज्यमिति। मातृवचनं मातृभक्तिवश्यो हृदये समाधाय सदाऽम्बसेवापरोऽभूत्। पं० भूरामलो वाणिज्ये भ्रातुःसहयोगी भूत्वा मातुः समादरेण पाठशालायामुचित–

जो जीवन के अन्त में धर्म का आश्रय लेते हैं, वे केवल कष्ट का भार ही धारण करते हैं। ऐसे लोग बुढ़ापे में स्वयं परेशान होते हैं तथा दूसरों को भी परेशान करते हैं। वे बुढ़ापे में श्रुत तथा तप कुछ भी नहीं कर पाते हैं ॥१३॥

जो राम आदि सम्यग्दृष्टि पुरुष थे, वे शरीर की अपेक्षा उत्कृष्ट शक्ति को धारण करते थे। इसलिए उनका यहाँ दृष्टान्त उदाहरणाभास है, इन उदाहरणों से अभी कुछ समर्थन नहीं होता है ॥१४॥

इस संसार सागर में अत्यधिक विषयों का इच्छानुसार भोग करके, फिर मुक्ति सुख की कामना करने वाले, उन भोगों को छोड़कर सदा प्रयत्न करते हैं, वे ही 'पुरुषार्थ' इस संज्ञा को प्राप्त करते हैं ॥१५॥

केवल भोग भोगने का नाम पुरुषार्थ नहीं है और न केवल धनार्जन करना ही पुरुषार्थ है, किन्तु दोनों का सेवन करके फिर अन्त में उनको छोड़कर वन में निवास करना पुरुषार्थ है ॥१६॥

इसलिए जो अन्त में करना है, उसे आज ही क्यों न ग्रहण किया जाए? कल सूर्य को देखूँगा अथवा नहीं यह कौन जानता है। इसलिए माँ! मैं पर स्त्री को ग्रहण नहीं करूँगा यह निश्चित है।

जीवन पर्यन्त जिनभारती के विलास से ही अपनी आत्मा की उपासना करूँगा, इस प्रकार संकल्प लिया। पुत्र की दृढ़ता माँ शिथिल करने में समर्थ न हो सकी। तब माँ ने कहा–जब तक मेरा मरण नहीं हो, तब तक घर नहीं त्यागना। माँ के वचनों को मातृ-भक्ति से हृदय में धारण करके वह सदा माँ की सेवा में तत्पर हुए। पं० भूरामल व्यापार में बड़े भाई के सहयोगी होकर माँ का आदर करने

कालं व्यतीत्य लेखनकार्ये समयमनैषीत्। वीरोदय सुदर्शनोदयादिकाव्यानि विरचय्य जयोदयमहाकाव्यमपि व्यरचत्।

तावदेवाशेषप्रदेशेषु परिभ्रम्य दक्षिणपथात् महाप्रभावको शताब्देरेकोनविंशतितमे प्रथमाचार्यश्चारित्र-परायणो धर्मामृतवचनेन ससंघविहारेणानेकविधतपस्तपनेन सकलनरनारीपशुलोकमध्ये महानन्दमुपजनयन् १९३३ तमस्य क्रिस्टाब्दस्य वर्षायोगमुपस्थापितवान् व्याबरनगरे साक्षात् शान्तेः सागरः पञ्चाचाराधारः श्रीशान्तिसागरः। तदैवापरोऽपि श्रीशान्तिसागरः छाणीति चोपपदेन भूषितः ससंघस्तत्रैव जिनमन्दिरे महति विशाले वर्षायोगाय समास्थितवान्। अद्भुतोऽयं संयोगो यद् भास्करद्वयस्यैकत्र संयोग इव ज्ञानप्रकाशः, उभयस्य रत्नाकरस्य मेलनमिव महाजनसंक्षोभः, भूधरयुग्मस्यैकदृष्ट्या दर्शनमिवापूर्वशोभः सममेव जलस्यामृतवृष्टिरिव जलधरयुगलस्य वृहस्पतिशनिग्रहयोर्मीनराशौ मेलनस्येव बैथलहमतारस्य समापतत्। इति चोरसि कृत्वा दर्शनोत्कण्ठितमनाः पूज्याचार्यवर्यद्वयस्य कल्माषितमनोदशाप्रक्षालनसमर्थार्णवस्य समक्षं मंक्षु समुपास्थत्। स्वगतञ्च स्तूयते तेन–

के साथ पाठशाला में उचित काल व्यतीत करके लेखन कार्य में अपना समय व्यतीत करते थे। वीरोदय, सुदर्शनोदय आदि काव्यों की रचना करके जयोदय महाकाव्य की रचना की।

तभी सभी राज्यों में परिभ्रमण करके दक्षिण देश से महाप्रभावक १९वीं शताब्दी के प्रथम आचार्य, चारित्रपरायण, धर्मामृत के वचनों से, संघ सहित विहार करने से, अनेक प्रकार के तपों के तपने से, समस्त नर-नारी पशुजनों को महान् आनन्द उत्पन्न करते हुए साक्षात् शान्ति के सागर, पञ्चाचार के आधार श्री शान्तिसागर आचार्य ने १९३३ ई० का वर्षायोग ब्यावर नगर में स्थापित किया। उसी समय दूसरे भी आचार्य शान्तिसागर महाराज जो कि 'छाणी' इस उपनाम से पहचाने जाते थे, वह भी उसी विशाल पूज्य जिनमन्दिर में वर्षायोग के लिए आ ठहरे। दो आचार्यों का यह संयोग बहुत ही अद्भुत था। दो सूर्यों का एक स्थान पर संयोग होने पर, जो प्रकाश होता है, उसी तरह वहाँ ज्ञान प्रकाश फैला था। जब दो समुद्रों का मेल हो, तो जैसे क्षोभ होता है, वैसा ही जनसैलाव में उन दो आचार्यों के मेल से हुआ। दो महान् पर्वतों का एक दृष्टि से दर्शन करने की तरह उन आचार्यों का एक साथ दर्शन अपूर्व शोभावान था। दो बादलों के जल की वर्षा की तरह एक साथ अमृत वचनों की वर्षा होती थी। बृहस्पति और शनि ग्रह का मीन राशि में मेल होने की तरह, बैथलहम का तारे की तरह यह संयोग हुआ था। इस प्रकार हृदय में भावना करके दर्शन की उत्कण्ठा से पं० भूरामल उन दोनों आचार्य देव के समक्ष शीघ्र उपस्थित हुए, जिनकी देह के परमाणु भव्य जीवों की कलुषित मनोदशा को प्रक्षालित करने में समर्थ हैं। तब उन्होंने अपने मन में स्तुति की–

(उपजाति)

यो भास्करो वाऽमृतवाक्यरोचिः, संघातदायी सितचन्द्रमा वा।
इतोप्यतो विभ्रमतां तथापि सम्यक्त्वदृष्ट्या भ्रमहा व्यपापी ॥१७॥
दुष्कामहृत् कामशरान्विजित्य रत्नत्रयेण त्रितयस्य सत्त्वः।
नयद्वयेनान्यमतस्य मर्दी त्रैलोक्यजित्कामजयी यशस्वी ॥१८॥
विलंघितुं शक्तिमतां न शक्ती रमासु वित्तेषु च कामवृत्तिम्।
उल्लंघ्य तां मुक्तिपथस्य मध्यां गिरिद्वयीं द्वारि गतोऽसि धन्यः ॥१९॥
आचारपञ्चाख्यमहाध्वनीनः - प्रकाशपीनो जगतीव चेनः।
अज्ञानघोरान्धतमः प्रलीन प्रवर्त्मदर्शी लसति प्रवीणः ॥२०॥
स्वस्यास्यभासा च सुधाकरस्य सुसंघसंघाततयोडुकस्य।
उत्क्षिप्य शोभां स्वचिदात्मनीना-तुल्यातिलासैर्लसदद्वितीयः ॥२१॥

(मालिनीच्छन्दः)

विषयमविषमवह्निरेकतः शान्तिस्यन्दी स्फुरति मदनलासश्चैकतो दान्तबुद्धिः।
धनविभवमवाप्तुं संश्रमो मोक्षमन्यत्, भवति हि भवभाजां चित्तवृत्तिर्विचित्रा ॥२२॥

जो अमृत वचनरूपी किरणों के समुदाय को देने वाले सूर्य के समान हैं अथवा शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान हैं। इसलिए पं० भूरामलजी विभ्रम को प्राप्त हुए, फिर भी विचार किया कि सम्यग्दृष्टि होने से यह आचार्य भ्रम का नाश करने वाले और पाप से रहित हैं ॥१७॥

रत्नत्रय के द्वारा काम रूपी बाणों को जीतकर, जो दुष्ट काम का नाश करने वाले हैं, जो मन-वचन-काय तीन प्रकार का सत्त्व (बल) धारण किये हैं, जिन्होंने दोनों नय से अन्य मतों का मर्दन किया है, जो तीन लोक को जीतने वाले काम को भी जीतने वाले हैं और यशस्वी हैं ॥१८॥

स्त्रियों में और धन में इच्छा को नाश करने की शक्ति बड़े-बड़े शक्तिशालियों में नहीं है। मुक्ति पथ के बीच में दो पर्वतों की तरह इन दोनों ही प्रकार की इच्छा का उल्लंघन करके आप मुक्ति-पथ के द्वार पर आ गये, आप धन्य हैं ॥१९॥

पञ्चाचार के महापथिक, जगत् के सूर्य, प्रकाशपुंज, अज्ञानरूपी घोर अन्धकार में लीन मार्ग को दिखाने वाले यह प्रवीण पुरुष खूब सुशोभित रहे हैं ॥२०॥

अपने मुख की आभा से जिन्होंने चन्द्रमा की शोभा को और अपने संघ के समूह के द्वारा नक्षत्रों की शोभा को दूर फेंककर अपनी आत्मा की अतुलनीय शोभा से यह अद्वितीय शोभा को धारण कर रहे हैं ॥२१॥

एक तरफ जो पंचेन्द्रियों के विषयों की विषम ज्वाला और एक ओर यह शान्ति का झरना, एक तरफ तो यह काम का विलास फैल रहा है और एक ओर यह इन्द्रियों को दमन करने की बुद्धि, एक

इदमिह मम चायुर्निर्गतं निष्फलं वा, यदिति नियमशून्यं निश्चयाध्यात्मलूनम्।
विबुधविबुधमान्यं यच्चरित्रं महार्घ्यं, किमिति न विदधेऽहं ज्ञानमात्रे विलीनः ॥२३॥
कुटिल-कटुक-सौख्यं चेन्द्रियैर्लभ्यमानं, जननमरणबीजं दुःखदं मन्यमानाः।
यमदमशमशीले दत्तचित्तावधाना, मम नयनसमक्षे सन्ति साधु-प्रधानाः ॥२४॥

(त्रोटक छन्दः)

जलधिर्वसुधावसुसाधुसुधाः भुवि यावदिहाविलसन्ति च खे।
जयताज् जयतात् तव बोधिविधुरभिनन्दतु नन्दतु शुद्धयशः ॥२५॥
शरदि स्फटिकाभनिभाः ककुभः, स्वयमेवमगस्त्ययुते विजलाः।
विभवन्ति मला विमला मतयो, महनीय-सुयोगवशादसिताः ॥२६॥
निपतन्ति पदे समुदारमते, रिपवः सुहिताश्च विरोधिनयाः।
मुकुलाम्रमुकुन्दकदम्बकजा, विकसन्ति विनाऽबलयाऽपि जडाः ॥२७॥
तपसा विजितार्ककरातपकौ, समतामनसाऽस्तसुसोममुखौ।
युगलं वसतीह रवेश्च विधोः, श्रुतपूर्वमथाद्य पुरः सुदृशः ॥२८॥

तरफ तो धन वैभव को प्राप्त करने के लिए इतना परिश्रम और एक ओर मोक्ष की प्राप्ति के लिए श्रम। ठीक ही है, संसारी जीवों की चित्तवृत्ति विचित्र होती है ॥२२॥

चूँकि इस प्रकार मेरी आयु संयम रहित और निश्चय अध्यात्म से रहित निष्फल ही निकल गयी। देव और विशिष्ट बुद्धिमानों से मान्य जो महामूल्यवान चारित्र है, उसको मैंने ज्ञान मात्र में लीन होते हुए क्यों नहीं धारण किया? ॥२३॥

इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हुआ सुख कुटिल और कटुक सुख को देने वाला है। ऐसे इन्द्रिय सुख को जन्म और मरण का मुख्य कारण तथा दुःख देने वाला मानते हुए यम, दम, शम और शील में अपने चित्त को लगाते हुए मेरी आँखों के समक्ष, यह आचार्य देव विराजे हैं ॥२४॥

समुद्र, धरती, रत्न, साधु और अमृत इस पृथ्वी और आकाश में जब तक शोभायमान हैं, तब तक आपका ज्ञानरूपी चन्द्रमा जयवन्त रहे, जयवन्त रहे और आपका शुद्ध-यश बढ़ता रहे, बढ़ता रहे ॥२५॥

शरद ऋतु में अगस्त्य नक्षत्र के योग में स्वयं ही काली दिशाएं स्फटिक-मार्ग की आभा के समान जल रहित निर्मल हो जाती है; उसी प्रकार मलिन बुद्धि वाले पूज्य पुरुषों के योग से निर्मल बुद्धि वाले हो जाते हैं ॥२६॥

उदार बुद्धि वाले पुरुष के चरणों में शत्रु-मित्र आ गिरते हैं तथा मुकुल, आम्र, मुकुन्द और कदम्बक वृक्ष के फल जड़ होकर भी बिना स्त्री के भी विकसित होते हैं ॥२७॥

तप के द्वारा जिन्होंने सूर्य की किरणों और आतप को जीत लिया है तथा समतामय मन के द्वारा चन्द्रमा के मुख को भी अस्त कर दिया है। यहाँ सूर्य और चन्द्रमा का युगल ही रह रहा है। जिसे पहले सुना था, उसे आज अपने सामने देख रहा हूँ ॥२८॥

एवं पुण्यभाववासितहृदयशुद्धया धरणीनिहितजानूपरिदेहभारो ललाटतटसंस्थापितमुकुलित-पाणिपयोज-युगलशोभिताकारो प्रणिपपात चरणारविन्देषु समग्रतपस्तेजस्विनां परिभूतरवीन्दुषु मध्यमपरमेष्ठिनां श्रीशान्ति-सागराख्यानाम्।

यश्च प्रतीयते भवाम्भोधेः निस्तरणायापूर्वसेतुबन्धः। अनादिसञ्जातव्यामोहप्रवर्धिततृष्णालतोच्छेदनाय निशितपरशुपातः। चतुरशीतिलक्षयोनिव्यसनसंनिपातद्वारसंरोधनाय विशालार्गलाबन्धः। पवित्रचरित्राधारभूत-श्रमणचर्योद्धरणाय महासाहसिकः। कामक्रोधकुत्सितकलुषकषायकलहमात्सर्यनिन्दाकपटकल्लोलधरार्णव-शोषणाय प्रकुपितवडवानलः। अतिस्निग्धाप्रकटरागकिसलयमूलोच्छेदनाय तीव्रतुषारः। अमृतभुक्सुरसमिति-परितृप्तिकारणाय यद्दर्शनम्। कुपथपथप्रेरणाप्रदानेकदार्शनिकवितर्कनिर्मूलनाय यच्चर्याविधिपरिज्ञानम्। विक्षिप्तचित्तवृत्तिसमाधानाय यत्संस्मृतिः। लौकिकपथप्रवृत्तविघ्नौघशमनाय यन्नाम। तथैव हि प्रणिपत्यापराचार्यचरणेषु परिषदि स्थितेषु मुनि संघेषु यथायोग्यं समादृत्य स कुशलः स्वस्थाने समुपाविशत्। कोऽयमदृष्टपूर्वः सूचयति देहचेष्टयोत्तमवंशोत्पत्तिं यश्च तपःपूतानपि स्वपह्वतयाऽऽकर्षति।

जिनके चरण कमल सूर्य और चन्द्रमा को भी पराभूत कर रहे हैं। ऐसे समग्र तप को धारण करने वाले तेजस्वी मध्यम परमेष्ठी श्री शान्तिसागर आचार्यों के चरणों में, पुण्य-भाव से सुगन्धित शुद्ध हृदय के साथ मुकुलित हस्त-कमल को अपने ललाट पर रखने से जिनका शरीर शोभित हो रहा है ऐसे नमस्कार किया। पं० भूरामल जी ने पृथ्वी पर अपनी देह और जंघा का भार रखकर नमस्कार किया।

जो संसार सागर से तरने के लिए कोई अपूर्व पुल के बन्ध के समान प्रतीत होते हैं, अनादि काल से उत्पन्न हुए व्यामोह से बढ़ी हुई तृष्णारूपी लता को नष्ट करने के लिए, जो तीक्ष्ण फरसे की चोट के समान है, चौरासी लाख योनि के दुःखों में गिरने के द्वार को बंद करने के लिए विशाल अर्गला बंध के समान हैं। पवित्र चरित्र का आधारभूत जो श्रमणचर्या है, उसका उद्धार करने के लिए महान साहसिक हैं। काम, क्रोध, बुराई, कलुषता, कषाय, कलह, मात्सर्य, निन्दा और कपट की तरंगों को धारण करने वाले समुद्र को सुखाने के लिए कुपित हुए बड़वानल की तरह हैं। अति चिक्कण, अप्रकट राग की किसलय को जन्म देने वाले जड़ का नाश करने के लिए जो तीव्र तुषार प्रतीत होते हैं। जिनका दर्शन अमृतभोजी देवों के समूह के लिए तृप्ति के लिए है। जिनको चर्या-विधि का ज्ञान ही कुपथ के मार्ग पर प्रेरणा देने वाले अनेक दार्शनिकों के कुतर्कों को निर्मूल नाश करने के लिए है। जिनका स्मरण ही विक्षिप्त चित्तवृत्ति वाली को एकाग्रचित्त कर देता है। जिनका नाम लौकिक मार्ग पर होने वाले विघ्न समूह की शांति के लिए है। उसी प्रकार द्वितीय आचार्य श्री शान्तिसागर छाणी के चरणों में नमस्कार करके तथा सभा में स्थित मुनि संघ में यथायोग्य नमस्कार आदर करके वह कुशल पुरुष अपने स्थान पर बैठ गये। जिसे पहले नहीं देखा, जो देह की चेष्टा से उत्तम वंश में जन्म की सूचना दे रहा है, जो अपनी विनम्रता से तपस्वियों को भी आकर्षित कर रहा है, ऐसा यह पुरुष कौन है?

ज्योतिष्शास्त्रस्ज्ञाता भवन्नपि स तस्योपयोगं यदा कदाचिदेवाकरोत्। विशेषाग्रहेणैव श्री दिगम्बर जैनमन्दिरस्य मोदीनगरस्य प्रतिष्ठामुहूर्तमवलोक्य प्रेमचन्द्राख्यश्रावकं प्रदत्तवान्।

सङ्केतं प्राप्य पं० भूरामलः स्वरचितशास्त्रं 'जयोदयमहाकाव्यं' आचार्यवर्यस्य करकमलयोः प्रदत्तवान्। ग्रन्थस्य वैदुष्यं समीक्ष्य सः भूरि प्रशंसितः तैः। सभ्याः अपि आचार्यमुखेन पण्डितब्रह्मचारिणः प्रशंसां श्रुत्वा प्रसन्नाः अभवन्। केचित्तु चकिताः जाताः।

एकदा पं० भूरामलेन रचितशास्त्राणां यशःचर्चा साढूमलनिवासिना हीरालालेन संश्रुता। तानि च शास्त्राणि यदा तेन दृष्टानि तदा आह्लादयुक्तमनाः अभवत्। सत्यमेव **विद्वान् एव हि जानाति विदुषां परिश्रमं**। ''अनेककाव्यानि रचितानि तथापि प्रकाशनाय प्रचाराय च उद्यमो न दृश्यते'' इतिविचिन्त्य तं प्रति महती श्रद्धा पं० हीरालालस्य मनसि समुद्भूता। तेन स्वकीयपरिश्रमेण ग्रन्थानां प्रकाशनं कृतम्। प्रेरणा च प्रदत्ता यत् स्वोपज्ञटीका अपि करणीया भवद्भिरन्यथा पाठकानां भवेत् क्लेशसमुत्पत्तिः ग्रन्थस्य पठने पाठने चारुचिः। तत्प्रेरणावशं गतः पं० भूरामलः वीरोदयस्य स्वोपज्ञटीकां व्यरचत्। अतीवमितव्ययी अनर्थदण्डेन भीतः स पत्रोपरि कागदशकलोपरि च लिखित्वा विरमतिस्म। जिनालये हि स्वलिखितग्रन्थ संस्थाप्य अन्यत्र गच्छन् स निःस्पृहालुः न तं व्यचिन्तयत्।

ज्योतिषशास्त्र के ज्ञाता होते हुए भी, वह उसका उपयोग यदा-कदा ही करते थे। विशेष आग्रह से श्री दिगम्बर जैन मन्दिर मोदीनगर की प्रतिष्ठा का मुहूर्त प्रेमचंद श्रावक को बताया।

संकेत प्राप्त करके पं० भूरामल जी ने स्वयं लिखे शास्त्र 'जयोदय महाकाव्य' को आचार्य श्रेष्ठ के कर कमलों में प्रदान किया। ग्रन्थ के पाण्डित्य को देखकर वह सभी मुनि/आचार्यों से बहुत प्रशंसित हुए। सभा के लोग भी आचार्य परमेष्ठी के मुख से पण्डित ब्रह्मचारी की प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हुए हैं और कितने ही आश्चर्यचकित हुए।

एक बार पं० भूरामल द्वारा रचित शास्त्रों के यश की चर्चा साढूमल निवासी पं० हीरालाल ने सुनी। उन शास्त्रों को जब उन्होंने देखा तब उनका मन प्रसन्नता से भर गया। सत्य ही है-''**विद्वान् ही विद्वान् के परिश्रम को जानता है।**'' अनेक काव्यों की रचना की है, फिर भी प्रकाशन और प्रचार के लिए कोई प्रयास नहीं दिखता है। यह सोचकर पं० भूरामल के प्रति पं० हीरालाल के मन में सहानुभूति उत्पन्न हुई। तब पं० हीरालाल जी ने अपने परिश्रम से ग्रन्थों का प्रकाशन किया। उन्होंने पं० भूरामल जी को यह प्रेरणा भी दी, कि आपको इन ग्रन्थों की स्वोपज्ञ टीका भी करना चाहिए अन्यथा पाठकों को ग्रन्थ के पठन-पाठन में क्लेश उत्पन्न होगा और अरुचि भी होगी। उनकी प्रेरणा के कारण पं० भूरामल ने वीरोदय की स्वोपज्ञ टीका रची। अत्यन्त मितव्ययी और अनर्थदण्ड से भयभीत पं० भूरामल पत्र के ऊपर, कागज के टुकड़ों के ऊपर ही लिखकर विराम ले लेते थे। जिनालय में ही स्वयं लिखित ग्रन्थों को स्थापित करके अन्यत्र चले जाते। वह निःस्पृह होकर फिर उसकी चिन्ता नहीं करते थे।

(अनुष्टुप्)

मुनिरिव सदा वर्णी वर्षायोगे स्म तिष्ठति।
एकस्थाने दयामूर्तिः दयाधर्मं समादिशन् ॥२९॥
धर्मोऽयं हि पवित्रोऽस्ति पवित्रयति धारकम्।
धारकस्यास्ति दायित्वं पवित्रतां न संहरेत् ॥३०॥
स्वात्मसुभावना भाव्या प्राक् पश्चाच्च प्रभावना।
यो व्याकुलमना नित्यं कथं कुर्यान् निराकुलम् ॥३१॥
विहाराज्जायते शुद्धं पानीयं वा सतां मनः।
इति मत्वा यथाशक्ति विहारे स मतिं व्यधात् ॥३२॥
उपकारोऽपि कर्तव्यः तत्त्वबोधेन प्राणिनाम्।
यथा ह्युदयमायाति मार्तण्डोऽपेक्षया विना ॥३३॥
उपदेशाद्धि धर्मस्य जायते तीर्थवर्तनम्।
किं भवेत् पूर्णबोधस्य वीरेऽपि देशनं विना ॥३४॥

हिसार-दिल्ली प्रभृतिस्थानेषु अपि निःसङ्गतया विहृत्य धर्मोपदेशामृतवर्षणेन निखिलभव्यजन मनोमिथ्यात्वकषायान् प्रक्षाल्य सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं च प्रदाय विहरतिस्म। श्रावकानां प्रतिमाव्रतमपि गृहीतं कैश्चित्।

मुनि के समान वर्णी (त्यागी), दयामूर्ति पं० भूरामल दयाधर्म का उपदेश देते हुए वर्षायोग में हमेशा एक स्थान पर रहते थे ॥२९॥

यह धर्म पवित्र है और धारण करने वाले को भी पवित्र करता है। धर्म धारण करने वाले का यह दायित्व होता है, कि इसकी पवित्रता का नाश न होने पाए ॥३०॥

पहले अपनी आत्मा की भावना अच्छी तरह भानी चाहिए, बाद में प्रभावना की भावना करनी चाहिए। जो सदा व्याकुल मन वाला स्वयं है, वह दूसरे को निराकुल कैसे कर सकता है ॥३१॥

सज्जनों का मन, जल के समान बहते रहने से ही शुद्ध होता है, ऐसा मानकर पं० भूरामल यथाशक्ति विहार करने में अपनी बुद्धि को करते थे ॥३२॥

जैसे सूर्य बिना किसी की अपेक्षा के उदित होकर जगत् का उपकार करता है, उसी प्रकार तत्त्व ज्ञान से प्राणियों का उपकार करना चाहिए ॥३३॥

उपदेश देने से ही धर्म का तीर्थ प्रवर्तन होता है। देशना के बिना भगवान् महावीर के केवलज्ञान से भी क्या हो? ॥३४॥

इस प्रकार पण्डितजी हिसार, दिल्ली आदि स्थानों में भी निःपरिग्रही होकर विहार करते हुए, धर्मामृत की वर्षा से सभी भव्य जीवों के मन के मिथ्यात्व और कषायों को साफ करते हुए, सम्यग्दर्शन

आचार्यसंघेषु अध्यापनमपि कारितम्। आर्यिका सुपार्श्वमति प्रभृति साध्विभिर्विद्याध्ययनस्य लाभो गृहीतः।

एकदा आचार्यचन्द्रसागरसङ्घे काचित् महिला व्रतं गृहीत्वा गृहं गता। यदा परिवारजनास्तस्याः व्रतविषये ज्ञातवन्तः तदा असन्तुष्टाः जाताः सर्वे। प्रतिसमयं प्रत्येकं कार्ये उपालम्भेन सा दुःखिताऽभवत्। तेन सङ्घमध्ये समागत्य सा उक्तवती यन्नाहं व्रतपरिपालनाय समर्था। सर्वे हि सदा मां प्रताडयन्ति। मम कोऽपि पुत्रो न जातस्तेन प्रागेव गृहवासिनामसन्तोषकरी कथं जिनदर्शनव्रतपालनादरा स्याम्। क्षमयतु भवान् इत्युक्त्वा खिन्नमुखा रुदितवती।

सङ्घस्थाः तदा परस्परस्य मुखमवलोक्य जल्पनं मन्दमन्दं अकुर्वन्। पं॰ भूरामलः परिस्थितेः गाम्भीर्यं समीक्ष्य प्रोवाच–

(अनुष्टुप्)

निरूढानि त्वया सम्यक् दायित्वानि स्वकर्मणः
अद्यपर्यन्तमाबाल्यात् गार्हस्थ्यानि विपाकतः ॥३५॥

(शिखरिणी)

सुखं वा दुःखं वा भवति नितरां स्वस्वविधिना
विषादं हर्षं वा कथमपि न कुर्यात् किल जनः।
सदा नित्यावस्था भवति न हि कस्यापि भुवने
दिवा पश्चाद्रात्रिः पुनरपि दिवा वर्तनमिव ॥३६॥

और सम्यग्ज्ञान प्रदान करके विहार करते थे। कितने ही लोगों ने श्रावकों के व्रत प्रतिमाओं को ग्रहण किया। कई आचार्य संघों में अध्यापन भी कराया। आर्यिका सुपार्श्वमती आदि ने भी विद्या अध्ययन का लाभ लिया।

एक बार आचार्य चन्द्रसागरजी के संघ में कोई महिला व्रतों को ग्रहण करके घर गयी। जब परिवार के लोगों को उस महिला के व्रत के विषय में जानकारी हुई, तब सभी लोग असन्तुष्ट हुए। प्रति समय प्रत्येक कार्य की उलाहना से वह दुःखित हो गई। जिस कारण से संघ के बीच में वह आकर कहने लगी, कि मैं व्रत परिपालन के लिए समर्थ नहीं हूँ। सभी लोग मुझे प्रताड़ित करते हैं। मेरा कोई पुत्र नहीं है, इसलिए पहले से ही घर के लोग मुझसे असन्तुष्ट हैं, ऐसी स्थिति में जिनदर्शन करने का व्रत पालन मैं कैसे करूँ? आप मुझे क्षमा करें इस प्रकार खेद–खिन्न मुख लिए हुए रोने लगी।

तब संघ के सदस्य एक दूसरे का मुख देखकर धीरे–धीरे बातचीत करने लगे। पं॰ भूरामलजी ने परिस्थिति की गंभीरता को देखकर कहा–आपने अपने कर्म के विपाक से गृहस्थ सम्बन्धी दायित्वों का बाल्यावस्था से लेकर आज तक अच्छी तरह निर्वाह किया है ॥३५॥

सुख और दुःख अपने–अपने कर्म के उदय से होते रहते हैं। फिर व्यक्ति को हर्ष अथवा विषाद किसी भी तरह नहीं करना चाहिए। इस लोक में किसी की भी दशा एक जैसी नहीं रहती है, जैसे दिन के बाद रात और रात के बाद दिन होता रहता है ॥३६॥

(उपेन्द्रवज्रा)

जिनेन्द्रपूजा त्वघनाशकारी, जिनेन्द्रपूजा स्वयसंघकारी।
जिनेन्द्रपूजा मदह्रासकारी, जिनेन्द्रपूजा सुखशान्तिकारी ॥३७॥

(अनुष्टुप्)

निगूढेनापि कर्तव्यो धर्मो हितमभीप्सुभिः।
बिना धर्मं सुखेच्छा तु क्षाराम्बिुस्तृड्विनाशनम् ॥३८॥
ततो हिं दर्शनं पूजा नित्यं कार्यं सुखेप्सया।
जैनिनामाद्य कर्तव्यं नेदं नाम व्रतं मतम् ॥३९॥

सा निःश्वसती पुनः कथमपि कथितवती–भवतो वचनं तु धार्मिकं तात्त्विकं च। मम जीवनं तु पारिवारिकक्लेशवशात् अन्यत् एवास्ति। पुत्रेण विना स्त्रियाः स्थितिः का भवति, इति भवान्न ज्ञातुमर्हति। शिक्षिता अपि भर्तारः, सभ्या अपि पारिवारिकाः धार्मिकाः अपि सामाजिकाश्च हीनापमानदृष्ट्या हि विलोकयन्ति। धर्मस्तु तेषामनावश्यकभार इव। नियमेन जिनालयं गत्वा पूजाकरणमसम्भावि एव। तदा दयाद्रवितहृदयो वर्णी पुनरप्यवदत्–वृथा चिन्तां मा कृथाः। गृहे स्थित्वा हि भावेन जिनेन्द्रपूजाभावनां कुर्यात्। अहमनिशं भवद्गृहे जिनाभिषेकं प्रेषयामि। तस्य शिरसि अर्पणं वन्दनं च नियमेन शुद्धभावेन विधेयम्। एतत् श्रुत्वा हर्षाश्रूणि मार्जयन्ती तदुपकारं चित्ते भावयन्ती सा वन्दनां विधाय निर्गता।

जिनेन्द्र भगवान् की पूजा पाप का नाश करने वाली है। जिनेन्द्र भगवान् की पूजा श्रेष्ठ पुण्य का समूह उत्पन्न करने वाली है। जिनेन्द्र भगवान् की पूजा मद का नाश करने वाली है। जिनेन्द्र भगवान् की पूजा सुख और शान्ति करने वाली है ॥३७॥

हित की इच्छा करने वालों को धर्म छिपकर भी कर लेना चाहिए। धर्म के बिना सुख की इच्छा खारे जल से प्यास को दूर करने के समान है। इसलिए सुख की इच्छा से दर्शन और पूजन हमेशा करना चाहिए। जैनियों का यह प्रथम कर्तव्य है, इसे कोई व्रत नहीं माना जाता है ॥३८-३९॥

वह स्त्री श्वास लेते हुए बड़ी कठिनता से पुनः कहने लगी–आपके वचन तो धार्मिक हैं और तात्त्विक हैं। मेरा जीवन तो पारिवारिक क्लेश के कारण दूसरा ही है। पुत्र के बिना स्त्री की स्थिति क्या होती है? यह आप जान नहीं सकते। पति शिक्षित भी हो, परिवार के लोग सभ्य भी हों और समाज के लोग धार्मिक भी हों तो भी पुत्र रहित स्त्री को हीन और अपमान की दृष्टि से ही देखते हैं। ऐसे लोगों को धर्म तो अनावश्यक भार लगता है। नियम पूर्वक जिनालय जाकर पूजा करना तो असम्भव ही है। तब दया से द्रवित हृदय वाले त्यागी जी ने पुनः कहा–व्यर्थ में चिन्ता मत करो। आप घर में रहकर ही भावों से जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की भावना करो। मैं रोज आपके घर में जिनेन्द्र भगवान् के अभिषेक को भेज दूँगा। उस अभिषेक को अपने मस्तक पर अर्पण और वन्दन नियम से शुद्ध भावों से करना। यह सुनकर हर्ष अश्रुओं को पोछते हुए और उनके उपकार को मन में भाते हुए, वन्दना करके चली गयी।

(द्रुतविलंबित)

तदनु शान्तिविभोरभिषेचनं विनयतेस्म तदीयगृहे शुभम्।
प्रतिदिनं सुविधाय जिनालये लघुदिनैर्दुरितं प्रणनाश सा ॥४०॥
कतिपयैर्दिवसैर्जठरात्तदा समजनिष्ट शिशुं सुखहेतुकम्।
स्वपरिवारजनेषु च मोदकं वितरितं गृहपैः मृदुमोदकम् ॥४१॥

इत्यनेक सङ्घेषु दर्शनस्वाध्यायादिकं विधाय कदाचित् स फुलेराग्रामे विराजमानं सूरिश्रीवीरसागरं प्रणम्य दर्शनेन पराभूतस्तत्सङ्घमालामणिभूतस्थानप्राप्तः सिद्धान्तव्याकरणन्यायशास्त्राणामध्यापनकार्ये संलग्नः पन्थवादविषागमयुक्तिमन्त्रनिराकरणमग्नो नागौरग्रामे सङ्घेन साकं वर्षायोगं कृतवान्। ततः परं सुजानगढे चातुर्मासविधिना स्थित्वा नेत्ररोगं शल्यचिकित्सया ध्यानस्वाध्यायेन समयं व्यतीत्य ससंघो विजहार। आचार्यदेवः श्रीसम्मेदशिखरयात्राकरणोद्यतो यदा दृष्टस्तदा स सविनयं प्रार्थयेत् यत् ''अत्रैव स्थातुमिच्छामि भगवन्! यथानुकूलं प्रवर्तस्व'' इत्याज्ञापयत् सूरिश्रेष्ठः।

१९५५ ई० तमे मन्सूरपुरे वर्षायोगः प्राचलत्। अस्मात् प्रागपि द्विवारमत्रैव वर्षायोगं स कृतवान्। तृतीयवर्षायोगसमये तत्र वर्षा नाभवत्। तेन जनसमूहे चिन्ताविषयोऽयम्। भगवतः शान्तिनाथस्य भक्तिभावित-

---

प्रतिदिन जिनालय में पं० भूरामलजी स्वयं शान्तिनाथ भगवान् का शुभ अभिषेक करके उस महिला के घर पर भेज देते थे, जिससे थोड़े ही दिनों में उसने अपने पाप का नाश कर लिया ॥४०॥

कुछ ही दिनों बाद गर्भ से सुख का कारण भूत एक शिशु उत्पन्न हुआ। जिससे घर के लोगों ने अच्छा आनन्द देने वाले मोदकों का अपने परिवार के लोगों में वितरण किया ॥४१॥

इस प्रकार अनेक संघों के दर्शन करके, स्वाध्याय करके, वह फुलेरा गाँव में पहुँचे। वहाँ पर आचार्य श्री वीरसागरजी विराजमान थे। उनको प्रणाम करके दर्शन से अभिभूत होते हुए उन्होंने आचार्य संघ में वह स्थान प्राप्त किया, जो माला में मणियों का होता है। वह संघ में सिद्धान्त, व्याकरण, न्याय शास्त्रों के अध्यापन कार्य में संलग्न रहते। वह पंथवाद के विष को आगम की युक्तिरूपी मन्त्र से निराकरण में मग्न थे। इस तरह संघ के साथ नागौर ग्राम में उन्होंने वर्षायोग किया। उसके बाद चातुर्मास के दौरान सुजानगढ़ में रहकर वहाँ नेत्र रोग की शल्यचिकित्सा हुई। ध्यान-स्वाध्याय में समय व्यतीत करके फिर वहाँ से भी ससंघ विहार हुआ। जब आचार्यदेव श्री सम्मेदशिखर की यात्रा करने के लिए तैयार हुए तब पं० भूरामलजी ने विनय सहित प्रार्थना की-भगवन्! मैं यही पर रुकना चाहता हूँ। आचार्यश्रेष्ठ ने उन्हें आज्ञा दी ''आप अपनी अनुकूलता से प्रवर्तन करें।''

१९५५ ई० में मंसूरपुर में वर्षायोग चल रहा था। इससे पहले भी दो बार यहीं पर वर्षायोग पं० भूरामलजी ने किया था। तीसरे वर्षायोग के समय उस नगर में वर्षा नहीं हुई थी। जिससे यह लोगों के बीच चिन्ता का विषय था। जिसका मन भगवान् शान्तिनाथ की भक्ति से भरा है, ऐसे पं० जी ने सोलह दिवसीय शान्तिनाथ विधान करने के लिए समाज के लोगों को प्रेरणा दी। उस विधान के प्रभाव

चेतस्को विद्वद्भूरामलः षोडशदिवसीयशान्तिनाथविधानस्य कृते प्रेरितवान् सामाजिकान्। तद्विधानप्रभावेण वर्षा सञ्जाता। सद्धर्मं प्रत्यतीवश्रद्धाऽपि जाता जैनानामजैनानां च। अत्रैव हि सः स्वयं क्षुल्लकदीक्षां जिनेन्द्रदेवसमीपे ग्रहीतवान् अक्षयतृतीयातिथौ वैशाखमासे। क्षुल्लकः श्री ज्ञानभूषणमहाराजः इति नाम्ना सर्वेषां परिचयोऽभवत्।

१९५७ ई० तमे खलु आचार्य देशभूषणमहाराजस्य समीपे स स्थितः खानियाँजी विषये जयपुरे राजस्थानप्रान्ते। देशभूषणसूरिणाऽभाणि–भो ज्ञानभूषण! दीक्षां गृह्णीयाः। स विद्वान् अधोनेत्रं कृत्वा सस्मितो न किमपि उक्तवान्। आहारवेलाऽनन्तरं सूरेः पार्श्वे स समास्थितः। तदैव विनोदेन प्रसन्नतया सूरिणा स्कन्धस्थितवस्त्रखण्डं समाकर्षितम्। सोऽपि गुरुचरणं संस्पृश्य कायोत्सर्गेण सङ्कल्पितवान्। एवं ऐलक-ज्ञानभूषणमहाराजत्वं जय-जयेति गुञ्जितं नभोऽङ्गणम्।

यात्रातः प्रत्यागतः ससङ्घः सूरिवीरसागरः निवाई, टोडारायसिंह खानिया इत्यादिस्थानेषु वर्षोयोगं स्थापयित्वा जयपुरखानियाँस्थाने कृतवर्षायोगस्थापने स्वास्थ्यहानिवशेन यदाकदाऽसातोदीरणावशेना-पस्मार-रोगग्रस्तस्तत्कृतमूर्च्छामापन्नोऽपि पूर्वाभ्यासबलेन नमस्कारमन्त्रपठन सूचकाङ्गुलिचालनकुशलः अश्विनी-कृष्णामावस्यायां विक्रमसंवत्सरस्य २०१४ तमे वर्षे प्रातः १०-५० वादने चिरसमाधौ विलीनतां गतः।

से वर्षा हुई। इससे जैनों और अजैनों को समीचीन धर्म के प्रति अति श्रद्धा उत्पन्न हुई। पं० जी ने स्वयं ही जिनेन्द्र भगवान् के समीप वैशाखमास की अक्षय तृतीय को मन्सूरपुर में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। 'क्षुल्लक श्री ज्ञानभूषण महाराज' इस नाम से सभी को परिचय हुआ।

१९५७ ई० में राजस्थान प्रान्त के जयपुर खानिया जी में आचार्य देशभूषणजी महाराज के समीप वह स्थित थे। एक दिन आचार्य महाराज ने कहा भो ज्ञानभूषण! दीक्षा ग्रहण करना चाहिए। विद्वान् श्री ज्ञानभूषण जी नयन झुकाकर मुस्कारते रहे और कुछ नहीं कहा। आहारचर्या के बाद जब वह आचार्य महाराज के पास बैठे थे, तभी विनोदभाव से आचार्य देशभूषणजी ने प्रसन्नता के साथ क्षुल्लक जी के कंधे पर पड़े दुपट्टे को खींच दिया। क्षुल्लकजी भी गुरु चरणों को स्पर्श करके कायोत्सर्ग के साथ संकल्पित हो गए। इस प्रकार ऐलक ज्ञानभूषण महाराज की जय हो जय हो ध्वनि से आकाश गूँजा।

श्री सम्मेदशिखर यात्रा से वापस आकर आचार्य श्री वीरसागर महाराज संघ सहित निवाई, टोडराय सिंह, खानिया आदि स्थानों पर वर्षायोग स्थापित किये। जयपुर खानिया जी में जब आचार्य श्री वीरसागरजी का चातुर्मास चल रहा था, तभी उनका स्वास्थ्य गिर गया। जब कभी वह असातावेदनीय कर्म की उदीरणा के कारण मिर्गी रोग से पीड़ित हो जाते थे। उस रोग की मूर्च्छा में चले जाने पर भी पूर्वाभ्यास के बल से नमस्कार मन्त्र पढ़ने की सूचक उनकी अंगुली चलती रहती थी। ऐसे कुशल आचार्य अश्विनी कृष्णा अमावस्या को २०१४ विक्रम संवत्सर में प्रातः १०:५० मिनट पर चिरसमाधि में विलीन हो गये।

तदानीन्तने हि समये श्रीशिवसागरमहाराजः ससङ्घः ऊर्जयन्तशिखरस्य वन्दनां कृत्वा राजस्थानप्रान्तस्य ब्यावरग्रामे वर्षायोगं संस्थाप्य तत्र समस्थात्। समाधेः समाचारं विज्ञाय योगनिष्ठापनस्य पश्चात् चरणप्रतिष्ठासमारोहे चूलगिरि खानियास्थाने भागमवहत् सः ससङ्घः। ऐलकज्ञानभूषणोऽप्येतत् श्रुत्वा तत्र समागतः। अनित्यभावनां मनसि भावयित्वा निर्विण्णमनास्तदवसरे स प्रार्थितवान् भगवन्! कालस्य दारुणतां कोऽपि न जानाति, जिनदीक्षां प्रदाय मां अनुगृह्णीयात्। इति निवेदनेन सर्वत्र चर्चाविषयो विहगवत् प्रासरत्।

(वसन्ततिलका)

सज्ज्ञानभूः सकलशास्त्रविशारदोऽपि जैनेन्द्रनिःसृतसुवाक्यकलाधरोऽपि ।
अध्यापकोऽपि यशसाऽत्र प्रतिष्ठितोऽपि दीक्षाविधौ स हृदयं किमरे चकार ॥४२॥

यः कोमलाङ्गवदनोऽप्यतिसुन्दरोऽपि सारस्वतोऽपि विदुषां वरधीधुरोऽपि।
नाग्न्येन केशफणिनां करलुञ्चनेन प्राप्नोत् कथं शिवमणिं दुरवाप्यमेतम् ॥४३॥

आबाल्यतः स्वदृढमानसताबलेन विद्यालये सुपठितो निजपौरुषेण।
पश्चाद् गृहीतनियमो मदनाङ्कुशो यो नूनं स कश्चिदपरां हि दशां गतोऽत्र ॥४४॥

उसी समय श्री शिवसागर संघ सहित ऊर्जयन्त पर्वत की वन्दना करके राजस्थान प्रान्त के ब्यावर गाँव में वर्षायोग की स्थापना करके वहीं पर रुके थे। समाधि के समाचार को जानकर वर्षायोग निष्ठापन के बाद खानिया चूलगिरी में आचार्य श्री वीरसागरजी की चरण प्रतिष्ठा समारोह में संघ सहित मुनि शिवसागरजी महाराज ने भाग लिया। ऐलक ज्ञानभूषण महाराज भी यह समाचार सुनकर इस समारोह में आ गये। इसी प्रकार पर मन में अनित्य भावना भाकर उनका मन वैराग्य से भर गया और उन्होंने प्रार्थना की भगवन्! समय की भयंकरता को कोई भी नहीं जानता है, इसलिए जिनदीक्षा प्रदान करके मुझे अनुगृहीत करें। यह निवेदन सर्वत्र पक्षी की उड़ान की तरह फैल गया और चर्चा का विषय बन गया।

जो सम्यग्ज्ञान के आधार हैं, जो समस्त शास्त्रों में प्रवीण होते हुए भी तथा जिनेन्द्र भगवान् के वचन समूह को धारण करके भी, उपाध्याय का कार्य करते हुए भी, यश के द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करके भी वह ज्ञानभूषण अरे! दीक्षा विधि में मन क्यों बना लिया? ॥४२॥

जो कोमल अंगों वाले शरीर को धारण करके भी, अत्यन्त सुन्दर होकर भी, सारस्वत होकर भी और विद्वानों में श्रेष्ठ बुद्धि की धुरा को धारण करके भी, नग्नता के साथ, केशरूपी सर्पों के लुंचन के साथ मोक्षरूपी सर्प मणि प्राप्त करना बहुत कठिन है, उसे यह कैसे प्राप्त करेंगे ॥४३॥

जो बाल्यावस्था से अपनी दृढ़ मानसिकता के बल से विद्यालय में अच्छी तरह पढ़े हैं और अपने पुरुषार्थ से बाद में जिन्होंने नियम-संयम ग्रहण किया है, जिन्होंने मदन पर अंकुश लगाया है, निश्चित ही वह किसी अन्य दशा को यहाँ प्राप्त हुए हैं ॥४४॥

केचिद्वदन्ति फलमेतदयस्य तस्य केचिद्वदन्ति सुधियामिह कार्यमेतत्।
आसन्नभव्यजनलक्षणमस्ति केचित् संस्कार एष बहुजन्मकृतस्य केचित् ॥४५॥
इत्थं विचिन्त्य सकलैः पुरवासिभिश्च दीक्षामहोत्सवविधिः प्रमुदा व्यधायि।
हर्षातिरेकजयशब्दकलस्वरेण मेघायितं क्षणरुचिप्रहतं पुरं स्यात् ॥४६॥
आचार्यदेव शिवसागरभव्यबन्धुः तस्याद्यदीक्षितमुनिर्मुनिषु प्रसिद्धः।
ज्ञानाब्धिनामविदितो वदतां वरश्च मुक्त्यङ्गनाङ्गरमणार्थ-विवस्त्रधारी ॥४७॥

निर्ग्रन्थतायाः अनुभूतिस्तु मूकस्य मिष्टस्यानभूतिरिव, निर्ग्रन्थतायाःभावना सर्वभावनासु दुर्लभा, निर्ग्रन्थतायाः धारणं जिनस्य नैकट्यं, निर्ग्रन्थतायाः प्रेरणा आत्मकल्याण प्रेरणा, निर्ग्रन्थताया ध्यानं जिनस्य ध्यानम्, निर्ग्रन्थता प्रवचनस्य सारः, निर्ग्रन्थता मुक्तेर्द्वारम्, निर्ग्रन्थता ह्यनाकुलता, निर्ग्रन्थता जीवनस्य साफल्यम्, निर्ग्रन्थता निष्कामयोगः, निर्ग्रन्थता जिनस्य प्रतिरूपम्, निर्ग्रन्थता शत्रुमित्रयोः समता, निर्ग्रन्थता हि निश्चिन्तता।

अतीवदुर्लभवृत्ताधारभूमिकां निर्ग्रन्थतां नित्यं भावयन् स शास्त्रज्ञानमात्मज्ञाने परिणमतिस्म। द्रव्यश्रुतस्य भावश्रुते च संततं समारोहति स्म। व्यवहारात् निश्चयनय एव प्रधानमित्यनुभूतिः स्वयमेवभवत्। **दोषेषु**

कितने ही लोग कह रहे हैं, कि यह इनके पुण्य का फल है, कितने ही लोग कह रहे हैं, कि यह बुद्धिमानों का कार्य है, कितने ही लोग कह रहे हैं, कि यह आसन्न-भव्य आत्मा का लक्षण है और कितने ही लोग कह रहे हैं, कि बहुत जन्मों में जिसने अच्छा कार्य किया है, उसका संस्कार है ॥४५॥

इस प्रकार विचार करके सभी नगरवासियों ने दीक्षा महोत्सव की विधि आनन्द के साथ सम्पन्न की। उस समय उस नगर की शोभा हर्ष के अतिरेक और जय जय के शब्द की मधुर ध्वनि से ऐसी लग रही थी, मानो बिजली की कड़कड़ाहट के साथ मेघों की गर्जना हो रही हो ॥४६॥

आचार्य देव शिवसागरजी महाराज भव्यों के बन्धु हैं, उनके आद्य दीक्षित मुनि अब 'श्रीज्ञानसागर' नाम से मुनियों में प्रसिद्ध और वक्ताओं में श्रेष्ठ हैं, ऐसा लग रहा है, मानो मुक्तिरूपी स्त्री के शरीर से रमण करने के लिए यह नग्नता को धारण किये हैं ॥४७॥

निर्ग्रन्थता की अनुभूति तो गूंगे व्यक्ति की मिष्टता की अनुभूति की तरह है, निर्ग्रन्थता की भावना सभी भावनाओं में दुर्लभ है, निर्ग्रन्थता को धारण करना जिनेन्द्र भगवान के समीप पहुँचना है, निर्ग्रन्थता की प्रेरणा आत्मकल्याण की प्रेरणा है, निर्ग्रन्थता का ध्यान जिनेन्द्र भगवान् का ध्यान है, निर्ग्रन्थता प्रवचन का सार है, निर्ग्रन्थता मुक्ति का द्वार है, निर्ग्रन्थता ही अनाकुलता है, निर्ग्रन्थता जीवन की सफलता है, निर्ग्रन्थता निष्काम योग है, निर्ग्रन्थता जिनेन्द्र भगवान् का प्रतिरूप है, निर्ग्रन्थता शत्रु-मित्र में समता है, निर्ग्रन्थता ही निश्चिन्तता है।

अत्यन्त दुर्लभ चारित्र की आधार-भूमि निर्ग्रन्थता की हमेशा भावना करते हुए, वह मुनि ज्ञानसागरजी शास्त्र ज्ञान को आत्मज्ञान में परिणत कर रहे थे। वह द्रव्यश्रुत को भावश्रुत में निरन्तर आरोहण करा रहे थे। व्यवहारनय की अपेक्षा निश्चयनय ही प्रधान है, इस प्रकार की अनुभूति उन्हें स्वयं

मूकता गुणेषु निरीक्षणता च ह्यात्मकल्याणपरता।

एकदा स अपश्यत् यत् क्षुल्लकदीक्षासमये कश्चित् उपनयनं धारयन् समस्थात्। तदा सूरिणा प्रोक्तं– इदमुपनयनमपि परिग्रहः अतोऽपनयेत् एतत्। मुनिज्ञानसागरः स्वमनसि परिग्रहं प्रति स्वगुरोः सूक्ष्मदृष्टिमवबुध्य प्राहर्षत्। मुनिज्ञानसागरसदृशं विद्वांसं स्वशिष्यरूपेण विधाय सन्तुष्टो जातः सूरिवर्यः। सङ्घमध्ये नियमेन सङ्घस्थानां यत्यार्यिकाणांमुत्कृष्टश्रावकश्राविकाणाचाध्यापनं प्राचलत्। जयपुरजनपदे जोबनेरनगरे प्रवासकाले १९६२ ई० तमे आचार्यसङ्घे मुनिज्ञानसागरेण सह श्रुतसागरभव्यसागराजितसागर–जयसागरादिमुनयः सुपार्श्वेन्दुमत्यार्यिकादयः च शोभन्ते स्म। ज्ञानसागरप्रेरणातः शिवसागराचार्यमाध्यमेन शान्तिवीरजैनगुरुकुलस्य स्थापना तत्राभवत्।

शनैः शनैः परमागमस्य केषुचिद् विषयेषु चर्चाकारणतः सङ्घस्था असन्तुष्टा अपि अभवन्। आगमस्य सन्दर्भसहितस्तया स सदैव चर्चयति स्म। भक्ष्यस्य प्रासुकीकरणविधौ बहुधा विप्रतिपत्तिताऽजायत। सा खलु समयेन वृद्धिमापन्ना समासीत्। अचिन्तयत् स नियमसारमेकदा–

णाणा जीवा णाणा कम्मा णाणाविहे हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवायं सगपरसमहेहिं विवज्जेहि ॥४८॥

ही हुई थी। **दोषों में मौन रहना और गुणों का निरीक्षण करना ही आत्म कल्याण में तत्परता है।**

एक बार उन्होंने देखा कि क्षुल्लक दीक्षा के समय कोई साधु चश्मा को धारण किये हुए बैठे थे। तभी आचार्य शिवसागर महाराज ने कहा–यह चश्मा भी परिग्रह है, इसलिए इसे हटा दो। मुनि ज्ञानसागर जी अपने गुरु की परिग्रह के प्रति सूक्ष्म दृष्टि को जानकर अपने मन में हर्षित हुए। आचार्य श्रेष्ठ मुनि ज्ञानसागर जैसे विद्वान पुरुष को अपने शिष्य के रूप में बना करके सन्तुष्ट हुए थे। संघ में नियम से संघस्थ मुनि, आर्यिका और उत्कृष्ट श्रावक, श्राविकाओं का अध्ययन चलता था। १९६२ ई० में जयपुर जिले के जोबनेर नगर में प्रवास था। उस समय आचार्य संघ में मुनि ज्ञानसागरजी के साथ–साथ श्रुतसागरजी, भव्यसागरजी, अजितसागरजी, जयसागरजी आदि मुनि और सुपार्श्वमती, इन्दुमति आदि आर्यिकाएँ सुशोभित होती थीं। श्री ज्ञानसागरजी की प्रेरणा से और श्री शिवसागर आचार्यदेव के माध्यम से 'शान्तिवीर जैन गुरुकुल' की स्थापना वहाँ हुई थी।

धीरे–धीरे परमागम के कितने ही विषयों में चर्चा के दौरान सङ्घस्थ लोग असन्तुष्ट भी हो जाते थे। मुनि श्री ज्ञानसागरजी हमेशा आगम ग्रन्थों का सन्दर्भ देकर ही चर्चा करते थे। ज्यादातर भक्ष्य की प्रासुकीकरण विधि के बारे में विसंवाद हो जाता था। यह बात धीरे–धीरे बढ़ती गई। तब मुनिश्री ने एक बार 'नियमसार' की गाथा का चिन्तन किया–

अनेक जीव हैं, अनेक प्रकार के कर्म हैं और अनेक प्रकार की उपलब्धियाँ हैं, इसलिए अपने दर्शन और पर–दर्शन वालों के साथ विवाद नहीं करना चाहिए ॥४८॥

तदनु मौनेन आचारसंहितादर्शितविधिना शुद्धोपयोगार्पणतया प्रावर्तत सः। मुनिदशायामात्मानुभवनस्य मुख्यताऽस्तीति चिरेणाननुभावितात्मनोऽनुभवनमेव वरम्। तत्रैवावस्थातुं कालं सोऽगमयत्। मौनीभूतेऽपि किलाशनवेलायां रूढिना निर्मिताहारं परिहाप्य स बुभोज। तेनाप्यापत्तिः कस्याञ्चित् जाता। ततो चिन्तितवान् सः –

तत्तद् वस्तु परित्याज्यं येन क्लेशानुषङ्गिता।
तत्तद् वस्तु समायोज्यं येन शुद्धिर्विवर्धते ॥४९॥

तदनन्तरं नम्रीभूताङ्गकोमलवचनकलापः सूरिवर्यो विहारायोद्यतमानम्य समाचष्टभवतोपदिष्टेऽनुज्ञा-वचने मम परमा प्रीतिस्तथापि अहमत्रैव स्थास्यामीति भवदाज्ञां वाञ्छामि, न करोमि प्रतिकूलामित्युक्त्वा क्षणं निषसाद।

तदाह सूरिवर्यः–विदितशास्त्रादर्शस्य करणचरणकुशलस्य गुरुविनीतस्य तव यथेच्छं समुत्पद्येत् तन्न बाधतेऽनुभवशीलात्। इति स्वीकृतिवचनं शिरसि सम्प्रधार्य निरतिचारव्रतपालनपरो योग्यक्षेत्रं पदविहारेणा-लङ्चकार। सद्धर्मोपदेशात् पूर्वं स नमस्कारपद–मित्थंरूपेणोच्चरितवान्–''णमो अरहंताणमित्यादि, णमोअरिहंताणमित्यादि णमो अरुहंताणमित्यादि''।

उसके बाद मौनपूर्वक आचार संहिता में लिखी विधि के अनुसार शुद्धोपयोग की मुख्यता से वह प्रवृत्ति करने लगे। मुनि–दशा में ही आत्मा का अनुभव मुख्य रूप से होता है, इस प्रकार सोचकर चिरकाल से जिस आत्मा का अनुभव नहीं हुआ, उसका अनुभव करना ही श्रेष्ठ है। उसी में अवस्थित होने के लिए वह समय गुजारते थे। मौन हो जाने पर भी भोजन चर्या के समय रूढ़ि से बने हुए आहार को छोड़कर ही वह भोजन करते थे। इसमें भी किसी आर्यिका को आपत्ति हो गयी। तब उन्होंने चिन्तन किया कि–

उस–उस वस्तु को छोड़ देना चाहिए जिसके साथ क्लेश लगा हो और उस–उस वस्तु की समायोजना कर लेना चाहिए जिससे विशुद्धि बढ़ती हो ॥४९॥

उसके बाद नम्रीभूत अंगों के साथ कोमल वचन समूह को धारण किये मुनि श्री ज्ञानसागर जी विहार करने के लिए उद्यत आचार्यदेव के चरणों में प्रणाम करके कहा–आप जो आज्ञा करेंगे उन्हीं वचनों में मेरी परम प्रीति है, फिर भी मैं यही रुकने की इच्छा करता हूँ, इस प्रकार की आपकी आज्ञा चाहता हूँ। मैं कुछ भी आपके प्रतिकूल नहीं करूँगा, ऐसा कहकर वह क्षणभर बैठे रहे।

तभी आचार्यवर्य ने कहा–आपको सभी शास्त्र दर्पण की तरह ज्ञात हैं, आप करणानुयोग और चरणानुयोग में कुशल हैं, गुरु विनीत हैं, आपकी जैसी इच्छा हो रही हो वैसा करें। अनुभवशील होने से इसमें कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार स्वीकृति के वचन शिर पर धारण कर निरतिचार व्रत के पालन में तत्पर हो योग्य क्षेत्र को उन्होंने पद विहार से अलंकृत किया। समीचीन धर्म का उपदेश करने से पहले

आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज विहार करते हुए

प्रवचनाकलानिपुणः प्रागेव दृष्टोत्तरः आचारमार्गानुसारेण विहृत्य रत्नत्रयविशुद्धभावनया प्रभावनां करोतिस्म। धर्मस्य प्रचारे न स्वकीयं संलग्नवान् सः। धर्मप्रचारार्थं यदा कोऽपि तं समुत्साहयेत् तदा स प्राह– ''अहं तु साधकोऽस्मि, न च प्रचारकः।''

अजमेरस्थितसोनीनिषिद्धिकायां स वर्षायोगं स्थापितवान्। वर्षायोगात् प्राक् नसीराबादे सः समासीत्। अजमेरनगरस्य छगनलालपाटनीनामधेयः कश्चित् श्रावकः करणानुयोगस्य ज्ञाताऽपि सङ्गतिवशात् निश्चय-धर्मावलम्बिनां मुनिजनेषु श्रद्धातो व्युपरतवान्। कश्चिदुक्तवान्–''नसीराबादं चलतु, तत्र तिष्ठति स मुनिर्ज्ञानसागरो यो विद्वत्सु तिलकायते। तमजमेरपुरमानयेत्। छगनलालोऽकथयत्– बहवो ज्ञानसागरा आयान्ति, न गच्छामि (राजस्थानभाषायां–मोखला ज्ञानसागर आवै, मने कोणी जाणों)। स तत्र न गतः पश्चात् वर्षायोगे स एकदा परीक्षार्थं सदसि अग्रे समागत्य तिष्ठतिस्म।

भरतचक्रवर्तिनो वैभवं सविस्तरं स समादिशत्। स चक्री एतादृशस्य वैभवस्य स्वामी आसीत्। इति श्रुत्वा स तत्क्षण एवोवाच–क्षायिकसम्यग्दृष्टेः स्वामित्वं कथं भवेत्? क्षणं विरम्य स सधैर्यमुत्तरं दत्तवान्–भवता सम्यगुदिता तथापि मम प्रश्नस्योत्तरं प्रददातु–''यदि तस्य चक्रिणो भार्यामपहरेत् कश्चित्तर्हि तां

वह नमस्कार मन्त्र का उच्चारण इस प्रकार कहते थे–णमो अरहंताणं इत्यादि, णमो अरिहंताणमित्यादि, णमो अरुहंताणमित्यादि। अर्थात् अरहंत (पूजा के योग्य अरहंतों) को नमस्कार हो, अरिहंत (कर्मों से रहित अरिहंतों) को नमस्कार हो, अरुहंत (जन्म रहित अरुहंतों) को नमस्कार हो।

प्रवचन कला में निपुण, प्रश्न पूर्ण होने से पहले ही उत्तर को देखने वाले मुनि श्री आचारमार्ग के अनुसार विहार करके रत्नत्रय की विशुद्ध भावना से प्रभावना करते थे। धर्म के प्रचार में वह अपने को संलग्न नहीं करते थे। धर्म प्रचार के लिए जब उन्हें कोई भी उत्साहित करे तो वह कहते थे– ''मैं तो साधक हूँ, प्रचारक नहीं हूँ।''

अजमेर स्थित सोनीजी की नसिया में उन्होंने वर्षायोग की स्थापना की। वर्षायोग से पहले वह नसीराबाद में थे। उस समय अजमेर नगर के छगनलाल पाटनी नाम के कोई श्रावक करणानुयोग के ज्ञाता होने पर भी निश्चय धर्मावलम्बी जनों की संगति से मुनिजनों में श्रद्धा से दूर गये थे। किसी ने कहा–छगनलालजी! नसीराबाद चलो, वहाँ कोई मुनि ज्ञानसागरजी हैं, जो विद्वानों में तिलक (श्रेष्ठ) हैं। उन्हें अजमेर नगर में ले आते हैं। तब छगनलाल ने कहा–''बहुत ज्ञानसागर आते हैं, मैं कही नहीं जाता।'' वह नसीराबाद नहीं गये, बाद में जब वर्षायोग अजमेर में हुआ, तो एक बार वह परीक्षा के लिए सभा में आगे आकर बैठ गये।

भरत चक्रवर्ती के वैभव का विस्तार सहित वर्णन मुनि श्री ने किया। उन्होंने कहा कि वह चक्रवर्ती इस प्रकार के वैभव का स्वामी था। इतना सुनाकर वह श्रावक तत्क्षण कहने लगे–क्षायिक सम्यग्दृष्टि को स्वामित्व कैसे हो सकता है? क्षणभर रुककर धैर्य के साथ मुनि श्री ने उत्तर दिया कि आपने ठीक कहा है, फिर भी मेरे प्रश्न का उत्तर दो कि–''यदि कोई उस चक्रवर्ती की स्त्री का अपहरण

पुनरानयनार्थं स सप्रयासो भवेन्नवा।'' एतत् श्रुत्वा स निरुत्तरोऽभवत्। आह– भगवन्! स्वदुराग्रहवशादद्यप्रभृति न सम्यग्ज्ञातवानहम्। मम दोषं क्षमस्व। तदनन्तरं स गुरुरूपेण तकं स्वीकृतवान्। स च ताराचंद्रगंगवालः, माधोलालगदिया इत्यादि श्रावक मण्डलीमण्डितः सदा नैकान् प्रश्नान् समपृच्छत्। श्रीगुरुरपि सारल्येन प्रज्ञावशेन च तमतुष्यत्। एकस्मिन् दिवसे चर्चासमये आचार्यद्वयस्याभिप्राये भिन्नतामाकर्ण्य स पाटनी उक्तवान्– एतयोः कतमं मतं सुष्ठु। तदाह गुरुदेवः–एतस्य निर्णयो न भवेत् यतश्च तदनु सर्वे आचार्या अप्येतस्मिन् विषये मौनमाश्रितवन्तः। तथापि समाधानाय बाध्यमानो विनोदमिश्रितस्वरेणाभाणि– भ्रातः! मम शिरसि द्वित्राः केशा एवावशिष्टा स्तान् तु तिष्ठेयुः। केवलज्ञानस्य पश्चादपि किमपि ज्ञातव्यमस्ति अन्यथा तदुपरान्तं किं करिष्यसि।

(उपजाति)

मतेषु नानात्वमनल्पकालान् न मूलतत्त्वे कथितं तथापि।
नाचार्यचित्तेषु कदापि दौस्थ्यं वयं विवादे किमियाम कालम् ॥५०॥

(अनुष्टुप्)

सच्छास्त्रपाठहर्षेण कालो गच्छति मेधसाम्।
अन्येषां भुवि भाराणां मौखर्ये च धनार्जने ॥५१॥

(वसन्ततिलका)

शास्त्रे च यस्य ममता ममता मतौ न यद्वा भवेत्तदपि हानिगता क्रमेण।
शास्त्रस्य भव्य! समतामतिता फलं यद् ध्यातव्यमेव फलमत्र न किञ्चिदन्यत् ॥५२॥

कर ले, तो फिर वह अपनी स्त्री को लाने के लिए प्रयास करेगा या नहीं करेगा।'' यह सुनकर वह श्रावक विद्वान् मौन हो गये और कहने लगे भगवन्! मैं अपने दुराग्रह के कारण आज तक ठीक–ठीक समझ नहीं पाया। मेरे दोषों को क्षमा करो। उसके बाद श्रावक ने गुरु रूप से उनको स्वीकार कर लिया। ताराचन्द गंगवाल, माधोलाल गदिया इत्यादि श्रावक मंडली से सुशोभित वह छगनलाल हमेशा अनेक प्रश्नों को पूछते थे। श्रीगुरुजी भी अपनी सरलता और अपनी प्रज्ञा से उनको संतुष्ट कर देते थे। एक दिन चर्चा के दौरान दो आचार्यों के अभिप्रायों में भिन्नता को सुनकर वह पाटनी जी कहने लगे–इन दोनों में कौन सा मत सही है? तब गुरुदेव ने कहा–इसका निर्णय नहीं हो सकता है, क्योंकि उनके बाद के सभी आचार्य परमेष्ठी इस विषय में मौन धारण किये हैं, फिर भी जब समाधान के लिए उन्हें बाध्य किया गया, तो मुनिराज ने विनोद भरे स्वर से कहा– भाई! मेरे शिर पर दो–तीन बाल ही बचे हैं उन्हें तो बचे रहने दो। केवलज्ञान के बाद भी कुछ जानने योग्य है, अन्यथा उसके बाद क्या करोगे?

बहुत काल से मतों में भिन्नता रही है, फिर भी मूल तत्त्व में कोई भिन्नता नहीं कही है और न ही आचार्य देव के मन में कभी भी दुर्भाव रहा है, इसलिए हम लोग विवाद में क्यों काल गवायें? ॥५०॥

बुद्धिमान् पुरुषों का समय अच्छे शास्त्रों के पाठ में हर्ष के साथ व्यतीत होता है और पृथ्वी पर भार वालों का समय मौखर्य और धनार्जन में जाता है ॥५१॥

स्वाध्यायवेलायां खलु समागतः कश्चित् परीक्षाप्रधानः प्रेमराजदोसीनाम्नः श्रावकोऽकृतोपचारविनयः समालोक्यैतं कश्चिदभणत् किमिति न विहितः सभ्यजनयोग्यः समाचारः। न करोमि यतश्च उपनयनस्य परिग्रहोऽस्ति मुनेः पार्श्वे। सभ्याः किञ्चित् हसितवन्तो न तथापि क्षोभं गतवान् स मुनिर्मृदुमधुरवचनेन तदाह आम् अस्ति परिग्रहो यदि तेन सुन्दररूपमवलोकयामि। स्वाध्यायलेखनकार्याय समितिनिर्दोषपालनाय तद्धारणे न दोषं पश्यामि अपरिहार्यविधानात्। गुणदोषाणामित्थं विवेचनं युक्तिमत् इत्यवधार्य सलज्जः स क्षमां प्रार्थयन् नमनं भूयोभूयो निवेदितवान्। स खलुः विभावयति मनसि–अतिविरूपकजटासूत्रसहित–वास्तवेनातीवोपकारकमिदमुपकरणं मूर्च्छायोग्यत्वात्।

एवं प्रकारेण स्वपरकल्याणमभीप्सुना राजस्थानप्रान्ते हि विहारधर्मोपदेशवर्षायोगग्रीष्मयोगशीत–योगाननुष्ठाय संवरनिर्जरातत्त्वभूम्ना सम्पादिता।

१९६५ ई॰ तमे ब्यावरसमाजेन पं॰ हीरालालसिद्धान्तशास्त्री पं॰ प्रकाशचन्द्रजैन, पं॰ गणेशीलाल–रतनलालकटारिया इत्यादि विद्वत्प्रमुखसान्निध्ये ''ज्ञानसागरग्रंथमाला प्रकाशन समितिब्यावर'' इत्याख्या संस्था संस्थापिता।

जिसकी शास्त्रों में ममता रहती है, उसकी बुद्धि में ममता नहीं रहती है। यदि बुद्धि में ममता रहती है, तो वह भी क्रम से कम होती जाती है। हे भव्य! शास्त्र का फल तो यही है, कि बुद्धि समतामय हो। इसी फल का यह ध्यान करना चाहिए कि ज्ञान का और कोई फल नहीं है ॥५२॥

प्रेमराज दोसी नाम के कोई श्रावक परीक्षा–प्रधानी थे, जो स्वाध्याय के समय आये और उन्होंने उपचार विनय नहीं की। ऐसा देखकर किसी ने कहा कि आपने सभ्यजनों के योग्य समाचार क्यों नहीं किया? मैं नमोऽस्तु नहीं करूँगा क्योंकि मुनि के पास चश्मे का परिग्रह है। सभा के लोग कुछ हँसने लगे, फिर भी मुनिराज क्षोभ को प्राप्त नहीं हुए और उन्होंने कोमल/मधुर वचनों से कहा–हाँ! वह परिग्रह है, यदि मैं उस चश्मे से सुन्दर रूप का अवलोकन करूँ। स्वाध्याय लेखन कार्य के लिए और समितियों का निर्दोष पालन करने के लिए उस चश्मे को धारण करने में कोई दोष नहीं देखता हूँ, क्योंकि वह अपरिहार्य विधान है। गुण–दोषों का इस प्रकार का विवेचन युक्ति युक्त है। इस प्रकार अवधारित करके लज्जा सहित वह क्षमा की प्रार्थना करते हुए बार–बार नमन करने लगे। वह मन में भावना करते हैं– ''अत्यन्त पुराना सुतली से बंधा यह उपकरण वास्तव में अत्यन्त उपकारी है, क्योंकि यह मूर्च्छा के अयोग्य है।''

इस प्रकार स्व–पर कल्याण के इच्छुक मुनिश्री ने राजस्थान प्रान्त में ही विहार, धर्म–उपदेश, वर्षायोग, ग्रीष्मयोग और शीतयोगों को निष्ठापित करके संवर, निर्जरा तत्त्व को खूब सम्पन्न किया।

१९६५ ई॰ में ब्यावर समाज के द्वारा पं॰ हीरालाल शास्त्री, पं॰ प्रकाशचन्द्र जैन, पं॰ गणेशीलाल रतनलाल कटारिया इत्यादि प्रमुख विद्वानों के सान्निध्य में ''ज्ञानसागर ग्रन्थमाला प्रकाशन समिति ब्यावर'' इस नाम की संस्था स्थापित हुई।

(उपजाति)

ज्ञानेन वृत्तेन च संयमेन वृद्धिंगतो यो महतां प्रवृद्धः।
स जीर्णतृष्णो गतरागदोषो न खिद्यते संयमसत्प्रभावात् ॥५३॥
न तस्य गृद्धिर्विषयेषु लोके न ख्यातिपूजाविषयेऽपि वाञ्छा।
किं तस्य ग्रन्थेन च शंसनेन कर्त्तव्यपूर्तिर्हि सुखं तदीयम् ॥५४॥

(अनुष्टुप्)

अवाञ्छितस्य सम्प्राप्तिर्वाञ्छितस्य न कस्यचित्।
दशा चित्रा हि सूर्यस्य छायेव पृष्ठवर्तिनः ॥५५॥

विहृत्य श्रीज्ञानार्णवमुनिः किल रैनवालग्रामं समागतः। तत्रत्य-श्रावकद्वय-गुलाबचन्द्र रतनचन्द्र-गंगवालाख्यौ कुष्ठरोगेणासातोदयमनुभवतः स्म। मुनिभक्तिपरायणेन केनचित् श्रावकेणोक्तम्-गुरुदेवस्य पादोदकं भक्त्या प्रवन्द्य स्वहस्ते कुष्ठदिग्धे योजनीयम्। तेन च तौ गोचरसमये तत्पृष्ठलग्नेन पाद्यमादाय प्रतिदिनं तथैवाकुरुताम्। विंशतिदिनान्तरं तयोः कुष्ठरोगो विलीयते स्म। तदा सर्वे नागरिकाः विस्मिता अभवन्।

इति मुनिप्रणम्यसागरविरचिते अनासक्तमहायोगिनाममहाकाव्ये आचार्य विद्यासागरचरितव्यावर्णने गुरुगरिमाख्यानसंज्ञकः सप्तमः सर्गः समाप्तः।

ज्ञान, चारित्र और संयम से जो वृद्धि को प्राप्त हुए और महान व्यक्तियों में बढ़े हुए हैं। जिनकी तृष्णा जीर्ण (नष्ट) हो गयी है, जो राग-द्वेष से रहित हैं, वह संयम के समीचीन प्रभाव के कारण कभी खेद को प्राप्त नहीं होते हैं ॥५३॥

मुनि ज्ञानसागर जी की पंचेन्द्रिय के विषयों में गृद्धता नहीं रही। संसार में उनकी ख्याति/पूजा के विषय में भी इच्छा नहीं थी। ऐसे मनीषी को ग्रन्थों से क्या और उनकी प्रशंसा ग्रन्थमाला संस्था से क्या? कर्तव्य पूर्ति करना ही उनका सुख है ॥५४॥

नहीं चाहने वाले को सब कुछ प्राप्त होता है, चाहने वाले को कुछ नहीं प्राप्त होता है। यह विचित्र दशा है जैसे पीठ पीछे के सूर्य की छाया सामने दिखने पर भी पकड़ने में नहीं आती और मुख फेर लेने पर वही छाया पीछे हो जाती है ॥५५॥

श्री ज्ञानसागर मुनिराज विहार करके रैनवाल ग्राम में आ गये। वहाँ के दो श्रावक गुलाबचन्द्र गंगवाल और रतनचन्द्र गंगवाल कुष्ठरोग से असाता के उदय का अनुभव करते थे। मुनिभक्त परायण किसी श्रावक ने कहा-गुरुदेव का पादोदक भक्ति से वन्दना करके कुष्ठरोग से पीड़ित को अपने हाथों में लगाना चाहिए। जिससे वह दोनों श्रावक आहारचर्या के समय उनके पीछे-पीछे चले जाते और उनके गंधोदक को लाकर प्रतिदिन उसी प्रकार लगाते। बीस दिन के भीतर ही उन दोनों का कुष्ठरोग समाप्त हो गया। यह देखकर सभी नागरिक विस्मित हो गये।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला गुरुगरिमाख्यान संज्ञक सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

अष्टम सर्गः
गुरुदक्षिणा

दीक्षायाः किल विंशतिदिवसानन्तरं अजमेरपुरमागत्य काञ्चनाङ्गुलीयकेन निर्मापितशताष्टसुवर्णपुष्पैः सपरिवारो मल्लप्पा मुनिद्वयं पूजयामास। तदनु सभामध्ये समुत्थाय भाषणमारब्धम्। पादोनैकहोरापर्यन्तं स स्वपरिवारपरिचयान् हिन्दीउर्दूमिश्रभाषामाश्रित्य विद्याधरजन्मतः प्राक्दृष्टस्वप्नादिविषयान् मध्ये-मध्ये नानादृष्टान्तादिना सर्वजनग्राह्यवचनौघान् समुक्तवान्। १९६८ ई० तमे मासपर्यन्तमहर्निशमाहारदानस्वाध्याय-चर्चासेवादिकं सुविधाय तत्र समस्थात्। आजीवितं ब्रह्मचर्यव्रतं तावत् स गृहीतवान्। धर्मध्यानपरायणो वर्षानन्तरं १९६९ ई० तमे पुनरागत्य केसरगंजाजमेरविषये तत्सन्निधौ स व्यतीतवान्। तदा विद्यासागरमुनि ज्वरेण पीडितोऽभवत्। त्रयोदशवर्षीयोऽनन्तोऽपि ज्वरेण ग्रसितः। यदा ज्वरो न मन्दंगतस्तदा स्वकीये शयन-स्थाने ज्ञानसागरमुनिना स खल्वाकारितः। तत्पार्श्वे शयनेन ज्वरो विगतः। श्रीमन्ति तं दृष्टुमागतवती। 'नमोऽस्तु' इति निवेद्य सा उक्तवती स्वास्थ्यं कथंभूतम्? हस्तसङ्केतमात्रेण 'आम्' इति इङ्गितवान्॥

(अनुष्टुप्)

अन्ये सर्वे च सम्बन्धाः स्वार्थभित्तिं समाश्रिताः।
मातुः पुत्रेण सम्बन्धो धेनुरिव निसर्गजः ॥१॥

दीक्षा के बीस दिन बाद अजमेर नगर में आकर मल्लप्पा ने परिवार सहित अंगूठी बेचकर स्वर्ण के एक सौ आठ पुष्प बनवाये और उनसे दोनों मुनिराजों की पूजा की। उसके बाद सभा में खड़े होकर मल्लप्पा ने भाषण देना प्रारम्भ किया। हिन्दी-उर्दू मिश्र भाषा के आश्रय से उन्होंने अपने परिवार का परिचय तथा विद्याधर के जन्म से पहले देखे स्वप्न आदि विषयों का वर्णन तथा लोगों को अच्छे लगने वाले बीच-बीच में अनेक उदाहरणों के द्वारा लगभग डेढ़ घण्टे तक भाषण दिया। १९६८ ई० में एक महीने तक निरन्तर आहार दान, स्वाध्याय, चर्चा, सेवा आदि करके वहीं रहे। तभी मल्लप्पा ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत भी ग्रहण किया। एक वर्ष बाद १९६९ ई० में पुनः आकर केसरगंज, अजमेर में धर्मध्यान में कुशल मल्लप्पाजी ने गुरु की सन्निधि में व्यतीत किया। तभी मुनि विद्यासागरजी ज्वर से पीड़ित हो गए। तेरहवर्षीय अनन्त भी ज्वर से ग्रसित हो गए। जब ज्वर कम नहीं हुआ तब अपने शयन स्थान पर ज्ञानसागरमुनि ने मुनि विद्यासागरजी को बुला लिया। उनके पास शयन करने से ज्वर चला गया। तभी श्रीमंती मुनि विद्यासागरजी को देखने के लिए आई। 'नमोऽस्तु' निवेदित करके माँ ने कहा-स्वास्थ्य कैसा है? हाथ के संकेत मात्र से 'हाँ' ऐसा इशारा कर दिया।

अन्य सभी सम्बन्ध तो स्वार्थ की दीवाल के आश्रित हैं, किन्तु माता का पुत्र से सम्बन्ध गाय के समान प्राकृतिक है ॥१॥

दुःखं पुत्रवियोगस्य यथा मातुश्च जायते।
पितुर्भ्रातुश्च बन्धोश्च तथा न दृश्यते भुवि ॥२॥
माता स्नेहवशीभूता पुत्रं वा पुत्रमीक्षते।
सपूतो वा कुपूतो वा युवा ज्येष्ठो मुनिर्भवेत् ॥३॥

प्रवचनात् पूर्वं श्रीगुरुज्ञानसागरपठितणवकारमन्त्रं चत्तारिदण्डकपाठञ्च भाषापारतन्त्र्यादव-गन्तुमनन्त-शान्तिनाथौ शक्तौ उपत्रयोदश चतुर्दशवर्षीयो, गुरुसमनुज्ञावशात् कस्मिंश्चिद् दिवसे प्रवचनकरणार्थमुद्यतं विद्यासागरमुनिं सविनयं ''केन कारणेन भवान् निर्विण्णोऽभूदिति वैराग्यबीजमवश्यमेव वक्तव्यं'' मेवं निवेदयामासतुः।

आह सः-सदलगातः प्रायेण सप्तति कि० मी० दूरस्थिते शेडवाले ग्रामे सूरिवर्यः श्रीशान्तिसागरः समागतः। सदुपदेशश्रवणार्थं सपरिवारो नववर्षीयोऽहं तत्र गतः। तदा दृष्टान्तत्रयेणाशेषपरिषद् प्रबोधिता सूरिणा। तेषु द्वौ दृष्टान्तौ मम हृदये स्थितौ। वैराग्यबीजं तावदेवोप्तमित्यनुभवामि तथाप्यशक्तोऽहंगेहं परित्यक्तुम्।

तदाख्यानमेतत् कश्चिद् ब्राह्मणस्तरणविधिकरणाकुशलो वापिसकाशे स्थित्वा निमज्जति पुनरुन्मज्जति। इत्थमवलोक्य एको गोचारकः पृच्छति-किं करोति भवान्? अरे! मूढ! त्वं किं जानासि? एवं पृष्टे त्वया

पुत्र के वियोग का जैसा दुःख माँ का होता है, वैसा दुःख पृथ्वी पर पिता भाई और बन्धुओं को नहीं होता है ॥२॥

स्नेह के वशीभूत हुई माँ पुत्र को पुत्र के समान ही देखती है। फिर वह पुत्र चाहे सपूत हो अथवा कपूत हो, युवा हो, बड़ा हो अथवा मुनि हो ॥३॥

तेरह-चौदह वर्ष के अनन्तनाथ और शान्तिनाथ प्रवचन से पहले श्रीज्ञानसागर गुरुदेव के द्वारा जो णमोकार मन्त्र और चत्तारिदण्डक का पाठ पढ़ा जाता था, वह दोनों भाई भाषा की परतन्त्रता के कारण उतना ही समझ पाते थे। एक बार गुरु की आज्ञा से किसी दिन विद्यासागर मुनि प्रवचन करने के लिए जा रहे थे, तो विनय के साथ दोनों भाइयों ने निवेदन किया- ''आपको वैराग्य किस कारण से हुआ, वैराग्य का कारण अवश्य ही बताना चाहिए।''

मुनिराज ने कहा-सदलगा से लगभग सत्तर कि० मी० दूर शेडवाल गाँव में आचार्य श्रेष्ठ श्री शान्तिसागर जी आए थे। जब मैं नौ वर्ष का था, तब परिवार सहित सदुपदेश सुनने के लिए वहाँ गया था। उस समय तीन दृष्टान्तों के माध्यम से आचार्यदेव ने पूरी सभा को सम्बोधित किया था। उनमें से दो दृष्टान्त मेरे हृदय में स्थित हैं। मेरे मन में वैराग्य का बीज तभी अंकुरित हो गया था, फिर भी मैं घर छोड़ने के लिए उस समय असमर्थ था।

वह कथानक इस प्रकार है-कोई ब्राह्मण था, जो तैरना नहीं जानता था और वापी के निकट ही स्थित होकर डूबता और ऊपर आ जाता था। इस प्रकार देखकर एक ग्वाला पूछता है-आप क्या करते हैं? ब्राह्मण ने गर्व से कहा-अरे मूढ़! तू क्या जाने? तुझे पूछने से क्या मतलब? मैं जलदेवता

किम्? गर्वेणोवाच सः जलदेवतादर्शनं कुर्वे। विनम्रेण गोचारको मनसि चिन्तयति जलदेवतादर्शनं प्रददातीति शिरःकम्पनं विधाय स निर्गतः।

(उपजाति)

ततः प्रभाते जनसङ्कुलात् प्राक् मार्गेऽप्यदृश्ये स समागतो हि।
धन्योऽस्मि नूनं तु यदद्य चाह - मब्देवतादर्शनमाप्नुयां च ॥४॥
विना विचारं स्वमनःसमास्था - बलेन तस्यां स पपात शीघ्रं।
कृत्वा सुसङ्कल्पविधिं स्वयं हि श्रद्धा न बद्धा कुलधर्मबुद्ध्या ॥५॥
पश्चात् स विप्रो निजधर्मदर्पो यदा समागच्छति तत्प्रदेशे।
महाजनाघट्टनशब्दसार्थं तदा स पश्यन् किल विस्मयेन ॥६॥
किमभवदहो येन जनसम्मर्दताऽत्र भोः।
कश्चिन्निमज्जितः प्रात-र्बहिर्नायात उच्यते ॥७॥
अहो मूढो मृतो व्यर्थे व्यर्थे प्राणैर्विमुच्यते।
आयाति न क्वचित् काचिद् देवता प्राणरक्षणे ॥८॥

इत्थं विचिन्त्य स द्विजः पश्यति जलमध्ये बहिरायातु इति चोच्चैरुवाच। अर्धहोरापर्यन्तं स किल तत्रैव जलदेवतां स्मरन् निमज्जितवान्। तस्य निश्छलश्रद्धातस्तदा देवता प्रसन्नीभूय प्रकटिता तमुक्तवती च–

का दर्शन करता हूँ। ग्वाले ने विनम्रता से मन में विचार किया ''जल देवता दर्शन देते हैं।'' इस प्रकार शिर हिलाकर के वह चला गया।

उसके बाद वह सुबह होते ही अंधेरे में चलते हुए लोगों की भीड़ होने से पहले ही उस स्थान पर आ गया। निश्चित ही मैं धन्य हूँ, जो आज मैं जल देवता का दर्शन करूँगा ॥४॥

अपने मन की आस्था के बल से बिना विचार किये ही वह ग्वाला उस बावड़ी में शीघ्र ही अपने मन में संकल्प विधि को करके कूद गया। ठीक ही है श्रद्धा कभी भी कुल, धर्म और बुद्धि से नहीं बंधती है ॥५॥

थोड़ी देर बाद अपने धर्म में घमण्ड रखने वाला ब्राह्मण उसी स्थान पर आता है और वहाँ वह तभी बहुत भारी भीड़ तथा शोरगुल विस्मय से देखता है ॥६॥

अरे! बताओ तो क्या हो गया है? जिस कारण से यहाँ इतनी भीड़ लगी है। किसी ने कहा– कोई यहाँ प्रातः आकर डूब गया और बाहर नहीं आया है ॥७॥

ब्राह्मण ने सोचा–अहो! वही मूर्ख व्यर्थ में मारा गया, व्यर्थ में ही प्राण छोड़ दिये। प्राणों की रक्षा के लिए कहीं कोई देवता नहीं आता है ॥८॥

ऐसा सोचकर वह ब्राह्मण जल में देखता है और खूब चिल्लाकर कहता है–बाहर आ। वह ग्वाला आधा घण्टे तक उस बावड़ी में जलदेवता का स्मरण करता हुआ डूबा रहा। उस ग्वाले की

किमिच्छति भवान्? स प्राह–न किमपि अपि तु भवद्दर्शनमेव। 'तथाऽस्तु' इत्युक्त्वा साऽलक्ष्यतां गता। स उपरि समागत्य बहुजनमध्ये द्विजस्य चरणं स्पृष्ट्वा 'महानुपकारः कृतः' इति कृतज्ञतां निवेदयति। तदा ब्राह्मणः कथयति–मृषोक्तं मया न द्रष्टा काचित् कदापि देवता। अद्यदिवसात् त्वमेव मम गुरुः चरणेषु लग्नो रुदन् सन्नाह–''का नाम श्रद्धा'' इति विज्ञातम्।

अथ द्वितीया कथा– एकः चौरः स्वपुत्रं शिक्षति– कदाऽपि दिगम्बरमुनेः प्रवचनं न शृणुयात्। एकदा स चौरपुत्रः चौरिकां कृत्वा प्रधावति। मध्यपथे तस्य पादे शल्यं बिद्धं। तदपकर्षणाय सः स्थितः। तदानीं दिगम्बरमुनेः प्रवचनं तस्य कर्णे जातं। तेन श्रुतम्–''सत्यमेव जयते'' अर्थात् सत्यवादी सदैव विजयते। मुनेः प्रवचनं श्रुत्वा स विचारयति– अति सुन्दरं प्रवदति मुनिः, कथं पुनः पित्रा निवारितम्। तेन मुनिवचनानि परीक्षायोग्यानि इति चिन्तितम्। अपरेद्युः तेन मनसि निश्चतं अद्य अहं सत्यमेव वदामि। तद्दिवसे स राजप्रासादे चौरार्थं गतः। द्वारपालैः प्रतिद्वारं पृष्टं–कुत्र गच्छसि? स वदति–चौरार्थम्। कोऽसि? अहं चौरः। एवं वदति तस्मिन् न कोऽपि विश्वसिति। स राजप्रसादे राजकोषात् प्रभूतधनं संगृह्य बहिरागतः। नगरस्य बहिः वृक्षमधःप्रसन्नतया तिष्ठति। पश्चात् प्रासादे चौरस्य गवेषणा कृता। चौरः गृहीतः। तेन नियमः पुनः

निश्छल श्रद्धा से तभी जलदेवी प्रसन्न होकर प्रकट हुई और कहने लगी–आप क्या चाहते हो? ग्वाले ने कहा–कुछ नहीं, केवल आपका दर्शन ही चाहता हूँ। 'तथाऽस्तु' ऐसा कहकर वह देवी फिर अदृश्य हो गई। वह ग्वाला बावड़ी से ऊपर आकर बहुत भीड़ के बीच में उस ब्राह्मण के चरण छूकर निवेदन करता है कि–आपने महान उपकार किया है। तभी ब्राह्मण ने कहा–मैंने तो झूठ बोला था। मैंने कभी कोई देवता नहीं देखा। आज से तुम मेरे गुरु हो ऐसा कहकर ग्वाले के चरणों में गिरकर वह रोते हुए कहने लगा– ''श्रद्धा किसे कहते है?'' यह अब मुझे ज्ञात हो गया है।

दूसरी कथा इस प्रकार है–एक चोर अपने पुत्र को शिक्षा देता है, कि कभी भी दिगम्बर मुनि के प्रवचन नहीं सुनना। एक बार वह चोर पुत्र चोरी करके दौड़ रहा था। रास्ते में उसके पैर में काँटा चुभ गया। उसको निकालने के लिए वह रुक गया। उसी समय पर दिगम्बर मुनि के प्रवचन उसके कान में पड़ गये। उसने सुना–''सत्यमेव जयते'' अर्थात् सत्यवादी की सदा विजय होती है। मुनि के प्रवचन सुनकर वह विचार करता है, कि मुनि बहुत अच्छा बोलते हैं, फिर पिता ने क्यों रोक रखा था? उसने विचार किया कि मुनिराज के वचनों की परीक्षा करनी चाहिए। दूसरे दिन उसने मन में निश्चित किया, कि आज मैं सत्य ही बोलूँगा। उस दिन वह राजमहल में चोरी करने के लिए गया। द्वारपालों के द्वारा प्रत्येक द्वार पर पूछा गया–कहा जा रहे हो? वह कहता है–चोरी करने के लिए। किसी ने पूछा–कौन हो तुम। उसने कहा–मैं चोर हूँ। इस प्रकार उसके कहने पर किसी ने विश्वास नहीं किया। वह राजमहल में राजकोष से बहुत सारा धन लेकर बाहर आ गया। नगर के बाहर वृक्ष के नीचे प्रसन्नता से बैठ गया। बाद में महल में चोर की खोज की गई, चोर पकड़ लिया गया। उसने पुनः नियम लिया मैं सत्य ही बोलूँगा। वह राजा के समक्ष उपस्थित हुआ। राजा पूछता है–तुम कौन

वाहितः, अहं सत्यं वदामि। राजसमक्षे उपस्थितः सः। राजा पृच्छति–कोऽसि? चौरः अहं। अस्मिन् गुण्ठितवस्त्रे किमस्ति? चोरितं धनम्। राजा अपि न विश्वसिति। धनं अवलोक्य राजा पुनरपि पृच्छति–किमर्थं आगतः? चोरः कथयति–धनप्रदानाय। तदपि कथम्? मया मुनिवचनस्य परीक्षार्थं एवं कृत्। पश्चात् स मुनिसमीपं आत्महिते प्रवर्तते।

इति श्रुत्वा सर्वे प्रसन्ना अभवन्। मासद्वयपर्यन्तं मल्लप्पा सपरिवारस्तत्र ज्ञानवैराग्यसेवाप्रभृतिभावनया पुण्यार्जनं कृत्वा यदा स्वगृहं गन्तुमुद्यतस्तदा रुदितवती श्रीमन्ति गदगद्वाण्या आशीर्वादं याचितवती। मस्तकोपरि पिच्छिकां निधाय ''आर्यिका भव, कल्याणं भवतु'' इत्याशिषं दत्तवान् मुनिविद्यार्णवः।

स्वयमपि शास्त्रसङ्गतिमना गुरुज्ञानसागरः स्वाध्यायसंलग्नः स्वशिष्यमपि रुचिना पाठयति स्म। शनैः शनैः अष्टसहस्रीसन्निभक्लिष्टग्रन्थमपि मिष्टतया शशास। प्रमेयरत्नमालापठनकालेऽतिशुष्कविषयेऽपि क्वचित् मध्ये मध्ये स्वल्पकौतुकमपि समभवत्। एकदा गुरुणोक्तं–शीतोष्णस्पर्शद्वयानां परस्परविरुद्धानां समं समवस्थानं न भवति। तदैव शिष्यः प्राह– गुरुदेव! तदपि संभवेत् । शीतस्पर्शवन्तं हस्तमन्येन हस्तेन संघट्य स दर्शयति– पश्य! स्पर्शद्वयमपि सममनुभवामि। मन्दहासेन गुरुराह–तथापि अनुभवस्त्वेककाले एकस्यैव भवति। दीक्षोपरान्तं प्रथमं मूलाचारग्रन्थस्य स्वाध्यायोऽभवत्। तदुपरान्तं 'मूलाचारप्रदीपः' इति शास्त्रं पठनार्थं प्रदत्तम्।

हो? वह कहता है– मैं चोर हूँ। राजा ने पूछा–इस छिपे हुए वस्त्र में क्या है? उसने कहा–चुराया हुआ धन। राजा भी उसका विश्वास नहीं करता है। धन को देखकर राजा पुनः पूछता है–किसलिए आए हो? चोर कहता है–धन देने के लिए। ऐसा क्यों? चोर ने कहा–मैंने मुनि के वचनों की परीक्षा करने के लिए इस प्रकार किया था। बाद में वह चोर मुनि के समीप जाकर के आत्महित में प्रवृत्त हो गया।

इस प्रकार दृष्टान्त को सुनकर सभी लोग प्रसन्न हुए। दो महीने तक मल्लप्पा परिवार सहित वहीं केसरगंज अजमेर में ज्ञान, वैराग्य, सेवा आदि की भावना से पुण्यार्जन करके जब अपने घर चलने के लिए उद्यत हुए, तभी श्रीमंती माँ ने गद्गद वचनों से आशीर्वाद की याचना की। मुनि विद्यासागर ने उनके मस्तक पर पिच्छी रखकर ''आर्यिका बनो, तुम्हारा कल्याण हो'' ऐसा आशीष दिया।

शास्त्र संगति में मन लगाने वाले गुरु ज्ञानसागरजी स्वयं तो स्वाध्याय में संलग्न रहते ही थे साथ–साथ अपने शिष्य को भी रुचि पूर्वक पढ़ाते थे। धीरे–धीरे अष्टसहस्री जैसे क्लिष्ट ग्रन्थ को भी उन्होंने मिष्ट रूप से पढ़ा दिया। प्रमेयरत्नमाला पढ़ने के समय अति नीरस विषय होने पर भी कही बीच–बीच में थोड़ा कौतुक भी हो जाता था। एक बार गुरुजी ने कहा–शीत और उष्ण दोनों स्पर्शों का जो कि परस्पर में विरुद्ध हैं उनका एक साथ रहना नहीं होता है। तभी शिष्य ने कहा– गुरुदेव! वह भी सम्भव है। ठण्डे हाथ को दूसरे हाथ से मलकर वह दिखाते हैं, देखो! दोनों स्पर्शों का एक साथ अनुभव कर रहा हूँ। मन्द–मन्द हँसते हुए गुरुजी ने कहा–फिर भी अनुभव तो एक समय में एक का ही होता है। दीक्षा के बाद पहले मूलाचार ग्रन्थ का स्वाध्याय हुआ। उसके बाद गुरुजी ने 'मूलाचार प्रदीप' शास्त्र को पढ़ने के लिए दिया। मुनि विद्यासागरजी ने उस ग्रन्थ को मूल

मूलश्लोकपाठेन सह पञ्चदशदिवसेषु मुनिविद्यार्णवेन स्वयं पठितम्। आचरणस्य शिक्षा प्रायोगिकी शिष्येण गृहीता, न केवलं कण्ठगता। वृद्धोऽपि गुरुः कदापि न शैथिल्येन वर्तते। हस्तावलम्बनेन गुरुणा सह प्रस्रवणार्थं गत्वा पुनरागत्योपाश्रयसमीपे चरणं प्रक्षाल्य निकटनिहितकरवस्त्रमुत्थाप्य जलसंमार्जने समुद्युक्तं शिष्यमवलोक्य गुरुणोक्तम् भवत्करे करवस्त्रं कुतः समागतम्? इति श्रुत्वा स तं विमुच्य गुरोराशयमवबुध्य तदाप्रभृति स पुनर्न गृहीतवान्। स्वजीवने गुरुणा शताष्टवारं सर्वार्थसिद्धिग्रन्थः समधीतः। ज्ञानार्जनेन सहावश्यकक्रियां कालेन निष्ठाप्य ज्ञानक्रियाकरणकुशलो निजानन्दमखेदेनानुभवति स्म। प्रतिक्रमणक्रियां भावशुद्ध्या समाप्य यदा गुरुदेव उत्तिष्ठवान् तदा हि कश्चिदाह–कियत्कालेन दीक्षितोऽसि भगवन्? गुरुरुवाच–अविलम्बेन दीक्षितोऽस्मि। शिष्यः श्रीगुरोर्वचनं सम्यक् समादाय मनसि मोदते पदे पदे गुणग्रहणनिपुणः शिक्षामपूर्वां च गृह्णाति स्म। क्रीडामात्रेण सर्वविषयावगमो गुरुणा व्यधायि। पश्य विद्यासागर! शब्दालङ्कारस्तु शब्दानां गणितः। अर्थालङ्कारेण सहैव हि जायते आनन्दः। क्वचित्तु शब्दालङ्कारेऽपि भावगाम्भीर्यं दृश्यते यथा–''ये साक्षरा भवन्ति ते विलोमरूपेण राक्षसा भवन्ति।'' इति संस्कृतभाषा विद्वद्भोग्या स्यात्। न केवलं शब्द–न्यायसिद्धान्त–शास्त्राणामध्यापनमपितु समीचीनदृष्टान्तमाध्यमेन विषयावबोधनं गुरुणा क्रियतेस्म। लोभो

श्लोक पाठ के साथ पन्द्रह दिन में स्वयं पढ़ लिया। आचरण की शिक्षा भी शिष्य ने प्रायोगिक ही ग्रहण की थी, उनको वह शिक्षा मात्र कण्ठगत नहीं थी। गुरु महाराज वृद्ध होकर भी कभी भी शिथिलता से आचरण नहीं करते। मुनि विद्यासागरजी लघुशंका के लिए हाथ का सहारा देकर गुरुजी के साथ गए। वापस आकर वसतिका के समीप चरणों का प्रक्षालन करके पास में रखे हुए नेपकिन (पोंछने का कपड़ा) को उठाकर जल पोंछने के लिए उद्यत हुए। शिष्य को देखकर गुरुजी ने कहा–आपके हाथ में यह वस्त्र कहाँ से आ गया? ऐसा सुनकर वह उस कपड़े को छोड़कर उनके अभिप्राय को जान गए और उसके बाद फिर कभी उन्होंने पुनः उसे ग्रहण नहीं किया।

अपने जीवन में गुरुजी ने एक सौ आठ बार सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ पढ़ा। ज्ञान के अर्जन के साथ आवश्यक क्रियाओं को समय से पूर्ण करके ज्ञान और क्रिया करने में कुशल गुरु आत्मानन्द का अनुभव भी बिना खेद के करते थे। भावशुद्धि से प्रतिक्रमण क्रिया समाप्त करके जब गुरुदेव उठ खड़े हुए, तभी किसी ने कहा–भगवन्! आप कितने समय से दीक्षित हैं? गुरुजी ने कहा–अभी–अभी तो दीक्षित हुआ हूँ। श्री गुरुजी के वचनों को शिष्य अच्छी तरह सुनकर मन में धारण करके हर्षित होते और पग–पग पर गुणों को ग्रहण करने में निपुण अपूर्व शिक्षा को ग्रहण करते रहते थे। क्रीड़ा मात्र में ही श्रीगुरु ने सभी विषयों का ज्ञान शिष्य को करा दिया। विद्यासागर! देखो! शब्दालंकार तो शब्दों का गणित है। अर्थालंकार के साथ ही आनन्द उत्पन्न होता है। कभी–कभी शब्दालंकार के साथ ही आनन्द उत्पन्न होता है। कभी कभी शब्दालंकार में भी भाव गाम्भीर्य देखा जाता है। जैसे–''ये साक्षरा भवन्ति ते विलोम रूपेण राक्षसा भवन्ति।'' अर्थात् जो साक्षरा होते हैं, वे विलोम रूप से राक्षसा होते हैं। इस प्रकार संस्कृत भाषा विद्वद्भोग्या है। केवल शब्द, न्याय,

हि पापस्य खनिरित्येकदा दृष्टान्तेनावबोधितम्–कश्चित् तपस्वी शून्यागारेऽतिष्ठत्। तस्य निर्लोभवृत्तेश्चर्चा सर्वत्र प्रासरत्। स न कमपि अपश्यत् न केन सह वार्तालापमकरोत्। काचित् देवकन्या तस्य तपःपुण्यं भस्मासात्कर्तुमुद्युक्ता। सा पश्यति–कथमपि न वशीभवत्यम्। न किमपि गृह्णाति। तया विज्ञातः–मासान्तरेणैकदा वृक्षस्य फलं हि किञ्चित् स समादत्ते। ततः फलममृतबिन्दुना संलिप्य अदृश्या जाता। फलमास्वाद्य स पुनरपि तममृतसदृशस्वादं ग्रहीतुं बहिरागतः। तथा फलस्योपरि पुनश्चामृतसिंचनं कृतम्। एवं फलस्यास्वादनाय स लुब्धो भूयोभूयः बहिरायाति तदा सा तं स्वरूपसौन्दर्येण मोहितुं सफलीभूता। लोभेने तपस्वी भ्रष्टोजातः। तेनोक्तं–

(आर्या)

लोभो निशुंभनीयो धर्मसंरक्षणाय सतां नित्यम्।
फललोभेन हि भ्रष्टस्तपश्चर्येण सो तप्तोऽपि ॥९॥
जिह्वालोलुपजीवो ब्रह्मव्रतं कदापि न हि पालयति।
व्रतमन्यद् वद तिष्ठति कथं मनःसंयमाभावे ॥१०॥
निर्लोभेन हि वृत्त्या धर्मप्रभावना स्थायिनी भवति।
प्रतिमाद्वयसंव्रतिकस्तामपि कर्तुं समर्थः स्यात् ॥११॥

सिद्धान्त शास्त्रों का ही अध्ययन गुरुजी नहीं कराते थे, अपितु समीचीन दृष्टान्त के माध्यम से विषय का ज्ञान भी गुरु के द्वारा कराया जाता था। लोभ ही पाप की खानि है। यह बात एक बार दृष्टान्त से समझाई–कोई तपस्वी किसी शून्य स्थान में रहता था। उस तपस्वी की निर्लोभवृत्ति की चर्चा सर्वत्र फैली थी। वह किसी को भी नहीं देखता था और किसी के साथ वार्तालाप भी नहीं करता था। कोई देवकन्या उस तपस्वी के तप से अर्जित पुण्य को भस्मसात् करने के लिए तत्पर हुई। वह देखती है, कि यह तो किसी प्रकार भी वश में नहीं आ रहा है। यह कुछ भी ग्रहण नहीं करता है। उसने जाना कि यह एक महीने बाद एक बार वृक्ष का थोड़ा–सा फल ही ग्रहण करता है। उस फल में अमृत की बूँदें लगाकर वह अदृश्य हो गई (फल का स्वाद लेकर वह फिर से अमृत समान स्वाद को ग्रहण करने के लिए बाहर आ गया। उस देवी ने फल के ऊपर पुनः अमृत सिञ्चन किया। इस तरह फल का स्वाद लेने के लिए वह लुब्ध हुआ बार–बार बाहर आने लगा, तभी वह देवी उस तपस्वी को अपने रूप के सौन्दर्य से मोहित करने में सफल हो गई। लोभ के कारण तपस्वी भ्रष्ट हो गया।

इसलिए ही कहा है–धर्म का संरक्षण करने के लिए सज्जनों को हमेशा लोभ का नाश करना चाहिए। वह तपस्वी तपश्चर्या से तप्त होकर भी फल के लोभ से भ्रष्ट हो गया ॥९॥

जिह्वा लोलुपी जीव ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कदापि नहीं कर सकता है। मनःसंयम के अभाव में बताओ उसमें व्रत कैसे रह सकते हैं? ॥१०॥

लोभ रहित आचरण के द्वारा धर्म प्रभावना स्थायी होती है। दो प्रतिमा धारी व्रतीजन भी ऐसी प्रभावना करने में समर्थ हो सकता है ॥११॥

१९६९ ई० तमे मुनिज्ञानसागरेण मुनिविवेकसागरस्य प्रवज्या संपादिता। तदैव दीक्षासमये समाज-प्रतिष्ठितजनैः सर्वसाक्षिकेणाचार्यपदस्योद्घोषणा कृता। परोपकाराय स्वीकृतं तत्पदं तस्य निर्वहणायैव जातं न गर्वाय। आचार्यपदेनालङ्कृतः सामाजिकैः सः। वृद्धदशायां संघस्याभिवृद्धिरभूत्। सङ्घसञ्चालने गुरोः साहाय्येन सदैव तत्परो मुनिविद्यार्णवोऽदृश्यत। एकस्मिन् दिवसे गुरुवर्यस्य केशलुञ्चनं कृत्वा दीपचन्द्र-ब्रह्मचारिणश्च कृत्वा स्वस्यापि कृतमिति बहुलपरिश्रमेण ज्वरेण पराभूतः सः। सः खलु नियमेन प्रातः सायंकाले च होरापर्यन्तं व्याधिपीडितं गुरुदेवं मर्दनेन तैलेन रुचितो वैयावृत्यमकरोत्।

(आर्या)

व्यापत्तेरपनोदो रत्नत्रयधरस्य येनात्र कृतः।
नित्यं तेन सुकृतिना निजीयप्रत्यवाहो निहतः ॥१२॥

कथनेन विनान्यस्या-न्यस्य सेवातत्परः स्वभावेन
अनुरागश्च सधर्मिणि सम्यग्दृष्टेर्लक्षणं स्यात् ॥१३॥

(इन्द्रवज्रा)

सौभाग्यलब्धा गुरुदेवसेवा रत्नत्रयस्यैव समं हि सेवा।
सेवातपः सर्वतपस्तु गीतं श्रेष्ठं विधेर्निर्जरकारणञ्च ॥१४॥

ऐसे मुनि ज्ञानसागरजी ने १९६९ ई० में मुनि विवेकसागरजी की दीक्षा सम्पादित की। तभी दीक्षा के समय संघस्थों ने और समाज के प्रतिष्ठित लोगों के द्वारा सर्व साक्षीपूर्वक आचार्यपद की घोषणा की गई। परोपकार के लिए उन्होंने उस पद को स्वीकार किया और वह पद उनके निर्वहन (धारण) करने के लिए ही था, गर्व के लिए नहीं था। वह समाज के द्वारा आचार्यपद से अलंकृत हुए। वृद्ध अवस्था में संघ की वृद्धि हुई। संघ संचालन में गुरु की सहायता के साथ मुनि विद्यासागरजी हमेशा तत्पर दिखते थे। एक दिन गुरुदेव के केशलोंच करके फिर दीपचन्द्र ब्रह्मचारीजी के केशलोंच करके अपने भी लोंच किये। इस बहुत परिश्रम के कारण मुनि विद्यासागरजी को बुखार आ गया। वह नियम से प्रातःकाल और सायंकाल के समय एक घंटे तक गठियावात (साइटिका) रोग से पीड़ित गुरुदेव की तैल मर्दन के द्वारा रुचिपूर्वक वैय्यावृत्ति करते थे।

रत्नत्रयधारी श्रमण की आपत्ति को जिसने यहाँ दूर किया है, उस पुण्यवान जीव ने हमेशा के लिए मोक्षमार्ग सम्बन्धी अपने विघ्नों का नाश कर लिया है ॥१२॥

किसी दूसरे के कहे बिना स्वभाव से ही दूसरे की सेवा में तत्पर होना तथा साधर्मी में अनुराग रखना यह सम्यग्दृष्टि के लक्षण हैं ॥१३॥

गुरुदेव की सेवा सौभाग्य से प्राप्त होती है और इसमें रत्नत्रय की भी साथ-साथ सेवा हो जाती है। सेवा अर्थात् वैय्यावृत्ति तप सभी तपों में श्रेष्ठ कहा गया है और यह तप कर्म की निर्जरा का कारण है ॥१४॥

केशलोंच करते हुए मुनि विद्यासागर
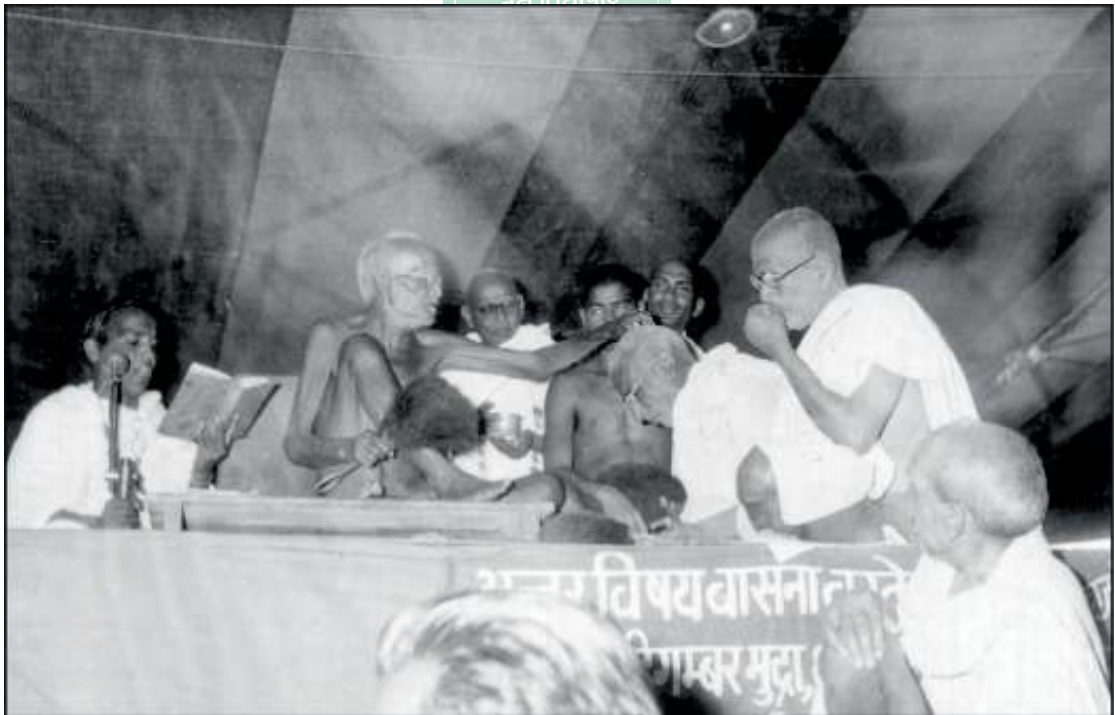
विवेकसागरजी को दीक्षा देते हुए ज्ञानसागरजी महाराज साथ में मुनि विद्यासागरजी

(उपजाति)

दुःखापहारी भवनाशकारी गुरुदेवसेवा शिवसौख्यकारी।
सौभाग्यवन्तः समुपात्तपुण्यैरेतत्सुकार्यं भुवि ते लभन्ते ॥१५॥
चित्ते प्रसत्तिः स्थिरता सुमार्गे स्वस्यापि रुग्णस्य च दर्शकस्य।
विश्वासवृद्धिश्च वृषप्रवाहस्तपोगुणेनैव च तत्त्रयस्य ॥१६॥

(आर्या)

अवशिष्टे सति समये पठने खलु लेखने षडावश्ये।
रचिता च शारदास्तुति-रिह द्रुतविलम्बितच्छन्दसि ॥१७॥
रचना च दर्शिता सा श्रीगुरुवर्यस्य तेन शिष्येण।
दृष्ट्वैतां स हृष्टः शिष्योन्नतिदर्शनाद् हर्षात् ॥१८॥
पञ्चास्तिकायशास्त्रं कन्नड़भाषायामनूदितं वै
कल्याणमन्दिरस्य च पुनरेकीभावस्य च तथा ॥१९॥
स्तोत्रस्यैतयोरपि हि हिन्दीभाषानुवादकार्येण।
पद्यमयं खलु कलितं ललितं ज्ञानाभिवृद्धिमुदा ॥२०॥
जम्बूस्वामिसुचरितं रचितं च चोरितं केन मनुजेन
इति लाभालाभेऽपि च समताचरितं मतं मुख्यम् ॥२१॥

गुरुदेव की सेवा दुःखों को दूर करने वाली, संसार का नाश करने वाली तथा शिव (मोक्ष) सुख को करने वाली है। अर्जित किए पुण्य से सौभाग्य वाले पुरुष ही इस श्रेष्ठ कार्य को पृथ्वी पर प्राप्त करते हैं ॥१५॥

इस तप के गुणों के द्वारा स्वयं को, रोगी को और देखने वाले इन तीनों के चित्त में प्रसन्नता आती है, समीचीन मार्ग में स्थिरता आती है, विश्वास में वृद्धि अर्थात् धर्म के प्रति श्रद्धान दृढ़ होता है और धर्म का प्रवाह बढ़ता है ॥१६॥

जो समय बचता था, उसे वह पढ़ने में, लेखन में और षट्आवश्यकों में लगाते थे। उन्होंने यहाँ शारदा स्तुति द्रुत विलम्बित छन्द में रची ॥१७॥

शिष्य ने जब वह स्तुति गुरुवर्य को दिखाई तो वह उसे देखकर प्रसन्न हुए। इस प्रसन्नता का कारण शिष्य की उन्नति को देखने से उत्पन्न हर्ष था ॥१८॥

मुनि विद्यासागरजी ने कन्नड़ भाषा में पञ्चास्तिकाय शास्त्र का अनुवाद किया। कल्याणमन्दिर स्तोत्र और एकीभाव स्तोत्र इन दोनों का हिन्दी भाषा में पद्यानुवाद किया और ज्ञान की वृद्धि के हर्ष से वह पद्यानुवाद बड़े मनोहर हैं ॥१९-२०॥

जम्बूस्वामी का श्रेष्ठ चरित्र भी मुनि विद्यासागरजी ने रचा। उसे किसी मनुष्य ने चुरा लिया। इस प्रकार लाभ-अलाभ में भी समता चारित्र ही उन्होंने मुख्य माना ॥२१॥

गुरुणा सह विहारकालेऽपि हस्तावष्टम्भेन गमनं प्रत्येकं क्रियासु सावधानमनाः सन् स प्रवर्तते। गुरुरपि वृद्धावस्थायामपि यथाशक्ति व्यवहरत्।

(अनुष्टुप्)

वार्धक्येऽपि विहारं स कुरुते चित्तशुद्धये।
एकस्थानेऽधिकं वासो मतो रागाभिवृद्धये ॥२२॥

अजमेर-नगरे सोनीजीनिषिद्यिकाप्राङ्गणे श्री ज्ञानसागरसूरिः केशलुञ्चनोपरान्तं विराजमानः आसीत्। तदा द्वौ विदेशिनौ फ्रांसस्विटजरलैंडवासिनौ निषिद्यकायाः पृष्ठभागे विश्वप्रसिद्धां साकेतनगरीं दृष्ट्वा आचार्यदेवस्य दर्शनेन विस्मितौ जातौ।'टीकमचन्द्रहाईस्कूल' इति विद्यालयस्य प्रधानाध्यापकः मनोहरलालः आंग्लभाषायां मुनिवृत्तिं व्याख्यायितवान्। महाराजस्य नाम्नः प्रष्टे सति स अवदत्-''Ocean of Knowledge''(ज्ञान का सागर)। तत्पश्चात् द्वौ छायाचित्रार्थं सह प्रार्थितवन्तौ। धर्मप्रभावनार्थ-मेतत्करणीयमिति प्रधानाध्यापकेन कथिते सति गुरुदेवेन स्वीकृतिर्दत्ता। पुनरपि भूयो विनयेन प्रार्थितं यत्-कायोत्सर्गमुद्रायां भवता सह छाया? खलु विदेशे दिगम्बरमुद्रादर्शनार्थमत्यावश्यकम्। स्वमनोभिलाषपूर्तौ तौ हर्षितवन्तौ गतौ। श्रीमतिकनकजैनस्य श्वसुरेण मानकचन्द्रजैनेन प्रत्यक्षेण दृष्टमेतत्।

तेनैव श्रुतं यत् किशनगढे संस्कृतविद्यालये पं० भूरामलस्य मूर्ते अरावरणं कृतम्। तदायोजनसमये

गुरु के साथ विहार काल में भी हाथ के आलंबन से गमन करते थे और प्रत्येक क्रियाओं में सावधानमना होकर वह प्रवृत्ति करते थे। गुरुदेव भी वृद्ध अवस्था में यथाशक्ति विहार करते थे।

वृद्धावस्था में भी वह चित्त की शुद्धि के लिए विहार करते रहे। एक स्थान पर अधिक रहना राग की वृद्धि का कारण माना गया है ॥२२॥

अजमेर नगर में, सोनीजी की नसियां में, प्रांगण में, श्री ज्ञानसागर आचार्य केशलुंचन के उपरान्त विराजमान थे। तभी फ्रांस और स्विटजरलैण्ड के निवासी दो विदेशी नसिया के पिछले भाग में विश्वप्रसिद्ध साकेत नगरी देखकर आचार्यदेव के दर्शन से विस्मित हुए। वहाँ ''टीकमचन्द्र जैन हाई स्कूल'' विद्यालय के प्रधानाध्यापक श्री मनोहरलालजी अंग्रेजी भाषा में मुनिचर्या का व्याख्यान किए। जब उन अंग्रेजों ने महाराज का नाम पूछा तो उन्होंने कहा-'ऑसन ऑफ नॉलिज' अर्थात् ज्ञान का सागर। उसके बाद दोनों विदेशियों ने उनके साथ छाया चित्र खिंचाने की प्रार्थना की। प्रधानाध्यापक ने कहा कि धर्म प्रभावना के लिए यह करना चाहिए ऐसा कहने पर गुरुदेव ने स्वीकृति प्रदान की। पुनः फिर विनय के साथ प्रार्थना की कि आपके साथ कायोत्सर्ग की मुद्रा में फोटो विदेश में दिगम्बर मुद्रा को दिखाने के लिए अति आवश्यक है। उनके मन की इच्छा पूर्ति होने पर दोनों विदेशी हर्ष के साथ चले गये। इस घटना को श्रीमती कनक जैन के श्वसुर मानकचन्द्र जैन ने प्रत्यक्ष देखी।

एक बार उन्होंने ही सुना कि किशनगढ़ के संस्कृत विद्यालय में पं० भूरामल की प्रतिमा का अनावरण हुआ। इस आयोजन के समय संस्कृत के महान् विद्वान् के कर्तव्य की प्रशंसा अनेक विद्वान्

संस्कृतविदुषः प्रशंसा अनेकविद्वद्भिः कृता। एकः समाह–पं० भूरामलस्य संस्कृतं प्रतिबोद्धुं क्वचित् क्व चिदुपलब्धशब्दकोशा अपि अपर्याप्ता दृश्यन्ते।

मण्डा–भैंसलाना–कांटाबालू–फुलैरादिस्थानेषु विहरमाणेन यदा श्रीज्ञानसागरेण श्रुतं यत्–धर्मसागराचार्यमहाराजस्य सङ्घः समायाति तदा हर्षेण प्रागेव किशनगढमागत्य तदागमनार्थं विद्यासागर– क्षु० सन्मतिसागर–क्षु० सुखसागर–प्रभृतिपञ्चसाधुभिः सह ज्ञानसागरसूरिः समाजगाम।

सभामध्ये प्रथमं भवान् सिंहासनमुपतिष्ठतु इति ज्ञानार्णवेनेङ्गितं, समीक्ष्य तत् श्रीधर्मसिन्धुसूरिरुवाच नैव, भवान् प्रथमं तिष्ठतु ज्ञानवृद्धत्वात्। तदाह श्रीज्ञानसिन्धुसूरिः नैवं भवान् तपोवृद्धोऽस्ति इति परस्परादरेण उभौ विराजितौ ऋजुधर्मवासितौ। उभयाचार्यस्य जयकारेण पूरितं सभाङ्गणम्। सत्यमेव–

(इन्द्रवज्रा)

वृद्धेषु वृद्धोऽत्र गभीरतायां बालेषु बालः ऋजुधर्मतायाम्।
विद्वत्सु विद्वान् पटुवाचनायां सर्वानुकूला महतां प्रवृत्तिः ॥२३॥

लोगों ने की थी। उनमें से एक कहते हैं कि पं० भूरामल की संस्कृत को समझने के लिए कहीं–कहीं उपलब्ध शब्दकोश भी अपर्याप्त दिखाई देते हैं। उन्होंने यह भी देखा कि जो अब वर्तमान में मुनि ज्ञानसागरजी हैं, वह प्रायश्चित के समय पर आचार्य विद्यासागरजी के चरणसन्निधि में भूमि पर बैठकर गवासन से प्रायश्चित की याचना करते थे–भो! गुरुदेव! कृपा करो। इन शब्दों से वह बहुत बार उनसे कहते थे।

मण्डा, भैंसलाना, काँटा, बालू, फुलेरा आदि स्थानों पर विहार करते हुए जब उन्होंने सुना कि धर्मसागर आचार्य महाराज का संघ आ रहा है, तब हर्ष से वह पहले से ही किशनगढ़ में आकर उनकी आगवानी के लिए ठहर गए। उस समय उनके साथ विद्यासागर जी, क्षु० सन्मति सागर, क्षु० सुखसागर आदि पाँच साधु भी साथ थे।

सभा में ''पहले आप सिंहासन पर बैठें'' इस प्रकार ज्ञानसागरजी के इशारे को समझकर श्री धर्मसागर आचार्य ने कहा–ऐसा नहीं पहले आप बैठें, क्योंकि आप ज्ञानवृद्ध हैं। तब श्री ज्ञानसागरजी ने कहा–नहीं, आप तो तप वृद्ध हैं, इस प्रकार परस्पर आदर के साथ ऋजुधर्म से युक्त दोनों आचार्य महाराज बैठ गये। दोनों आचार्य की जयकार से सभा भवन गूंज गया। सत्य ही है–

जो गम्भीरता में वृद्धों में वृद्ध हो जाते हैं, ऋजुधर्मता में जो बालकों के बीच बालक हो जाते हैं, पटुवाचना के अवसर पर जो विद्वानों के बीच विद्वान् हो जाते हैं, सच ही है महान व्यक्तियों की प्रवृत्ति सभी के अनुकूल होती है ॥२३॥

संघ सहित आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज

(अनुष्टुप्)

मल्लस्तुल्यमल्लेन साधुश्च तुल्यसाधुभिः।
पण्डितस्तुल्यपाण्डित्यैर्नित्यमिच्छन्ति मेलनम् ॥२४॥
समानकुलजातीनां समानधर्मगामिनाम्।
समानबलपुंस्त्रीणां सौख्यं जातमनुत्तरम् ॥२५॥

मदनगंजकिशनगढे सागरनिवासी पण्डितः पन्नालालसाहित्याचार्यो भूरिग्रन्थानामनुवादकः सम्पादकश्च श्रीगुरोर्दर्शनस्य सौभाग्यमलभत। स समुल्लिखति-संस्कृतसाहित्ये भवतः पूर्णाधिकारः। भवान् प्रवचनसारगामी शब्दविश्लेषणेऽत्यन्तनिपुणोऽस्ति। हिन्दीप्रचलितशब्दानां प्रयोगोऽर्थान्तरेण करोति। यथा- नेक शब्दो राष्ट्रभाषायां तथाऽपि संस्कृते निष्कामार्थे प्रयोगः कृतः। न विद्यते इः कामो यस्य स नेकः। स्वकौशल्येनाल्प-कालेन विद्यासागरोऽपि निष्णातः कृतो भवता। किशनगढे दर्शनसमये सामयिक-सामायिक-शब्दोपरि विशदचर्चाऽभवत्। अजमेरं प्रत्यागत्य सहसा मम मुखन्निर्गतः-

सग्रन्थं चापि निर्ग्रन्थं विश्रुतं चापि सश्रुतम्।
ज्ञानसागर - नामानमाचार्यं प्रणमाम्यहम् ॥२६॥

मल्ल अपने बराबर के मल्ल के साथ, साधु अपने बराबर के साधु के साथ, पण्डित अपने बराबर के पण्डित के साथ हमेशा मिलने की इच्छा करता है ॥२४॥

समान कुल और जाति वालों का, समान धर्म पर चलने वालों का और समान बल वाले स्त्री पुरुषों का सुख अनुत्तर अर्थात् उत्कृष्ट होता है ॥२५॥

सागर निवासी पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य जो कि अनेक ग्रन्थों के अनुवादक और सम्पादक भी हैं, वह मदनगंज-किशनगढ़ में श्री गुरु ज्ञानसागरजी के दर्शन के सौभाग्य को प्राप्त किए। उन्होंने लिखा है-संस्कृत साहित्य में आपका पूर्ण अधिकार है। आप प्रवचनसारगामी हैं, शब्द विश्लेषण में अत्यन्त निपुण हैं। हिन्दी प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी आप अर्थान्तर से करते हैं, जैसे 'नेक' शब्द राष्ट्र भाषा हिन्दी का है फिर भी आपने निष्काम अर्थ में प्रयोग किया है। जिसके इः अर्थात् काम नहीं रहता है, उसे नेक कहते हैं। आपने अपनी कुशलता से थोड़े ही समय में विद्यासागर मुनिराज को निष्णात किया है। किशनगढ़ में दर्शन के समय सामयिक और सामायिक शब्द पर विशद चर्चा हुई। अजमेर लौटकर आने पर सहसा मेरे मुख से निकल गया-

''जो सग्रन्थ होकर भी निर्ग्रन्थ हैं, इस विरोध का परिहार यह है कि सग्रन्थ अर्थात् वह ग्रन्थ (शास्त्र) से सहित हैं। जो सश्रुत अर्थात् श्रुतज्ञान से सहित होकर भी विश्रुत हैं अर्थात् श्रुतज्ञान से रहित हैं, इस विरोध का परिहार यह है, कि वह विश्रुत अर्थात् विख्यात हैं, ऐसे ज्ञानसागर नाम के आचार्य को हम प्रणाम करते हैं ॥२६॥''

१९७० ई० तमे तत्रैव विद्यासागरमुनिरक्षिरोगेण ग्रस्तः। उपनेत्रप्रयोगेण नेत्ररक्षा तदा कृता आसीत्। जराभिभूतोऽपि निर्जराप्रीतः श्रीज्ञानाब्धिः स्वदेहस्य शैथिल्यं वीक्ष्य भूयो भूयो मुनिविद्यासागरमैक्षिष्ट स्वमनोऽभिलाषं वक्तुकामोऽपि न्यवर्तत। एकदा स तं प्रत्याह–आचार्यकुन्दकुन्ददेवस्य ग्रन्थेषु ज्ञानशब्दो हि बाहुल्येन प्रयुज्यतेऽपि तु समन्तभद्राचार्यदेवस्य ग्रन्थेषु विद्याशब्दः। तथापि ज्ञानविद्याशब्दौ समानार्थौ स्तः। विद्यामुनिरज्ञातवानभिप्रायं तत्काल एव श्रीगुरोः।

(अनुष्टुप्)

स्वाभिप्रायस्य गूढत्वं महीराजस्य नीतिता।
स्वाभिप्रायस्य गूढत्वं महाराजस्य विज्ञता ॥२७॥

नसीराबादे वर्षायोगसमयं व्यतीत्य शीतकाले १०५-०७ डिग्री ज्वरेण पुनरपि पीडितोऽभूत् श्रीविद्यामुनिः। श्रीगुरुणोपचारार्थं शतवर्षपुरातनं घृतमानीय वक्षसः उपरि मर्दयेदित्यादिशत्। तदनुसारकरणेन ज्वरो दूरीभूतः। आश्चर्यान्वितमवलोक्य सर्वं श्रीगुरुः प्राह–

(प्रमाणिका)

पुरातनं घृतं कथानकं तथान्नपानकं पुरातनं च वृद्धसंस्मृतं सुबुद्धचिन्तनम्।
पुरातनं विशुद्धजीवितं चिकित्सकाद्धुतं पुरातनं मतं सतां च सर्वसौख्यदायकम् ॥२८॥

१९७० ई० में वहीं मदनगंज किशनगढ़ में ही विद्यासागर मुनिराज नेत्र रोग से ग्रस्त हो गये अर्थात् उनकी आँखें आ गई तब आपने चश्मे का प्रयोग करके नेत्र रक्षा की। बुढ़ापे से अभिभूत होकर भी निर्जरा तत्त्व में प्रीति रखने वाले श्री ज्ञानसागरजी अपने शरीर की शिथिलता को देखकर बार-बार मुनि विद्यासागर को देखते थे। अपने मन की अभिलाषा कहने की इच्छा करते हुए भी वह रह जाते थे। एक बार उन्होंने विद्यासागर जी को कहा–आचार्य कुन्दकुन्ददेव के ग्रन्थों में ज्ञान शब्द ही बहुलता से प्रयुक्त होता है, फिर भी समन्तभद्र आचार्यदेव के ग्रन्थों में विद्या शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऐसा होने पर भी ज्ञान और विद्या ये दोनों शब्द समान अर्थ वाले हैं। तत्काल ही श्री गुरु के अभिप्राय को मुनि विद्यासागरजी नहीं जान पाये। (मेरा जीवन तो अध्यात्म की प्रधानता से कुन्दकुन्ददेव की तरह निकल गया, परन्तु आपका जीवन तो समन्तभद्रदेव के समान धर्मप्रभावना की प्रधानता से बीते इस प्रकार गुरुदेव की मनोभावना थी, ऐसा हम मानते हैं।)

अपने अभिप्राय की गूढ़ता राजा की नीति हैं और अपने अभिप्राय की गूढ़ता महाराज (मुनि) की विज्ञता है ॥२७॥

नसीराबाद में वर्षायोग का समय व्यतीत करके शीतकाल में १०५-०७ डिग्री बुखार से पुनः मुनि विद्यासागर जी पीड़ित हुए। श्री गुरु ने उपचार के लिए आदेश दिया कि ''सौ वर्ष पुराना घी लाकर छाती के ऊपर मालिश करो।'' वैसा ही करने से बुखार चला गया। सभी को आश्चर्य में देखकर श्रीगुरु ने कहा–

एकदा शीतकाले गुरुराजेन सह विराजमानो मुनिः विद्यासागरोऽपश्यत–वृद्धगुरुमुखात् लाला स्रवति। एतमवलोक्य साहित्यिकशैल्यामवदत् सः मुखप्रसादस्य द्वारं विघटितम्। शिष्यस्य प्रत्युत्पन्नमतिं समीक्ष्य गुरुमुखकमलं विजृम्भितम्।

आगमविहितविधिनाऽशेषाधिव्याध्युपाधित्रयदोषशून्यां जन्मजरामृतित्रयरोगविनाशिनीं रत्नत्रयपूर्णकरीं सल्लेखनामाराधयितुकामः सूरिः स्वाचार्यपदप्रदानाय स्वशिष्याय सर्वतो योग्याय मुनिविद्यासागराय मनश्चकार। अल्पवयसि महदाचार्यपदभारं वोढुमशक्योऽहमिति मत्या तदर्थं न स्वीकृतिं प्रदत्तवान् मुनिः। छगनलालपाटनी–कैलासचन्द्रपाटनीप्रभृतिविश्वस्तश्रावकैरपि आचार्यानुज्ञातस्तत्स्वीकाराय प्रबोधितो मुनिः। आचार्यदेवस्य समीपं स्वमनोऽभिप्रायं प्रतिपादयेत्, एतदर्थं सर्वैर्निवेदितम्। अत्यधिकप्रयासेन सहमतो भूत्वा सर्वैः सह गुरुदेवस्य चरणेषु दृष्टिं निधाय सोऽध्यतिष्ठत्। आचार्यदेवेन कर्त्तव्यस्य पूर्णतां गुरुसेवां परमागमानुज्ञाञ्च संस्मार्य स्वाभिप्रायः संसूचितः। तत्राप्यसहमतिं संवीक्ष्य गुरुणोक्तम्–''शिष्यस्य गुरुदक्षिणा दातव्या'' इत्येव शिष्यस्य महान् कर्त्तव्यः। गुरोरविनीतताभयादवद्भीतेनात्यधिकाग्रहे तदनुकूलप्रवर्तनसंकल्पितेन

पुराना घी, पुराने कथानक, पुराना अन्नपानक, वृद्धों के पुराने संस्मरण, पुराने विद्वानों का चिन्तन, पुराना विशुद्ध जीवन, पुराने चिकित्सकों की अद्भुत चिकित्सा, यह सभी श्रेष्ठतम माने गए हैं और सभी को सुख देने वाले हैं ॥२८॥

शीतकाल में गुरुराज के साथ मुनि विद्यासागरजी विराजमान थे, तभी उन्होंने देखा–वृद्ध गुरु के मुख से लाला (लार) बह रही थी। यह देखकर उन्होंने साहित्यिक शैली में कहा–मुखरूपी महल का द्वार निकल गया है। शिष्य की प्रत्युत्पन्न मति को देखकर गुरु का मुख कमल खिल गया।

आगम में कथित विधि से सल्लेखना की आराधना करने की इच्छा आचार्य ज्ञानसागरजी की हुई। वह सल्लेखना समस्त आधि, व्याधि और उपाधि इन तीनों दोषों से शून्य होती है जन्म, जरा और मृत्यु इन तीनों रोगों का नाश करने वाली होती है और रत्नत्रय को पूर्ण करने वाली होती है। आचार्य ज्ञानसागर जी ने सभी तरह से योग्य अपने शिष्य मुनि विद्यासागरजी के लिए आचार्य पद प्रदान करने का मन बना लिया। अल्प उम्र में महान् आचार्य पद के भार को वहन करने के लिए, मैं समर्थ नहीं हूँ, ऐसा मानकर मुनिराज ने उस पद को ग्रहण करने के लिए स्वीकृति प्रदान नहीं की। आचार्यदेव की आज्ञा से छगनलालपाटनी, कैलाशचन्द्रपाटनी आदि विश्वस्त श्रावकों ने पद स्वीकारने के लिए मुनि को समझाया। आचार्यदेव के समीप अपने मन के अभिप्राय को कह देना चाहिए, इसके लिए सभी ने मुनिराज से निवेदन किया। अत्यधिक प्रयास से सहमत होकर सभी के साथ मुनि विद्यासागरजी गुरुदेव के चरणों में दृष्टि लगाकर बैठ गए। आचार्यदेव ने कर्तव्य की पूर्णता गुरुसेवा और परमागम की आज्ञा को याद दिलाकर अपने अभिप्राय को कह दिया। उस पर भी असहमति को देखकर गुरुजी ने कहा–''शिष्य को गुरुदक्षिणा देना चाहिए, यही शिष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य है'' गुरु की अविनय के भय से डरे होने से अत्यधिक आग्रह के कारण गुरु आज्ञा के अनुकूल प्रवृत्ति

श्रीगुरुसमक्षं मुकुलिताञ्जलिं विधाय सवाष्पनेत्रेण गद्गदभावेनः ''यथा आज्ञापयति भवान् तथैव कुर्वे।'' इति मौनस्वीकृतिं प्रदत्तवान्।

(अनुष्टुप्)

गुरोराज्ञा महापूजा गुरोराज्ञा महोत्सवः।
गुरोराज्ञा सदा मान्या कण्ठैः प्राणगतैरपि ॥२९॥

प्रतिकूलं मनो वा स्यादनुकूलं भवेत्तथा।
गुरोराज्ञानुकूलं हि मनसो वर्तनं सदा ॥३०॥

द्वितीयदिवसे हि मङ्गलमयमुहूर्ते आचार्यपदसमारोहणमहोत्सवः नसीराबादस्तत्रस्थितश्रेष्ठि (सेठजी) निषिद्यकायां शान्तगंभीरवातावरणे समापन्नः। आचार्यपदस्य संस्कारं विधाय स्वाचार्यपदमहत्त्वं विसृज्य विद्यासागरमुनिमुच्चफलकोपरि स्थाप्य तदधःफलके स्वयं स्थित्वा विपुलजनसमूहसम्मुखे न्यवेदयत् २२ नवम्बर १९७२ ई० तमस्य शुभदिने। ''भो आचार्य! इदं नश्वरशरीरं शनैः शनैः र्निपत्यमानमस्ति इदानीमस्य पदस्य व्यामोहं परित्यज्यात्मकल्याणे पूर्णरूपेण योजयितुमिच्छामि। आगमानुसारेणेदं कार्यमत्यन्तावश्यकमुचितं चास्ति।''

आचार्यपदग्रहणकाले मुनिविद्यासागरं मन्दं मन्दं हसन्तं वीक्ष्य गुरुदेवेन पृष्टं-किमर्थमेष हासः?

करूँगा, इस प्रकार संकल्पित होने से विद्यासागरजी मुनि ने श्रीगुरु के समक्ष अंजुलि बनाकर गीली आँखों से गद्गद् भावों से- ''जैसी आपकी आज्ञा हो वैसा ही करेंगे'' इस प्रकार की मौन स्वीकृति प्रदान की।

गुरु की आज्ञा महापूजा है, गुरु की आज्ञा महोत्सव है, कण्ठगत प्राण होने पर भी गुरु की आज्ञा सदा मानना चाहिए ॥२९॥

मन प्रतिकूल हो अथवा अनुकूल हो, गुरु की आज्ञा के अनुकूल ही मन का प्रवर्तन सदा होवे ॥३०॥

दूसरे दिन ही मंगलमय मुहूर्त में नसीराबाद में स्थित सेठीजी की नसियां में शान्त, गम्भीर वातावरण में आचार्यपद समारोहण का महोत्सव सम्पन्न हुआ। २२ नवम्बर, १९७२ के शुभ दिन आचार्य पद के संस्कार करके अपने आचार्य पद के महत्त्व को छोड़कर विद्यासागर मुनिराज को ऊँचे आसन पर बिठाकर, उससे नीचे फलक (पाटे) पर स्वयं बैठकर विशाल जन समूह के सामने मुनि ज्ञानसागर जी ने निवेदन किया-''भो आचार्य! यह नश्वर शरीर धीरे-धीरे गिरता जा रहा है। अब मैं इस पद का व्यामोह छोड़कर पूर्णरूप से आत्मकल्याण में लगना चाहता हूँ। आगम के अनुसार यह कार्य अत्यन्त आवश्यक और उचित है।''

आचार्य-पद-ग्रहण के समय मुनि विद्यासागरजी हँस रहे थे। गुरुदेव ने उन्हें देखकर पूछा- किसलिए मुस्करा रहे हो? तब मुनिराज ने कहा-''जैसे आप हँसते हुए इस पद का त्याग कर रहे हैं,

आचार्य-पद प्राप्ति के पावन क्षण

तदाह मुनिः–यथा भवान् हसन् पदत्यागं कुर्वन्नास्ते तथैव ममापि कार्यमितिकारणात्।

आचार्यचरः श्रीज्ञानसागरः सम्प्रति प्रायश्चित्तसमये सूरिविद्यासागरस्य चरणसन्निधौ भूमिदेशमुपविश्य गवासनेन प्रायश्चित्तमयाचितवान्–''भो गुरुदेव! कृपां कुरु'' इति शब्देन बहुधा स उच्चरितवान्।

तत्पश्चात् प्रागप्यधिकसमयेनोत्तरादायित्वभारवहननम्रेण गुरुदेवस्य सेवां कर्तुं संलग्नः। गुरुस्तु व्याधिपीडाकारणाद् बहिर्वातायनस्थाने वा स्थातुमशक्तस्तथापि मुनिविद्यासागरः सम्प्रति सूरिवर्योऽपि गुरोः सकाशे शयनमासनं वैयावृत्यं स्वाध्यायञ्च कुर्वाणोऽत्युष्णासहनपरोऽपि विसहतेस्म।

स्वयं विद्यासारगरसूरिः पुरवासिनां धर्मलाभार्थं प्रवचनमकरोत्। बहुधा शास्त्रेण शास्त्रवाचनमभवत्। गुरुदेवेन संस्कृतस्याराधनाकोशग्रन्थस्य प्रदानं कृतम्। तस्य हिन्दीभाषायामुच्चार्य समुपदिशतिस्म सः। प्रतिदिनं गुरुदेवस्याहारचर्यां विधायाशनार्थं स्वयमगच्छत्। आहारे रसालेन सह भस्मौषधिं पुरतो निर्मापयित्वा तस्मै प्रदीयतेस्म। षड्मासपूर्वात् खलु अन्नस्य त्यागः कृतः।

१८ दिसम्बर, १९७२ ई० तमे आचार्यविमलसागरः ससङ्घस्तत्रैव समागतः। समाधिक्रियासंलग्नस्य मुनिज्ञानसागरस्य परिचर्यां कुशलक्षेमवार्तां च सम्यक् कृत्वा सम्मेदशिखरयात्रार्थं प्रस्थितः सः।

उसी प्रकार मुझे भी करना है, इस कारण से हँस रहा हूँ। मोक्षमार्ग ग्रहण का नहीं, त्याग का है।''

आचार्यपद के त्यागी श्रीज्ञानसागर अब प्रायश्चित के समय पर आचार्य विद्यासागर के चरणों में भूमि पर बैठकर गवासन से प्रायश्चित की याचना करते हैं–भो गुरुदेव! कृपा करो। इन शब्दों को उन्होंने बहुत बार दोहराया।

उसके बाद वह पहले से भी अधिक समय लगाकर उत्तरदायित्व के भार से और अधिक नम्र होकर वह गुरुदेव की सेवा करने में संलग्न हो गए। गुरुदेव तो रोग की पीड़ा के कारण बाहर अथवा खुले स्थान पर रुकने में असमर्थ थे, फिर भी मुनि विद्यासागरजी अब आचार्य होकर भी गुरुदेव के निकट ही बैठना, सोना, वैय्यावृत्ति और स्वाध्याय करते थे। वह अधिक गर्मी सहन न कर पाने पर भी सहन करते थे।

स्वयं विद्यासागरजी नगर के लोगों के धर्मलाभ के लिए प्रवचन करते थे। ज्यादातर शास्त्र के माध्यम से शास्त्रवाचना होती थी। गुरुदेव ने उन्हें संस्कृत का आराधना-कथा-कोश ग्रन्थ प्रदान किया था। उसी कोश का हिन्दी भाषा में उच्चारण करके वह उपदेश करते थे। प्रतिदिन गुरुदेव की आहारचर्या को पूर्ण करके स्वयं आहार के लिए जाते थे। भस्मौषधि को अपने सामने बनवाकर आम-रस के साथ औषधि आहार के समय उन्हें दी जाती थी। सल्लेखना के छह मास पूर्व ही उन्होंने अन्न-त्याग कर दिया था।

१८ दिसम्बर, १९७२ को आचार्य विमलसागर जी ससंघ नसीराबाद में आये। समाधिक्रिया में संलग्न मुनि ज्ञानसागरजी की परिचर्या और कुशलक्षेम वार्ता को अच्छी तरह करके वह श्री सम्मेदशिखर जी की यात्रा के लिए प्रस्थान कर गए।

तावदेव मुनिसुपार्श्वसागरः किशनगढवासी सम्मेदाचलतो ज्ञानार्णवस्य समाधिक्रियायां सहायार्थं तत्क्रियादर्शनार्थं तत्र समागतः। उत्तमार्थमरणे यस्य भक्तिर्विद्यते तस्यैव मरणसमये सम्पद्यते समाधिमरणम्।

जत्थ पुण उत्तमट्ठमरणम्मि भत्ती ण विज्जदे तस्स।
किह उत्तमट्ठमरणं संपज्जदि मरणकालम्मि ॥

इतिभावनया समागतः स मुनिः। सहसा स्वकीयस्वास्थ्यस्य वैपरीत्यं परिलक्ष्य सल्लेखनां स्वदोषा-लोचनापुरस्सरीं प्रार्थितवान् सः। १५ मई १९७३ ई॰ तमे सः समाधिना मरणं गतः।

इतो नैरन्तर्येण जाग्रतो निर्विकल्पसमाधिमुपगतःशुद्धोपयोगस्य विशुद्धिं प्राप्तस्तपस्तेजसा भास्वरदेहमूर्तिः प्रतिदिनं समयसारं शृण्वन् स्खलितपाठक्षणे हस्ताङ्गुलेन सङ्केतयन् सायमाध्यात्मिकभजनेन घण्टाद्वयं व्यतीतयन् रत्नत्रयमाराधयन् सदाकालं व्यवतिष्ठत। श्री विद्यासागरनिर्यापकाचार्यात् २२ मई १९७३ ई॰ तमे–त्रिविधाहारस्य परित्यजनं विहितम्। तावत् सर्वे संघस्था एकत्रीभूय प्रतिक्रमणमुच्चारयन्ति स्म।

(मालिनी)

सुतनुतनुता कालुष्यान्ता ममत्वविनाशिनी
भवलयकरी नित्याराध्या भवान्तमभीप्सुभिः।
समकितमृतिः सोत्साहेनान्त उक्तविधानतो
भवति महतां संसाराब्धेस्तटे निकटेसति ॥३१॥

तभी किशनगढ़ में पूर्व में रहने वाले मुनि सुपार्श्वसागरजी श्री सम्मेदशिखर से आचार्य ज्ञानसागर जी की समाधि क्रिया में सहायता के लिए और उनकी सल्लेखना क्रिया को देखने के लिए वहाँ आ गए। जिसकी उत्तमार्थमरण में भक्ति रहती है उसका ही मरण समय में समाधि से मरण होता है। ''जिसकी उत्तमार्थमरण में भक्ति नहीं रहती है, उसका मरण समय में उत्तमार्थ मरण कैसे हो?'' (भगवती आराधना ६८३)।

इस भावना से वह मुनिराज आए। अचानक अपने स्वास्थ्य की विपरीतता को देखकर अपने दोषों की आलोचना पूर्वक सल्लेखना की उन्होंने आचार्य विद्यासागरजी से प्रार्थना की। १५ मई, १९७३ ई॰ को वह समाधिपूर्वक मरण को प्राप्त हुए।

इधर मुनि ज्ञानसागरजी निरन्तर जागृत रहते हुए निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करते हुए शुद्धोपयोग की विशुद्धि को प्राप्त किए। तप के तेज से उनका शरीर और अधिक देदीप्यमान हो रहा था। प्रतिदिन वह समयसारजी को सुनते थे और जहाँ कहीं पाठ में स्खलन होता था उसी क्षण हाथ की अंगुलि से संकेत कर देते थे। सायंकाल आध्यात्मिक भजनों से दो घण्टे व्यतीत करते हुए रत्नत्रय की आराधना में ही वह हमेशा स्थित थे। २२ मई, १९७३ ई॰ को निर्यापकाचार्य श्री विद्यासागरजी से उन्होंने तीन प्रकार के आहार का त्याग किया। उस समय तक संघस्थ सभी जन इकट्ठे होकर ही प्रतिक्रमण करते थे।

(अनुष्टुप्)

मन्त्रः पञ्चनमस्कारो नायकत्वेन वर्तते।
चतुरङ्गे बले राजा यथा मुख्यं हि मन्यते ॥३२॥
सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि तपांसि शिववर्त्मनि।
सर्वाण्याराधितानि वै नमस्कारे कृतेऽर्हति ॥३३॥
परमेष्ठीरवेषु च पञ्चस्वेकतमेष्वपि।
सद्ध्यानं शब्दनं चित्ते श्रवणं संभवनाशकम् ॥३४॥
आध्युपाधिप्रहीणस्य क्षपकस्य सुदर्शनम्।
वैयावृत्यं समाधानं कुर्वतो जन्मसार्थकम् ॥३५॥
समाधिं वाञ्छति स्वीयं परसमाधिदृक् स हि।
सहस्रेषु प्रकार्येषु कार्यमेतत् परं मतम् ॥३६॥
विमुच्यावश्यकं कार्यं नित्यं साधयेन् मनः।
क्षपकस्य महार्थस्य सदा निर्यापकः सुधीः ॥३७॥

जिसमें अपने शरीर को अच्छी तरह कृश किया जाता है, जिसमें कलुषता का नाश हो जाता है, जो ममत्व का नाश करती है, संसार का विनाश करने वाली है, ऐसे समकित मरण की आराधना संसार का अन्त चाहने वाले भव्यों को उत्साह के साथ जीवन के अन्त में आगम के कहे हुए विधान से हमेशा करनी चाहिए। संसार समुद्र का तट समीप होने पर महान् व्यक्तियों की ऐसी सल्लेखना होती है ॥३१॥

चतुरंग सेना में जैसे राजा नायक रूप से मुख्य माना जाता है, उसी प्रकार चार प्रकार की आराधना में पञ्च नमस्कार मन्त्र नायक होता है ॥३२॥

निश्चय से अरिहंत को नमस्कार कर लेने पर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप सभी मोक्षमार्ग में आराधना को प्राप्त हो जाते हैं ॥३३॥

पाँच परमेष्ठी के उच्चारण में से किसी एक परमेष्ठी का भी समीचीन ध्यान, उनका शब्द और चित्त में उनका नाम सुनना, यह सभी संसार को नाश करने वाला है ॥३४॥

आधि और उपाधि से रहित क्षपक का दर्शन, वैय्यावृत्ति और ध्यान करने वाले मनुष्य का जन्म सार्थक होता है ॥३५॥

दूसरे की समाधि को देखने वाला ही वह पुरुष अपनी समाधि की इच्छा कर सकता है, इसलिए हजारों कार्यों में यह कार्य श्रेष्ठ माना गया है ॥३६॥

बुद्धिमान् निर्यापक सदा महापुरुषार्थ करने वाले क्षपक के मन को अपने आवश्यक कार्यों को छोड़कर नित्य साधे ॥३७॥

(मन्दाक्रान्ता)

नार्यां मुग्धो रमयति सदा कामवश्यानुरागात्
भृत्ये भर्ता हर्षति तथा द्रव्यवश्यानुरागात्।
सर्वो लोके निजनिजजनं सेवते स्वार्थवृत्त्या
निःस्वार्थेन क्षपकचरणं दुर्लभः सोऽत्र साधुः ॥३८॥

(अनुष्टुप्)

श्रीभद्रबाहोः सुगुरोश्च सेवा चन्द्रादिगुप्तेन यथा कृता च।
विद्यार्णवेन स्वगुरोस्तथा वै जैनार्यवंशेऽन्यनिदर्शनं न ॥३९॥

श्रीगुरोर्वियोगेऽहं आजन्म किं करिष्यामि? कथमेतं महत्पदं दीर्घकालं निर्वहेयमिति चिन्तयाऽवरुद्धकण्ठेन गुरुकरमादाय निगदतिस्म– भवतो महाप्रयाणानन्तरं मम किं स्यात्? तदाह गुरुः–''चिन्तयाऽलम्। अप्रभावनाया अकरणं हि प्रभावना। मनोनिरोधार्थं यदायाति तदुल्लिखतु। यथासंभवं समाजकार्येषु भागं न वहेत्। सङ्घं गुरुकुले परिवर्तयेत्। ममाशीः सदा त्वया सहास्ति।'' एवममृतादप्यधिकतृप्तिकरं गुरोर्वचनं हृदये संस्थाप्य स निश्चिन्तोऽभूत्।

भावशुद्ध्या करोति यो वृद्धसेवां सुनिश्छलः।
आपत्तस्य कदाप्यग्रे पदं धर्तुं न शक्यते ॥४०॥

हमेशा काम के वशीभूत होने से राग के कारण मुग्ध व्यक्ति स्त्री में रमण करता है। द्रव्य (धन) के वशीभूत राग के कारण स्वामी सेवक में हर्ष करता है, लोक में सभी लोग अपने अपने सम्बन्धी की स्वार्थवृत्ति के कारण सेवा करते हैं, किन्तु निःस्वार्थभाव से क्षपक के चरणों की जो सेवा करता है, वह साधु यहाँ दुर्लभ है ॥३८॥

श्री भद्रबाहु श्रेष्ठ गुरु की जिस प्रकार की सेवा चन्द्रगुप्त ने की उसी प्रकार से विद्यासागर मुनि ने अपने गुरु की सेवा की। जैनाचार्यों की परम्परा में ऐसा उदाहरण अन्य कोई नहीं मिलता है ॥३९॥

श्रीगुरु का वियोग हो जाने पर मैं जीवन पर्यन्त क्या करूँगा? इस महान् पद का दीर्घकाल तक कैसे निर्वाह करूँगा? इस चिन्ता से अवरुद्ध कण्ठ से गुरु के हाथों को पकड़ कर मुनि विद्यासागरजी ने कहा–आपके महाप्रयाण के बाद मेरा क्या होगा? तब गुरुजी ने कहा–''चिन्ता मत करो। अप्रभावना नहीं करना ही प्रभावना है। मन को रोकने (संयमित करने) के लिए जो आता जाए उसे लिखते जाओ। समाज कार्यों में यथा संभव हो भाग न लें। संघ को गुरुकुल बनाना। मेरा आशीर्वाद सदा तुम्हारे साथ है'' इस प्रकार अमृत से भी अधिक तृप्तिकारक गुरु के वचनों को हृदय में स्थापित करके विद्यासागरजी निश्चिंत हो गए।

भाव शुद्धि से जो जीव निश्छल होकर वृद्ध सेवा करता है, आपत्ति कभी भी उस पुरुष के आगे अपना कदम नहीं रख सकती है ॥४०॥

महापूजात्तपुण्यैश्च यत्कार्यं न विधीयते।
तत्सर्वं जायते नूनं प्रसन्नहृदयाशिषा ॥४१॥
गुरोराज्ञाशिषं चित्ते धृत्वा यो विहरेद्भुवि।
बिभेति च भयं तस्मात् साफल्यं च पदे पदे ॥४२॥

२८ मई १९७३ दिनाङ्कात् जलमपि त्यक्त्वा आजीवितं ग्रीष्मेऽपि निराकुलात्मसौख्यमनुभवन् संस्तरे एकासनेन पार्श्वशयनदशायां विश्रामकाले भागचन्द्रसोनी नाम्नः श्रेष्ठिश्रावको दर्शनार्थमागत्याशीर्वादं याचमानो देहकृशतावशादनुत्थापितहस्तमवलोक्य नेत्रोन्मीलितेनाशिषं वाञ्छे इति कथिते सति प्रसन्नमुद्रया नेत्राभ्याम् पश्यत् समाधिस्थः। तावच्चतुर्दिवसानि निर्गतानि निर्जलेनैकासनेन शयनेन च। तत्रैव दिने श्रेष्ठिनो गते नश्वरदेहस्य परित्यागेन एकादशवादने दशनिमिषे जयेष्ठकृष्णाऽमावस्यायां विक्रमसंवत्सरे २०३० तमे (१ जून १९७३ ई० तमे) शुक्रवासरे स्वर्गं ययौ।

इति मुनिप्रणम्यसागरविरचिते अनासक्तमहायोगिनाममहाकाव्ये आचार्य विद्यासागरचरितव्यावर्णने गुरुदक्षिणासंज्ञकः अष्टम सर्गः समाप्तः।

महापूजा से प्राप्त पुण्य के द्वारा भी जो कार्य नहीं होता है, वह सब प्रसन्न हृदय के द्वारा दिये गये आशीष से निश्चित ही हो जाता है ॥४१॥

गुरु की आज्ञारूपी आशीर्वाद को चित्त में धारण करके, जो भव्य इस पृथ्वी पर विहार करता है, उससे भय भी डरता है और पद-पद पर सफलता मिलती है ॥४२॥

२८ मई, १९७३ से ग्रीष्मकाल में भी आजीवन जल को छोड़कर निराकुल आत्मसुख का अनुभव करते हुए, एकासन से संस्तर पर एक करवट से लेटे हुए थे। तभी विश्राम के समय भागचन्द्रजी सोनी नाम के श्रेष्ठी श्रावक गुरु महाराज के दर्शन के लिए आए और आशीर्वाद की प्रार्थना की। देह की कृशता के कारण गुरुजी का हाथ नहीं उठा यह देखकर उन्होंने कहा–आप नेत्र खोल दें यही मेरे लिए आशीष होगा। इस प्रकार कहने पर समाधिस्थ क्षपक ने प्रसन्न मुद्रा के साथ नेत्रों से देखा। तब तक निर्जल उपवास और एकासन से लेटे हुए उनके चार दिन व्यतीत हो चुके थे। उसी चौथे दिन श्रावक श्रेष्ठी के चले जाने पर २०३० वि० सं० (१ जून, १९७३) को शुक्रवार के दिन ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या को ११:१० मिनट पर नश्वर देह को छोड़कर वह ज्ञानसागर मुनिराज स्वर्ग चले गए।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला गुरुदक्षिणा संज्ञक आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

अपने गुरु की सेवा में लीन

नवमः सर्गः

स्वात्मसाधक

अन्त्यतीर्थकरस्य महावीरभगवतः २५०० वर्षीये निर्वाणमहोत्सवे मार्गशीर्षसितदशम्यां श्री सिद्धकूट-चैत्यालयनिषिद्यिकायां धर्मवीर रा० ब० केप्टिनश्रेष्ठि श्रीभागचन्द्र सोनी संस्थापकेन विशालस्य सरस्वती-ग्रन्थालयस्य प्रारम्भो वै आचार्यदेवस्य सन्निधौ कृतः।

१९७४ ई० तमे ससङ्घोऽपि निःसङ्गः आचार्यविद्यासागरः अजमेरपुरीमागतः। तत्र नाकीपुरायां भट्टाराकाणां नानानिषिद्यिकाः सन्ति। तेषु एकाकी भूत्वा परमनिःस्पृहतां विभ्राणो रागद्वेषेभ्यो निजात्मनां पृथक्-कर्तुमेकत्वविभक्तभावनावासितमनाः आत्मार्थमेव सर्वकालं प्रायतत।

(अनुष्टुप्)

जनेभ्यो वाक्ततःस्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमः।
विभ्रमो हि महामोहो मोहः संसृतिहेतुकः ॥१॥
मोह एव महाशत्रुस्तन्नाशे ह्यात्मनः सुखम्।
इति मत्वा कृतस्त्यागः संसर्गस्य महार्थिना ॥२॥
निर्जने शून्यसंभारे स्थाने ध्यानस्य साधना।
जायते तेन निःशङ्कं मुनिभिर्वनमाश्रिताः ॥३॥

उस समय अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाणमहोत्सव पर मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को श्री सिद्धकूट चैत्यालय की नसियांजी में धर्मवीर रायबहादुर केप्टिन सरसेठ श्री भागचन्द्र जी सोनी संस्थापक के द्वारा विशाल सरस्वती भवन का शुभारम्भ आचार्यदेव के सान्निध्य में किया गया।

१९७४ ई० में संघ सहित होकर भी निःसंग आचार्य विद्यासागरजी अजमेर नगर में आ गए। वहाँ नाकीपुरा में भट्टारकों की अनेक निषिधिकाएँ हैं। उन स्थानों पर एकाकी होकर परम निःस्पृहता को धारण करते हुए, राग-द्वेष से अपनी आत्मा को पृथक् करने के लिए, अपने मन को एकत्वविभक्त भावना से संयुक्त रखते हुए, अपनी आत्मा के लिए हमेशा प्रयत्न करते थे।

लोगों से बातचीत करने पर मन में स्पन्दन होता है, जिससे चित्त में भ्रम उत्पन्न होता है। यह विभ्रम ही महामोह है और यह मोह ही संसार का कारण है ॥१॥

मोह ही महाशत्रु है। इस शत्रु के नाश होने पर आत्मा को सुख होता है। ऐसा मानकर ही महामोक्ष पुरुषार्थ करने वाले पुरुष संसर्ग का त्याग किए हैं ॥२॥

निर्जन स्थान पर, शून्य स्थान पर, ध्यान की साधना होती है। इसलिए मुनिजन निःशंक होकर वन का आश्रय लेते हैं ॥३॥

इति निदिध्यासेन नगराद् दूरं गत्वा रात्रिं व्यतीत्य प्रातःकालीनावश्यकक्रियामप्येकान्ते संविधाय जिनायतनदर्शनेन समुपजातविशुद्धिमार्गो धर्मोपदेशामृतं पाययित्वा नागरिकानशनविधिं सम्पाद्य मध्याह्न-सामायिकाद् ध्यानाध्ययनगोचरे कालं सुतरां व्यतीतार्थमुपवनमाससाद।

(अनुष्टुप्)

त्रिगुप्तिरथसमारूढो मनोहयं प्रयुज्य च।
निश्चयमोक्षमार्गे हि शिवागारं ववाञ्छ सः ॥४॥
नित्यमवहितश्चित्ते सत्त्वरक्षापरः सदा।
कालेनावश्यकं कर्तुमन्यकार्येष्वनातुरः ॥५॥
सोपवासेन सद्ध्यान-वह्निप्रज्वालने रतः।
चतुर्विंशत्यहोरात्र - नितान्तैकासनेन सः ॥६॥
अनशनं क्वचिदर्धो दरमाधीयते तपः।
क्वचिद् वृत्तेश्च संख्यानं रसत्यागेन सर्वशः ॥७॥
कायक्लेशेऽपि चाखिन्नं मनस्तस्यात्मरोचनात्।
विविक्तशय्यासनं पृथक्कृत्वा वसतिस्म निरालसः ॥८॥

इस प्रकार ध्यान भावना के लिए नगर से दूर जाकर, रात्रि को व्यतीत करके प्रातःकालीन आवश्यक क्रिया को एकान्त में करके, जिनालय के दर्शन करके विशुद्धि मार्ग को बढ़ाते थे। फिर धर्मोपदेश अमृत को नगरवासियों को पिलाकर, आहारचर्या करके मध्याह्न की सामायिक से ध्यान, अध्ययन के विषय में ही समय अच्छी तरह व्यतीत करने के लिए उपवन को चले जाते थे।

निश्चयनयरूपी मोक्षमार्ग पर तीन गुप्तिरथ पर आरूढ़ हो, मनरूपी घोड़े को आत्मा में लगाकर, वह मोक्षरूपी घर में जाने की इच्छा करते थे ॥४॥

चित्त में सदा सावधानी रखते हुए, सदा जीवों की रक्षा में तत्पर रहते हुए, समय पर सभी आवश्यकों को करने के लिए, वह अन्य कार्यों में आतुर नहीं होते थे ॥५॥

चौबीस घण्टे तक लगातार एक आसन से उपवास के साथ समीचीन ध्यानरूपी अग्नि को जलाने में वह लीन रहते थे ॥६॥

वह कभी अनशन तप, तो कभी ऊनोदर तप, कभी वृत्तिपरिसंख्यानतप और कभी सभी रसों का त्यागरूप तप धारण करते थे ॥७॥

आत्मा की रुचि होने के कारण कायक्लेश तप से भी उनका मन खिन्न नहीं होता था। वह आलस रहित होकर अलग से ही सोना और बैठना करते थे ॥८॥

जपन्मन्त्रं नमस्कार - मङ्गुलिचालनं विना।
चित्तस्थैर्यमकार्षीत् स गणयन् जापविंशतिम् ॥९॥
चित्तशुद्ध्यै निरापेक्षी कर्मणां शातनाय च।
शुद्धात्मानुभवनाय प्रतिमायोगसंस्थितः ॥१०॥
कायोत्सर्गस्य चोत्कृष्टो भेदः शास्त्रे समिष्यते।
उत्थितोत्थितरूपेण तं प्राप्तुं स्म समीहते ॥११॥
यावद्रात्रिः समापन्ना तत्कायोत्सर्गमुद्रया।
निद्रादोषं विनिर्जेतुं ब्रह्मचर्यं सदासिधत् ॥१२॥
निर्द्वन्द्वो हि निरासक्तो निजासक्तस्तु निर्भयः।
केकड़ीबहिरास्थाने कन्दरायामुवास सः ॥१३॥
निजानुभवनामानं शतकं व्यलिखत् तथा।
ब्यावरे शुद्धभावानां प्राप्तये चित्तसाधितात् ॥१४॥

इतः अप्रैलमासे लघुभ्राता अनन्तः श्रीमतीमात्रा साकं भगिनीद्वयेन शान्तासुवर्णाख्येन सह च अजमेरमागतः। गृहे महावीरेण पृष्टम्-कुत्र गच्छन्ति। तदाह-कुंभोज बाहुबली तीर्थं। द्वित्रिदिनानन्तरम् मल्लप्पा

वह मुनिराज अंगुलि चलाए बिना पञ्चनमस्कारमन्त्र का जाप करते हुए बीस जाप (माला) को गिनते हुए चित्त को स्थिर करते थे ॥९॥

वह निरापेक्ष होकर चित्त की शुद्धि के लिए, कर्मों की निर्जरा के लिए और शुद्धात्मा की अनुभूति के लिए प्रतिमायोग धारण करते थे ॥१०॥

उत्थित-उत्थित रूप से कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट भेद शास्त्र में कहा गया है। उस कायोत्सर्ग को प्राप्त करने के लिए वह इच्छा करते थे ॥११॥

जब तक रात्रि है, तब तक इस उत्कृष्ट कायोत्सर्ग की मुद्रा से निद्रा के दोषों को जीतने के लिए, वह सदा ब्रह्मचर्य की सिद्धि करते थे ॥१२॥

जो निर्द्वन्द्व है, वही निरासक्त है, वही अपनी आत्मा में आसक्त है, वही निर्भय है, ऐसे वह आचार्य विद्यासागरजी केकड़ी के बाहर स्थानों पर बनी हुईं कन्दराओं में निवास करते थे ॥१३॥

ब्यावर में आचार्य महाराज ने चित्त सध जाने से शुद्ध भावों की प्राप्ति के लिए निजानुभव शतक लिखा ॥१४॥

इधर अप्रेल के महीने में छोटे भाई अनन्त, श्रीमंती माँ और दोनों बहिन शान्ता, सुवर्णा के साथ अजमेर नगरी में आ गए। चलते समय घर में बड़े भाई महावीर ने पूछा कहाँ जा रहे हो? अनन्त ने कहा- कुंभोज बाहुबली तीर्थ पर जा रहा हूँ। दो-तीन दिन बाद पिता मल्लप्पा ने महावीर से कहा-अब लोगों

महावीरमकथयत्–प्रत्यानय तान्। महावीरो न गतः। ततो मल्लप्पाऽनन्तरदिने शान्तिनाथेन सह बस्यानेन निर्गतः। इति अजमेरे सर्वे मिलित्वा टोंकग्राममागताः। तस्मात् स्थानादपि विजहाराचार्य देवः। पछालाग्रामं ततः सर्वे समागताः। आहारचर्यानन्तरमुपदेशोऽभवत्। तदनु पुत्रीभिः सह जननी व्रतार्थं प्रार्थितवती। अनन्तेन महावीरभयात्ता निवारिताः। गुरुदेवेन विहारः कृतः। ताः तिस्रोऽपिस्तेन सह गताः। सवाईमाधोपुरे माताभगिन्यो महानसे प्रतिग्रहणविधिनाऽऽहारविधिं संविधाय नीराजनं कृत्वा तत्रैव ब्रह्मव्रताभिसन्धिं कृतवत्यः। अनन्तस्तावत् फलक्रयणाय निर्गतः। प्रत्यागते सति सोऽपश्यत् आहारविधिः सम्पन्नः। मल्लप्पाऽपृच्छत्–कियते कालाय ग्रहीतं व्रतं तदा श्रीमन्ति तमुक्तवती आजीवनं यावत्। अष्टादशदिवसेन महावीरजीतीर्थमागतः। तदा स्वरूपानन्दाभिधेयः क्षुल्लकः एव संघे आसीत्। सोऽपि क्वचिद्बस्यानेन समयात्। कोऽपि गृहस्थः श्रावको विहारे न समासीत् मासपर्यन्तं भगिनीमातृभिराहारविधिः सम्पादितः। महावीरभगवतो जन्ममहोत्सवे तत्रैवाचार्यकल्पश्रुतसागरो महासङ्घेन सहागतः। उपाध्यायाजितसागरः यतीन्द्रसागरादिनानामुनयः आर्यिकाविशुद्धमतिप्रभृतयः च सङ्घे विशोभन्तेस्म। तन्महासङ्घानयनार्थं गतः सूरिविद्यार्णव :। समाचारविधिना मिथो मेलनं कृत्वा शांतिवीरनगरे आचार्यकल्पः ससङ्घो समस्थात्। एकस्मिन् दिवसे कजौडीमल–श्रावक–

को वापस ले आओ। महावीर नहीं गए, इसलिए दूसरे दिन मल्लप्पा पुत्र शान्तिनाथ के साथ बस की सवारी से चल दिए। अजमेर में सभी लोग मिल गए, फिर सभी मिलकर 'टोंक' ग्राम आ गए। उस स्थान से भी आचार्य विद्यासागरजी ने विहार कर दिया था। तब पछाला ग्राम में सभी कुटुम्बी जन आ गए। आहार चर्या के बाद उपदेश हुआ। उसके बाद पुत्रियों के साथ माँ ने व्रत के लिए प्रार्थना की। अनन्त को महावीर भैया का डर था, इसलिए उन्होंने व्रत लेने से माँ बहिन को रोका। वहाँ से गुरुदेव ने विहार कर दिया। माँ और दोनों बहिनों ने भी आचार्य देव के साथ विहार किया। दूसरे दिन सवाईमाधोपुर में माँ–बहिनों ने मिलकर चौका लगाया, पड़गाहन कर आहार दिया, तत्पश्चात् आरती करके चौके में ही ब्रह्मचर्य व्रत का संकल्प किया। उस समय अनन्तनाथ फल खरीदने के लिए गए थे। जब वह वापस लोट कर आए, तब देखा कि आहार चर्या पूर्ण हो गई है। मल्लप्पा ने पूछा–कितने समय के लिए व्रत लिया है, तब श्रीमंती ने कहा–जीवनपर्यन्त के लिए। आठ–दश दिन में आचार्यदेव विहार करके महावीर जी तीर्थ पर आ गए। उस समय संघ में स्वरूपानन्द नाम के एक क्षुल्लक महाराज ही थे। वह भी कभी बस से चले जाते थे। कोई भी गृहस्थ श्रावक विहार में नहीं था। एक महीने तक माँ और बहिनों ने आहार विधि को पूर्ण की। महावीर भगवान् के जन्मोत्सव पर महावीरजी में ही आचार्यकल्प श्रुतसागरजी अपने विशाल संघ के साथ आए। उपाध्याय अजितसागरजी, मुनि यतीन्द्रसागरजी आदि अनेक मुनिराज और आर्यिका विशुद्धमति आदि संघ में शोभित हो रहे थे। आचार्य विद्यासागरजी ने विशाल संघ की आगवानी की। समाचार रीति से दोनों आचार्यों का परस्पर में मेल हुआ, पश्चात् शांतिवीरनगर में आचार्यकल्प संघ सहित ठहर गए। एक दिन कजौड़ीमल श्रावक

माहूयाख्यत् सूरिविद्यार्णवो यत्–मातासुतानामाचार्यधर्मसागरस्य सन्निधौ नयतात्। एवं श्रुत्वा पिताऽचिन्तयत्–

येषां कृते गृहत्यागो मया न मोहिना कृतः।
ते सर्वेऽद्य विमुच्य मां यथेच्छं यान्ति बान्धवाः ॥१५॥

(इन्द्रवज्रा)

पुत्रोऽपि यातोऽत्र विरागभावं पृच्छां विना वै स निगूढभावः।
भार्या सुताश्च व्रतरागभावैः संवासिता वञ्चनतां गतोऽहम् ॥१६॥
यास्यामि कान्तारचरित्रमुख्यां वृत्तिं वनान्ते च समाश्रयामि।
एतान् तु पूर्वं परिपालयामि मूढोऽस्मि धिग् मामिति चिन्तयामि ॥१७॥

(उपजाति)

सम्बन्धिनः स्वार्थपराश्च सर्वे श्रुतं पुराणे बहुशोऽद्य दृष्टम्।
वृद्धेऽपि मोहो मयि मृत्युमित्रे भोगानुषङ्गे युवनीह योगः ॥१८॥
तथापि तासां न च कोऽपि दोषो मे बुद्धिदोषो ममतेति मन्ये।
यत्तन्निमित्ताद् भुवि जागरूको ध्रुवं हि ता मे परमार्थसख्यः ॥१९॥

सूरेर्विद्यासागरस्य चरणयुगलं प्रणिपत्य कृतनिवेदनो मल्लप्पा गृहत्यागाय। सूरिणोक्तम्–स्वरूपानन्देन

को बुलाकर आचार्य विद्यासागरजी ने कहा–इन माँ और बेटियों को आचार्य श्री धर्मसागरजी के सान्निध्य में ले जाओ। इस प्रकार सुनकर पिता मल्लप्पा ने सोचा–

जिन श्रीमंती और पुत्रियों के लिए मुझ मोही ने गृह–त्याग नहीं किया, वे सभी बन्धुजन अपनी इच्छानुसार मुझे छोड़कर जा रहे हैं ॥१५॥

पुत्र ने भी अपना भाव छुपा कर रखा और वह भी बिना पूछे यहाँ वैराग्य भाव को प्राप्त हो गया। अब पत्नी और पुत्रियाँ भी व्रत में राग–भाव से संयुक्त हो गयी हैं, मैं ही वस्तुतः ठगा गया हूँ ॥१६॥

पहले इनका पालन–पोषण कर लूँ, फिर मैं वन में जाऊँगा और कान्तार चर्या का आश्रय लूँगा। मुझे धिक्कार हो, जो ऐसा मैं विचार कर रहा हूँ। मैं मूढ़ बना हुआ हूँ ॥१७॥

सभी सम्बन्धी स्वार्थी होते हैं, यह मैंने पुराणों में बहुत बार सुना था, किन्तु आज देख लिया है। भोगों का अनुबन्ध तो मृत्यु को अपना मित्र बनाता है। ऐसे भोगों में मोह मुझ वृद्ध को भी है और इधर युवा अवस्था में योग (भोगों का त्याग) हो रहा है ॥१८॥

फिर भी उस स्त्री और पुत्री आदि का कोई दोष नहीं है। यह तो मेरी बुद्धि का दोष है और बुद्धि की ममता है, ऐसा मैं मानता हूँ। चूँकि उनके निमित्त से मैं जागृत हो गया हूँ, इसलिए इस पृथ्वी पर निश्चित रूप में वह स्त्री, पुत्री आदि परमार्थ से मित्र हैं ॥१९॥

आचार्य विद्यासागरजी के चरणों में झुककर मल्लप्पा ने गृह–त्याग के लिए निवेदन किया।

सह श्रुतसागराचार्यकल्पसमीपं प्रयातु। अनन्तादयोऽपि तेन सह गताः। सम्प्राप्तस्वीकृतिर्मल्लप्पा तत्र स्थितः। जननी कथितवती अनन्तशान्तिपुत्रं यत् गृहाणेदं धनं गृहं च गच्छेः। तौ खलु गृहगमनार्थमुद्यतौ तेनागतौ च गुरुचरणस्य समीपमुक्तवतौ–गृहं गच्छावः। तदाह सूरिः–तत्क्षेत्रं तद्गृहं ममेति मम–तवेति कुर्वाणाः केचन जना निर्गतास्तथापि क्षेत्रगृहं च तथैव। मयाऽपि प्राक् तथा भावितम्। परित्यज्य तमात्मकल्याणमिच्छातो मम सदृशं युवयोः जीवनमपि सुन्दरं भवेत्तेनात्मकल्याणं कुरु। कथं भवेत्तदात्मकल्याणमिति पृष्टौ आह ब्रह्मचर्यव्रतं स्वीकुरु। परस्परविचारणापरौ व्रतं स्वीकृतवन्तौ भवतापतप्तचित्ताय:पिण्डोपरि सदुपदेशामृतसिञ्चितौ प्रति पिता समुवाच–स्वेच्छया स्वोत्साहेन च बुद्धिपूर्वकेण कर्त्तव्यौ पश्चात्पुनःर्मम पृष्ठे नागन्तव्यौ रुदन्तौ।

तत्कालं नारिकेलफलमानयित्वा समर्प्य च सङ्कल्पितवन्तौ कायोत्सर्गेणापरेद्युर्वेषपरिवर्त्तनं कृत्वा विहितशिरोमण्डलमुण्डितेनापरशिशुशोभामावहन्तौ विप्रवटुकाविवोच्चघोषेण तत्त्वार्थसूत्रं पठन्तौ शुकवत्साविव पञ्चास्तिकायगाथां रटन्तौ सम्प्राप्तसमये कातन्त्रनाममालापाठानुच्चारयन्तौ पाकशालायां स्वयमेवाशनपानं सम्पादयन्तौ गुरु तपस्विनञ्च तत् कारयन्तौ कंचुकाङ्गरक्षिकावस्त्रं धारयन्तौ कदाचित् केशलुञ्चनपारणायागतस्य

आचार्य श्री ने कहा–स्वरूपानंद के साथ आचार्यकल्प श्रुतसागरजी के पास जाओ। अनन्त आदि भी उनके साथ गए। आचार्यकल्प की संघ में रहने की स्वीकृति पाकर मल्लप्पा संघ में रुक गये। माँ ने अनन्तनाथ और शान्तिनाथ दोनों पुत्रों को कहा, कि यह धन लो और घर पर जाओ। दोनों पुत्र घर जाने के लिए तैयार हो गए इसलिए गुरुचरण के समीप आए और कहा–''हम लोग घर जा रहे हैं।'' तब आचार्य देव ने कहा–''वह खेत, वह घर मेरा है, इस प्रकार मेरा–तेरा करते हुए कितने ही लोग चले गए और फिर भी खेत और घर तो वही है।'' मैं भी पहले वैसी ही भावना करता था। उन खेत और घर को छोड़कर, आत्मकल्याण की इच्छा करो, जिससे मेरे समान तुम लोगों का जीवन भी सुन्दर बन जाए, इसलिए आत्म–कल्याण करो। तब दोनों भ्राताओं ने पूछा–वह आत्म–कल्याण कैसे हो? आचार्यदेव ने कहा–ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार करो। आपस में दोनों भाइयों ने विचार करके व्रत स्वीकार कर लिया। संसार के ताप से तप्त हृदय रूपी लोह पिण्ड पर उपदेश रूपी अमृत का मानों सिंचन हो गया। पिता ने कहा–''अपनी इच्छा से और अपने उत्साह से बुद्धिपूर्वक करना बाद में मेरे पीछे रोते हुए मत आना।''

उसी समय नारियल फल लाकर गुरु चरणों में समर्पण करके दोनों भाई संकल्पित हो गए। दूसरे दिन भेष (ड्रेस) बदल गई और पूरे शिर का मुण्डन हुआ। उस समय वह किसी अन्य शिशु की शोभा को धारण कर रहे थे। ब्राह्मण बटुक ब्रह्मचारी की तरह वह ऊँचे स्वर से तत्त्वार्थसूत्र को पढ़ते थे और छोटे तोते की तरह दोनों पंचास्तिकाय की गाथा को रटते थे। जब समय बचता था, तो कातन्त्र व्याकरण और नाममाला के पाठ का उच्चारण करते थे। स्वयं ही चौके में भोजन बनाकर गुरु को और अन्य तपस्वियों को भोजन दान करते थे। धोती बनियान वस्त्रों को धारण करते थे। एक बार कभी केशलोंच की पारणा के लिए गुरुदेव का आगमन हुआ। उनके कर पात्र में असावधानी से

गुरुदेवस्य करपुटेऽनवधानेन शान्तिनाथधृताहारसहकेशकारणात् कृतान्तरायस्य सन्निधौ तत्र मासपर्यन्तमवसताम्।

(पृथ्वी)

भवार्णवतरङ्गितं क्व तरणी सुधर्मस्य भोः
विषाग्निविषये क्व कष्टमथ शान्तयोगार्पणम्।
तनोर्विषमता च चेतनसमानता चिन्मये
इति प्रवरभिन्नता शिवपथादसारत्रये ॥२०॥

(अनुष्टुप्)

चर्चा वा परिचर्या वा पूजा परिचयो गुरौ।
कुर्वन्ति च महाभागस्तेषामेवार्चितं जन्म ॥२१॥
श्रुतसागरसङ्घे वा गमनागमनं च वर्तते तेषाम्।
सङ्घस्य मेलनेन हि बुद्धेः पटुता हृदि मोदश्च ॥२२॥

सङ्केतेन विना कृतविहारः सूरिः हिण्डौन-विथाना-उच्चैन-पथेन कानने सम्पादिता हारविधिरभिनव-ब्रह्मचारिभ्यां ततो विंशतिदिनं यावद् भरतपुरे व्यतीतवान्।

दशलक्षण-धर्मः

(वसन्ततिलका)

दोषा वसन्ति हृदये किमु देशनातः कस्योपकारकरणाय समुद्यतः स्याम्।
एवं विचिन्त्य विनिहन्तुमशेष-दोषान् प्रागात्मदोषविनिवारणके यतोऽस्मि ॥२३॥

शान्तिनाथ के द्वारा दिए आहार में केश आ जाने से गुरुदेव ने अन्तराय किया। इस प्रकार गुरुदेव के समीप महावीरजी में दोनों भाई लगभग एक माह तक रहे।

भो! कहाँ तो संसार-समुद्र की तरंगें और कहाँ यह श्रेष्ठ धर्म की नौका। कहाँ तो विष और अग्नि के समान विषयों में कष्ट और कहाँ शान्त योग साधना। कहाँ तो इस शरीर की विषमता और कहाँ चेतना में चैतन्य की समानता। इस प्रकार संसार, भोग और शरीर इन तीनों असार वस्तुओं में मोक्षमार्ग से बहुत भिन्नता है ॥२०॥

गुरु के विषय में चर्चा, परिचर्या, पूजा अथवा परिचय जो महाभाग्यवान करते हैं, उनका ही जन्म यहाँ पूजित है ॥२१॥

उन भाइयों आदि संघस्थ लोगों का आचार्यकल्प श्रुतसागरजी के संघ में भी गमनागमन चलता रहता है। वास्तव में संघ के मेल-जोल से बुद्धि की पटुता और हृदय में आनन्द बढ़ता है ॥२२॥

संकेत के बिना आचार्यश्री ने विहार किया और हिण्डौन, विथाना, उच्चैन के रास्ते से विहार हुआ। जंगल में नए-नए ब्रह्मचारियों द्वारा आहार विधि सम्पादित हुई। तदुपरान्त आचार्यश्री बीस दिन भरतपुर में रहे।

१. उत्तम क्षमा धर्म

मासोपवासकरणं शिखरे निवासं आतापनादितपनं विदधातु मौनम्।
संश्रुत्य दुष्टवचनानि करोति रोषं सर्वं वशिष्ठ इव निष्फलमेव विद्धि ॥२४॥
यः कातरोऽस्ति वितनोति रुषं विचिन्त्य तस्यास्तु युक्तमथ कारणतो न तुभ्यम्।
कर्मैव कारणमतो विजिताय भेषं साधोर्धरामि किमु कोपवशेन मे स्यात् ॥२५॥

(द्रुतविलम्बित)

प्रतिपलं प्रतिकूलमुपेत्य भो मनसि संज्वलतीह रुषानलम्।
निजकृतं मयि कर्म मुधार्जितं शमदमक्षमया वशमानये ॥२६॥
हि निजबोधसमुत्थ - सुशीतलां खलु पिबामि महारसनामिमाम्।
जिनपवाक्यनयैर्मधुरां परां शमसुधारसमिश्रितानूपमाम् ॥२७॥

२. उत्तम मार्दव धर्म

हीनेषु रूपकुलवित्ततपस्सु बुद्धौ मानी करोति सुजनेषु विधाय गर्वम्।
हीनाधिकत्वमवनौ खलु कर्मयोगात् ज्ञानी कुतः सजति भङ्गुरतात्मकेषु ॥२८॥

दशलक्षण-धर्म

यदि हृदय में दोष रहते हैं तो दूसरों को देशना देने से क्या होगा? और मैं किसका उपकार करने के लिए उद्यत हो पाऊँगा? ऐसा विचार करके उन समस्त दोषों को नाश करने के लिए और सबसे पहले अपने ही आत्म दोषों का निवारण करने के लिए मैं प्रयत्न करता हूँ ॥२३॥

मासोपवास करना, पर्वत के शिखर पर निवास करना, आतापन तप आदि करना, मौन धारण करना यह सब भले ही होवे किन्तु दुष्टों के वचन सुन करके जो रोष धारण करता है उसके लिए सभी कुछ वशिष्ट मुनि के समान निष्फल हो जाता है। ऐसा हे आत्मन! तू जान ॥२४॥

जो कायर जीव किसी कारण से क्रोध को विचार करके करता है उसके लिए तो वह क्रोध करना उचित हो किन्तु तुम साधु के लिए क्रोध करना उचित नहीं है क्योंकि कर्म ही हमारे क्रोध का कारण है ऐसा जानकर उस कर्म को जीतने के लिए मैंने साधु का वेश धारण किया है इसलिए अब मुझे कोप के वशीभूत होने से क्या? ॥२५॥

भो! प्रतिक्षण प्रतिकूलता को प्राप्त करके इस मन में क्रोधाग्नि जलने लगती है। मेरी आत्मा में यह कर्म स्वयं किया हुआ तथा अज्ञान से अर्जित है। शम, दम और क्षमा से मैं इस क्रोधाग्नि को वश में लाता हूँ ॥२६॥

अहो! मैं निज आत्मबोध से उत्पन्न अत्यन्त शीतल तथा जिनेन्द्र भगवान् के वाक्यरूपी नयों से, मधुर शमामृत रस के मिश्रण से उत्कृष्टता को प्राप्त इस उत्कृष्ट तेज धाम रूपी रसना को मैं पी रहा हूँ ॥२७॥

यः प्राक् करोति मदमन्तरिहानु तप्तश्चित्ते वृथा भरतचक्रिसमोऽपि लोके।
ज्येष्ठो न तिष्ठति सदा सममेकरूपं व्यर्थोऽतिगर्व इति मार्दवतामुपैमि ॥२९॥

(द्रुतविलंबित)

यदि कृतेमयि तिष्ठति मानता जगति कोऽत्र विभुर्मम कथ्यताम्।
न हि तु मार्दव - धर्ममुपासतां जिनवरैः कथितं च हितङ्करम् ॥३०॥

३. उत्तम आर्जव धर्म

मायानुबद्धहृदयो जगतः समक्षे धर्मी महाव्रत - धरोऽस्मि महातपस्वी।
इत्यादिकांक्षितमना कुरुते स सर्वं त्रैलोक्यवञ्चनपरो नु निजात्मघाती ॥३१॥
मायी न चिन्तयति वै परमार्थ-तत्त्वं नो वा तदर्थमिह तप्यति सौख्यमेति।
किन्त्वादिशेदपरमात्म - विबोधशून्यः मिथ्यात्वभूमिपरिणामगतः कुधीः स्यात् ॥३२॥

(द्रुतविलम्बित)

निकृतिशल्यधरा मनुजाः सदा परभवे वनिता-भवधारकाः।
पशुगतौ बहुदुःखमुपेत्य ते प्रतिभवं निकृति - प्रकृतिव्यथा ॥३३॥

रूप, कुल, धन, तपस्या और बुद्धि में हीन जनों में गर्व को धारण करके मानी व्यक्ति मान करता है। किन्तु जो यह जानता है कि यह हीन-अधिकपना केवल कर्म के योग से होता है ऐसा वह ज्ञानी इन क्षणभंगुर रूप कुल आदि में कैसे आसक्त हो सकता है ? ॥२८॥

जिसने इस लोक में पहले भी मद किया है वह भरत चक्रवर्ती के समान होकर भी व्यर्थ में चित्त में ताप को प्राप्त किया है और जो अपने से ज्येष्ठ है, बड़ा है वह सदा वैसा ही एकरूप नहीं रहता है ऐसा जानकर गर्व करना व्यर्थ है। इस प्रकार मैं मार्दवता को प्राप्त होता हूँ ॥२९॥

यदि मेरे द्वारा किया हुआ मान भाव जगत् में हमेशा बना रहता तो मुझे यह बताओ कि जगत् में कौन विभु अर्थात् सदा अपना भाव बनाये रखने वाला रहा है। यदि नहीं है तो मार्दव धर्म की उपासना करना चाहिए जो कि जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ है और अपना हित करने वाला है ॥३०॥

जिसका हृदय माया से अनुबद्ध है वह जगत् के समक्ष मैं धर्मी हूँ, मैं महाव्रतधारी हूँ, मैं तपस्वी हूँ इत्यादि कांक्षित मन वाला होकर सभी धर्म तप आदि का पालन करता है ऐसा जीव वास्तव में तीन लोक की वंचना में तत्पर हुआ क्या अपनी आत्मा का घात करने वाला नहीं है? ॥३१॥

मायावी जीव परमार्थ तत्त्व का चिंतन नहीं करता है और उस परमार्थ तत्त्व के लिए तप नहीं करता है किन्तु परमार्थ तत्त्व के बिना ही सुख की प्राप्ति कर रहा है, फिर भी वह दूसरों के लिए ज्ञान देता है किन्तु स्वयं आत्मबोध से शून्य रहता है ऐसा जीव मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त हुआ दुर्बुद्धि ही रहता है ॥३२॥

माया शल्य को धारण करने वाले मनुष्य सदा पर भव में स्त्री के भव को धारण करने वाले

४. उत्तम शौच धर्म

आहारमैथुनपरिग्रह - लालसाभिः किं वा भविष्यति परत्र तथेहभीत्या।
कांक्षा-विभीतहृदये न हि चित्तशुद्धिः तस्मान्निहन्मि भयकामयुगाप्रशस्ताम् ॥३४॥

लक्ष्यं विधाय परमार्थसुखस्य कांक्षा-मन्यां भवाङ्गरतिभोगभुवां विनश्य।
संसारसागर-निमज्जन-भीतिभीतः छिन्दन्भयानि खलु सप्त तु शौचधर्मः ॥३५॥

(द्रुतविलम्बित)

सकललोभकषायनिराकृते - विमलबोधकलाप्रविजृम्भिते।
प्रकटतीह निजात्मशुचिप्रभा विधुतकामभया शशिसन्निभा ॥३६॥

५. उत्तम सत्य धर्म

सत्यं मितं सुवचनं श्रुतसार्थकारि यो भाषते न हि करोति निजात्मशंसाम्।
निन्दात्मकं निगदितं न हि दत्तशापं तस्यैव सत्यवचनं हृदि सत्य-धर्मात् ॥३७॥

सत्यं सदा विजयते वितथान्धकारे देवेषु चार्हत इवान्यमतेऽधिकारे।
पञ्चास्तिकायजगतस् त्रिविधं हि लक्ष्म स्वात्मा तथा जगति सत्यमिति प्रतीतिः ॥३८॥

होते हैं तथा वे जीव पशु गति में भी बहुत दुःखों को प्राप्त करके प्रत्येक भव में माया कर्म प्रकृति की ही व्यथा को भोगते रहते हैं ॥३३॥

आहार मैथुन परिग्रह की लालसा के द्वारा परलोक में क्या होगा? तथा इस लोक में भी जो आकांक्षा एवं भय से सहित हृदय वाला बना रहता है उसके चित्त शुद्धि नहीं होती है। अतः मैं भय और काम इन दोनों ही अप्रशस्त भावों का विनाश करता हूँ ॥३४॥

परमार्थ सुख का लक्ष्य धारण करके संसार शरीर रति और भोगों से उत्पन्न होने वाली अन्य समस्त कांक्षा का विनाश करके संसार सागर में डूबने की भीति से जो भयभीत है वह सात भयों को छेदता हुआ शौच धर्म वाला होता है ॥३५॥

समस्त लोभ कषाय के दूर हो जाने पर, निर्मल बोधकला के प्रकट हो जाने पर, निजात्मा की शुचि की प्रभा इस आत्मा में प्रकट होती है। अपनी आत्मा के शौच धर्म की प्रभा में काम और भय नहीं होता है तथा वह चंद्रमा के समान निर्मल होती है ॥३६॥

सत्य, परमित और श्रुत के अर्थ के बताने वाले वचनों को जा कहता है तथा जो अपनी आत्मप्रशंसा नहीं करता है, निन्दात्मक वचनों को भी नहीं बोलता है और न किसी को शाप देता है उसके हृदय में सत्य धर्म होने से उसके ही वचन सत्य हैं ॥३७॥

असत्य के अंधकार में भी सत्य की सदा विजय होती है जैसे कि देवों में अरिहंत देव ही हैं चाहे अन्य मतों का कितना भी अधिकार क्यों न बना रहे। इसी प्रकार पाँच अस्तिकाय रूप संसार का उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य इन तीन चिन्हों के द्वारा परिणमन होता है, उसी प्रकार अपनी आत्मा का

विगतमोहमना इह संसृतौ ऋतमहो प्रविलोकति शाश्वतम्।
खलु मतं हि ऋतं च विभाषणं इति वृषं हृदये वचने धरेत् ॥३९॥

६. उत्तम संयम धर्म

पञ्चाक्षनिग्रहपरो यमधारको यः प्राणीन्द्रियेषु सुयतो हि कषायजेता।
सामायिके च निरतश्चभवादिजेषु धर्मी महान् स सुधरामि च विष्टपेषु ॥४०॥
सोष्णं जलं पिबति कालषडार्धकेषु शीतोष्णभोजनकरे समशीलचित्तः।
पक्वं समत्ति सुफलानि सदाग्निना यो धीरः स संयमवृषी वहति प्रवृत्तम् ॥४१॥

(द्रुतविलम्बित)

करसुपादशरीरसुमुण्डनं वचनचित्तविकल्प - निवर्हणम्।
परमदुष्कर-मिन्द्रियरोधनं दश करोति यमं खलु संयमी ॥४२॥

७. उत्तम तप धर्म

कायोपतापसहनार्ह - तपस्क्रियायां प्रत्युद्यतोऽस्तु सहसा ननु वा न वा स्यात्।
प्रत्यागते विधिकृते प्रविदत्तबाधे सह्यं प्रशान्तमनसा सुमतं तपस्तत् ॥४३॥

परिणमन होता है। जगत् में इस प्रकार के सत्य को जानना ही सत्य की प्रतीति है ॥३८॥

इस संसार में मोह से रहित मन वाला जीव ही अहो! शाश्वत सत्य को देखता है उसी के वचन सत्य वचन होते हैं। इस प्रकार सत्य धर्म को हृदय में और वचनों में धारण करना चाहिए ॥३९॥

भव आदि से उत्पन्न होने वाले संसारों में अर्थात् पंच परावर्तन रूप संसार में जो पंचेन्द्रिय के निग्रह में तत्पर है, महाव्रतरूपी यम को धारण करने वाला है, प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम में श्रेष्ठ प्रयत्न करने वाला है तथा कषायों को जीतने वाला है और जो सामायिक में निरत रहता है वह महा संयम धर्म वाला है। उसी महान् संयम धर्म को मैं धारण करता हूँ ॥४०॥

शीत-उष्ण-ग्रीष्म इन तीनों कालों में जो उष्ण जल पीता है तथा शीत-उष्ण भोजन करने में भी जो समशील चित्त वाला है, फलों को सदा अग्नि के द्वारा पक्व ही खाता है, वह धीर सदा संयम धर्म को धारण करने वाला प्रकृष्ट चरित्र को धारण करता है ॥४१॥

हाथ-पैर-शरीर का मुंडन, वचन और चित्त के विकल्प का नाश करना और पाँच इन्द्रिय का निरोध करना ये दश मुंडन बहुत ही दुष्कर हैं। संयमी इन दश यमों को धारण करता है ॥४२॥

काय के उपताप को सहन करने के योग्य तप क्रियाओं में सहसा उद्यत हो अथवा न हो किन्तु कर्म कृत और दूसरों के द्वारा दी जाने वाली बाधाओं के आ जाने पर प्रशांत मन से उन्हें सहन कर लेना ही वह श्रेष्ठ तप माना गया है ॥४३॥

इच्छानिरोधकरणं तपसोऽस्ति चिह्नं प्रायः शरीरमनसी सहनीय इष्टम्।
यत्संयमेन सहितं परमार्थजुष्टं तच्चेव शास्त्रविहितं सुतपः प्रशस्यम् ॥४४॥

(द्रुतविलम्बित)

सरसि पङ्कहरस्तपनो यथा कनक - शुद्धिकरो ज्वलनं यथा
तरुफलप्रदकारि सुतापनं चिति सुशुद्धिकरं सुतपस्तथा ॥४५॥

८. उत्तम त्याग धर्म

दानात् समार्जितधनस्य जिनालयांश्च श्रीजैनबिम्बशिखरध्वज - साधुवासान्।
निर्मापयन्ति सुधियो भुवि धर्मवृद्ध्या श्लाघ्या मता बुधजनैः किल ते गृहस्थाः ॥४६॥
त्यागाद् धनस्य जिनधर्मप्रभावना स्यादाहारदानकरणाद् मुनयस्थितिश्च।
संविद्यते शिवपथो हि तयैव धर्मस्त्यागो महानिति मतो गृहिणां मुनीनाम् ॥४७॥

(द्रुतविलम्बित)

पतति शुक्तिभुजंगमुखं गतं विमलदानमिहैकजलं द्विधा।
करगतं खलु पात्रकुपात्रयो-रमृतकूटविषात्तफलं तथा ॥४८॥

इच्छाओं का निरोध करना तप का चिह्न है। प्रायः शरीर और मन के लिए जो सहनीय है ही तप इष्ट कहा गया है। जो तप संयम से सहित है तथा परमार्थ से युक्त है वही शास्त्र में कहा हुआ श्रेष्ठ तप प्रशंसनीय है ॥४४॥

जैसे सरोवर में कीचड़ को सुखाने के लिए सूर्य होता है, स्वर्ण को शुद्धि करने वाली आग होती है, वृक्ष को फल प्रदान करने वाला उत्कृष्ट ताप होता है, उसी प्रकार से चेतना में शुद्धि करने वाला श्रेष्ठ सु-तप होता है ॥४५॥

अर्जित किये हुए धन का दान करने से, इस पृथ्वी पर जिनालयों का, श्री जैन बिम्बों का, शिखरों का, ध्वजा का और साधुओं के आलयों का जो गृहस्थ बुद्धिमान् जीव धर्म वृद्धि के कारण से निर्माण कराते हैं वह गृहस्थ ही वास्तव में बुद्धिमानों के द्वारा प्रशंसनीय माने गये हैं ॥४६॥

धन के त्याग से जिन धर्म की प्रभावना होती है। आहार दान करने से ही मुनियों की स्थिति बनती है। मुनियों के होने पर ही मोक्षमार्ग है तथा उन मुनियों के होने पर ही धर्म होता है। इसलिए यह त्याग धर्म गृहस्थ और मुनि दोनों के लिए महान् माना गया है ॥४७॥

सीप और सर्प के मुख में गया हुआ जल जिस प्रकार से दो भागों में विभक्त हो जाता है अर्थात् सीप को प्राप्त हुआ जल मोती ही बन जाता है और सर्प के मुख को प्राप्त हुआ जल विष बन जाता है उसी प्रकार से पात्र और कुपात्र के हाथ पर गया हुआ दान अमृत तथा कूट विष से युक्त फल वाला हो जाता है ॥४८॥

९. उत्तम आकिंचन्य धर्म

स्वेच्छाविहारमशनं वनहस्तिनो वा कुर्वन्ति येऽत्र मुनयोऽवशिनो हि सङ्गात्।
रागादिभावमपि नात्महिताय यावत् संमन्वते न खलु दुःखलवोऽपि तावत् ॥४९॥
आकिञ्चनस्य महिमा महती मुनेश्च स्वास्वादनेन भुवने गुरुतानुभूतिः।
यस्या बलेन लघुतात्मनि निष्कलङ्का संवीतपङ्कखगपक्ष इवैति खे सः ॥५०॥

(द्रुतविलम्बित)

निजधनं निजता समता मता परधनं परता ममता व्यथा।
इति विहाय परं विधिजं विधिं कुरु रतिं किल धर्मम-किञ्चनम् ॥५१॥

१०. उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

मांसास्थिपूतिकुणिपै - र्निभृतं शरीरं चर्मावृतेन तनुना प्रविभाति काम्यम्।
मोहादनादिजकुबोधबलाद्धि मोही चैतन्यधातुमचलं स हि ब्रह्मचारी ॥५२॥
दृष्ट्वा तनुं च कमनीयनितम्बिनीनां नो द्रष्टुमिच्छति पुनस्तदनङ्गवेगात्।
ब्रह्मात्मनीह दृशिबोधविभासमानं नित्यं हि तस्य रमते परमः स धर्मः ॥५३॥

जिस प्रकार जंगली हाथी अपनी इच्छा से विहार करता है और भोजन करता है उसी प्रकार से जो परिग्रह के कारण से परवश में नहीं रहते हुए मुनि स्वेच्छा विहार और स्वेच्छा अशन करते हैं तथा रागादि भाव को भी आत्महित के लिए जब तक नहीं मानते हैं तब तक उनको दुःख लेश मात्र भी नहीं होता है। अर्थात् आकिंचन धर्म के कारण उनको दुःख नहीं होता है। मुनि के आकिंचन धर्म की महिमा महान् है। इस संसार में अपने निज आत्म के आस्वादन से उसे गुरुपने की अनुभूति भी होती है। जिस अनुभूति के बल से आत्मा में लघुता तथा निष्कलंकता आती है। जैसे आकाश में कीचड़ से रहित पंख वाला पक्षी उड़ता है वैसे ही वह भी अपनी आत्म आकाश में उड़ानें भरता है ॥४९-५०॥

स्व का भाव समता है और वही निजधन माना गया है। पर का भाव ममता है वह परधन है, वह व्यथा है अर्थात् दुःख है। इस प्रकार जानकर कर्म से उत्पन्न होने वाले सभी पर-धन को और उन कर्मों को छोड़कर अकिंचन धर्म में तुम हे आत्मन्! रति करो ॥५१॥

शरीर मांस, अस्थि और दुर्गंधित अशुचि पदार्थों से भरा है। अतिसूक्ष्म चर्म से आवृत है इसलिए यह मनोहर प्रतीत होता है। मोह के कारण से अनादिकाल से चले आये कुज्ञान के बल से ही मोही जीव को यह शरीर मनोहर प्रतीत होता है किन्तु जिसे अपनी अचल चैतन्य धातु मनोहर प्रतीत होती है वही ब्रह्मचारी है ॥५२॥

मनोहर स्त्रियों के शरीर को देखकर के उस काम के वेग से उन्हें पुनः देखने की जो इच्छा नहीं करता है तथा जो दर्शन-ज्ञान से प्रकाशमान अपनी ब्रह्म आत्मा में ही नित्य रमण करता है उसी का वह परम ब्रह्मचर्य धर्म होता है ॥५३॥

(द्रुतविलम्बित)

शमितकाम - कषाय - रिपुर्यतिः र्यदि विलोकति ता मनुते त्रिधा।
स्वसृसुताजननीसदृशाः सदा चरण - धूलिरतस्तु पुनातु मे ॥५४॥

तत्र एकाकिनोऽग्रजो महावीरः इष्टवियोगेन खिन्नोऽन्योपायमचिन्तयन् श्रीधर्मसागराचार्यसङ्घे ''महावीरस्य मृत्युःसज्जातः'' इति समाचारं विद्युत्पत्रेण प्रेषितवान्। आचार्येण मात्रे पुत्रीद्वयाय चाज्ञा प्रदत्ता गृहगमनार्थम्। ताश्च व्याकुलीभूता भरतपुरमागताः। समाचारश्रवणेन मन्दं मन्दं प्रहसन् सूरिराह सर्वमेतन्नाटकम्। किञ्चिद् विचार्योक्तम् यदि युष्माकं मनसि भयं तर्हिश्रीश्रुतसागरार्यसमीपं नेतव्यमिति सर्वे प्रस्थिता। मार्गे हि मल्लप्पा मिलितः। पुनश्च सर्वे श्रुतसागरसन्निधिमुपगताश्चादिष्टाः ''यथा धर्मसागरसूरिवर्येणाज्ञापितं तथैव करणीयं भवतां गुरुर्विद्यासागरस्तु द्वादशगुणस्थानवर्ती वीतरागी अस्ति अहं तु षष्ठसप्तमगुणस्थानवर्ती।'' इतिश्रुत्वा शान्तिनाथं गुरोःपार्श्वे विमुच्य पञ्चापि सदस्या गृहमागत्य द्वारयन्त्रयुक्तकपाटमवलोक्या-श्वासितास्तथापि मल्लप्पानुज्ञया द्वारयन्त्रमुत्पाट्य गृहे प्रविष्टवन्तो कियत्कालादागच्छेत् कुत्र गत इति विचिन्त्य ततः सार्धद्वय-मासपर्यन्तं गृहमस्थुः।

जिस यति ने काम कषाय रूपी शत्रु को शांत कर दिया है। यदि वह स्त्री को देखता भी है तो उसे तीन प्रकार की स्त्री मानता है-बहिन, पुत्री और माँ के सदृश। ऐसे उस ब्रह्मचारी यति की चरणधूलि सदा मुझे पवित्र करे ॥५४॥

वहाँ सदलगा में बड़े भाई महावीर अकेले थे और इष्ट बन्धुओं के वियोग से वह खिन्न थे। महावीर को कोई दूसरा उपाय नहीं सूझा, तो उन्होंने श्री धर्मसागरजी आचार्य के संघ में एक समाचार 'तार' से भेजा कि ''महावीर की मृत्यु हो गई है''। आचार्यश्री ने माँ और दोनों पुत्रियों को घर जाने के लिए आज्ञा प्रदान की। वह माँ और बेटियाँ व्याकुल होती हुई भरतपुर आ गई। भरतपुर में आचार्यश्री विद्यासागर जी ने यह समाचार सुनने के साथ मन्द-मन्द हँसते हुए कहा कि-यह सब नाटक है। थोड़ा विचार करके फिर कहा कि यदि आप लोगों के मन में भय है, तो आचार्य श्रीश्रुतसागरजी के पास चले जाना चाहिए, इस प्रकार सुनकर सभी लोग वहाँ के लिए प्रस्थान किए। रास्ते में मल्लप्पा मिल गए। फिर सभी लोग श्रुतसागरजी के निकट पहुँचे और उन सभी को आदेश मिला कि जैसी आचार्य श्री धर्मसागरजी ने आज्ञा दी है वैसा ही करना चाहिए। आपके गुरु आचार्य श्री विद्यासागरजी तो बारहवें गुणस्थान के वीतरागी हैं, मैं तो छठवें-सातवें गुणस्थान का हूँ। इस प्रकार सुनकर शान्तिनाथ को आचार्य श्री विद्यासागर जी के पास छोड़कर पाँचों ही सदस्य घर आए। वहाँ द्वार पर ताला लगा देखकर वे लोग आश्वस्त हो गए थे, कि कुछ नहीं हुआ, महावीर ताला लगाकर कहीं गए हैं। फिर भी मल्लप्पा ने सोचा कि पता नहीं महावीर कब आएगा और न जाने कहाँ गया है, यह सोचकर मल्लप्पा की आज्ञा से ताला तोड़ कर सभी लोगों ने घर में प्रवेश किया। उसके बाद लगभग अढाई महीने तक सभी लोग घर में रहे।

(इन्द्रवज्रा)

सूरिर्विहत्य किल साम्यमनाः समस्ते क्षेत्रे विशिष्टजनशून्यमये सदैव।
मात्रात्मनः परिचयाय सदैव लिप्सा लोकादरेण रहितो गतरागसूरिः ॥५५॥

(अनुष्टुप्)

भरतपुरतो गत्वा गोवर्धनं समागतः।
कुम्हेरग्राममागत्य शान्तिनाथं च सादरम् ॥५६॥
समाहूय व्रतं दत्तं सप्तप्रतिमयान्वितम्।
मथुरातो निवृत्य स आगरानगरीं गतः ॥५७॥
ऐत्मादपुरमायातस्ततो यातः स टूंडलाम्।
सुहागनगरीं प्राप्वा जैननगरसंस्थितः ॥५८॥

अत्रैव भगिनीजननीसहानन्तानुजं महावीरः समानयत १५ अगस्त दिने १९७५ ई० तमे। वर्षायोगश्च सम्पन्नः। सहारनपुरं वर्षायोगायाधिवसन्तं धर्मसागराचार्यसमीपं गच्छेदित्याज्ञावशेन भगिनीद्वयसहजननीं तत्र गमयित्वा महावीरो गृहं गतः पश्चात् मल्लप्पा पुनरागतस्तत्रैव। वर्षायोगानन्तरं विहरमाणः पुनः टूंडलामागतः सूरिः। तत्रैव धर्मसागराचार्यप्रदत्ताज्ञाधनं यात्राकरणरूपं गृहीत्वा मल्लप्पा सबान्धवः समायातः। पुनश्च टूंडलातो विहत्यागरानगरे गते सत्यनन्तेन 'ताज्भवनं' द्रष्टुं पृष्टम्। पश्य इति गुरुणोक्तम्। अनन्तः आश्वासितः।

इधर साम्य मन में विशिष्ट जनों से शून्य समस्त क्षेत्रों पर आचार्य देव विहार करते थे। उनकी आकांक्षा मात्र आत्मा के परिचय के लिए थी। राग से रहित वह आचार्य लोक के आदर से निराकांक्ष थे ॥५५॥

भरतपुर से जाकर वह गोवर्धन आए, फिर कुम्हेर ग्राम में आकर शान्तिनाथ को आदर के साथ बुलाकर सात प्रतिमा के व्रत प्रदान किए। वहाँ से मथुरा आए ॥५६॥

फिर मथुरा से वापस लौटकर वह आगरा गए। एत्मादपुर आए और फिर टूंडला आए। इसके बाद सुहागनगरी फिरोजाबाद में आकर जैन नगर में ठहर गए ॥५७-५८॥

यहीं पर १५ अगस्त १९७५ के दिन महावीर, माँ-बहिन के साथ छोटे भाई अनन्त को लेकर आए। यहाँ पर वर्षायोग सम्पन्न हुआ। वहाँ पर आचार्यश्री ने आज्ञा दी कि सहारनपुर में आचार्य श्री धर्मसागर जी का वर्षायोग चल रहा है, उन्हीं के पास जाओ। आज्ञा के वशीभूत होने से महावीर माँ और दोनों बहिनों के साथ वहाँ गए और फिर उन्हें संघ में रखकर स्वयं घर चले गए। बाद में मल्लप्पा भी उसी संघ में आ गए। वर्षायोग के बाद आचार्य देव विहार करते हुए पुनः टूंडला आ गए। उधर आचार्य धर्मसागरजी ने मल्लप्पा को आज्ञा दी कि आप परिवार सहित पहले यात्रा कर आएँ। मल्लप्पा इस आज्ञा धन को लेकर टूंडला आए। आचार्यदेव टूंडला से विहार करके आगरा नगर आए। आगरा आने पर अनन्त ने ताजमहल को देखने के लिए पूछा। गुरुजी ने कहा 'देखो' अनन्त कुछ आश्वस्त

इतः स्वयं विहारं कृतवान् राजाखेडामागतः। अनन्तस्येच्छापूर्तिर्न जाता। द्वित्रिदिनं व्यतीत्य मछरियापथेन धौलपुरे समायाते सप्तप्रतिमाव्रतेन हृष्टानन्तहृदये मुरैनानगरसमागते द्वित्रिदिनविश्रामेण मक्खनलालाविदुषा सह चर्चासङ्गमसुखे प्राप्ते ग्वालियरनगरमागच्छत् सूरिः।

(उपजाति)

क्षुधा मता वै वपुषश्च तृष्णा लाभादिपूजा मनसश्च तृष्णा।
द्वयी हि येषां नितरां निरस्ता ते देवपूज्या भुवि सन्ति देवाः ॥५९॥

(अनुष्टुप्)

अशने यो निरोपेक्षी निरापेक्षी स देहतः।
देहाच्च यो निरापेक्षी निरापेक्षी स सर्वतः ॥६०॥

(उपजाति)

मनोऽनुकूलं मनसापि मिष्टं मिष्टान्नपानं किल भक्षयन्ति
वा वाहनस्य स्वधिकारिणो ये स्वाचारमार्गं भुवि लंघयन्ति ॥६१॥

इत्यायातसङ्घस्य परिचर्यां कर्तुं न कोऽप्यायातः। विलम्बेनागतः सूरिः सामायिककाल-नैकट्यात् सामायिके समुपस्थितः। तावत् केचिज्जना आगताः। पश्चात् ब्रह्मचारिणा सह वार्तां कृत्वा नागरिकाः विस्मयेनावदन्-एषः कः आचार्यः स्यात् यः स्वपार्श्वे वाहनचुल्लुदासप्रभृतिकं न धरति। कमपि वस्तु तत्पार्श्वेऽनवलोक्य ते क्षिप्रमेवाहारविधिं पूर्णीकृत्योपदेशामृतेन पञ्चमहाव्रतविषये पञ्चदिनेषु हृदयसमुद्भूतहर्षेण

हुए। इधर आचार्य देव ने वहाँ से स्वयं विहार कर दिया। राजाखेड़ा आ गए और अनन्त की इच्छा पूरी न हो पाई। दो-तीन दिन वहाँ बिताकर मछरिया होते हुए धौलपुर आ गए। वहाँ सात प्रतिमा के व्रत अनन्त ने ग्रहण किए, जिससे उनका हृदय प्रसन्न हो गया। वहाँ से मुरैना नगर आए दो तीन दिन रुके। पं० मक्खनलालजी के साथ चर्चा सुखपूर्वक हुई। वहाँ से ग्वालियर नगर में आना हुआ।

पेट की तृष्णा क्षुधा मानी गई है और मन की तृष्णा लाभ आदि पूजा की इच्छा है। यह दोनों तृष्णाएँ जिनकी अच्छी तरह नष्ट हो गई हैं, वे ही पृथ्वी पर देवता हैं और देवों से पूज्य हैं ॥५९॥

जो भोजन के विषय में अपेक्षा रहित हैं, वह देह से निरापेक्षी हैं। जो देह से निरापेक्ष हैं, वह सभी वस्तुओं में निरापेक्षी है। जो लोग मन के अनुकूल, मन को मिष्ट लगने वाले अपनी इच्छानुसार अन्न-पान को खाते हैं और जो वाहन के अच्छी तरह अधिकारी बने हैं, वह श्रेष्ठ आचारमार्ग का पृथ्वी पर उल्लंघन करते हैं ॥६०-६१॥

इस प्रकार ग्वालियर में आये संघ की परिचर्या के लिए कोई भी श्रावक नहीं आया। आचार्यदेव विहार करके कुछ देर से पहुँचे। सामायिक का समय निकट होने से वह सामायिक काल के लिए बैठ गए। तब तक कुछ लोग आ गए। बाद में कुछ लोगों ने ब्रह्मचारीजी के साथ बातचीत की और वे लोग आश्चर्य सहित होकर कहने लगे-''ऐसा कौन-सा आचार्य होगा, जो अपने पास में वाहन, चूल्हा-चौका, नौकर आदि नहीं रखता हो। जब उनके पास नागरिकों ने कुछ भी नहीं देखा, तो शीघ्र ही आहार

पुलकितगात्राः सञ्जाताः। जपाजीचतुष्पथे गोरखीप्राङ्गणे जिलाधीशकार्यालयसमीपे सर्वजनलाभायोपदेशोऽभवत्। तत्र बहुसंख्यकजना लाभान्विता आसन्।

प्रातः अष्टवादने नगरात् एकमीलमन्तरस्थितपर्वतादवरुह्य प्रवचनं कृत्वाऽऽहारचर्यानन्तरं तत्रैवाऽऽयातिस्म। एकान्ते धर्मध्यानेन दिवसरात्रिं व्यतीत्यात्मतेजसः प्रकटनायावसत्। सामाजिकैः प्रार्थितम्- भगवन्! मध्याह्ने नारीकुलधर्मालाभार्थं नगरमध्ये गन्तव्यं तासामत्रागमने कष्टं जायते दूरदेशात्। तदाह श्रीगुरुः-

(अनुष्टुप्)

स्वात्मनः श्रेयसे दीक्षा गृहीता मुख्यतो मया।
तदर्थं हि प्रवृत्तिर्मे निवृत्तिरन्यकार्यतः ॥६२॥
परार्थाय प्रवृत्तिश्च समये समये गुणा तथा।
जिनवाग् देशना प्रातस्तेन नित्यं प्रवर्तते ॥६३॥
तस्या हि मननं कार्यं शास्त्राध्ययनमञ्जसा।
स्वयमेव विधातव्यं तेनैवात्मनि शुद्धता ॥६४॥

तत्रैवाहूतः कजौडीमलः श्रावकः। डबरापथेन स्वर्णगिरिसिद्धक्षेत्रवन्दनातो विशुद्धमनस्का भूपाल-महावीर-अनन्त-शान्तिनाथ-ब्रह्मचारिगणः प्रथमं दीक्षापात्रं सूरिणा क्षुल्लकदीक्षया क्रमशः प्रवचन-नियम-

---

विधि पूर्ण की, फिर उपदेश हुए। आचार्यदेव ने पाँच दिनों में पञ्च महाव्रतों का उपदेश दिया। उपदेशामृत को पीकर नगरवासी जनों के हृदय में हर्ष उत्पन्न हुआ और उनके शरीर व मन आनन्द से पुलकित हुए। जपाजी चौराहे पर गौरखी प्रांगण में जिलाधीश कार्यालय के पास सभी जनों को धर्म लाभ के उद्देश्य से प्रवचन हुए। वहाँ बहुसंख्यक लोगों ने लाभ लिया।

प्रातः ८ बजे नगर से एक मील दूर पर्वत से उतरकर प्रवचन करके आहारचर्या के उपरान्त आचार्य गुरुदेव वहीं पर्वत पर आ जाते थे। धर्मध्यान के साथ दिन-रात व्यतीत करके आत्मतेज को प्रकट करने के लिए वह एकान्त में रुकते थे। समाज के लोगों ने प्रार्थना की, कि भगवन्! मध्याह्न में महिलाओं को धर्म लाभ हो, इसलिए नगर में चलना चाहिए। उनका यहाँ आना तो दूर स्थान होने से कष्ट कर होगा। तब श्री गुरु ने कहा-

मैंने अपने आत्म-कल्याण के लिए मुख्य रूप से दीक्षा ग्रहण की है। उसी के लिए मेरा प्रयास रहता है। अन्य कार्यों से मेरी निवृत्ति है ॥६२॥

दूसरों के लिए प्रवृत्ति समय-समय पर गुणकारी होती है। इसी कारण से प्रातः जिनेन्द्र भगवान् के वचनों की देशना नित्य चल ही रही है ॥६३॥

सुबह के उपदेशों का ही मनन करना चाहिए। अच्छी तरह स्वयं ही शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए, उसी से आत्मा में शुद्धता आती है ॥६४॥

वहीं पर कजौड़ीमल श्रावक को बुलाया गया। डबरा होते हुए आचार्यदेव सोनागिरि पहुँचे। सिद्धक्षेत्र की वन्दना से सबके मन में विशुद्धि बढ़ी। तभी १८.१२.१९७५ को श्री बाहुबली स्वामी की

योग-समयसागरान्ताभिधानेन १८.१२.१९७५ ई० तमे श्रीबाहुबलिस्वामिचरणच्छायायां दीक्षिताः।

तावतैव बसन्तपञ्चमीदिवसे १९७६ ई० तमे यात्रादेशं संपूर्य प्रतिनिवृत्ता श्री धर्मसागराचार्येण मल्लप्पा-श्रीमन्ति-शांता-सुवर्णा अन्यजनेन सहापि मल्लिसागर-समयमती-नियममती-प्रवचनमतीनाम्ना यत्यार्यिका-लिङ्गेन प्रव्रज्यां गताः।

दीक्षोपरान्तं स अपृच्छत-गुरुदेव! आहारे किं किं परित्याज्यं, अहं न कमपि जानामि किं मया सर्वं खादितं तर्हि किं भवेत्? एवं श्रुत्वा गुरुदेवः हसितवान्। तेन कथितं, न किमपि त्याज्यं। अधुना भवान् कमपि रसं परित्यज्य एव हि आहारं गृह्यामि इति हठेन स्थितः। सस्मितं गुरुणा प्रोक्तं-लवणं परित्याज्यं अष्टदिवसपर्यन्तम्। 'नमोऽस्तु' इति निवेद्य अलवणभोजनं प्रारब्धम्। एक दिवसे श्रावकेण लवणमिश्रितं भोज्यं दत्तं अन्तरायं कृत्वा स आगतः। प्रत्याख्यानसमये गुरुणा कथितं लवण त्यागस्तु अष्टदिवसं आसीत्। इदानीं मास द्वयं निर्गतम्। मल्लिसागरेण उक्तं-आजीवनं प्रत्याख्यानं मम। आचार्यधर्मसागरेण सभामध्ये तस्य साहसः प्रशंसित। फलेसु केवलं कदलीफलं गृह्णाति। सत्यमेव-

जे खलु कम्मेसूरा ते धम्मेसूरा णियमसा होंति।
इंदिय भोगे चइउं जुत्ता सूरा मुणेदव्वा ॥६५॥

चरण छाया में भूपाल, महावीर, अनन्त, शान्तिनाथ, ब्रह्मचारियों को जो कि सबसे प्रथम दीक्षार्थी थे, उन सभी को क्षुल्लक दीक्षा प्रदान की। दीक्षा के बाद उनके नाम क्षु० प्रवचनसागरजी, नियमसागरजी, योगसागरजी और समयसागरजी क्रमशः रखा गया। तब तक यात्रा के आदेश को पूरा करके मल्लप्पा सपरिवार संघ में लौटकर आ गए।

१९७६ ई० में बसन्त पंचमी के दिन आचार्य धर्मसागरजी ने मल्लप्पा, श्रीमंती, शांता, सुवर्णा को अन्य और दीक्षार्थियों के साथ दीक्षा प्रदान की। उनका नाम क्रमशः रखा गया मुनि श्री मल्लिसागरजी आर्यिका श्री समयमतिजी, श्री नियममतिजी और श्री प्रवचनमतिजी।

दीक्षा के उपरान्त मल्लिसागरजी ने पूछा-गुरुदेव! आहार में क्या-क्या छोड़ना चाहिए? मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ। कहीं मैंने सब कुछ खा लिया तो फिर क्या होगा? ऐसा सुनकर के गुरुदेव हँसने लगे। उन्होंने कहा-कुछ भी नहीं छोड़ना है, अभी तो आप नव दीक्षित हैं इसलिए जो दिया जाय वह ग्रहण कर लेना। फिर भी मल्लिसागरजी ने कहा-किसी रस को छोड़ करके मैं आहार ग्रहण करूँगा। इस तरह उन्होंने हठ धारण की। गुरु ने कुछ मुस्कान के साथ कहा-आठ दिन के लिए नमक छोड़ दो। नमोऽस्तु कह करके उन्होंने बिना नमक का भोजन करना प्रारम्भ कर दिया। एक दिन श्रावक ने लवण मिश्रित भोजन दे दिया, तो वह मुनिराज अन्तराय करके आ गए। प्रत्याख्यान के समय पर गुरु ने कहा-नमक का त्याग तो आठ दिन के लिए था, अब तो दो महीने हो गये हैं। मल्लिसागरजी ने कहा-मेरा तो आजीवन के लिए प्रत्याख्यान है। आचार्य धर्मसागरजी ने सभी के बीच में सभा में उनके साहस की प्रशंसा की। वह फलों में केवल केला ग्रहण करते थे। सत्य ही है-

मुनि श्री मल्लिसागरजी महाराज

णाणं पुव्वं चरियं पच्चक्खाणं च जीवियंतं खलु।
तेसिं णत्थि य रागो विसएसु णाणवंता ते ॥६६॥

१९८० ई० तमे नानूलाल राजकुमार जैनः जयपुरनिवासिश्रावकः एकदा शास्त्रं एकं समर्पितवान् मुनिमल्लिसागरस्य करकमलयोः। मुनिराजः पृच्छति–किं नाम शास्त्रम्? श्रावकेण प्रोक्तम्–पंडित टोडरमलस्य मोक्षमार्गप्रकाशकः अस्ति। मुनिना कथितम्–पण्डिता वस्त्रेषु किं मोक्षमार्गं दर्शयन्ति वस्त्राणि परिहृत्य मोक्षमार्गं दर्शयेत्। अहं तु आचार्य प्रणीतशास्त्राणि एव पठामि। निर्भीकतया स्पष्टस्वरेण तेषामेवं वचनप्रणाली सदा विद्यते। सत्यमेव–

कोहो य लोहेण य भीरुत्तेण हासेण जं रहिदं।
वयणं जो भासेदि हु सो खलु सच्चभासियो समणो ॥६७॥
आइरियवुत्तसत्थं जो पढइ सुणइ तियालं खु।
सो खलु सम्मणणाणी एयंतग्गहेण दूरट्ठो ॥६८॥

श्रावकेण पुनः उक्तं–महाराज! अयं जयपुरः अस्ति। तस्याभिप्रायं दृष्ट्वा मुनिना कथितं–अहं अपि दिल्लीनगरीतः आगच्छामि। इत्युत्तरं श्रुत्वा स तं प्रति भूरिसमर्पितवान्।

दतिया–झाँसी–बीना–पवाक्षेत्र तालबेहट–ग्रामद्वारेण बुंदेलखण्डस्य कृतप्रवेशे सङ्घस्थजनाय द्रव्यसंग्रह–ग्रन्थमध्यापयन् नाममालां कण्ठस्थां कारयन् जिनायतने सन्तिष्ठन् एकं बालकं कण्टकसहित–जलपात्र–

''जो कर्मक्षेत्र में सूर होते हैं वे नियम से धर्मक्षेत्र में भी सूर होते हैं। इन्द्रिय के भोगों को छोड़ने के लिए जो लगे हैं उन्हें सूर जानना चाहिए। ज्ञानपूर्वक आचरण और जीवन के अन्त तक प्रत्याख्यान जिनका होता है, उनका विषयों में राग नहीं होता है, वे वास्तव में ज्ञानवान हैं ॥६५–६६॥''

एक बार की बात है–१९८० ई० में जयपुर निवासी नानूलाल राजकुमार जैन श्रावक ने एक शास्त्र मुनि मल्लिसागरजी के करकमलों में समर्पित किया। मुनिराज ने पूछा–शास्त्र का क्या नाम है? श्रावक के कहा–पं० टोडरमल का मोक्षमार्ग प्रकाशक है। मुनिराज ने कहा–पं० लोग वस्त्र में क्या मोक्षमार्ग दिखायेंगे। वस्त्रों को छोड़कर मोक्षमार्ग दिखाना चाहिए। मैं तो केवल आचार्य प्रणीत शास्त्रों को पढ़ता हूँ। निर्भीकता से स्पष्ट स्वर से उनकी वचन प्रणाली इसी प्रकार सदा रहती थी। सत्य ही है–

''क्रोध से, लोभ से, भीरूता से, हास्य से रहित जो वचन हैं, उनको जो बोलता है, वह श्रमण वास्तव में सत्य भाषी होता है। आचार्यों के द्वारा कहे हुए शास्त्रों को, जो तीनों कालों में पढ़ता है और सुनता है, वह सम्यग्ज्ञानी जीव वास्तव में एकान्ताग्रह से दूर स्थित होता है ॥६७–६८॥''

श्रावक ने पुनः कहा–महाराज! यह जयपुर है। श्रावकों के अभिप्राय को देखकर के मुनिराज ने कहा–मैं भी दिल्ली नगरी से आया हूँ। इस प्रकार उत्तर सुनकर के वह श्रावक मुनिराज के प्रति बहुत समर्पित हो गया।

उसके बाद दतिया, झाँसी, बवीना, पवाजी क्षेत्र की यात्रा करते हुए बुंदेलखण्ड के द्वार रूप तालबेहट ग्राम में प्रवेश किया। वहाँ आचार्यदेव ससंघ लोगों के लिए द्रव्य–संग्रह ग्रन्थ का अध्यापन

कलश-रज्जू-गालन-वस्त्र-स्थालीसाहाय्येन जलगालनविधौ सावधानचित्तमगालितजलस्याधो-निक्षेप-जनितपाप-भयभीतसमुपस्थापितस्थालीगतकलशं सूरिर्ददर्श। सत्यमेव-

(अनुष्टुप्)

दर्शनं देवदेवस्य रात्रिभुक्तौ च नो गतिः
वस्त्रेण गालितं नीरं श्रावकस्य वृषे रतिः ॥६९॥
दर्शनेन जिने रागोऽनासक्ती रात्रिभुक्तितः।
वस्त्रगालितनीरेण दयाधर्मो हि दृश्यते ॥७०॥

(उपजाति)

दयाप्रधानं जिनदेवधर्मो दयाविशुद्धं जिनभक्तचित्तं।
दयैकमूर्ति-र्जिनरूपता या धर्मस्य मूलं सुदयानिबद्धम् ॥७१॥

(अनुष्टुप्)

अहिंसा परमोधर्मः स धर्मो दययान्वितः।
रक्षा षड्वर्गजीवस्य यथार्हं हि दया मता ॥७२॥

एवं दृष्ट्वा 'धर्मोऽत्र प्रतिष्ठितः' इति विचिन्त्य बुन्देलखण्डक्षेत्रे प्रवेशं कृतवान्।

इति मुनिप्रणम्यसागरविरचिते अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला स्वात्मसाधकसंज्ञकः नवमः सर्गः समाप्तः।

कराते और नाममाला को कण्ठस्थ कराते थे। एक बार वह जिनालय में बैठे थे, कि उन्होंने देखा एक बालक काँटे कड़ा सहित बालटी, गगरी, डोरी, छन्ना और थाली की सहायता से पानी छान रहा है। अनछना जल नीचे न गिर जाये इस पाप के भय से उसने थाली (परात) में गगरी रख कर जल छाना।

सत्य ही है—देवाधिदेव का दर्शन करना, रात्रि में भोजन नहीं करना और वस्त्र से गालित (छना हुआ) जल पीना श्रावक की धर्म में रति दिखाता है ॥६९॥

जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन में राग, रात्रिभोजन में अनासक्ति होना और वस्त्र से छना हुआ जल पीना, इनसे ही दयाधर्म देखा जाता है। जिनेन्द्र भगवान् का धर्म दया प्रधान है, जिनेन्द्र भगवान् के भक्त का चित्त भी दया से विशुद्ध होता है और जो जिनरूप है, वह भी दया की एक मूर्ति है। इस तरह धर्म का मूल श्रेष्ठ दया में ही निबद्ध है ॥७०-७१॥

अहिंसा परम धर्म है। वह धर्म दया से युक्त है। छहकाय के जीवों की रक्षा यथायोग्य करना ही दया मानी गई है ॥७२॥ इस प्रकार देखकर "धर्म यहाँ प्रतिष्ठित है" श्रीगुरु ने विचार करके बुंदेलखण्ड क्षेत्र में प्रवेश किया।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला स्वात्मसाधक संज्ञक नौवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

दशमः सर्गः

विदुषांपूज्यः

विरतोऽपि रतो मुक्ति-रमण्यां यो दिगम्बरः।
सुखे दुःखे समानो न पावक इव पावकः ॥१॥
मतिबोधधनुष्के यः समाकर्ष्य श्रुतज्ञताम्।
रत्नत्रयत्रिबाणैश्च साधयन् मुक्तिलक्ष्यकम् ॥२॥
चिति परिवृतोऽपि यो रागादिदुष्टशत्रुभिः।
चचाल न मनाग् लक्ष्यात् भटः स केन लक्ष्यते ॥३॥

१९७४ ई० तमे आचार्यदेवानां अजमेरनगरे वर्षायोगः आसीत्। तस्मिन् समये श्रमणजनप्रबोधनाय स्वश्रामण्यसंवेदनाय च तैः एका आद्या कृतिः 'श्रमणशतकाख्या' व्यरचिता। बहवः श्रावकाः दर्शनेन उपदेशेन आहारदानेन च स्वायुषः कृतकत्यतां मन्वतेस्म। तत्र एकः विद्वान् श्रावकः अपि 'मूलचन्द्रलुहाडिया' इति नामधेयः तेषां कठोरसाधनापद्धत्या प्रभावितः अभूत्। सः खलु अभिलषतिस्म एतादृशानां आचार्यदेवानां प्रभावः जगति विस्तरेत्। सम्प्रति ये विद्वज्जनाः अस्मिन् काले मुनयः भूतार्थाः न सन्ति एवं स्वीकुर्वन्ति ते

विरक्त होकर के भी जो दिगम्बर मुक्तिरूपी रमणी में रत हैं, सुख-दुःख में समान होते हुए पावक की तरह नहीं हैं किन्तु पावक (पवित्र) हैं अर्थात् जैसे अग्नि सभी को समान रूप से जला देती है वैसे सबके लिए समान रूप से नष्ट करने वाले नहीं हैं ॥१॥

मतिज्ञानरूपी धनुष पर जो भाव श्रुतज्ञान को रत्नत्रयरूपी तीन वाणों से खींचकर मुक्ति के लक्ष्य को साधते हैं ॥२॥

रागादि दुष्ट शत्रुओं के द्वारा चेतना में चारों ओर से घिरे हुए होकर भी जो थोड़ा भी अपने लक्ष्य से चलायमान नहीं हुए उस योद्धा की पहचान कैसे की जाये? ॥३॥

सन् १९७४ ई० में आचार्यदेव का अजमेर में वर्षायोग था। उस समय उनके द्वारा श्रमणजनों के प्रबोधन के लिए और अपनी श्रमणता के संवेदन के लिए एक 'श्रमणशतकम्' नामक कृति रची गयी। बहुत से श्रावक उनके दर्शन, उपदेश और आहारदान से अपनी आयु को कृतकृत्य मानते थे। वहाँ एक विद्वान् श्रावक 'मूलचन्द्रलुहाड़िया' भी उनकी कठोर साधनापद्धति से प्रभावित हुए। वह निश्चित रूप से चाहते थे, कि ऐसे आचार्यदेव का प्रभाव संसार में फैले। आज जो विद्वान् इस काल में मुनि नहीं होते हैं, ऐसा स्वीकार करते हैं, उन्हें उनके दर्शन से अपनी धारणा बदलकर गुरुजनों का आराधक होना

एतेषां दर्शनेन स्वकीयधारणां परिवर्त्य गुरुजनाराधकाः भवेयुः। तेन सः विद्वान विद्वद्वर्गे तेषां सम्यग्ज्ञानस्य कृतिदर्शनेन सम्यक्चारित्रस्य निरीहवृत्तिव्यावर्णनेन च चर्चां कृतवान् न तेषां मनसि तोषः तथापि जातः।

तत् प्रेरणाप्रेरितः विदुषां अग्रजः कटनीनगरवासी जगन्मोहनलालनाम्ना विश्रुतः दिवसत्रयाय कथमपि आगतः। दूरात् एव तेषां क्रियाविधानं निरीक्ष्यमाणः सः अतीव सन्तुष्टः अभवत्। स अपि श्रावकविद्वान् प्राक् निश्चयनयमतावलम्बी आसीत्। उत्तरापथे समागताः समागताः आचार्यवर्याः श्री शान्तिसागराः एकदा कटनीपुर्याम्। तदा सः तेषां सम्यक् परीक्ष्य चारित्रं तद्भक्तः अभवत्। स एव प्रज्ञावतां अग्रणीः सद्यो हि श्रीविद्यासागराचार्याणां प्रभावमाप। यश्च दिवसत्रयाय आयातः सः मासत्रयं तत्र अतिष्ठत्। तेषां सम्यग्ज्ञान-चारित्राभ्यां आकर्षितः सः श्रमणशतके प्रशंसावाक्यानि उल्लिखिति स्म। डॉ० ब्रह्मानन्दशर्मा तद्ग्रन्थस्य प्राक्कथने भूरि भूरि प्रशंसां कृतवान्। तेषां कृतिं समालोक्य एकः ब्राह्मणः प्रभाकरशास्त्री तद्दर्शनार्थं समागतवान्। सः कथितवान् देव! भवतां कृतिं दृष्ट्वा चित्ते प्रभूतः आनन्दः प्रादुर्भूतः यतः अस्मिन् समयेऽपि देववाण्यां ग्रन्थस्य स्रष्टा अस्ति तथापि तत्र प्रयुक्ताः बहवः शब्दाः क्लिष्टार्थवाचकाः मया न प्राक् दृष्टाः कस्मिन्नपि शब्दकोशे। तस्य कारणं कथ्यताम्। ततः आचार्यदेवाः ब्रुवन्ति-भो! सत्यमुक्तम्, कोशान्तरस्य प्रयोगत्वात्।

विश्वलोचनकोशाभिधानः एकः अपूर्वः शब्दकोशः विद्यते जैनसाहित्ये तत्प्रयोगादियम्। अजमेरनगरस्य

चाहिए। इस कारण से उन विद्वान् ने विद्वान्-वर्ग में उनके सम्यग्ज्ञान की कृति को दिखाकर तथा उनके सम्यक्चारित्र की निरीहवृत्ति के व्यापक वर्णन के द्वारा चर्चा की, फिर भी उनके मन में संतोष उत्पन्न न हुआ।

उस प्रेरणा से प्रेरित विद्वानों में अग्रज कटनी नगर के निवासी जगन्मोहनलाल (नाम से प्रसिद्ध) किसी तरह तीन दिवस के लिए आए। दूर से ही उनके क्रिया विधान को देखते हुए, वह अत्यन्त संतुष्ट हुए। वह श्रावक विद्वान् भी पहले निश्चयनय मतावलम्बी थे। उत्तरापथ में आये हुए आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज एक बार कटनी पधारे, तब वह उनके चारित्र की सम्यक् परीक्षा करके उनके भक्त हो गए। वह ही विद्वानों में अग्रणी शीघ्र ही श्री विद्यासागरजी से प्रभावित हुए। जो तीन दिवस के लिए आये थे, वह तीन मास वहाँ रुके। उनके सम्यग्ज्ञान और चारित्र से आकर्षित हो उन्होंने श्रमणशतक में प्रशंसा वाक्यों का उल्लेख किया। हाँ ब्रह्मानन्द शर्मा ने उस ग्रन्थ के प्राक्कथन में भूरि-भूरि प्रशंसा की। उनकी कृति का समालोचन करके एक ब्राह्मण प्रभाकरशास्त्री उनके दर्शन के लिए आये। उन्होंने कहा-''देव! आपकी कृति को देखकर हृदय में बहुत आनन्द उत्पन्न हुआ, कि इस समय में भी देववाणी में ग्रन्थ के सृष्टा है। फिर भी वहाँ प्रयुक्त बहुत से शब्द क्लिष्ट अर्थ के वाची हैं, मेरे द्वारा पहले किसी शब्दकोश में नहीं देखे गए। उसका कारण कहिए। तब आचार्य देव बोले-भो! आपने सत्य कहा, क्योंकि इसमें दूसरे कोश का प्रयोग किया है।

जैन साहित्य में 'विश्वलोचन शब्दकोश' एक अपूर्व शब्दकोश है। उसके प्रयोग से ही ऐसी

महाराजा–महाविद्यालये सः खलु प्रभाकरशास्त्री संस्कृतविभागस्य अध्यक्षः प्रवक्ता च आसीत्। तस्य एव करकमलैः श्रमणशतकग्रन्थस्य प्रथमं विमोचनं अभवत्। विमोचनानन्तरं सभासम्मुखे तस्य वक्तव्यं अपि प्रवर्तितम्। तस्मिन् वक्तव्ये सः कथयति–''मम अध्यापनकार्ये संलग्नस्य चत्वारिंशद्वर्षाणि व्यतीतानि भवन्ति। एतस्मिन् काले बहूनि शास्त्राणि मया पठितानि पाठितानि च। तथापि श्रमणशतकस्य ग्रन्थस्य पठनस्य पश्चात् मयि हृदये एका भावना समुत्पन्ना, यत्- अस्य युवानः साधोः समीपं अवश्यं हि मया संस्कृतं पठितव्यम्।''

निःसन्देहं वरिष्ठस्य प्रवक्तुः एतानि वचनानि तस्य हृदयस्य निश्छलतां व्यनक्ति। एतावता न केवलं ग्रन्थस्य गौरवं अचीकमत् अपि तु ग्रन्थस्य कर्तुः अपि। तदवसरे पं॰ जगन्मोहनलालशास्त्री विमोचनानन्तरं भाषणायोपस्थितः। संस्कृतस्य छन्दसं पठित्वार्थकर्तुमुद्यतस्तदाऽसमर्थो जातः। यदि मातृभाषायामर्थो नोल्लिखितो भवेत्तदा विद्वज्जनसमक्षं हास्यास्पदं लभते इति तस्य विदुषः एवोक्तिः।

वर्षायोगसमाप्तौ सत्यां अष्टाह्निकापर्वणि मदनगंजकिशनगढनगरे होरात्रयाय अन्यौ द्वौ विद्वांसौ कैलाशचन्द्रशास्त्री दरबारीलालकोठिया च इति एतन्नामधेयौ दर्शनार्थं समागतवन्तौ। न च तौ सहजं आगतवन्तौ अपितु महता सततं प्रयासेन। प्रयासयत्नं कुर्वाणः पं॰ लुहाडिया एव। एकदा देहलीनगरे कस्मिंश्चित् अधिवेशने तौ समागतौ। एतत् समाचारं श्रुत्वा पं॰ लुहाडिया एकं जनं तत्र प्रेषितवान्। सः जनः तत्र गत्वा

क्लिष्टता आयी है। अजमेर नगर के महाराजा–महाविद्यालय में वह प्रभाकरशास्त्री संस्कृत विभाग के अध्यक्ष और प्रवक्ता थे। उनके करकमलों से ही श्रमणशतक ग्रन्थ का प्रथम विमोचन हुआ। विमोचन के बाद सभा के सम्मुख उनका वक्तव्य भी हुआ। उस वक्तव्य में उन्होंने कहा–''मुझे अध्यापन कार्य में संलग्न हुए चालीस वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इस काल में बहुत से शास्त्र मेरे द्वारा पढ़े और पढ़ाए गये। फिर भी श्रमणशतक ग्रन्थ के पढ़ने के बाद मेरे हृदय में एक भावना उत्पन्न हुई, कि इन युवा साधु के समीप मुझे अवश्य ही संस्कृत पढ़ना चाहिए।''

निःसन्देह वरिष्ठ प्रवक्ता के वक्तव्य में ऐसे वचन उनके हृदय की निश्छलता को व्यक्त करते हैं। इससे न केवल ग्रन्थ का गौरव, अपितु ग्रन्थ के कर्त्ता का भी गौरव उन्होंने प्रकट किया। उस अवसर पर पं॰ जगन्मोहनलालशास्त्री भी विमोचन के बाद भाषण के लिए उपस्थित हुए। संस्कृत के छन्द को पढ़कर अर्थ करने के लिए तैयार हुए, किन्तु असमर्थ हो गए। यदि मातृभाषा में नीचे अर्थ उल्लिखित न होता, तो विद्वानों के समक्ष हास्य का पात्र बनता ऐसा बाद में उन विद्वान् का कहना था।

वर्षायोग समाप्त होने पर अष्टाह्निक पर्व में मदनगंज–किशनगढ़ नगर में तीन घंटे के लिए अन्य दो विद्वान् कैलाशचन्द्र शास्त्री और दरबारीलाल कोठिया दर्शन के लिए आए। वे दोनों सहज ही नहीं आए अपितु निरन्तर बहुत प्रयास के द्वारा आए। प्रयास के लिए यत्न पं॰ लुहाड़ियाजी ने ही किया। एक बार दिल्ली नगर में किसी अधिवेशन में वे दोनों आये थे। यह समाचार सुनकर पं॰ लुहाड़ियाजी ने एक जन को वहाँ भेजा। उसने वहाँ जाकर निवेदन किया। अति आग्रह के द्वारा कैसे

निवेदनं कृतवान्। अत्याग्रहेण कथमपि तौ आगमनार्थं बद्धव्यवसायौ अभूताम्। दर्शनं कृत्वा शीघ्रं हि प्रस्थानं करिष्यावः आवाम् इति प्रतिज्ञानिबद्धौ तौ तज्जनेन सह आगतवन्तौ। आचार्यभगवतः दर्शनमात्रेण कृतप्रतिज्ञां विस्मृत्य निराग्रहौ तौ अभूताम् यथा इन्द्रभूत्यादयः भगवद्वर्धमानस्वामिनः दर्शनेन।

तच्चर्यया प्रभावितौ तौ दिवसत्रयं तत्र समतिष्ठताम्।

स्थानीयजनाः सिद्धान्तशास्त्रिणं पण्डितकैलाशचन्द्रं पर्वणि उपदेशार्थं प्रार्थनां कृतवन्तः। सायंकाले पण्डितवर्यस्य उपदेशः प्रावर्तत। तं श्रुत्वा अपरेद्यु प्रातःकाले सभायां आचार्य देवस्य दिव्यदेशना वर्ततेस्म। स विद्वान् उपदेशामृतं श्रुत्वा प्रसन्नो भूत्वा जिज्ञासासमाधानं अकरोत्। प्रस्थान समये स कथयति– आचार्यदेव! इदानीं प्रस्थानं कर्तुमिच्छामि। तदाचार्यदेवः प्राह–गमनागमनं तु सदैव वर्तते एव। प्रत्येकद्रव्यस्य स्वभाव एव एतत्। एवं श्रुत्वा प्रसन्नतापूर्वकं प्रस्थानं कृतवान्।

अहं आचार्यदेवस्य निःस्पृहाचरणेन निरीहवृत्त्या च अभिभूतोऽस्मि, न केवलं ज्ञानमात्रेण। ''युगपत् आचार्यकुन्दकुन्दस्य आचार्यसमन्तभद्रस्य च व्यक्तित्वं मया दृष्टम्।'' इति वृहद्गोष्ठ्यां उल्लिखितम्। तत्पश्चात् तेन ''एको नवीननक्षत्रस्य उदय'' इति लेखो लिखितः। मथुरायाः प्रकाशितायां 'जैन संन्देश' नामक–पत्रिकायां निबद्धलेखं पठित्वा सर्वे आश्चर्येण रोमांचिता अभवन्। लेखेन प्रभाविताः विद्वान्सः दर्शनार्थं

भी वे दोनों आगमन के लिए तैयार हो गए। ''दर्शन करके हम दोनों शीघ्र ही प्रस्थान करेंगे।'' ऐसी प्रतिज्ञा में निबद्ध होकर वे दोनों उस सज्जन के साथ आए। आचार्य भगवन् के दर्शन मात्र से की हुई प्रतिज्ञा को भूलकर वे दोनों निराग्रह हो गए जैसे भगवान् वर्धमान स्वामी के दर्शन से इन्द्रभूति हो गए थे।

उनकी चर्या से प्रभावित होकर वे दोनों तीन दिन वहाँ अच्छी तरह से रुके।

स्थानीय जनों के द्वारा सिद्धान्त शास्त्री पं॰ कैलाशचन्द्रशास्त्री से पर्व के दिनों में उपदेश के लिए प्रार्थना की गयी। शाम को पण्डितवर्य के उपदेश होते थे। उसको सुनकर दूसरे दिन प्रातःकाल की सभा में आचार्यदेव की दिव्य देशना होती थी। वह विद्वान् उपदेशामृत को सुनकर प्रसन्न होकर जिज्ञासा का समाधान करते थे। जाते समय वह बोले–''आचार्यदेव अब प्रस्थान करना चाहता हूँ।'' तब आचार्य देव ने कहा–''जाना आना तो हमेशा चलता रहता है। यह प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है।'' यह सुनकर प्रसन्नतापूर्वक प्रस्थान किया।

''मैं आचार्यदेव के निस्पृह आचरण और निरीहवृत्ति के द्वारा अभिभूत हुआ हूँ, न केवलज्ञान मात्र के द्वारा। एक साथ आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य समन्तभद्र का व्यक्तित्व मेरे द्वारा देखा गया। ऐसा प्रस्थान के समय समस्त समाज के सम्मुख पं॰ कैलाशचन्द्र शास्त्री ने कहा और इसकी चर्चा बृहद् गोष्ठी में की। तत्पश्चात् उन्हीं शास्त्री के द्वारा ''एक नवीन नक्षत्र का उदय'' यह लेख लिखा गया। मथुरा से प्रकाशित 'जैन सन्देश' नामक पत्रिका में निबद्ध उस लेख को पढ़कर लोग आश्चर्य से रोमांचित हो गए। उस लेख से अत्यधिक प्रभावित होकर विद्वानों का दर्शन के लिए आगमन

आगमनं प्रारब्धवन्तः।

फिरोजाबादनगरे प्रवासकाले समणसुत्तग्रन्थस्य पद्यानुवादः प्रारब्धः। अनुवादस्य पूर्णतायां 'जैनगीता' इति नवीनसंज्ञया आचार्यवर्येण ग्रन्थः उद्घोषितः। १९७८ ई० तमे महावीरजयन्ती शुभावसरे दमोहनगरे विमोचनानन्तरं सर्वस्मै ग्रन्थः उपलब्धः। 'समणसुत्तं' इति ग्रन्थसङ्कलने प्रेरणास्रोतः भूदानान्दोलस्य प्रणेता विनोबाभावे आसीत्। तस्य प्रेरणायाः जिनेन्द्रवर्णी सर्वजनहिताय तं ग्रन्थं संकलितवान्। इति विशेषः।

१९७७ ई० तमे द्वितीयवारं कुण्डलपुरसिद्धक्षेत्रे पं० कैलाशचन्द्रशास्त्री दर्शनार्थं पुनः स्वप्रेरणया समागतः। तेन साकं तत्कालविश्रुतः पं० फूलचन्द्रशास्त्री अपि आगच्छतिस्म। 'मूलाचारप्रदीपः' इति ग्रन्थस्य वाचना आचार्यदेवैः प्रवर्तिता आसीत्। तदा एव प्रथमवारं पं० कैलाशचन्द्रेण आचार्यदेवेभ्यः आहारदानं प्रदत्तम्। दानप्रदानात् सः महान् हर्षितः अभूत् हर्षाश्रुं च भावविभृतः स्वजीवितस्य साफल्यं गद्गदयन् व्यमुञ्चत। प्रथमवारं कस्मैचित् मुनये दानं प्रदत्तं इति समाख्यातम्। तदा हि आचार्यदेवैः उपदेशविधाने जीवः अपि अचेतन इति प्रज्ञावतां समक्षं उपदिष्टम्। एवं श्रुत्वा विद्वांस आश्चर्यं प्रकटितवन्तः, कथं जीवः भवेत् अचेतनः। मा व्याकुलीभवतु; अनेकान्तदर्शने सर्वं हि सुघटम्। ज्ञानदर्शनगुणापेक्षया यः जीवः चेतनः कथितः स एव अन्यानन्तगुणापेक्षया अचेतनः इति स्याद्वादपद्धतिः। इति वचनैः सर्वे सन्तुष्टाः आसन्। शास्त्रिणा मुनये दानं प्रदत्तं इति आकर्ण्य च तल्लिखितलेखं पठित्वा अन्ये केचित् पण्डितजनाः तेषु पं० पन्नालालः

प्रारंभ हो गया।

फिरोजाबाद नगर के प्रवास काल में समणसुत्तं ग्रन्थ का पद्यानुवाद प्रारंभ हो गया। अनुवाद के पूर्ण होने पर 'जैन गीता' यह ग्रन्थ की नवीन संज्ञा आचार्यवर्य के द्वारा उद्घोषित की गयी और वह १९७८ ई० में महावीर जयन्ती के अवसर पर दमोह नगर में विमोचन के बाद सभी को उपलब्ध हुई। 'समण सुत्तं' इस ग्रन्थ के संकलन के प्रेरणा-स्रोत भूदान आन्दोलन के प्रणेता श्री विनोबाभावेजी थे। उनकी प्रेरणा से जिनेन्द्रवर्णी ने सर्वजन हिताय इस ग्रन्थ का संकलन किया था। यह विशेष है।

सन् १९७७ ई० में दूसरी बार कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र पर पं० कैलाशचन्द्रशास्त्री अपनी प्रेरणा से पुनः दर्शन के लिए आए। उनके साथ उस समय के विश्रुत पं० फूलचन्द्रशास्त्री भी आए। 'मूलाचार प्रदीप' इस ग्रन्थ की वाचना आचार्यदेव के द्वारा हो रही थी। उस समय ही पहली बार पं० कैलाशचन्द्रशास्त्री द्वारा आचार्यदेव को आहारदान दिया गया। दान प्रदान करने से वह बहुत प्रसन्न हुए और भावविभोर हो अपने जीवन की सफलता से गद्गद हो, खुशी के आँसू बहाने लगे। प्रथम बार किसी मुनि को आहार दान दिया ऐसा कहा। तब ही आचार्यदेव के द्वारा उपदेश के समय जीव भी अचेतन होता है, ऐसा विद्वानों के समक्ष कहा। यह सुनकर विद्वान् जन आश्चर्य प्रकट करने लगे, कि जीव कैसे अचेतन होगा? गुरुदेव ने कहा-व्याकुल मत होओ। अनेकान्त दर्शन में सब ही अच्छी तरह घटित हो जाता है। ज्ञान-दर्शन गुण की अपेक्षा से यह जीव चेतन कहा जाता है और वह ही अन्य अनन्त गुणों की अपेक्षा से अचेतन कहा जाता है, यह स्याद्वाद पद्धति है। इन वचनों के द्वारा सभी संतुष्ट हो गए। कैलाशचन्द्र शास्त्री जी के द्वारा मुनि को आहार दिया गया, यह सुनकर और उनके द्वारा

नीरजः इत्यादि प्रमुखाः महागुरोः दर्शनार्थं समागताः।

१९७४ ई० तमे एम० बी० बी० एस० डॉ० चुन्नीलालो युवा आचार्यदेवस्य दर्शनार्थमागतः। गुरुदेवस्य ज्ञानसाधनातः प्रभावितः प्रतिदिनं धार्मिकविषयेषु चर्चितवान्। एकस्मिन् दिने आचार्यदेवस्य चरणरजःप्राप्त्यर्थं नमनसमये तस्य स्यूतात् रूप्यकाः निपतिताः। तान् विकीर्णान् उत्थाप्य पुनः स्यूते निक्षिप्यमाणं दृष्ट्वा आचार्यदेवः सस्मितः उक्तवान्–''पश्य! चेतनो अचेतनं अनुधावति।'' एवं श्रुत्वा वदति सः–गुरुदेव! अहं अचेतनस्य आकर्षणं परित्यक्तुं शक्नोमि। तस्य विवाहस्य षड्मासः एव संजातः तथापि तेनोक्तं षड्मासाभ्यन्तरे दीक्षितः भवामि। 'अकलूज' स्थानात् तेन द्वित्रिपत्राणि गुरुदेवाय लिखितानि। आचार्यदेवः कदापि न पत्रं लिखति न उत्तरं ददाति तेन कारणेन तत्रैव अक्षयतृतीयादिवसे १४ मई १९७५ ई० तमे आचार्यश्री आदिसागरस्य करकमलेभ्यो दीक्षितः। तत्पत्नी शकुन्तला अपि क्षुल्लिका जाता। सः मुनिश्रीवीरसागरनाम्ना ख्यातः समाधिपूर्वकं मरणं च कृतः।

१९७५ ई० तमे फिरोजाबादनगरे वर्षायोगस्थापनात् प्राक् यदा एकः दिवसः अवशिष्टः तदा तत्र विहारं कृत्वा आचार्यदेवाः समायाताः। अनन्तरदिवसे वर्षायोगस्थापना स्थापिता। तत्रत्यजनेषु प्राचार्यः नरेन्द्रप्रकाशः श्रेष्ठी छिदामीलालः इत्यादयः प्रमुखाः जनाः। वर्षायोगस्य प्रारम्भे सः श्रेष्ठी दूरात् एव स्वस्थाने स्थितः

लिखित लेख को पढ़कर अन्य कई पण्डित जन उनमें पं० पन्नालालजी, नीरज जी इत्यादि प्रमुख थे, महान् गुरु के दर्शन के लिए आये।

सन् १९७४ में एक युवा एम० बी० बी० एस० डॉ० चुन्नीलाल आचार्यश्री के दर्शन के लिए आए। आचार्यश्री के ज्ञान और उनकी साधना से प्रभावित होकर वह प्रतिदिन धार्मिक विषयों पर चर्चा करते थे। एक दिन चर्चा के बाद आचार्यश्री की चरणरज लेने के लिए झुके, तो उनकी जेब से रुपये पैसे निकल कर गिर गए। डॉ० साहब बिखरे पैसों को उठाकर जेब में रखने लगे, तब आचार्यश्री ने मुस्कुराते हुए कहा–''देखो! चेतन होकर अचेतन के पीछे दौड़ रहा है।'' आचार्यश्री की यह बात सुनकर उन्होंने आचार्यश्री को उत्तर दिया–''गुरुदेव! मैं अचेतन के प्रति आकर्षण का त्याग करने का साहस भी रखता हूँ।'' उनके विवाह को छह मास ही हुए थे। फिर भी उन्होंने कहा मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि छह माह की अवधि में गृह–त्याग कर दीक्षा ले लूँगा। 'अकलूज' से डॉ० साहब ने आचार्यश्री को दो–तीन पत्र लिखे, आचार्यश्री कभी पत्र नहीं लिखते हैं, न उत्तर देते हैं। आचार्य गुरुदेव का उत्तर न पाकर डॉ० चुन्नीलाल ने अकलूज (महाराष्ट्र) में अक्षयतृतीया को १४ मई, १९७५ को दिगम्बर दीक्षा आचार्यश्री आदिसागरजी (शेडवाल) से ग्रहण की और उनकी पत्नी शकुन्तला क्षुल्लिका बनीं। डॉ० साहब मुनि श्री वीरसागरजी के नाम से प्रसिद्ध हुए और उन्होंने समाधिपूर्वक मरण किया।

सन् १९७५ ई० में फिरोजाबाद नगर में वर्षायोग की स्थापना से पहले जब एक दिन ही शेष रहा, तब वहाँ विहार करके आचार्यदेव आए और दूसरे दिन वर्षायोग की स्थापना हुई। वहाँ के लोगों में प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश, श्रेष्ठी छिदामीलाल इत्यादि प्रमुख जन थे। वर्षायोग के प्रारम्भ में वह श्रेष्ठी

श्रीगुरोः उपदेशं शृणोति स्म। सम्यग्दर्शनस्य अष्टाङ्गानि, षोडशकारणभावना, दशलक्षणधर्माः इत्यादि विषयेषु प्रवचनमाला तदा प्रवृत्ता आसीत्। विशिष्टचिन्तनगर्भसमुत्पन्नं प्रवचनं, प्रतिगृहं गत्वा आहारग्रहणं, उच्चार-प्रस्रवणसमितिपालनार्थं त्रीणि किलोमीटरपर्यन्तं गमनागमनं, निश्छलनिरीहवृत्तिं च सर्वं सम्यक् संचिन्त्य तस्य श्रेष्ठिनः हृदयपरिवर्तनं सञ्जातम्। पश्चात् सः निकटं उपविश्य प्रवचनस्य श्रवणं मुकुलितकरेण भक्तिवन्दनादिकं कर्तुं आरब्धवान्। एकदा सः कथितवान्- भवतां सघस्थाः ब्रह्मचारिणः अष्टमङ्गलद्रव्येण भगवत्पूजां किं न कुर्वन्ति। ''किं करोमि अहं; तेषां पार्श्वे धनादिकं न विद्यते, तेन तथा न भवति'' इति प्रत्युत्तरं श्रुत्वा सः ब्रह्मचारिगणव्यवस्थासु सम्यक् संलग्नः आसीत्।

आचार्यसंघे एकः ब्रह्मचारी भीमसेनः अतिष्ठत्। एकस्मिन् रात्रौ तस्य जठरे अतीवपीडा उत्पन्ना। प्राथमिकोपचारेण बहुकष्टेन कथमपि रात्रिः व्यतीता। वैयावृत्त्यर्थं संघस्थान् अन्यान् ब्रह्मचारिणो नियुज्य प्रातःकाले उपदेशदानार्थं आचार्यवर्यः निर्गतः। तदैव एकः चिकित्सकः समायातः। स्वोपकरणेन संपरीक्ष्य सः उक्तवान्-अस्य उदरे अन्त्राणामुपरि अन्त्रं आरूढं ततः शीघ्रं एव चिकित्सालये नीत्वा शल्यचिकित्सा करणीया अस्ति। आचार्यमहाराजस्य आज्ञां बिना चिकित्सालये गमनं न उचितं इति विचिन्त्य ब्र० अनन्तः (सम्प्रति मुनिः श्रीयोगसागरः) सूचनाप्रदानार्थं निर्गतवान्। तदा प्रवचनप्रारम्भस्य समयः अभवत्। मङ्गलाचरणकरणात् प्राक् एव सः आचार्यवर्यस्य कर्णे घटनाक्रमं वर्णितवान्। एवं शोचनीयां दशां श्रुत्वा

दूर से ही अपने स्थान पर खड़े होकर श्री गुरु के उपदेश को सुनते थे। सम्यग्दर्शन के आठ अंग, सोलहकारण भावना, दशलक्षण धर्म इत्यादि विषयों पर प्रवचन माला उस समय चल रही थी। विशिष्ट चिन्तन से उत्पन्न प्रवचन हर घर जाकर के आहार ग्रहण करना व्युत्सर्ग समिति के पालन के लिए तीन किलोमीटर तक आना-जाना और निश्छल निरीहवृत्ति यह सब चिन्तन कर उन श्रेष्ठी का हृदय परिवर्तन हुआ। इसके बाद उन्होंने निकट बैठकर प्रवचन का सुनना और जुड़े हाथों के द्वारा भक्ति वंदना आदि करना प्रारंभ कर दिया। एक बार उन्होंने कहा-''आपके संघस्थ ब्रह्मचारी अष्टमंगल द्रव्य से भगवान् की पूजा क्यों नहीं करते हैं? हम क्या करें? ''उनके पास धनादिक नहीं रहता इस कारण से वैसा नहीं होता।'' ऐसा उत्तर सुनकर वह ब्रह्मचारी गणों की व्यवस्था में अच्छी प्रकार से संलग्न हो गए।

आचार्य संघ में एक ब्रह्मचारी भीमसेन रहते थे। एक रात्रि में उनके पेट में अत्यन्त दर्द उत्पन्न हुआ। प्राथमिक उपचार के द्वारा बहुत कष्ट से कैसे भी रात्रि व्यतीत हुई। वैय्यावृत्ति के लिए संघ में स्थित अन्य ब्रह्मचारियों को लगाकर प्रातःकाल उपदेश देने के लिए आचार्यवर्य गए। उसी समय ही एक डॉक्टर आये। अपने उपकरण से (स्टेथोस्कोप) परीक्षण करके उन्होंने कहा-इनके पेट में आँतों के ऊपर आँत चढ़ गयी है, इसलिए शीघ्र ही अस्पताल में ले जाकर ऑपरेशन करना पड़ेगा। आचार्य महाराज की आज्ञा के बिना अस्पताल के लिए जाना उचित नहीं ऐसा सोचकर ब्र० अनन्त (वर्तमान में मुनि योगसागर) सूचना प्रदान करने के लिए गए, तब प्रवचन प्रारंभ होने का समय हो गया। मंगलाचरण करने से पहले ही उन्होंने आचार्यवर्य के कानों में घटना क्रम बता दिया। इस प्रकार

अविस्मरणीय चातुर्मास फिरोजाबाद

तद्दिवसे उपदेशं स्थगयित्वा गुरुदेवः उत्तिष्ठवान्। लघुकाले एव ब्रह्मचारिणः प्रकोष्ठे प्रविश्य स्थितिं विचारितवान्। अन्यः कोऽपि उपायः न विद्यते अन्यत्र शल्यचिकित्साभ्यः इति श्रेष्ठिचिकित्सकादिना प्रोक्तम्। कालस्य विलम्बः प्राणघातकः। अतिगम्भीरस्थितिं विज्ञाय 'तथाऽस्तु' इति स्वीकारोक्तिः विज्ञप्ता आचार्यदेवैः। मम संघस्थः अयं ब्रह्मचारी इत्यपि चिटिकापत्रोपरि उल्लिख्य प्रमाणीकृतः तत्रत्याय चिकित्साधिकारिणे। तेन श्रेष्ठिना पूर्णरूपेण समयधनादिदानेन उचिता व्यवस्था कृता। केनापि चिकित्सकेन अनुचितः सूचिकाप्रयोगः आचरितः। ततः श्रेष्ठी सरुष्टः तस्य निलम्बनार्थं उद्विग्नः अभवत्। आचार्यवर्यस्य सम्बोधनेन क्षमाप्रधानेन श्रेष्ठी प्रशान्तिम् अन्वभूत। पश्चात् यावत सः ब्रह्मचारी पूर्णतया स्वस्थः न जातः तावत् तत्रैव अधिकृतः। श्रेष्ठिना सम्यक् मनोभावेन वैयावृत्त्यं तपः अङ्गीकृतं इति सर्वैः प्रशंसितः। स एव ब्रह्मचारी पश्चात् आचार्यवर्यैः क्षुल्लकदीक्षया प्रवव्राज। क्षुल्लक श्री दर्शनसागर इति अभिनवनाम्ना उद्घोषितः।

वर्षायोगे श्रेष्ठिनः गृहे अपि मुनियोग्याहारः विधीयते। चर्यार्थं स यदा निष्ठापनानन्तरदिवसे उत्तिष्ठवान् तदा आचार्यवर्यः प्रतिगृहीतः। तन्नगरात् निष्क्रमणदिवसात् पूर्वं हि गुरुणा उपदिष्टः श्वः 'अतिथिः' इति विषयस्य उपरि उपदेशं वर्त्स्यति। अनन्तरदिवसे विहारं कृतवान् आचार्यदेवः। द्वित्रादि कि० मी० गमनस्य पश्चात् प्राचार्यनरेन्द्रप्रकाशः समागतानः। प्रभो! श्वः प्रवचनं करिष्यामि अतिथिविषये इति भवता प्रोक्तं,

---

शोचनीय दशा को सुनकर उस दिन प्रवचन को स्थगित कर गुरुदेव उठ गए। कुछ समय में ही ब्रह्मचारी के कमरे में प्रवेश कर स्थिति पर विचार किया। ऑपरेशन के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है ऐसा श्रेष्ठी, चिकित्सक आदि ने कहा। समय की देरी प्राणघातक है। अति गम्भीर स्थिति जानकर 'तथाऽस्तु' ऐसा आचार्यदेव के द्वारा स्वीकारोक्ति दी गयी। वहाँ के चिकित्सा अधिकारी के लिए ''ब्रह्मचारी मेरा संघस्थ है'' यह पत्र पर लिखकर प्रमाणिक किया गया। उन सेठजी के द्वारा पूर्णरूप से समय, धनादिक दान के द्वारा उचित व्यवस्था की गयी। इसी चिकित्सक के द्वारा अनुचित इंजेक्शन का प्रयोग किया गया। तब श्रेष्ठी रुष्ट होकर उस चिकित्सक के निलम्बन के लिए व्याकुल हो गए। आचार्यवर्य के क्षमाप्रधान सम्बोधन के द्वारा श्रेष्ठी ने शान्ति का अनुभव किया। इसके बाद जब तक वह ब्रह्मचारी पूर्णतया स्वस्थ नहीं हुए तब तक वहाँ चिकित्सालय में ही रहे। श्रेष्ठी ने अच्छे मनोभावों द्वारा वैय्यावृत्ति तप किया–ऐसी सभी के द्वारा प्रशंसा की गयी। बाद में वह ही ब्रह्मचारी आचार्यवर्य के द्वारा क्षुल्लक दीक्षा से दीक्षित हो गए। क्षुल्लक 'श्री दर्शनसागरजी' इस नये नाम से पुकारे गये।

वर्षाकाल में श्रेष्ठी के घर में भी मुनियों के योग्य आहार बनता था अर्थात् चौका लगता था। चर्या के लिए जब वह निष्ठापन के दूसरे दिन उठे तब आचार्य वर्य का पड़गाहन हुआ। उस नगर से निकलने के एक दिन पूर्व गुरु के द्वारा उपदेश दिया गया–कल 'अतिथि' इस विषय के ऊपर उपदेश होगा। दूसरे दिन आचार्य देव ने विहार कर दिया। दो–तीन कि० मी० जाने के बाद प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जी आ गए। ''प्रभो! कल अतिथि विषय पर प्रवचन करूँगा ऐसा आपने कहा था आज गमन कर दिया, इससे

अद्य गमनं कृतं तेन मम मनसि विस्मयः वर्तते इति उक्तवान् सः। सस्मितमुखेन आचार्य देवः कथयति– न, न अस्मिन् विषये विस्मयस्य कथं अवकाशः। अतिथिः नाम किं–''न तिथिः गमनागमनाय विद्यते यस्य स अतिथिः उच्यते।'' तस्मात् तद् विषये जीवन्तं प्रवचनं उपदिष्टं मया अन्यत् तु वाक्यसंघटनमात्रम्। एवं श्रुत्वा स महोदयः सन्तुष्टः अभवत्। आचार्यभगवतः विनोदयुक्त्या ज्ञानशैल्या निरीहवृत्या च मनसि प्रगाढा श्रद्धा तस्य समुत्पन्ना। भक्तिभारभरेण तेन मातृभाषायां स्तुतिः कृता। सा च अतीव प्रसिद्धा। दर्शनार्थं आगन्तुकानां सर्वजनानां मुखात् सहजा एव सा स्फुरिता भवति इति मया सर्वत्र श्रूयते। तद्यथा–

''रत्नत्रय से पावन जिनका यह औदारिक तन है।
गुप्ति समिति अनुप्रेक्षा में रत रहता निशदिन मन है॥
सन्मति युग के ऋषि सा जिनका बीत रहा हर क्षण है।
त्याग तपस्या लीन यति अरु प्रवचन कला प्रवण है ॥
जिनकी हितकर वाणी सुनकर सबका चित्त मगन है।
जिनके पावन दर्शन पाकर शीतल हुई तपन है॥
तत्त्वों का होता नित चिन्तन मन्थन और मनन है।
विद्या के उन सागर को मम शत-शत बार नमन है ॥''

मेरे मन में विस्मय हो रहा है।'' ऐसा उन्होंने कहा। मुस्कराते हुए आचार्यदेव ने कहा–''नहीं, नहीं, इस विषय में विस्मय का अवकाश कैसे?' 'अतिथि' किसका नाम– जिसके आने-जाने की तिथि नहीं है, वह अतिथि कहा जाता है। इस कारण से उस विषय में मेरे द्वारा जीवन्त प्रवचन दिया गया। अन्य तो वाक्यों का संघटन मात्र है।'' यह सुनकर वह महोदय संतुष्ट हो गए। आचार्य भगवन् की विनोद युक्त ज्ञानशैली और निरीहवृत्ति से उनके हृदय में प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न हुई। भक्ति-भावों से उनके द्वारा मातृभाषा में स्तुति की गयी और वह अत्यंत प्रसिद्ध हुई। दर्शन के लिए आए सभी जनों के मुख से वह सहज ही स्फुरित होती है, यह मेरे द्वारा सभी जगह सुनी गयी। वह इस प्रकार है–

''रत्नत्रय से पावन जिनका यह औदारिक तन है।
गुप्तिसमिति अनुप्रेक्षा में रत रहता निशदिन मन है॥
सन्मति युग के ऋषि सा जिनका बीत रहा हर क्षण है।
त्याग तपस्या लीन यति अरु प्रवचन कला प्रवण है॥
जिनकी हितकर वाणी सुनकर सबका चित्त मगन है।
जिनके पावन दर्शन पाकर शीतल हुई तपन है॥
तत्त्वों का होता नित चिन्तन मन्थन और मनन है।
विद्या के उन सागर को मम् शत-शत बार नमन है॥''

परमार्थभूतानां देवगुरुशास्त्राणां श्रद्धानं सम्यग्दृष्टेः प्रथमं चिह्नम्। अलौकिकगुरूणां दर्शनं प्रवचनश्रवणं भक्त्यादिकरणं आसन्नभव्यस्य प्रमोदाय जायते। यथा चन्द्रज्योत्स्नया जलधिजले समुल्लासः सहजः एव तथा निकटभव्यस्य हृदये सम्यक् गुरुवार्तया। प्रेरणां विना हि परेषां श्रद्धालवः प्रणिपतन्ति गुरूणां पादयोः निश्चयमतावलम्बिनः अपि। अनेकमुदाहरणं एतद्–विषये सर्वैः दृष्टं श्रुतं च। अत्र तु प्रसिद्धविदुषां उदाहरणं दिग्दर्शनमात्रम्। तेषु मध्ये एकः निश्चयमातवलम्बी विद्वान् परमेष्ठीदासः आसीत्। स च ललितपुरनगरस्य निवासी। दूरे स्थिते स्वनगरे अपि सः श्रीगुरोः दर्शनार्थं समागच्छति स्म। तत् समये उपरि कोष्ठे आचार्यश्रीः अतिष्ठत्। हृदयरोगेण पीडितः आसीत् सः विद्वान्। तथापि भक्तिभरः सः सोपानक्रमेण उपरितलस्थे कोष्ठे प्रविशति स्म। ''मम जीवितस्य अद्य साफल्यं'' इति मुखमुद्रया स्पष्टं तेन व्यक्तीकृतम्।

१९७६ ई० तमे श्रीकुण्डलपुरसिद्धक्षेत्रे भोपालनगरीतः मुमुक्षुमण्डलं एकदा आचार्यपरमेष्ठिनः दर्शनार्थं समागतवान्। तेषु ब्र० हेमचन्द्रः प्रमुखः विद्वान् आसीत्। तेन सह महिलावर्गः अपि आयाति स्म। दर्शनपथे गच्छद्भिः मुमुक्षुभिः मध्येस्थिताःसंघस्थजनाः अपि अवलोकिताः। तावत् न तैः कैश्चित् इच्छाकारः निवेदितः। यत्र आचार्यदेवः अतिष्ठत् तत्रैव ते सर्वे आगत्य उपविष्टवन्तः। नासाग्रदृष्टिमुखेन तिष्ठन्तं आचार्यदेवं सर्वः अवलोकितवान्। आचार्यदेवैः न पृष्टं न दृष्टं यत् ''कः अस्ति भवान्, कुतः समागतः?'' न च तन्मण्डलैः

परमार्थभूत देव, शास्त्र, गुरुओं पर श्रद्धान करना सम्यग्दृष्टि का प्रथम लक्षण है। अलौकिक गुरुओं के दर्शन, प्रवचन श्रवण और भक्ति आदि करने से आसन्न भव्य जीव को प्रमोद उत्पन्न होता है। जिस प्रकार चन्द्रमा की ज्योत्स्ना (चाँदनी) से सागर के जल में उल्लास सहज ही होता है, उसी प्रकार निकट भव्य के हृदय में सच्चे गुरु की वाणी से होता है। दूसरों की प्रेरणा के बिना ही श्रद्धालुजन गुरु के चरणों में नमस्कार करते है और निश्चय मत को मानने वाले भी। इस विषय में अनेक उदाहरण सभी के द्वारा देखे और सुने गए। यहाँ तो प्रसिद्ध विद्वान् का उदाहरण दिग्दर्शन मात्र के लिए है। उनके मध्य में एक निश्चय मतावलम्बी विद्वान् परमेष्ठीदास थे और वह ललितपुर नगर के निवासी थे। अपने नगर से दूर स्थित होने पर भी वह श्रीगुरु के दर्शन के लिए आए। उस समय ऊपर के कमरे में आचार्य श्री बैठे थे। वह विद्वान् हृदय रोग से पीड़ित थे। फिर भी भक्ति से भरे सीढ़ियों के द्वारा ऊपर स्थित कमरे में पहुँचे। मेरा जीवन आज धन्य हो गया। ऐसा उनके द्वारा मुख मुद्रा से स्पष्ट व्यक्त किया गया।

सन् १९७६ ई० में श्री कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र में भोपाल नगरी से मुमुक्षु मण्डल एक बार आचार्य परमेष्ठी के दर्शन के लिए आया, उनमें ब्र० हेमचन्द्र प्रमुख विद्वान् थे। उनके साथ महिलावर्ग भी आया था। दर्शन के लिए रास्ते में जाते हुए मुमुक्षुओं के द्वारा मध्य में स्थित संघस्थ लोग भी देखे गए। तब तक उनके द्वारा किसी को भी अभिवादन निवेदित नहीं किया गया। जहाँ आचार्यदेव बैठे थे, वहाँ ही वे सभी आकर के बैठ गए। नासाग्रदृष्टि मुख से बैठे हुए आचार्य देव को सभी ने देखा। आचार्य देव ने न पूछा, न देखा कि आप कौन हैं? कहाँ से आए हैं? और न उनके मण्डल ने कुछ भी

किमपि पृष्टम्। एतावता अर्धघण्टात्मकः कालः विगतः। तदा तन्मण्डलात् उत्थाय एकः जनः क्षु० श्रीयोगसागरस्य समीपं आगत्य इच्छाकारं निवेद्य पृच्छति स्म–आचार्यदेवः किं मौनव्रतेन तिष्ठति येन न वदति। क्षुल्लकमहाराजेन उक्तम्– ''न अस्ति मौनम्। आचार्यदेवः पृच्छनां विना न स्वयं वदति। ततः किमपि प्रष्टव्यम्। प्रश्नविषयः अपि समीचीनः भवितव्यः। समीचीनप्रश्नस्य एव उत्तरं तन्मुखकमलात् आयाति।'' एवं अवगम्य सः आगतजनः तत्र प्रविष्टवान्। 'नमोऽस्तु' इति वचनं समर्प्य तेषु ज्येष्ठः चर्चां कर्तुं प्रारब्धवान्। सर्वे च शास्त्रोक्तचर्चया सन्तोषं प्राप्तवन्तः। तेषु केचन सम्यग्ज्ञानस्य भूरि प्रशंसां अकुर्वन्। अनन्तरदिने कैश्चित् आहारदानं प्रदीयतेस्म।

सन् १९७६ ई० तमे कुण्डलपुरसिद्धक्षेत्रे वर्षायोगात् प्राक् क्षु० श्रीसमयसागरस्य अस्वस्थतां वृद्धिंगतां विलोक्य कटनीनिवासी पं० जगन्मोहनलालशास्त्री गुरुदेवं प्रार्थितवान्–इदं अरण्यं विविधजीवजन्तुभिर्भृतं। अत्र कोऽपि कुशलवैद्यो नास्ति। वर्षायोगे अधुना एकः मासः शेषोऽस्ति। अनेन कारणेन क्षुल्लकमहाराजं कटनीनगरं गन्तुं आज्ञां प्रदायेत्। गुरुणा प्रोक्तम्–'श्रावकाणां अधिकसंसर्गः संयमे बाधकः।' पुनरपि निवेदने कृते शास्त्रिणोक्तम्–मया सह क्षु०श्री योगसागरं अपि प्रेषय। तदा गुरुणोक्तम्–न, नियमसागरं नयेत्। स्वनगरे सः आगतः। एकदा संध्यासमये शीतस्वेदोपेतं शरीरं वीक्ष्य वैद्यगवेषणार्थं एकं अध्यापकं तत्र प्रयुज्य शास्त्री निर्गतः। पश्चात् वैद्यैः आंग्लचिकित्सकैः परीक्षणं कृत्वा प्रोक्तः–नाडी नास्ति हृदयं सुष्ठु न कार्यं करोति,

---

पूछा। इस प्रकार आधा घण्टा निकल गया। तब उनके मण्डल में से एक व्यक्ति ने उठकर क्षु० श्री योगसागरजी के समीप जाकर अभिवादन करके पूछा–'आचार्यदेव क्या मौन व्रत से बैठे हैं, जिससे नहीं बोलते हैं?' क्षुल्लक महाराज ने कहा–''मौन नहीं है। आचार्यदेव पृच्छना के बिना स्वयं नहीं बोलते हैं। इसलिए कुछ पूछना चाहिए। प्रश्न का विषय भी समीचीन होना चाहिए। समीचीन प्रश्न का ही उत्तर उनके मुख कमल से आता है।'' ऐसा जानकर वह आया हुआ व्यक्ति वहाँ गया। 'नमोऽस्तु' ऐसा अभिवादन समर्पित करके ज्येष्ठ व्यक्ति ने उनसे चर्चा करना प्रारम्भ कर दिया। सभी को शास्त्रोक्त चर्चा के द्वारा संतोष प्राप्त हुआ। उनमें से कुछ ने सम्यग्ज्ञान की बहुत प्रशंसा की। दूसरे दिन कुछ लोगों ने आहारदान दिया।

सन् १९७६ ई० में कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र में वर्षायोग से पहले क्षु० समयसागर की अस्वस्थता को प्रतिदिन बढ़ता हुआ देखकर कटनी निवासी पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री ने गुरुदेव से प्रार्थना की कि यह विभिन्न प्रकार के सब जन्तुओं से भरा हुआ जंगल है। यहाँ कोई भी कुशल वैद्य नहीं है। वर्षायोग की स्थापना में अभी एक मास शेष है इस कारण से क्षुल्लक महाराज को कटनी नगर ले जाने की आज्ञा दें। गुरु ने कहा–''श्रावकों का अधिक संसर्ग संयम में बाधक है।'' फिर भी पण्डितवर्य के द्वारा निवेदन किया गया–''मेरे साथ योगसागरजी को भी भेज दीजिये।'' तब गुरु ने कहा–''नहीं नियमसागर को ले जाओ।'' अपने नगर में आकर एक दिन संध्या के समय ठंडे पसीने से गीले शरीर को देखकर वैद्य को ढूँढ़ने के लिए एक अध्यापक को वहाँ नियुक्त करके पण्डित जी चले गए। वैद्य और अंग्रेजी डॉक्टरों ने उनका परीक्षण कर कहा–नाड़ी का अनुभव नहीं हो रहा है, हृदय

मापकयन्त्रे ज्वरो न आयाति, एवं विपरीतस्थितिं समीक्ष्य विद्वान् क्षुल्लकं पृच्छति–''यदि स्वास्थ्यलाभो न भवेत् तदा किं करिष्यसि'' स उवाच–समाधिं गृह्णामि। मया सह भक्तामरस्तोत्रं पठ इत्युक्त्वा तत्पाठे लीनोऽभूत्। तदानीं वर्धासरकारिचिकित्सालयस वरिष्ठांगलचिकित्सकोऽपि तत्र नगरे आसीत्। तेनापि परीक्ष्योक्तम् आत्मशक्ति कारणतः एव अस्य जीवनं अस्ति; अन्यथा रोगी स्मृतिशून्यो भवेत्। तदा पत्रेण सह तत्रस्थाः श्रीगुरुसमीपं गताः। पत्रे शास्त्रिणा लिखितम्–''महाराजस्य समाधये समयः आगतः तदर्थं साधुः सर्वनियमानि उल्लंघ्य गच्छति'' इतिशास्त्रवचनम्। पत्रं पठित्वा श्रीगुरुः समाह–''सः शास्त्री तत्रैव समाधिं कारयेत् मम आवश्यकता नास्ति।'' एवं श्रुत्वा शास्त्रिणः पुत्रः प्रमोदः कथयति–भगवन्! ''कठोरहृदयोऽसि स्वानुजं अपि उपेक्षते।'' तदा गुरु आह–अहं तव पितुः भाषां जानामि। तं कथयेत्। भवान् गृहस्थः अहं साधुः अस्मि। स्वरूपानन्दं क्षुल्लकमपि नयेत्। पश्चात् शुद्धौषधिबलेन शनैः शनैः स्वास्थ्यलाभः अभवत्। गुरोः धैर्यं विवेकं निर्मोहत्वं च विचिन्त्य सर्वे प्रसन्नाः अभवन्।

१९७६ ई० तमे एषा घटना घटिता आसीत् यदा आचार्यदेवः विहृत्य कटनीनगरे समागतवान्। पं० जगन्मोहनलालः तस्य एव नगरस्य वासी आसीत्। पूर्वं एव रत्नत्रयतेजसा प्रभावितेन तेन यदा विज्ञातं स्वनगरे तद्गुरोः आगमनं तदा आनन्दस्य अपारता जाता। उपदेशश्रवणात् ज्ञानवैराग्ययोः वृद्धिः, दैगम्बररूपस्य

अच्छी तरह से काम नहीं करता है, ज्वर मापक यन्त्र में भी कोई सूचना नहीं है, ऐसी विपरीत स्थिति की समीक्षा कर क्षु० महाराज से विद्वान् ने पूछा–''यदि स्वास्थ्य का लाभ नहीं हुआ तो क्या करेंगे।'' तब बोले–'समाधि स्वीकार करूँगा।' मेरे साथ भक्तामर स्तोत्र पढ़ो ऐसा कहते हुए वह उस समय ही पढ़ने में लग्न हो गए। उसी समय वर्धा के सरकारी चिकित्सालय के वरिष्ठ अंग्रेजी चिकित्सक उस नगर में आए। उन्होंने भी परीक्षण कर कहा–आत्मशक्ति के वश से ही यह अवस्थित हैं। ऐसी स्थिति में रोगी स्मृति–शून्य देखा जाता है। तब ही लोग पत्र के साथ ही श्री गुरु के समीप कार से गए। पत्र में विद्वान् महोदय ने लिखा था–''महाराज की समाधि का समय आ गया है। समाधि के कारण से साधु समस्त नियमों का उल्लंघन करके जाते हैं, ऐसा शास्त्र का नियम है।'' पत्र को पढ़कर गुरुजी ने कहा–''वह विद्वान् वहाँ ही समाधि करा देवें मेरी आवश्यकता नहीं है। यह सुनकर विद्वान्‌जी के पुत्र प्रमोद ने कहा–''महाराज आप कठोर हृदय हैं। अपने अनुज की भी उपेक्षा करते हैं।'' तब गुरु ने कहा–''मैं आपके पिता की भाषा जानता हूँ उनसे कहना आप गृहस्थ हैं, मैं साधु हूँ।'' स्वरूपानन्द क्षुल्लक को भी ले जाओ। इधर शुद्ध औषधि के वश से धीरे–धीरे स्वास्थ्य लाभ हो गया। गुरु के धैर्य, विवेक और निर्मोहता का मन में चिन्तन कर सभी को बहुत प्रसन्नता हुई।

सन् १९७६ ई० में यह घटना घटित हुई थी। जब आचार्यदेव विहार करके कटनी नगर में आए। पं० जगन्मोहनलाल उस नगर के ही वासी थे। पहले से ही वह उनके रत्नत्रय तेज से प्रभावित थे। उनको जब अपने नगर में उन्हीं गुरु के आगमन की जानकारी मिली तब उनके आनन्द का पार ही नहीं रहा। उपदेश श्रवण से ज्ञान वैराग्य की वृद्धि, दिगम्बर रूप के साक्षात् दर्शन से दर्शन–विशुद्धि और साथ

साक्षात् दर्शनात् दर्शनविशुद्धिः, सह उपविश्य वार्तालापं करणात् तत्त्वरुचेः अभिवृद्धिः च सञ्जाता। तेन कारणेन श्रावकयोग्यानि सप्तमप्रतिमासम्बन्धीनि व्रतानि विशुद्ध्या गृहीतानि। एवं श्रुत्वा अनेके विद्वद्जनाः साश्चर्याः अभवन्। ''सम्यग्ज्ञानस्य फलं चारित्रग्रहणम्'' इति प्रशंसितम्। ''विदुषां चारित्रग्रहणाय बुद्धिः अतिदुर्लभा'' इति प्रशंसितम्।

तन्नगरे आचार्यसङ्घसान्निध्ये श्रीमहावीरजयन्तीमहोत्सवः सर्वैः सामाजिकैः सोल्लासेन आयोजितः। महोत्सवसमापन्नस्य दिनद्वयानन्तरं सहसा सङ्घमध्ये 'गण्ठकटरी' इति वाक्यं कन्नडभाषया आचार्यदेवः उक्तवान्। हिन्दीभाषायां तस्य अर्थः ''स्यूतं व्यवस्थितं कुरुत'' इति अस्ति। तस्मिन् एव दिवसे क्षु० श्री समयसागरस्य शरीरे तापः समुत्पन्नः आसीत्। तेन कारणेन विहारः स्थगितः। तस्यां एव निशायां आचार्यदेवस्य शरीरे अपि ज्वरस्य वेगः दृष्टः। अनन्तरदिवसे क्षु० श्री नियमसागरः अपि ज्वरवेगेन पीडितः। ग्रीष्मकालस्य प्रवर्तनं तावत्। सायंकाले क्षु० श्री योगसागरः आचार्यवर्यस्य समीपे समागतवान्। तेन दृष्टः यत्–ज्वरस्य तीव्रतमः वेगः। सकलं हि शरीरं अत्यन्तं औष्ण्यम्। तृणसमूहेन शरीरस्य प्रावरणं कृतं तथापि न किञ्चित् कार्यकरणसमर्थं तत्। देहे अत्यधिकं कम्पनम्। नयनयोः रक्ततासहितं अश्रुप्रस्रवणम्। १०७ डिग्री पर्यन्तं तापस्य सीमा तापमानयन्त्रे जाता। कस्मिंश्चित् काले तु तदधिकः अपि तापः सञ्जातः। पं० जगन्मोहनलालः अपि तत्रैव सकलकालं समीपे निवसन् यापितवान्। सर्वेषां चिन्ताविषयः अयं समाचारः सर्वत्र मारुतः इव

में बैठकर वार्तालाप करने से तत्त्व रुचि में अभिवृद्धि हुई। इस कारण से उन विद्वान् ने विशुद्धिपूर्वक श्रावक के योग्य सप्तम प्रतिमा सम्बन्धी व्रतों को ग्रहण किया। यह सुनकर अनेक विद्वज्जनों को आश्चर्य हुआ। ''सम्यग्ज्ञान का फल चारित्र को ग्रहण करना है'' ऐसी प्रशंसा की गयी। ''विद्वानों में चारित्र ग्रहण की बुद्धि अति दुर्लभ है।'' ऐसा अनेकों के द्वारा कहकर प्रशंसा की गई।

उस नगर में आचार्य संघ के सान्निध्य में श्री महावीर जयन्ती महोत्सव सभी के द्वारा सामाजिक रूप से उल्लास पूर्वक आयोजित किया गया। महोत्सव के समापन के दो दिन के बाद अचानक संघ के मध्य में 'गण्ठकटरी' यह कन्नड़ भाषा का वाक्य आचार्यदेव ने कहा। हिन्दी भाषा में उसका अर्थ है 'बस्ता बाँधो'। उस दिन ही क्षु० श्री समयसागरजी के शरीर में ताप उत्पन्न हो गया। इस कारण से विहार स्थगित हो गया। उस ही रात्रि में आचार्यदेव के शरीर में भी बुखार का वेग देखा गया। दूसरे दिन क्षुल्लक नियमसागरजी बुखार के वेग से पीड़ित हो गए। तब ग्रीष्मकाल का समय था। शाम को क्षु० श्री योगसागरजी आचार्यवर्य के समीप में आए। उन्होंने देखा कि बुखार का वेग तीव्रतम है। पूरा ही शरीर अत्यन्त गर्म है। घास (प्याल) के द्वारा शरीर को ढकने पर भी वह कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं हुआ। शरीर में अत्यधिक कम्पन था। आँखों में लालिमा सहित आँसू गिर रहे थे। तापमान यन्त्र में १०७ डिग्री तक बुखार की सीमा उत्पन्न हुई। किसी समय तो उससे भी अधिक ताप उत्पन्न हुआ। पं० जगन्मोहनलाल ने भी संपूर्ण समय वहाँ ही समीप में रहते हुए निकाला। सभी की चिन्ता का विषय यह समाचार सभी जगह हवा की तरह फैल गया। सभी श्रद्धालु उस स्थान पर

प्रसृतः। सर्वे श्रद्धालवः तत्र स्थाने आगत्य आगत्य एकत्रीभूय तिष्ठन्तिस्म। सकलरात्रिपर्यन्तं णमोकारमन्त्रस्य जापानुष्ठानं अनुष्ठितम्। हिमप्रयोगात् अपि तापस्य न्यूनता न प्राप्ता। शास्त्री जगन्मोहनः मनसि चिन्तितवान्; यत् ''एते क्षुल्लकमहाराजाः नवदीक्षिताः सन्ति। तेषु अपि प्रायशः सर्वे अस्वस्थाः आसन्।'' ततः विचिन्त्य सः क्षु० श्री योगसागरं पृष्टवान्–किं अन्यः कः अपि ज्येष्ठः महाराजः कुत्रापि तिष्ठति न वा। आम् अस्ति इति क्षुल्लक श्रीः कथितवान्। सः च क्षुल्लकश्रीः स्वरूपानन्दनामधेयः। आचार्यश्रीज्ञानसागरमहाराजस्य सः अन्तिमः शिष्यः। तच्छिष्यस्य आनयनार्थं शास्त्रिणा राजस्थाने समाचारः प्रेषितः। एतां आपत्स्थितिं विज्ञाय बहवः प्रमुखाः जनाः अपि समायान्ति स्म। तेषु चौ० दीपचन्द्रः, श्रेष्ठीकजौडीमलः, पं० मूलचन्द्रलुहाडिया, पं० छगनलालपाटनी, ताराचन्द्रः इत्यादयः मुख्याः आसन्। त्रिचतुर्दिवसाः व्यतीताः; तथापि न स्थितिः नियन्त्रिता। षडावश्यकेषु परिपालने शरीरस्य असामर्थ्यं शास्त्राज्ञां च संचिन्त्य आचार्यदेवैः मनसि कश्चन गूढः संकल्पः कृतः। क्षु० श्रीयोगसागरं आहूय तस्य कर्णे तैः कथितं यत्–अष्टदिवसपर्यंतं 'आचार्यमहाराज' इति उपाधिना जयकारः न करणीयः। ''एतस्मिन् कष्टसमये अति मूर्च्छितदशायां इपि करणीयकार्ये एषा जाग्रतिः। आ ज्ञातं आचार्यपदवीं प्रति असम्प्रक्तता। वास्तवेन उपाधिः तेषां भार इव प्रतीयते।'' एवं मनसि विमर्श्य विद्वांसः सविस्मया : अभवन्। पं० जगन्मोहनलालः सर्वकालं श्रीगुरोः समीपं हि निवसतिस्म। तेन मन्त्रप्रयोगः अपि स्वास्थ्यलाभार्थं कृतः। क्वचित् तु श्रीगुरोः अप्रतीकारस्थितिं दृष्ट्वा तस्य शास्त्रिणः नयनं सजलं दृष्टम्।

आ आकर एकत्र होने लगे। पूरी रात णमोकर मंत्र का जाप अनुष्ठान हुआ। बर्फ के प्रयोग से भी (ताप) बुखार में कमी नहीं हुई। पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री ने मन में विचार किया कि–ये सभी क्षुल्लक महाराज नवदीक्षित हैं। उनमें भी सभी प्रायः अस्वस्थ हैं। ऐसा सोचकर उन्होंने क्षु० श्री योगसागर जी से पूछा–क्या कोई अन्य ज्येष्ठ महाराज भी कहीं है अथवा नहीं। 'हाँ हैं' ऐसा क्षु० श्री ने कहा। उनका नाम क्षु० श्री स्वरूपानन्द जी है। वह आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के अन्तिम शिष्य हैं। उन शिष्य को लाने के लिए शास्त्री जी के द्वारा राजस्थान समाचार भेजा गया। ऐसी कठिन स्थिति को जानकर बहुत से प्रमुख लोग भी आए। उनमें चौ० दीपचन्द्र, श्रेष्ठी कजौड़ीमल, पं० मूलचन्द लुहाड़िया, पं० छगनलाल पाटनी, ताराचन्द इत्यादि प्रमुख थे। तीन चार दिन व्यतीत होने पर भी स्थिति नियन्त्रित नहीं हुई। छह आवश्यकों के परिपालन में शरीर की असमर्थता और शास्त्राज्ञा का अच्छी तरह चिन्तन कर आचार्यदेव ने मन में कोई गूढ़ संकल्प किया। क्षु० श्री योगसागरजी को बुलाकर उनके कान में आचार्यश्री ने कुछ कहा कि आठ दिन तक 'आचार्य महाराज' इस उपाधि द्वारा जयकार नहीं करना चाहिए। इस कष्ट के समय में भी मूर्च्छित दशा में भी करने योग्य कार्य में ऐसी जाग्रति। हाँ! आचार्य पदवी के प्रति निर्लिप्तता ज्ञात होती है। निश्चित रूप से यह उपाधि उन्हें भार के समान प्रतीत होती थी। इस प्रकार मन में विचार करके सभी विद्वान् आश्चर्यचकित हो गए। पं० जगन्मोहनलाल पूरे समय श्रीगुरु के समीप ही रहते थे। उनके द्वारा मन्त्र-विद्या का प्रयोग भी स्वास्थ्य लाभ के लिए किया गया। कभी तो श्रीगुरु की अप्रतिकार स्थिति को देखकर उन शास्त्रीजी

तत्रत्यः रघुवरप्रसादवैद्यः वैयावृत्त्यर्थं समागतवान्। अन्ये अपि च वैद्याः तदर्थं नियोजितवन्तः। बहुदिवसपर्यन्तं तापमानः तथैव उच्चतरः अतिष्ठत्। तेन काये अति क्षीणता जाता। शनैः शनैः आशायाः रश्मयः स्फुटिताः। तापस्य न्यूनता अभवत्। समधिकमासद्वयपर्यन्तं एषः घटनाक्रमः प्रचलितः। विगते अतिज्वरे क्षीणशक्तिवशात् स्वयं चलितुं असमर्थः अभूत्; कतिपयदिनं यावत् न यापितम्। अशक्तावस्थायां स्वाध्यायं कर्तुं न शक्नोति स्म। तावति काले श्रीसमयसारग्रन्थविषये उपदिष्टं व्याख्यानं ध्वनिमुद्रणयन्त्रेण शृणोतिस्म। तत् व्याख्यानं स्वयं शास्त्रिणा कृतं आसीत्। पश्चात् कियत्सु विषयेषु वार्तालापं क्रियते स्म। एकदा चर्चाकाले शास्त्रिणा कथितम्– ''श्रीसमयसारग्रन्थस्य मातृभाषायां टीकां कर्त्तुं मम मनसि भावना आसीत्। यदा विज्ञातं मया यत् श्रीज्ञानसागरः मुनिः तां कुर्वन् अस्ति, तस्मात् तन्न कृता। पश्चात् पं० नीरजस्य प्रेरणातः तद्ग्रन्थस्य प्रथमबृहट्टीकायां यानि कलशपद्यानि तानि संगृह्य हिन्दीटीकया सह संरचिता मया।''

प्रकाशनात् पूर्वं तत् शास्त्रं १९७७ ई० तमे कुण्डलपुरसिद्धक्षेत्रे श्रीगुरोः समीपं शास्त्री विवृतवान्। केषुचित् स्थलेषु संशोधनं अपि शास्त्रिणा कृतं येषु श्रीगुरुणा प्रबोधितम्। 'अध्यात्म अमृतकलशः' इति नाम्ना स प्रकाशितवान्। अस्य ग्रन्थस्य पृष्ठक्रमांके सप्तसत्तरितमे वैराग्यचर्चां पठित्वा आचार्यश्री उक्तवान्– पण्डितवर्य! पृष्ठः आयुः, क्रिस्ताब्दः सर्वे समानः अस्ति। उत्तमयोगः वर्तते। एवमुक्त्वा विद्वान्सं प्रति दृष्ट्वा हसितवान् श्रीगुरुः। पंडितवर्यः प्रतिबोधितः–आचार्यदेवः किं वक्तुं इच्छति?

के नेत्र सजल देखे गए। वहाँ के रघुवरप्रसाद वैद्य वैय्यावृत्ति के लिए आए थे। अन्य वैद्य भी इसके लिए नियुक्त थे। बहुत दिन तक तापमान वैसा ही ऊँचा (तेज) रहा। जिससे शरीर में अत्यंत कमजोरी आ गयी। धीरे–धीरे आशा की किरण स्फुटित हुई। ताप की न्यूनता हो गई। दो मास से अधिक समय तक यह घटनाक्रम चला। ज्वर के जाने पर भी शक्ति के क्षीण हो जाने पर स्वयं चलने में असमर्थ हो गए, जब तक कि कुछ दिन न निकल गए। अशक्त अवस्था में स्वाध्याय करने की शक्ति न थी। उस समय श्री समयसार ग्रन्थ विषय पर उपदिष्ट व्याख्यान को टेप रिकार्डर के द्वारा सुनते थे। वह व्याख्यान स्वयं शास्त्री जी के द्वारा किया हुआ था। तत्पश्चात् कुछ विषय पर परस्पर वार्तालाप करते थे। एक बार चर्चा के समय शास्त्री जी के द्वारा कहा गया–श्री समयसार ग्रन्थ की मातृभाषा में टीका करने की मेरे मन में भावना थी। जब मुझे यह जानकारी हुई कि श्री ज्ञानसागर जी मुनि उसको कर रहे हैं इस कारण से फिर नहीं किया। पश्चात् पं० नीरज जी की प्रेरणा से उस ग्रन्थ की प्रथम बृहद् टीका में जो कलश रूप पद्य है उनका संग्रह कर हिन्दी टीका के साथ मैंने लिखा है।

प्रकाशन से पूर्व सन् १९७७ ई. में कुण्डलपुर सिद्ध क्षेत्र में श्री गुरु के समीप शास्त्री जी ने उसका वाचन किया। कुछ स्थानों पर जैसे श्री गुरु के द्वारा कहे गए वैसे संशोधन भी शास्त्री जी के द्वारा किए गए। 'अध्यात्म अमृत कलश' इस नाम से वह उन्होंने प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ के पृष्ठ क्रमांक ७७ पर अंकित वैराग्य चर्चा को पढ़कर आचार्यश्री ने कहा– ''पडितजी! पृष्ठ ७७, आयु भी ७७ वर्ष, सन् भी ७७, उत्तम योग है।'' और पंडितजी की ओर देखकर हँसने लगे। पंडितजी समझ गए कि आचार्यश्री का इशारा किस ओर है?

आगामिवर्षायोगकरणार्थं आचार्यदेवाः कटनीनगरात् प्रस्थानं कृतवन्तः। कुण्डलपुरसिद्धक्षेत्रे तेषां आगमनं अभवत्। प्रागेव तेषां देहे बलस्य क्षीणता आसीत्। तथापि मध्ये मध्ये ग्रामनगरेषु विहृत्य तत्क्षेत्रे कथमपि आयातवन्तः। वर्षाकारणात् क्वचित् क्वचित् शरीरं क्लिन्नं अजायत। एतेन च कारणेन तत्क्षेत्रे दशदिवसानन्तरं पुनरपि ज्वरः देहे आविर्भूतः। तस्य तीव्रता प्रागिव १०७ डिग्री आसीत्। कानिचित् दिनानि व्यतीत्य तापन्यूनता अभूत्। शनैः शनैः स्वास्थ्यलाभः प्राप्यतेस्म। संघस्थानां शिष्याणां पाठनं अपि स्थगितं प्रायः। अनन्तरः वर्षायोगः १९७७ ई० तमे अपि श्रीकुण्डलपुरसिद्धक्षेत्रे प्रस्थापितः आचार्यवर्यैः।

कातन्त्रव्याकरणस्य अध्ययनं तदा प्रारभते स्म। एकदा पं० जगन्मोहनलालः कक्ष्यायां अर्घ्यसमर्पणार्थं समायाति स्म। कक्ष्यायां मध्ये हि सः पृच्छति स्म–''भगवन्! कथं भवतां मनसि वैराग्यं उपजनितम्।'' विनोदशैल्या आचार्यैः उक्तम्–''भगवति अर्हति रागः उत्पन्नः। तेन संसारात् वैराग्यं समुपपन्नं।'' पुनः शास्त्री अभाषत– भवतां दर्शनेन मम मनसि लज्जा उत्पद्यते। अल्पवयसि हि भवद्भिः सम्यग्ज्ञानेन सह असिधारासदृशं सम्यक्चारित्रं अपि परिपालितम्। मम जीवनं तु श्रवणश्रावणे पठनपाठने एव निर्गतम्। युवावयसि करणीयं तपश्चरणं मया न आचरितं इति खेदस्य विषयः। एवं श्रुत्वा कक्ष्यायां प्रचलितविषयः पुनः प्रारब्धः। कक्ष्यासमाप्तौ सत्यां शास्त्री पुनः उक्तवान्–भगवन्! भवद्भिः यदुक्तं वैराग्यस्य कारणं तन्न सन्तोषकरम्। अन्यत् किमपि

आगामी वर्षायोग करने के लिए आचार्यदेव ने कटनी नगर से प्रस्थान कर दिया। कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र पर उनका आगमन हुआ। पहले से ही उनके शरीर में बल की क्षीणता थी। फिर भी बीच–बीच के ग्राम, नगर में विहार करते हुए कैसे भी उस क्षेत्र पर आए। वर्षा के कारण से कभी–कभी शरीर गीला हो जाता था। इस कारण से उस क्षेत्र में दस दिन के बाद पुनः शरीर में बुखार उत्पन्न हो गया। उसकी तीव्रता पहले की ही तरह १०७ डिग्री थी। कुछ दिन बाद बुखार कम हो गया। धीरे–धीरे स्वास्थ्य लाभ हो गया। संघस्थ शिष्यो को पढ़ाना भी प्रायः स्थगित था। दूसरा वर्षायोग सन् १९७७ ई० में भी कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र में आचार्यवर्य के द्वारा स्थापित किया गया था।

कातन्त्रव्याकरण का अध्ययन उस समय प्रारम्भ किया था। एक बार पं० जगन्मोहनलाल कक्षा में अर्घ समर्पण के लिए आए। कक्षा के बीच में ही उन्होंने पूछा–''भगवन्! कैसे आपके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ?'' विनोद शैली में आचार्यश्री ने कहा–''भगवान् अरिहन्त में राग उत्पन्न हुआ इससे संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया।'' फिर से शास्त्रीजी बोले–आपके दर्शन से मेरे मन में लज्जा उत्पन्न होती है। अल्प आयु में ही आपके द्वारा सम्यग्ज्ञान के साथ तलवार की धार के समान सम्यक्चारित्र का भी पालन किया जाता है। मेरा जीवन तो सुनने–सुनाने पढ़ने–पढ़ाने में ही चला गया। युवा वय में करने योग्य मैंने तपश्चरण नहीं किया, यह खेद का विषय है। यह सुनकर कक्षा में प्रचलित विषय पुनः प्रारंभ हो गया। कक्षा के समाप्त होने पर शास्त्रीजी ने पुनः कहा–''भगवन्! आपके द्वारा जो वैराग्य का कारण कहा गया वह सन्तोषप्रद नहीं है। अन्य कोई बात है, उसको कहिए। तब आचार्यदेव ने कहा कि–''आप जैसे संसारियों का मुख ही मेरे वैराग्य का कारण है।''

वक्तव्यं अस्ति तत् कथ्यताम्। तदा आचार्यदेवैः कथितम्–युष्मत्सदृशानां संसारिणां मुखं हि मम वैराग्यकारणम्। यतश्च संसारे सुखं नास्ति ततः एव सर्वेषां मुखं खेदखिन्नं दृश्यते। एतादृशी दशा अस्माकं अपि न भवेत् तेन कारणेन मनसि विरागता समुत्पन्ना। इत्थं वचनं श्रुत्वा शास्त्री स्वचेतसि चिन्तितवान्–पूर्वजन्मनि कृतपुण्यस्य अयं खलु विपाकः अस्ति। यस्मात् एव इत्थंभूता नैसर्गिकी विरागता सञ्जाता। धन्योऽसि त्वम्; अहमपि धन्यः आसम् भवद्दर्शनात्।

सत्यमेव–

यथैव तृप्तिं वनितामुखेषु कामीजनो नो लभतेऽपि दृष्ट्वा।
तथैव तृप्तिं निजतत्त्वपाने ज्ञानीजनो यो लभतेऽपि कृत्वा ॥४॥

विद्वान् जगन्मोहनलालः प्रातर्गुरुदेवोपदेशानन्तरं पञ्चदशनिमिषपर्यन्तमुपादिशत्। सायं शास्त्रीयवार्ताऽपि प्रावर्तत् अष्टाह्निपर्यन्तं तत्र वासे, न लौकिवार्ता; सदाऽप्रमत्तोऽनुशासितसङ्घ इत्यादिवैशिष्ट्येन सङ्घस्था अपि निरीहाः सन्तो गुरुदेवमनुकुर्वन्ति। नागौदेन कश्चन श्रावकः समयसूचिकायन्त्रं समयज्ञापनार्थं सूरये प्रदानाय निवेदनं कृतवान् तदप्यनुनयो व्यर्थो जातः। पं० नीरजादयो मान्याः श्रावका वा मार्गंज्ञातुम्भिवाञ्छन्ति यत् गुरुदेवस्य विहृतिं कुतो भविष्यति। पृष्टे सत्येकमेव वचनम्–''मा चिन्तय यथा योगः स्यात्तथा भवेत्।'' पञ्च महाराजस्य सर्वग्रन्थादयः स्यूतद्वये समायान्ति तेष्वपि निश्चिन्तो भूत्वा सर्वे विहरन्ति। रविवारी–प्रवचनस्योद्घोषणाकृतेऽपि शनिवासरे हि गमनं कृतं लोकपंक्तिनिरपेक्षतया सूरिणा। २८ फ्रेबवरी रविवासरे

इस संसार में सुख नहीं है इसलिए ही सभी के मुख खेद खिन्न देखे जाते हैं। ऐसी दशा हमारी भी न हो, इस कारण से मन में विरागता उत्पन्न हुई। यह वचन सुनकर शास्त्रीजी ने अपने मन में विचार किया– पूर्व जन्म में किए हुए पुण्य का यह निश्चित रूप से फल है। इस कारण से ही इस प्रकार का प्राकृतिक वैराग्य उत्पन्न हुआ। आप धन्य हो, आपके दर्शन से, मैं भी धन्य हो गया।

सच है–''जिस प्रकार कामीजन स्त्रियों का मुख देखकर कभी तृप्त नहीं होते हैं, उसी प्रकार जो ज्ञानीजन हैं निजात्म तत्त्व के पान में तृप्ति प्राप्त नहीं करते हैं ॥४॥''

विद्वान् जगन्मोहनलाल प्रातः गुरुदेव के उपदेश के बाद १५ मिनट बैठते थे और शाम को शास्त्रीय चर्चा भी चलती थी। आठ दिन पर्यंत तक वहाँ निवास हुआ। उस बीच में न कभी विश्राम, न कोई लौकिक चर्चा, सदा अप्रमत्त रहते हुए अनुशासित संघ इत्यादि विशिष्टताओं के साथ संघस्थ शिष्य भी निरीह रहते हुए गुरुदेव का अनुकरण करते थे। नागौद से कोई श्रावक समयसूचिका यंत्र (घड़ी) समय जानने के लिए आचार्य देव को प्रदान करने हेतु निवेदन किया, किन्तु उसकी वह अनुनय भी व्यर्थ गई। पं० नीरज आदि मान्य श्रावक रास्ता जानने की इच्छा कर रहे थे, कि गुरुदेव का विहार किस रास्ते से होगा। उनके पूछने पर एक ही वचन–''आप चिंता न करें जैसा योग होगा वैसा हो जाएगा।'' पाँच महाराज के सभी ग्रंथ आदि दो बस्ते में आ जाते थे, उसमें भी निश्चिंत होकर के सभी विहार करते थे। रविवारीय प्रवचन की उद्घोषणा होने पर भी शनिवार को ही गुरुदेव ने लोक ख्याति

सतनातः द्वाविंशतिमील् दूरे बेलाग्राम आहारचर्या निष्ठापिता। यत्–

मनोवचनकायैश्च यत्कृतकारितैर्न वा।
अननुमोदितैर्नित्यं यतिर्गृह्णाति भोजनम् ॥५॥
तेन सङ्केतनाद्वर्ज्यं नितरामशनासनम्।
प्रागुद्घोषित-कालेन निर्दूष्यं तत्कथं भवेत् ॥६॥
गोचरीसमये चापि हुंकारेङ्गितवर्जनम्।
निराक्रोशेन भुंजन्ति सदैव रसवर्जनम् ॥७॥
अतिथीनां मुनीनाञ्च कथमातिथ्यमाप्नुयात्।
तिथौ तु निश्चिते तेन सूरिःसङ्कल्पवर्जितः ॥८॥

विन्ध्यक्षेत्रे रीवानगरे पद्मधरोद्याने किंचित् विरमय्य पुनर्वेलाग्रामादमरपाटनमागत्य मैहरपथेन कटनी–नगरमागतः ९ अप्रेल १९७६ ई० तमे।

१९७७ तमस्य क्रिस्ताब्दस्य फेब्रवरीमासि श्रीद्रोणगिरिसिद्धक्षेत्रे आचार्यदेवस्य प्रवासः आसीत्। तत्र एकः दृढतरः निश्चयमतावलम्बी विद्वान् आगतवान्। तस्य नाम मुन्नालालरांधेलीयः 'वर्णी' इत्युपनाम्ना प्रसिद्धः। श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायग्रन्थस्य राष्ट्रभाषया भाषाटीका विरचिता तद्विदुषा। सा च अन्यतमं उदाहरणं

से निरपेक्ष रहते हुए विहार कर दिया। २८ फरवरी, रविवार को कटनी से २२ मील दूर बेला ग्राम में आहार चर्या हुई। क्योंकि–

मन–वचन–काय से कृत–कारित–अनुमोदना से जो नहीं किया गया है, यति उसी भोजन को नित्य ग्रहण करते हैं ॥५॥

इसलिए संकेत से रहित होते हुए सदैव अशन और आसन होते हैं। जिनकी उद्घोषणा पहले से हो गई, वह निर्दोष कैसे हो सकता है? ॥६॥

गोचरी के समय भी हुंकार और इशारे से रहित, आक्रोश के बिना नीरस भोजन साधुजन सदैव करते हैं ॥७॥

अतिथियों और मुनियों की तिथि निश्चित हो जाने पर, वह फिर अतिथि कैसे होंगे? इसलिए आचार्य महाराज संकल्प से रहित रहते हैं ॥८॥

विन्ध्यक्षेत्र में रीवा नगर में पद्मधर उद्यान में कुछ रुक करके फिर बेला गाँव से अमरपाटन आकर मैहर रास्ते से ९ अप्रैल, १९७६ को कटनी नगर आ गये।

सन् १९७७ ई० फरवरी माह में श्री द्रोणगिरि सिद्धक्षेत्र में आचार्यदेव का प्रवास था। वहाँ एक दृढ़तर निश्चय मतावलम्बी विद्वान् आए। उनका नाम मुन्नालाल रांधेलिया था। वह 'वर्णी' इस उपनाम से प्रसिद्ध थे। उन विद्वान् ने श्री पुरुषार्थसिद्धियुपाय ग्रन्थ की राष्ट्रभाषा में भाषाटीका रची और वह उनके

तस्य पाण्डित्यपरिचयाय अस्ति। व्यवहारनिश्चयनयविषये समीचीना वार्ता आचार्यदेवैः सह तस्य प्रवर्तिता आसीत्।

द्रोणगिरिक्षेत्रे १९८० ई० तमे पुनः आचार्यदेवस्य प्रवासकाले एकदा प्रातः गुरुदेवपूजार्थमायातां ब्रह्मचारिणीं मणिबाईभगिनीं गुरुदेवो अपृच्छत्-किं अस्ति द्रव्यं। सा प्राह अस्ति एव। एक शिलाया उपरि ऐलकसमयसागरं संस्थाप्य संस्कारं कृत्वा चैत्रकृष्णषष्ठ्यां विक्रम संवत् २०३६ शनिवासरे (तदनु ८ मार्च १९८०) जिनदीक्षां प्रदत्तवान्। स खलु प्रथमो मुनिशिष्यः श्रीसमयसागरः प्रसिद्धो जातः।

तस्मिन् एव क्षेत्रे न्यायाचार्यकोठियाजी बीनानगरस्य निवासी दर्शनार्थं पुनः आगच्छतिस्म। न्यायविषये अपि आचार्यदेवस्य सिद्धान्ताध्यात्मविषयवत् एकाधिकारं संवीक्ष्य सः विस्मितः अभूत्। यतश्च न्यायस्य विषयः नीरसः ततः एव तस्य ज्ञाता अपि दुर्लभः। यत् यस्मै रोचते तत् प्राप्य कः न मोदते यथा कुवलयं चन्द्रदर्शने। नीरसविषयाणां अपि विभिन्नोदाहरणदानेन सरसीकरणं श्रीगुरोः एव अप्रतिमप्रतिभा। येन एव कारणेन विद्वान् अभणीत्-आचार्यपरमेष्ठिन्! ''भवत्पाण्डित्यसम्मुखं वयं तु निरक्षराः भासन्ते।'' एवं श्रुत्वा सर्वे हसन्तः आसन्।

एकस्मिन् दिवसे पं० कोठिया अभिप्रैति आचार्यदेवसमक्षम्; यत् अद्यत्वे सिद्धान्तशास्त्राणि सर्वेषां गोचराणि न भवन्ति। महता प्रयासेन तेषां सम्पादनं प्रकाशनं च कृतं अस्ति। एतस्मात् पूर्वं तु सर्वे दूरात्

पाण्डित्य परिचय के लिए अन्यतम उदाहरण है। व्यवहार-निश्चयनय के विषय में आचार्यदेव के साथ उनकी समीचीन बातचीत हुई थी।

द्रोणगिरि क्षेत्र में १९८० में पुनः आचार्यदेव के प्रवासकाल में एक बार प्रातः गुरुदेव की पूजा के लिए ब्रह्मचारिणी बहिन मणिबाई आयी तो गुरुदेव ने उनसे पूछा-क्या द्रव्य है? उन्होंने कहा-हाँ है। तदनन्तर एक शिला पर ऐलक समयसागरजी को बैठाकर संस्कार करके चैत्र कृष्णा षष्ठी शनिवार के दिन ८ मार्च, १९८० को जिनदीक्षा प्रदान की। वह प्रथम मुनि शिष्य श्री समयसागरजी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

उस क्षेत्र पर ही बीना नगर के निवासी न्यायाचार्य कोठियाजी पुनः दर्शन के लिए आए। न्याय विषय पर भी आचार्यदेव का सिद्धान्त-अध्यात्म विषय के समान एकाधिकार देखकर वह विस्मित हो गए, क्योंकि न्याय का विषय नीरस है इसलिए ही उसके ज्ञाता भी दुर्लभ हैं। जिसको जो अच्छा लगता है, उसको प्राप्त कर किसे प्रसन्नता नहीं होती। जिस प्रकार चन्द्रमा के दर्शन से रात्रि कमल खिलते हैं। नीरस विषयों को भी विभिन्न उदाहरण से सरल करना श्री गुरु की अप्रतिम प्रतिभा है। इस कारण से ही विद्वान ने कहा-''आचार्यपरमेष्ठी! आपके पाण्डित्य के सम्मुख हम तो निरक्षर प्रतीत होते हैं।'' यह सुनकर सभी हँसने लगे।

एक दिन पं० कोठिया जी ने आचार्यदेव के समक्ष कहा, कि आज तक सिद्धान्त शास्त्र सभी को गोचर (ज्ञान विषय) नहीं हुए है। बहुत प्रयास के द्वारा उनका सम्पादन और प्रकाशन किया गया है।

दर्शनमात्रेण तुष्यन्तिस्म। तस्मात् भवतां सान्निध्ये श्रीषट्खण्डागमादिशास्त्राणां वाचना भवितव्या स्यात्। 'पश्यतु' इति ईषद्हास्यमुखेन श्रीगुरुणा उक्तम्। तदेव वचनं स्वीकृतेः लक्षणं इति मनसि अवधार्य पं० कोठिया तत्कार्यस्य मूर्त्तरूपप्रदाने संलग्नः अभवत्। तदानीं ये वरिष्ठाः विद्वान्सः आसन्, तेषां अभिप्रायं विज्ञातवन्तः। तदनुसारेण अग्रिमा योजना तेन प्रवर्तिता। प्रायश्च सर्वे विद्वांसः अस्य कार्यस्य विषये प्रशंसितवन्तः। उत्साहवर्धनं तेन तस्य अभवत्। बहुतरः कालः विदुषां सम्मतिप्राप्तौ यापितः। स्थानचयनं हि मुख्या समस्या आसीत्; आचार्यवर्यः कस्मिन् स्थाने कियन्ति दिनानि स्थास्यति, इति निश्चितं न भवति यस्मात्। मुहुः मुहुः निवेदनेन पुण्यसंयोगेन च आचार्यदेवः सागरजनपदे आगतवान्।

तत्र मोराजीस्थाने वैशाखकृष्णामावस्यायां मङ्गलवासरे विक्रमसंवत् २०३७ (तदनुसार १५ अप्रैल, १९८०) ऐलकश्रीयोगसागरः ऐलकश्रीनियमसागरेण सह गुरुदेवस्य कृपातः जिनदीक्षां गृहीतवान्।

तदेव स्थानं तस्य विदुषः निवास-स्थानं अपि। आचार्यदेवः अत्र प्रवासं करिष्यामि इति संचिन्त्य तेन सर्वत्र समाचारः प्रेषितः। ग्रीष्मकाले १९८० ई० तमस्य मोराजीस्थानके विद्वांसः एकत्रिता अभवन्। तेषु मध्ये पं० फूलचन्द्रशास्त्री, पं० कैलाशचन्द्रशास्त्री, पं० जगन्मोहनलालशास्त्री, पं० पन्नालालशास्त्री, पं० हीरालालसिद्धान्तशास्त्री, पं० बालचन्द्रशास्त्री, पं० दरबारीलालकोठिया, जिनेन्द्रवर्णी इत्यादय सिद्धान्तज्ञाः प्रमुखा आसन्। पं० बालचन्द्रशास्त्री मुख्यप्रतिं अग्रे स्थापयित्वा प्रकाशितशास्त्रेण मेलयित्वा पठतिस्म।

इससे पूर्व तो सभी दूर से ही दर्शन से संतुष्ट होते थे। इस कारण से आपके सान्निध्य में श्री षट्खण्डागम आदि शास्त्रों की वाचना होनी चाहिए। 'देखो' ऐसा मुस्कुराते हुए श्री गुरु ने कहा। वह वचन स्वीकृति का ही लक्षण है, ऐसा मन में धारण कर पं० कोठियाजी उस कार्य को मूर्त रूप प्रदान करने में संलग्न हो गए। उस समय जो वरिष्ठ विद्वान थे, उनको अभिप्राय की जानकारी दी गयी उसके अनुसार ही आगे की योजना बनी। प्रायः सभी विद्वानों ने इस कार्य के विषय में प्रशंसा की। इसमें उनका उत्साहवर्धन हुआ। बहुत समय विद्वानों की सम्मति प्राप्त करने में चला गया, क्योंकि स्थान का चयन ही मुख्य समस्या थी। आचार्य वर्य किस स्थान पर कितने दिन रहेंगे, यह निश्चित नहीं होता था। बार-बार निवेदन करने से और पुण्य के संयोग से आचार्यदेव सागर जनपद में आए।

सागर में मोराजी क्षेत्र पर वैशाखकृष्णा अमावस्या को मंगलवार के दिन विक्रम संवत् २०३७ तदनुसार १५ अप्रैल १९८० को ऐलक श्रीयोगसागरजी, ऐलक श्रीनियमसागरजी के साथ गुरुदेव की कृपा से जिनदीक्षा ग्रहण किये।

वह स्थान उन विद्वान का निवास स्थान भी था। आचार्यदेव यहाँ प्रवास करेंगे, ऐसा सोचकर उनके द्वारा सभी जगह समाचार भेजा गया। सन् १९८० ई० के ग्रीष्मकाल में मोराजी स्थान पर विद्वान् एकत्रित हुए। उनमें पं० फूलचन्द्र शास्त्री, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री, पं० पन्नालाल शास्त्री, पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री, पं० बालचन्द्र शास्त्री, पं० दरबारीलाल कोठिया, जिनेन्द्र वर्णी इत्यादि सिद्धान्तज्ञ प्रमुख थे। पं० बालचन्द्र शास्त्री मुख्य प्रति आगे स्थापित करके

सागर में मोराजी क्षेत्र पर ऐलक श्री योगसागरजी, ऐलक श्री नियमसागरजी को दीक्षा देते हुए आचार्यश्री

वाचनाशिविरस्य कुलपतिः पं० जगन्मोहनलालः नियुक्तः आसीत्। तदा श्रीधवलाग्रन्थस्य प्रथमं चतुर्थं च पुस्तकं समुच्चारितम्। स्वाभिलषितपूर्तौ सत्यां पं० पन्नालालशास्त्री अतीव अभिनन्दितः अभूत्। बुद्धेः फलं ह्यात्महिते प्रवृत्तिः। तेन सम्यक्चारित्रस्यप्राप्त्यर्थं सप्तमप्रतिमाव्रतानि श्रीगुरोः समीपं संकल्पितानि एषः क्रमः अग्रे अपि प्रवर्तितः। द्वितीयवारं जाबलिपुरस्य 'मढियाजी क्षेत्रे' १९८१ ई० तमे ग्रीष्मकाले श्रीधवलाग्रन्थस्य नवमं त्रयोदशं च पुस्तकं संपठितम्।

१९८२ ई० तमस्य ग्रीष्मकाले पुनः सागरजनपदे श्रीधवलाग्रन्थस्य अष्टमं चतुर्दशं च पुस्तकं समुच्यते वाचनाद्वारेण।

१९८४ ई० तमस्य ग्रीष्मकाले जबलपुरे श्रीधवलाग्रन्थस्य सप्तमं पञ्चदशं च पुस्तकं वाचनार्थं अङ्गीकृतम्। पं० जवाहरलालसिद्धान्तशास्त्री राजस्थानप्रदेशस्य भीण्डरस्थानकात् तदा समागतवान्। स च भाषाऽनभिज्ञः अपि सिद्धान्तवेत्ता आसीत्। कस्मिन् पुस्तके कस्यां पंक्तौ अयं सन्दर्भविषयः विद्यते स झटिति वक्तुं शक्नोति।

१९८५ ई० तमस्य खुरईनगरे ग्रीष्मऋतौ श्रीधवलाग्रन्थस्य पञ्चदशस्य पुस्तकस्य अवशिष्टांशः च षोडशं पुस्तकं वाचनाविषये उपदिष्टम्। पश्चात् श्रीजयधवलाग्रथस्य प्रथमं पुस्तकं त्रयोदशं च उच्चरितवान्।

१९८६ ई० तमस्य पपौराजीक्षेत्रे मध्यप्रदेशस्य ग्रीष्मकाले श्रीधवलाग्रन्थस्य पञ्चमं एवं श्रीजयधवला–

प्रकाशित शास्त्र से मिलाकर पढ़ते थे। वाचना शिविर के कुलपति पं० जगन्मोहनलाल जी नियुक्त थे। उस समय श्री धवला ग्रन्थ की पहली और चौथी पुस्तक अच्छी प्रकार पढ़ी गयी। अपनी अभिलाषा की पूर्ति होने पर पं० पन्नालाल शास्त्री अत्यन्त आनन्दित हुए। बुद्धि का फल आत्म हित में प्रवृत्ति है। उनके द्वारा उन्होंने सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिए सप्तम प्रतिमा के व्रत श्रीगुरु के समीप संकल्प पूर्वक लिए। यह क्रम आगे भी चलता रहा। दूसरी बार जबलपुर के मढ़िया जी क्षेत्र में सन् १९८१ ई० में ग्रीष्म काल में श्री धवला ग्रन्थ की नवमीं और तेरहवीं पुस्तक अच्छी तरह पढ़ी गयी।

सन् १९८२ ई० के ग्रीष्म काल में पुनः सागर जनपद में श्री धवला ग्रन्थ की आठवीं और चौदहवीं पुस्तक वाचना के द्वारा अच्छी प्रकार पढ़ी गयी।

सन् १९८४ ई० के ग्रीष्मकाल में जबलपुर में श्री धवला ग्रन्थ की सातवीं और पन्द्रहवीं पुस्तक वाचना के लिए चुनी गयी। उस समय पं० जवाहरलाल सिद्धान्त शास्त्री राजस्थान प्रदेश के भीण्डर स्थान से आए। वह भाषा अनभिज्ञ होते हुए भी सिद्धान्त वेत्ता थे। किस पुस्तक में किस पंक्ति में यह संदर्भ विषय है, वह शीघ्र ही बता देते।

सन् १९८५ ई० में खुरई नगर में ग्रीष्म ऋतु में श्री धवला गन्थ की पन्द्रहवीं पुस्तक का शेष भाग और सोलहवीं पुस्तक वाचना के विषय के लिए उपदिष्ट की गयी। इसके बाद श्री जयधवला ग्रन्थ की प्रथम और तेरहवीं पुस्तक उच्चरित की गयी।

सन् १९८६ ई० मध्यप्रदेश के पपौरा क्षेत्र में ग्रीष्मकाल में श्री धवला ग्रन्थ की पाँचवी और श्री

ग्रन्थस्य द्वादशं पुस्तकं वाचनाविषये पक्षीकृतम्।

१९८७ ई० तमे उत्तरप्रदेशस्य ललितपुरनगरे क्षेत्रपालजीस्थानके ग्रीष्मकाले श्री धवलाटीकाग्रन्थस्य एकादशं द्वादशं च पुस्तकं वाचनार्थं समुच्चितम्।

१९८८ ई० तमे पुनः ललितपुरनगरे क्षेत्रपालजीस्थानके ग्रीष्मकाले श्री धवलाग्रन्थस्य षष्ठं पुस्तकं संपठितम्।

१९८९ ई० तमे जबलपुरस्य मढियाक्षेत्रे ग्रीष्मऋतौ श्रीजयधवलाग्रन्थस्य चतुर्दशं पुस्तकं संभणितम्।

आसु वाचनासु ब्र० राकेशशास्त्री, पं० नीरजः, अनेके स्थानीयविद्वांसः संघस्थाः साधवः, ब्रह्मचारिणः, ब्रह्मचारिण्यः, श्रावकश्राविकाः च सर्वे उपविशन्ति स्म। मध्ये मध्ये शङ्कासमाधनं अपि वर्त्तते। वाचनायाः समाप्तौ आचार्यप्रवरस्य उपदेशस्य प्रवृत्तिः वर्तते स्म। तासु प्रवृत्तानि घटनानि स्मरणार्हाणि अत्र निगद्यन्ते।

एकदा विद्वत्सभामध्ये आचार्यपरमेष्ठी उपदिष्टवान्–वयं अनन्तकालपर्यन्तं ''आत्मा अचेतनः, आत्मा अचेतनः'' एवं वक्तुं समर्थाः इति वचनं श्रुत्वा सर्वे अन्यान्यस्य मुखं दर्शितवन्तः। तेषां मनसि विचारः समुत्पन्नः यत् सर्वेषु द्रव्येषु एकं जीवद्रव्यं हि चेतनं, अन्यानि अचेतनानि तर्हि कथं आत्मा अचेतनः इति सिध्येत्। आचार्यवर्यः उवाच–मा चिन्तयत; सावधानतया शृणुत। यतः आत्मा अनन्तगुणानां पिण्डः अस्ति। तेषु प्रमेयत्वं, वस्तुत्वं अगुरुलघुत्वं, श्रद्धा, सुखं इतिप्रभृतयः अनन्ताः गुणाः अचेतना सन्ति। तेषां

जयधवला ग्रन्थ की बारहवीं पुस्तक वाचना विषय के लिए चुनी गयी।

सन् १९८७ ई० में उत्तर प्रदेश के ललितपुर नगर में क्षेत्रपाल जी स्थान में ग्रीष्मकाल में श्री धवला ग्रन्थ की ग्यारहवीं और बारहवीं पुस्तक वाचना के लिए उच्चरित की गयी।

सन् १९८८ ई० में पुनः ललितपुर नगर में क्षेत्रपाल जी स्थान में ग्रीष्मकाल में श्री धवला ग्रन्थ की छठवीं पुस्तक अच्छी प्रकार पढ़ी गयी।

सन् १९८९ ई० में जबलपुर के मढ़िया क्षेत्र में ग्रीष्म ऋतु में श्री जयधवला ग्रन्थ की चौदहवीं पुस्तक भली प्रकार कही गयी।

इन वाचनाओं में ब्र० राकेश शास्त्री, पं० नीरजजी अनेक स्थानीय विद्वान् संघस्थ साधु, ब्रह्मचारिणी बहनें, ब्रह्मचारी और श्रावक-श्राविकायें सभी बैठते थे। बीच-बीच में शंका समाधान भी होता था। वाचना की समाप्ति पर आचार्य प्रवर के उपदेश की श्रृंखला चलती थी। वहाँ हुई घटनाओं में कुछ स्मरण योग्य हैं, उन्हें यहाँ कहते हैं–

एक बार विद्वानों की सभा के बीच में आचार्य परमेष्ठी ने उपदेश दिया–हम अनन्तकाल पर्यन्त तक ''आत्मा अचेतन है, आत्मा अचेतन है'' इस प्रकार कहने में समर्थ हैं। इन वचनों को सुनकर सभी एक दूसरे का मुख देखने लगे। उनके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि सभी द्रव्यों में एक द्रव्य ही चेतन है, अन्य सभी अचेतन हैं, तो आत्मा कैसे अचेतन है? इसको सिद्ध कीजिए। आचार्यवर्य बोले–चिन्ता मत करो, सावधानी पूर्वक सुनो, क्योंकि आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है। उनमें प्रमेयत्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व, श्रद्धा, सुख इत्यादि अनन्त गुण अचेतन हैं। उनके व्याख्यान में

व्याख्याने अनन्तकालं गमिष्यति। अन्ते अहं ज्ञानगुणस्य दर्शनगुणस्य च आख्यानं करिष्यामि। तावता कालेन 'आत्मा अचेतनः' इति वक्तुं शक्नोमि। न चास्मिन् विषये केषाञ्चित् विप्रतिपत्तिः; आगमे गुणद्वयं हि चैतन्यं स्वीकृतम् आत्मनि। तथैव सिद्धात्मनि ज्ञातव्यम्। इत्थं स्याद्वादगर्भितवचनं आकर्ण्य सभ्याः करताडनेन आचार्यदेवस्य जयकारं घोषितवन्तः। पण्डितजनाः आचार्यदेवस्य मुखं पश्यन्तः चकितवन्तः।

शास्त्रिणां मध्ये पं० कैलाशचन्द्रशास्त्री निष्पक्षः प्रभावकः निर्भीकः वक्ता आसीत्। एकस्मिन् दिने आचार्यवर्यस्य उपस्थितौ हि सामाजिकं तेन प्रबोधितम्–श्रावकाः सदैव जागरूकाः स्युः। साधूनां चारित्रस्य शिथिलतायां वयं हि प्रमुखेन दोषिणः सन्ति। साधवः सांसारिककार्येभ्यः विरक्ताः भवन्ति; अतः ते सर्वदा विरक्ता एव तिष्ठन्तु, इत्थंभूतः प्रयासः सततं कर्त्तव्यः। सम्प्रति आचार्यदेवः एकं बहुमूल्यं रत्नं अस्ति। तत् सदैव चकचकायमानं भवेत् इति सर्वैः भावयितव्यम्। पं० पन्नालालः, कैलाशचन्द्रशास्त्रिणः शिष्य इव आसीत्। वाचनाकाले कश्चित् भव्यस्य काचन अपि जिज्ञासा उत्पन्ना चेत्तां समाधातुं पं० पन्नालालः प्रयत्नं कृतवान्। एवं श्रुत्वा पं० कैलाशचन्द्रः अब्रवीत् गंभीरवाचा–भो पन्नालाल! इयं सर्वज्ञदेवस्य वाणी अस्ति। अस्यां स्वबुद्धिः किमर्थं चालयति। अग्रे पठतु। विदुषां परस्परं सामान्यव्यवहारः एषः। सिद्धान्तविषये कथंचित् युक्तिः अप्रयोजनीया भाति; ''स्वभावोऽतर्कगोचरः'' इति वचनात्।

अनन्तकाल निकल जायेगा। अन्त में मैं ज्ञानगुण और दर्शनगुण का कथन करूँगा। उस समय तक 'आत्मा अचेतन है' ऐसा कह सकता हूँ। इस विषय में किसी को आपत्ति (पारस्परिक असंगति) नहीं, आगम में आत्मा के दो गुण ही चैतन्य स्वीकार किए गए हैं। वैसा ही सिद्ध आत्माओं में जानना चाहिए। ऐसे स्याद्वाद गर्भित वचनों को सुनकर सभी ने ताली बजाकर आचार्य देव का जयकार किया। पण्डित जन आचार्यदेव के मुख को देखते हुए चकित हो गए।

शास्त्रियों के बीच में पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री निष्पक्ष प्रभावक और निर्भीक वक्ता थे। एक दिन आचार्यवर्य की उपस्थिति में ही समाज के लोगों को उन्होंने प्रबोधित किया–श्रावकों को हमेशा जागरूक होना चाहिए। साधुओं के चारित्र की शिथिलता के लिए हम भी प्रमुखरूप से दोषी हैं। साधु सांसारिक कार्यों से विरक्त होते हैं। अतः वे हमेशा विरक्त ही रहें, इस प्रकार का प्रयास हमेशा करना चाहिए। आज आचार्यदेव एक बहुमूल्य रत्न हैं। वह हमेशा जगमगाते रहें ऐसी सभी के द्वारा भावना आनी चाहिए। पं० पन्नालालजी, कैलाशचन्द्र शास्त्री के शिष्य समान थे। वाचना समय में किसी भव्य की कुछ भी जिज्ञासा उत्पन्न हो, उसका समाधान करने के लिए पं० पन्नालालजी प्रयत्न करते थे। यह सुनकर पं० कैलाशचन्द्रजी गम्भीर वाणी में बोले–अरे पन्नालाल! यह सर्वज्ञदेव की वाणी है। इसमें अपनी बुद्धि क्यों चलाते हो? आगे पढ़ो। यह विद्वानों में परस्पर सामान्य व्यवहार था। ''स्वभावोऽतर्कगोचरः'' (स्वभाव तर्क गोचर नहीं है) इन वचनों के कारण सिद्धान्त विषय में कोई भी युक्ति कथंचित् अप्रयोजनीय प्रतीत होती है।

वाचनासु प्रथमं तु विद्वद्भिः परस्परं जिज्ञासासमाधानव्यवहारः वर्तते स्म। पश्चात् तु चिटिकोपरि प्रश्नव्यवहारः प्रारब्धः। कस्यचित् जनस्य एका जिज्ञासा एकदा प्रस्तुता चिटिकाद्वारेण। एकेन विदुषा तत्प्रश्नस्य उत्तरं हास्ये निवारितम्। एवं विज्ञाय सः प्रश्नकर्ता असन्तुष्टः जातः। विदुषः एषः व्यवहारः तस्य समीचीनः न प्रतीतः। तेन तदैव एका अन्या चिटिका प्रेषिता। यदुपरि लिखितं आसीत्–''कस्य अपि प्रश्नस्य उत्तरं हासत्वेन न दातव्यम्'' इति मम निवेदनम्। एतेन दृष्टान्तेन विज्ञायते, यत् ''लघीयांसः अपि न प्रेक्षावद्भिः उपेक्षणीयाः।'' इति शास्त्रव्याख्यानकाले सर्वैः स्मर्त्तव्यम्।

यद्यपि तत्र बहवः सिद्धान्तज्ञाः आसन्। तथापि तेषु पं० फूलचन्द्रशास्त्री विशिष्टेन ज्ञानवान् आसीत्। एकदा चर्चा प्रचलिता यत् देवशास्त्रगुरुमध्ये कः क्रमः समीचीनः; देवशास्त्रगुरुवः अथवा देवगुरुशास्त्रम्। अस्मिन् विषये 'शास्त्रं मध्ये भवितव्यम्' इति विचारः उक्तशास्त्रिणा उक्तः। विदुषां मध्ये एषा चर्चा यदा बहुकालेन कृता तथापि न उचितं समाधानं प्राप्तम्। मिथः निर्णयः कृतः यत्आचार्यदेवस्य अभिप्रायः ज्ञातव्यः, तदेव प्रामाण्येन स्वीकर्त्तव्यः। आचार्यदेवः उवाच– शास्त्रस्य क्रमः अन्ते भवितव्यः। तद्विषये इयं युक्तिः ज्ञातव्या अस्ति। अर्हद्देवानां मुखात् निर्गता वाणी प्रथमं गणधरदेवैः विश्रुतं अस्ति; पश्चात् तैः शास्त्ररचना क्रियते। तेन आयाति देवगुरुशास्त्रं इति क्रमेण पठनं समीचीनम्। किञ्च; मङ्गलादिदण्डके ''केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलम्'' इत्यादिना अपि निश्चीयते यः केवलिप्रणीतधर्मः शास्त्ररूपः, सः अन्ते

वाचना में प्रथम तो विद्वानों के द्वारा परस्पर जिज्ञासा समाधान का व्यवहार होता था। तत्पश्चात् ही पर्चियों के ऊपर प्रश्न व्यवहार प्रारंभ होता था। एक बार किसी जन ने एक जिज्ञासा पर्ची के द्वारा प्रस्तुत की। एक विद्वान् के द्वारा उस प्रश्न का उत्तर हँसी में दिया गया। यह जानकर वह प्रश्नकर्ता असंतुष्ट हो गया, विद्वान् का ऐसा व्यवहार उसको समीचीन प्रतीत नहीं हुआ। उसके द्वारा तब ही एक अन्य पर्ची भेजी गयी। जिसके ऊपर लिखा था–''किसी के भी प्रश्न का उत्तर हँसी के द्वारा नहीं देना चाहिए'' यह मेरा निवेदन है। इस दृष्टान्त के द्वारा जाना जाता है कि छोटे भी ज्ञानवानों के द्वारा उपेक्षणीय नहीं है, यह शास्त्र व्याख्यान के काल में सभी के द्वारा याद रखा जाना चाहिए।

यद्यपि वहाँ बहुत सिद्धान्तज्ञ थे, तथापि उनमें पं० फूलचन्द्र शास्त्री विशिष्ट ज्ञानवान् थे। एक दिन चर्चा चली कि देव-शास्त्र-गुरु के मध्य में कौन-सा क्रम समीचीन है–देव-शास्त्र-गुरु अथवा देव-गुरु-शास्त्र? इस विषय में ''शास्त्र बीच में होना चाहिए'' यह विचार उक्त शास्त्री के द्वारा कहा गया। विद्वानों के मध्य में यह चर्चा अब बहुत समय तक की गयी फिर भी उचित समाधान प्राप्त नहीं हुआ। तब परस्पर में निर्णय किया गया कि आचार्यदेव का अभिप्राय जानना चाहिए, वह ही (प्रमाणित) प्रमाण के द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए। आचार्यदेव बोले–''शास्त्र का क्रम अन्त में होना चाहिए।'' इस विषय में यह युक्ति जानने योग्य है। अर्हन्तदेव के मुख से निकली वाणी पहले गणधरदेव के द्वारा सुनी गयी है, पश्चात् उनके द्वारा शास्त्र रचना की गयी। इससे सिद्ध हुआ देव-गुरु-शास्त्र इस क्रम से पढ़ना समीचीन है। दूसरी बात यह है मंगलादि दण्डक में ''केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलम्'' इत्यादि के द्वारा भी निश्चित किया जाता है जो केवली प्रणीत धर्म शास्त्र रूप है, वह अन्त

मङ्गलम्, सः अन्ते लोकोत्तमः, सः अन्ते शरण्यः। मध्ये तु गुरोः क्रमः इति निश्चेयः।

अथ १९७७ ई० तमे एका विशिष्टा स्मरणयोग्या घटना घटिता। कश्चित् निश्चयमतावलम्बी आचार्यदेवस्य समीपं आगच्छत्। तस्य नाम 'माणिकचन्द्रचौवरे' इति प्रसिद्धः। स च आचार्यसमन्तभद्रस्य शिष्यः आसीत्। तेन आहारचर्यासमाप्त्यनन्तरं आचार्यदेवैः सह जिज्ञासासमाधानं कृतम्। १२-वादने तदा आचार्यदेवैः उक्तम्-''इदानीं तत्त्वचर्चया अलं, सामायिकस्य कालः सञ्जातः। एवं कथयित्वा आचार्यवर्यः सामायिकक्रियां प्रारब्धवान्। तदानीं सः माणिकचन्द्रः कथयति-भावसामायिकं त्यक्त्वा द्रव्यसामायिकं कुर्वन् उद्युक्तः अस्ति। एतत् वचनं सम्यक् श्रुतं श्रीगुरुभिः। अरोषेण तैः सामायिकं निष्ठापितम्। पश्चात् अपराह्णकाले उपदेशवेलायां तैः उपदिष्टं सामायिकस्य महत्त्वम्। माणिकचन्द्रस्य सह पं० जगन्मोहनलालः पं० खुशालचन्द्रबोरा वाला इत्यादि विशारदाः अपि उपदेशं श्रुतवन्तः। सामायिकस्य स्वरूपं समीचीनतया विज्ञाय तेषां मनसि प्रसन्नता समुत्पन्ना। मया अविचारितं उक्तं इति विचारः अपि तस्य हृदयं सन्तापयतिस्म। सः महाराष्ट्रियः अभिजनः माणिकचन्द्रः आचार्यदेवदर्शनार्थं पश्चादपि आगतवान्। यतश्च श्रीगुरोः वाणी तस्य समीचीना प्रतीयते स्म।

तस्य विदुषः गुरुणा आचार्यसमन्तभद्रदेवेन एकदा पत्रद्वारेण एकं निवेदनं प्रेषितम्। तत्र सल्लेखनाकरणार्थं आचार्यवर्यस्य सान्निध्यं अभिवाञ्छतिस्म। आचार्यवर्यैः प्रत्युत्तरं प्रदत्तम्, यत् भवदभिलाषा अतीव उत्तमा

में मंगल है, वह अन्त में लोकोत्तम है, वह अन्त में शरण हैं। मध्य में तो गुरु का क्रम है यह निश्चित है।

सन् १९७७ ई० में एक विशिष्ट स्मरण रखने योग्य घटना घटित हुई। कोई निश्चय मतावलम्बी आचार्यदेव के समीप आये। उनका नाम 'माणिकचन्द्र चौवरे' यह प्रसिद्ध था। वह आचार्य समन्तभद्रजी के शिष्य थे। उनके द्वारा आहार चर्या की समाप्ति के बाद आचार्यदेव के साथ जिज्ञासा समाधान किया गया। १२ बजे तब आचार्यदेव ने कहा-तत्त्व चर्चा बस करो। सामायिक का समय हो गया है। इस प्रकार कहते हुए आचार्यवर्य ने सामायिक क्रिया प्रारंभ कर दी। उस समय माणिकचन्द्र जी कहते हैं- ''भाव सामायिक छोड़कर द्रव्य सामायिक करने के लिए तैयार हैं।'' श्री गुरु के द्वारा यह वचन अच्छी तरह सुने गए। क्रोध रहित होकर गुरुदेव ने सामायिक की। पश्चात् अपराह्न काल में उपदेश के समय उन्होंने सामायिक का महत्त्व बताया। माणिकचन्द्र के साथ पं० जगन्मोहनलाल, पं० खुशालचन्द बोरा वाला इत्यादि विशारद भी उपदेश सुन रहे थे। सामायिक के स्वरूप को अच्छी तरह से जानकर उनके मन में प्रसन्नता उत्पन्न हुई। मेरे द्वारा बिना विचारे कहा गया, यह विचार भी उनके हृदय को सन्तापित करता था। वह महाराष्ट्री जन माणिकचन्द्र आचार्यदेव के दर्शन के लिए बाद में भी आए, क्योंकि श्रीगुरु की वाणी उनको समीचीन प्रतीत हुई थी।

उनके विद्वान् गुरु आचार्य समन्तभद्रदेव के द्वारा एक बार पत्र द्वारा एक निवेदन भेजा गया। वह सल्लेखना करने के लिए आचार्यवर्य का सान्निध्य चाहते थे। आचार्यवर्य के द्वारा प्रति उत्तर दिया

प्रशस्या च अस्ति। तथापि एवं तदैव सम्भवेत् यदा भवद्भिः स्वक्षेत्रं परिवर्त्येत। केन अपि कारणेन तत्कर्तुं असम्भवात् सः आचार्यसन्निधिं न प्राप्तवान्। तत्र स्थाने हि समाधिना तेषां मरणं अभवत्।

के नाम न वाञ्छति अन्ते समाधिना प्राणत्यजनम्। यश्च सम्यग्ज्ञानी अस्ति स सततं प्रयतते सल्लेखनार्थम्। सा च सल्लेखना निर्यापकाचार्येण विना अत्युत्तमा न भवति इति आराधनाशास्त्रेषु उद्घोषितम्। येन एव कारणेन बहवः विद्वांसः आचार्यदेवसन्निधौ प्राणप्रयाणाय अभिलषितवन्तः। ये तु स्वकल्याणमात्रार्थिनः सम्यग्ज्ञानिनः सामान्यजनाः ते अत्र वर्णयितुं न शक्याः यद्यपि तैः अपि आचार्यदेवस्यसन्निधौ सल्लेखना अङ्गीकृता।

तेषु विद्वत्सु पं० पन्नालालः सागरनिवासी एकतमः आसीत्। यस्य विषये प्रागपि किञ्चित् वर्णितम्। सः खलु न केवलं आचार्यदेवस्य चरणचञ्चरीकः अपितु गुरुणां गुरुं आचार्यश्रीज्ञानसागरं प्रति अपि भक्तिश्रद्धान्वितः आसीत्। आचार्यश्रीज्ञानसागरैः विरचितानि सन्ति यद्यपि बहूनि शास्त्राणि तथापि तेषु जयोदयमहाकाव्यं श्रेष्ठं अस्ति। तस्य संस्कृतभाषितस्य मातृभाषायां टीकां विना गूढश्लिष्टवाच्यार्थं अवबोधयितुं समर्थाः न भवन्ति जनाः। एवं विचार्य श्रीशास्त्रिणा हिन्दी टीका अकारि। सः च शास्त्री उभौ गुरुशिष्यौ प्रति समर्पितः आसीत्। न च तस्य कारणं तयोः शास्त्रपाण्डित्यं अपि तु सच्चरित्रं अपि सञ्जातम्। समाधिसमये शिष्येण या गुरोः सेवा कृता सा सर्वेषां आश्चर्यकारिणी गुरुश्रद्धाविवर्धिनी च जाता।

गया कि आपकी अभिलाषा अत्यधिक उत्तम और प्रशंसनीय है तथापि यह तब ही संभव है, जब आपके द्वारा आपका क्षेत्र परिवर्तन किया जाए। किसी भी कारण से वैसा करने में असंभव वह आचार्यश्री का सान्निध्य प्राप्त नहीं कर पाये। उस स्थान पर ही उनका समाधिमरण हुआ।

अन्त में समाधिपूर्वक प्राण त्यागना कौन नहीं चाहता। जो सम्यग्ज्ञानी है, वह निरन्तर सल्लेखना के लिए प्रयास करता है। वह सल्लेखना निर्यापकाचार्य के बिना अति उत्तम नहीं होती, ऐसा आराधना शास्त्रों में कहा गया है। इसी कारण से बहुत से विद्वान् आचार्यदेव का सान्निध्य प्राण त्यागने के लिए चाहते हैं। मात्र स्व-कल्याण चाहने वाले सम्यग्ज्ञानी सामान्य जन हैं, उनका यहाँ वर्णन नहीं किया जा सकता, यद्यपि उनके द्वारा भी आचार्य देव के सान्निध्य में समाधि ली गयी है।

उन विद्वानों में सागर निवासी पं० पन्नालाल एक थे। जिनके विषय में पहले भी कुछ वर्णन किया गया, निश्चित रूप से वह न केवल आचार्यदेव के चरणचंचरीक थे, अपितु गुरुणांगुरु आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के प्रति भी भक्ति श्रद्धा से भरे थे। आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के द्वारा रचित यद्यपि बहुत शास्त्र हैं, तथापि उनमें से जयोदय महाकाव्य श्रेष्ठ है। लोग उसकी संस्कृत भाषा की मातृभाषा टीका के बिना गूढ़ क्लिष्ट वाच्यार्थ को जानने के लिए समर्थ नहीं होते हैं। ऐसा विचार करके श्री शास्त्रीजी के द्वारा उसकी हिन्दी टीका की गयी। वह शास्त्रीजी गुरु शिष्य दोनों के प्रति समर्पित थे। उसका कारण उन दोनों का शास्त्र पाण्डित्य ही नहीं, अपितु सच्चरित्र भी था। समाधि के समय पर शिष्य के द्वारा गुरु की जो सेवा की गयी वह सभी को आश्चर्यकारिणी और गुरु के प्रति श्रद्धा को बढ़ाने वाली हुई।

पद्मश्रीरत्नेन सम्मानितः समाजसेवी महाधनी 'श्रेयांसप्रसादसाहू' महोदयः एकदा बुन्देलखण्डस्य तीर्थयात्रां कर्तुं समागतः। यात्राकाले तेन आचार्यदेवस्य दर्शनं कृतम्। तदानीं आचार्यदेवः नैनागिरितीर्थे समावसत्। दर्शनस्य पश्चात् तेन चर्चा अपि कृता। पृष्टं च– ''यदा ग्रहणकालः संजातः तदा पूजादानादिक्रिया विशेषरूपेण किं विधीयते? किं मानवजीवने अपि ग्रहणस्य प्रभावः स्यात्?'' गुरुदेवः प्राह– 'ग्रहणस्य प्रभावः तं उपरि एव भवति ये परिग्रहवन्तः सन्ति। परिग्रहवतां हि भयं अस्ति। अपरिग्रही तु निर्भयः तिष्ठति। अतः दृष्टिः उपादानोपरि कर्तव्या।''

इत्थं सन्तुष्टो भूत्वा सः ग्रहं गत्वा एकस्मिन् लेखे लिखितवान् यत् मम बुंदेलखण्डयात्रायाः महती द्वयी उपलब्धिः स्यात्। तत्र प्रथमा उपलब्धिस्तु आचार्यदेवस्य दर्शनं अभवत्। द्वितिया तु तीर्थानां वन्दनम्।

क्वचित् प्रसङ्गे शास्त्रिणा लिखितम्–अहो! लक्षरूप्यकाणि प्रतिमासं अर्जितवतः पुत्रस्य अपि स्वकीये पितरि सा सेवा मनोयोगेन तत्परतया, च न सम्भवेत् या श्रीविद्यासागरमुनिना स्वकीयस्य गुरोः समाचरिता दृश्यते। आचार्यवर्यैः एका 'पञ्चशती' नामा कृतिः संस्कृतभाषया व्यरचिता अस्ति। तस्याः संस्कृतभाषायाः हि टीका तेन शास्त्रिणा सम्प्रणीता। एतैः कार्यैः न केवलं शास्त्रिणः भक्तिः विशुद्धभावना च दृश्यते अपि तु अल्पावधौ आचार्यदेवानां रत्नत्रयतेजसः प्रभावः अपि अनुमीयते। गृहीतव्रतानि सम्यक् पालयित्वा साहित्यसेवां च कुर्वाणः शास्त्रिणः जीवितम् व्यतीतम्। मध्ये जीवनस्य अन्ये अपि नियमाः तैः

पद्मश्री रत्न से सम्मानित समाजसेवी महाधनी साहू श्रेयांसप्रसाद जैन एक बार बुंदेलखण्ड की तीर्थयात्रा के लिए आए। यात्रा के दौरान उन्होंने आचार्यदेव के दर्शन किए। उस समय आचार्यश्री नैनागिरि तीर्थ पर विराजमान थे। दर्शन के बाद उन्होंने आचार्यश्री से चर्चा भी की और पूछा–''जब ग्रहण का समय आता है, तब पूजन आदि क्रिया विशेष रूप से क्यों की जाती है?'' क्या मानव जीवन में भी ग्रहण का प्रभाव होता है? गुरुदेव ने कहा–ग्रहण का प्रभाव उनके ऊपर पड़ता है, जो परिग्रही होते हैं। परिग्रही जनों को ही भय होता है। अपरिग्रही तो निर्भय रहता है। इसलिए दृष्टि उपादान पर होनी चाहिए।

इस प्रकार उत्तर सुनकर वह संतुष्ट होकर अपने घर गए। घर पहुँचकर एक लेख उन्होंने लिखा जिसमें लिखा कि मेरी बुंदेलखण्ड यात्रा की दो महान् उपलब्धियाँ हैं। पहली उपलब्धि तो आचार्य विद्यासागर महाराज का दर्शन है और दूसरी तीर्थों की वन्दना।

किसी प्रसंग में शास्त्रीजी के द्वारा लिखा गया–अहो! एक लाख रुपये प्रतिमास कमाने वाले पुत्र की भी अपने पिता में वह सेवा उतने मनोयोग और तत्परता से संभव नहीं, जितनी जो विद्यासागर मुनि के द्वारा अपने गुरु की करते हुए देखी गयी। आचार्यवर्य के द्वारा एक 'पञ्चशती' नामक कृति संस्कृत भाषा में रची गयी है। उसकी संस्कृत भाषा में ही टीका उन शास्त्रीजी के द्वारा की गयी। इस कार्य में न केवल शास्त्रीजी की भक्ति और विशुद्ध भावना देखी गयी, अपितु अल्प अवधि में आचार्यदेव के रत्नत्रय तेज का प्रभाव भी अनुमानित किया गया। ग्रहण किए गए व्रतों को अच्छी तरह पालकर और साहित्य सेवा करते हुए शास्त्रीजी का जीवन व्यतीत हुआ। जीवन के मध्य में अन्य नियम

संकल्पिताः। अन्तसमये आचार्यदेवः यदा श्रीकुण्डलपुरसिद्धक्षेत्रे विराजमान आसीत् तदा सः परिचारकैः तत्र आनीतवान्। रात्रौ तस्य आगमनम् अभवत् क्षेत्रे। कालं प्रायः घण्टात्मकं व्यतीत्य देही देहात् निर्गतः। देहात् दूरे तिष्ठन्नपि सः हृदयेण आचार्यपरमेष्ठिनः पदकमलयुगलं ध्यायन् हि प्रयाणं कृतवान् इति सर्वेषां मनसि भावना जाता।

एकः अन्यतमः पण्डितः राजारामः आसीत्। सः च बुन्देलखण्डे निवसतिस्म। सर्वप्रथमं फिरोजाबादनगरे आचार्यदेवस्य दर्शनं सः लब्धवान्। सः च विज्ञाता अपि सिद्धान्तविषयस्य आसीत्। आचार्यवर्यैः सह चर्चावार्तादिप्रकारेण सः बहुप्रभावितः आसीत्। तदा तस्य आयुः त्रिनवतिवर्षं अपूरयत्। कैन्सररोगेण ग्रसितः अपि सः जन्मजरारोगेण दुःखितः अभवत्। ''चारित्रपालनं विना न दुःखात् विमुक्तिः'' इति विचिन्त्य सः सप्तमप्रतिमाव्रतं गृहीतवान् आचार्यभगवतः समीपम्। अन्ते १९८२ ई० तमे श्रीनैनागिरिक्षेत्रे मुनिधर्मं स्वीकृत्य समाधिसागरनाम्ना अलंकृतः परलोकं गतः।

अनन्यभक्तः विदुषां अग्रणी पं० जगन्मोहनलालः सर्वेषां परिचितः आसीत्। यस्य विषये च बह्वी चर्चा अत्र वर्णिता। पञ्चनवतिवर्षीयः अपि सः नीरोगः एव वर्ततेस्म। ''शतरूप्यकाणि स्वपार्श्वे धारयिष्यामि'' इति परिग्रहप्रमाणं तेन कृतं आसीत्। श्री कुण्डलपुरसिद्धक्षेत्रे यदा आचार्यदेवस्य वर्षायोगः प्रावर्तत तदा हि तेन समाधिमरणं अङ्गीकृतम्। १९९५ ई० तमस्य एषा सल्लेखना।

भी उनके द्वारा लिए गए। अन्त समय में आचार्यदेव जब कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र में विराजमान थे। तब वह परिचारिकों के द्वारा वहाँ लाए गए। रात में क्षेत्र में उनका आगमन हुआ। प्रायः एक घण्टे का समय बिताकर उनकी देह से प्राण निकल गए। देह से दूर रहते हुए भी उन्होंने हृदय से आचार्य परमेष्ठी के दोनों चरण कमलों को ध्याते हुए ही प्रयाण (गमन) किया, ऐसी सभी के मन में भावना उत्पन्न हुई।

एक दूसरे पण्डित राजाराम थे, वह बुन्देलखण्ड में रहते थे। सर्वप्रथम उन्होंने फिरोजाबाद नगर में आचार्यदेव के दर्शन प्राप्त किए। वह भी सिद्धान्त विषय के ज्ञाता थे। आचार्यवर्य के साथ चर्चा वार्ता इत्यादि के द्वारा वह बहुत प्रभावित थे। तब उनकी आयु ९३ वर्ष पूरी हो चुकी थी। कैंसर रोग से ग्रसित होने पर भी वह जन्म जरा रोग के द्वारा दुःखी हुए। ''चारित्र पालन के बिना दुःख से मुक्ति नहीं'' ऐसा विचार कर उन्होंने आचार्य भगवन् के समीप सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किए। अन्त में १९८२ ई० में श्री नैनागिर सिद्धक्षेत्र में मुनिधर्म को स्वीकार कर समाधिसागर नाम से अलंकृत हो परलोक गए।

अनन्य भक्त विद्वानों में अग्रणी पं० जगन्मोहनलाल जी सभी के परिचित थे। जिनके विषय में बहुत चर्चा यहाँ की गयी। वह ९५ वर्ष के होते हुए भी निरोगी ही थे। सौ रुपए ही अपने पास धारण करूँगा, ऐसा परिग्रह का प्रमाण उनके द्वारा किया गया था। श्री कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र में जब आचार्यदेव का वर्षायोग चल रहा था, तब ही उनके द्वारा समाधिमरण अंगीकृत किया गया। सन् १९९५ ई० में सल्लेखना हुई।

अन्यः अपि विद्वान् ताराचन्द्रसराफः आसीत्। सः च सागरनगरस्य निवासी आसीत्। निश्चयनय-मतावलम्बने तस्य आस्था दृढीभूता। सः अपि ''ज्ञानं भारः क्रियां बिना'' इति अनुभूय आचार्यदेवस्य सन्निधौ दशमप्रतिमाव्रतं अग्रहीत्। पश्चात् पपौराजीक्षेत्रे सः समाधिना मरणेन स्वर्गतः। १९८६ ई० तमस्य एषा वार्ता।

शरीरे तीव्रज्वरस्य आविर्भावः तु कस्मिन् अपि काले जायतेस्म। तस्य किं कारणं, किं नाम वा इति निरीक्ष्यमाणे अपि न अबुधत्। मलेरियासंज्ञकः ज्वरः अस्ति इति चिकित्सकाः घोषितवन्तः। प्रतिवारं तस्य तीव्रतां १०७ डिग्री तापमानयन्त्रे अलक्ष्यत्। प्रतिवर्षम् आगमनं ज्वरस्य तु सह्यं भवेत् परन्तु एकस्मिन् वर्षे अपि द्विवारं तु महता एव सह्यम्। कियती दृढता गृहीतव्रतेषु अस्य श्रमणस्य वर्तते इति असाताविधिः स्वशक्तिबलेन परीक्ष्यमाणः आसीत्। यथा कटनीनगरे बहुषु दिनेषु मूर्च्छित इव अवस्था अजायत तथा हि पुनः १९७८ ई० तमे नैनागिरिअतिशयक्षेत्रे। ''मरणं हि अग्रे तिष्ठति, एतादृश्याः देहस्य दशायाः पुनर्विकासः भविष्यति इति असम्भव इव प्रतिभासते। किं करणीयं अधुना विपत्समये येन जिनाज्ञायाः उल्लघनं न भवेत्।'' इत्यादि विचारसरणिः मनसः उद्विग्नं करोति स्म। आगामिदिने स्वास्थ्यलाभः भविष्यति इति विचिन्त्य मनः साहसं अवर्धत।

''उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतिकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।''

अन्य विद्वान् ताराचन्द सराफ भी थे। वह सागर नगर के निवासी थे। निश्चय मत में उनकी आस्था दृढ़ थी। उन्होंने भी 'क्रिया के बिना ज्ञान भार है' ऐसा अनुभव कर आचार्यदेव के सान्निध्य में दसवीं प्रतिमा के व्रत ग्रहण किए। पश्चात् पपौराजी क्षेत्र में वह समाधिमरण के द्वारा स्वर्ग गए। सन् १९८६ ई० की यह वार्ता है।

किसी भी समय शरीर में तीव्र ज्वर उत्पन्न हो गया। उसका क्या कारण है अथवा क्या नाम है? यह निरीक्षण करने पर भी नहीं पता चला। ''मलेरिया नाम का ज्वर है'' यह डॉक्टरों ने बताया। हर बार उसकी तीव्रता तापमान यन्त्र (थर्मामीटर) में १०७ डिग्री देखी गयी। प्रतिवर्ष में बुखार का आना तो सहनीय हो जाता है परन्तु एक वर्ष में दो बार तो महान् पुरुषों को ही सहनीय है। ग्रहण किए गए व्रतों में कितनी दृढ़ता इन श्रमण की है। यह अपनी शक्ति के द्वारा असाता कर्म का परीक्षण था। जैसी कटनी नगर में बहुत दिनों तक मूर्च्छित सी अवस्था रही वैसी ही पुनः सन् १९७८ ई० में नैनागिर अतिशय क्षेत्र में रही। मानो आगे मरण ही होगा, देह की इस दशा का पुनः विकास होगा, यह असम्भव-सा प्रतीत होता था। आज विपत्ति के समय पर क्या करना चाहिए, जिससे जिन आज्ञा का उल्लंघन न हो। इत्यादि विचारों की सरिता मन को उद्विग्न करती थी। अगले दिन स्वास्थ्य-लाभ होगा यह सोचकर मन का साहस बढ़ जाता था।

''उपसर्ग में, दुर्भिक्ष में, बुढ़ापे में और प्रतिकार रहित रोग में धर्म के लिए शरीर छोड़ देना आर्यों ने सल्लेखना कहा है।''

इति जिनवचनानि मूर्च्छितप्रायः अपि स्मरति स्म।

सहसा एकस्मिन् दिवसे 'नियमसागरं आनय' इति आज्ञापितवान् आचार्यदेवः। नियमसागरः तदानींतने क्षुल्लकभेषेण वर्तते स्म। स च आचार्यदेवस्य समीपं आगतः। ''श्वः केशलुञ्चनं कुरुतात्'' इति आज्ञापितम्। एवं श्रुत्वा सघस्थाः सर्वे अन्ये च चिन्तिताः अभवन्। देहस्य एतादृश्यां दशायां केशलुञ्चनस्य आज्ञा किमर्थम्। अन्ये अपि क्षुल्लकाः तिष्ठन्ति, सर्वेषां दीक्षां किं न प्रदद्युः। तेषु एकस्य दीक्षार्थं चयनं आचार्यदेवस्य अन्तः अभिप्रायः स्पष्टीकरोति यत् स्वपदभारस्य समर्पणं हि तेषां मनसि वर्तते इति सर्वैः विचिन्तितम्। तदानीं कपूरचन्द्रः नामा वैद्यः तत्रअतिष्ठत्। स च दमोहजनपदस्य प्रसिद्धः वैद्यः आसीत्। 'विद्यार्थी' इति उपनाम्ना अपि विज्ञायते स्म। सः च देहस्य अन्तसमये जायमानानि लक्षणानि अपि विज्ञातवान्। तेषु एकतमः प्रयोगः तेन कृतः।

''स्थितस्य गजस्य आकारेण मध्यमाङ्गुलिं हस्ततले योज्य अन्याः चतस्रः कराङ्गुल्यः भूमौ स्थापयन्तु। अङ्गुष्ठादयः क्रमशः उत्थापयन्तु। दीर्घायुषः अनामिकां संवर्ज्य सर्वाः उत्थानाय समर्थाः भवन्ति। येषां च आयुः षष्ठमासमात्रं अवशिष्टं जातं ते हि अनामिकां उत्थानाय शक्नुवन्ति।''

इत्थंभूतः प्रयोगः तेन वैद्येन आचार्यदेवार्थं कारितः आसीत्। रुग्णक्षीणावस्थायां अपि आचार्यदेवः अनामिकां भूमेः उपरि उत्थानाय न शक्यः अभवत्। ततः वैद्यः सन्तुष्टो भूत्वा प्रवदति भवन्तः सर्वे मा

ये भगवान् के वचन मूर्च्छित होने पर भी प्रायः स्मरण करते थे।

अचानक एक दिन ''नियमसागर को बुलाओ'' यह आज्ञा आचार्यदेव ने दी। नियमसागरजी उस समय में क्षुल्लक भेष में थे और वह आचार्यदेव के समीप आ गए। ''कल केशलोंच करो'' ऐसी आज्ञा दी। यह सुनकर संघस्थ अन्य सभी जन चिन्तित हो गए। देह की ऐसी दशा में केशलोंच की आज्ञा किसलिए? अन्य क्षुल्लक भी बैठें हैं, सभी को दीक्षा क्यों नहीं देते? उनमें से एक का दीक्षा के लिए चयन आचार्यदेव के अन्तरंग अभिप्राय को स्पष्ट करता है, कि अपने पद के भार का समर्पण ही उनके मन में है, ऐसा सभी के द्वारा चिन्तन किया गया। उसी समय कपूरचन्द्र नाम के वैद्य वहाँ आये और वह दमोह जनपद के प्रमुख वैद्य थे। 'विद्यार्थी' इस उपनाम से भी जाने जाते थे। वह देह के अन्त समय में उत्पन्न होने वाले लक्षणों को भी जानते थे। उनमें से एक प्रयोग उनके द्वारा किया गया।

''खड़े गज के आकार से मध्यम अंगुलि को हस्त तल से जोड़कर अन्य चार अंगुलियाँ भूमि पर स्थापित करना चाहिए। अँगूठा आदि को क्रमशः उठाना चाहिए। दीर्घायु जीव ही अनामिका को छोड़कर सभी अंगुलियाँ उठाने के लिए समर्थ होते हैं। जिनकी आयु छह मास मात्र शेष है वे ही अनामिका को उठाने के लिए समर्थ हो सकते हैं।

यह प्रयोग उन वैद्य के द्वारा आचार्यदेव के लिए किया गया था। रुग्ण क्षीण अवस्था में भी आचार्य देव अनामिका को भूमि से ऊपर उठाने के लिए समर्थ नहीं हुए। तब वैद्य संतुष्ट होकर के

चिन्तयन्तु। सम्प्रति आचार्यदेवः दीर्घायुष्मान् अस्ति। इति आचार्यभगवता अपि श्रुतम्।

केशलुञ्चनस्य कार्यक्रमः स्वयमेव स्थगितः अभूत्। आचार्यदेवैः अपि न पृष्टः- किं भवता केशलुञ्चनं कृतं न वा।

शनैः शनैः अनुभवप्राप्तानां वैद्यानां समीचीनोपचारेण स्वास्थ्यलाभः लब्धः। तथापि पूर्ववत् देहसामर्थ्याभावात् वर्षायोगे प्रारम्भे अपि पठनपाठनं कर्तुं न शक्यः अभूत्। तेन कारणेन संघमध्ये स्वाध्याय-प्रवृत्त्यर्थं पं० जगन्मोहनलालम् आहूतवान् शीघ्रं हि समाचारं प्राप्य शास्त्री आगतवान्। तदा शास्त्रिणा श्री सर्वार्थसिद्धिनामधेयं शास्त्रं संपाठितम्।

तदानीं एकः क्षुल्लकः श्रीसन्मतिसागरः सागरजनपदे वर्षायोगं स्थापितं कुर्वन् तिष्ठतिस्म। आचार्यदेवस्य एनां गभीरस्थितिं आकर्ण्य सः स्वयमेव आगतः। पश्चात् वर्षायोगपर्यन्तं सः तत्रैव अतिष्ठत्। मध्यसमये वर्षायोगस्य स्याद्वादशिक्षणशिविरं आयोजितम्। तस्मिन् शिविरे आचार्यदेवस्य प्रतिदिनं उपदेशक्रमः प्रावर्तत। तस्य संकलनं कृत्वा तत्रस्थितः श्रीवीरेन्द्रजैनः (साम्प्रतं मुनि श्री क्षमासागरः) 'प्रवचनपारिजातः' इति नाम्ना एकं पुस्तकं प्रकाशितवान्।

तदा हि प्रथमं आचार्यवर्यः उपदिष्टवान् ''मिथ्यात्वं अकिंञ्चित्करम्''। यदा एवं पुस्तकारूढः जातः तर्हि सम्पूर्णे समाजे कोलाहलः अभवत्।

बोले-आप सभी चिन्तित न हों। अभी आचार्यदेव दीर्घ आयुष्मान हैं। यह आचार्य भगवन् के द्वारा भी सुना गया।

केशलोंच का कार्यक्रम स्वयं ही स्थगित हो गया। आचार्यदेव ने भी नहीं पूछा कि क्या हुआ केशलोंच किए अथवा नहीं।

धीरे-धीरे अनुभव प्राप्त वैद्यों के समीचीन उपचार के द्वारा स्वास्थ्य लाभ प्राप्त हुआ। तथापि शरीर में पहले जैसी शक्ति के अभाव से वर्षायोग के प्रारंभ में भी पठन-पाठन करने में असमर्थ हुए। इस कारण से संघ में स्वाध्याय को जारी रखने के लिए पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री को बुलाया गया। समाचार पाकर शीघ्र ही शास्त्रीजी आ गये। तब शास्त्रीजी के द्वारा श्री सर्वार्थसिद्धि नामक शास्त्र अच्छी तरह पढ़ाया गया।

उस समय सन्मतिसागर नाम के एक क्षुल्लक सागर जनपद में वर्षायोग स्थापित करके रुके थे। आचार्यदेव की ऐसी गंभीर स्थिति को सुनकर वह स्वयमेव आ गए। पश्चात् वर्षायोग पर्यन्त वह वहीं रुके। वर्षायोग के मध्य में स्याद्वाद शिक्षण शिविर आयोजित किया गया। उस शिविर में प्रतिदिन आचार्यदेव के उपदेश का क्रम चला। उनका संकलन करके वहाँ स्थित श्री वीरेन्द्र जैन (मुनि श्री क्षमासागरजी) ने 'प्रवचन पारिजात' इस नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की।

तब ही प्रथम बार आचार्यवर्य ने उपदेश किया-''मिथ्यात्व अकिंचित्कर है।'' जब इस प्रकार पुस्तक पर लिखा गया तो सम्पूर्ण समाज में कोलाहल हो गया।

ज्वरस्य आवेगः आचार्यवर्यस्य शरीरे न एकवारं, न द्विवारं, न त्रिवारं अपि तु अद्यपर्यन्तं विंशतिवारं आगत्य गतः। यदा जयपुरनगरे तेषां प्रवासः १९७९ ई० तमे प्राचलत् तदा सः ग्रह इव दुष्टः पुनरागतः। पूर्वादपि भयङ्करवेगेन साम्प्रतं तस्य पीडा अजायत। समधिकं सार्धमासपर्यन्तं सततं प्रवासः तस्य। श्रेष्ठतमेन सुशीलवैद्येन तदानीं भक्त्या सपर्या कृता। शनैः शनैः तस्य वेगः नियन्त्रितः। कायबलस्य हानिः या सञ्जाता सा तु शीघ्रं पूरयितुं न शक्नोतिस्म। तथापि विहारं कुर्वन् किशनगढपञ्चकल्याणे भागमवहत्।

आधिव्याध्युपाधिविरहितस्य हि भवति सम्यक् समाधिः। समाधिः तु भवान्तरगमनाय सुखपूर्विका यात्रा अस्ति। तस्मिन् काले मनोजन्यक्लेशचिन्तादीनां न भवति अवकाशः। यश्च वाञ्छति समाधिना मरणं सः प्राक् भवेत् समस्तसंकल्पविकल्पजालेन मुक्तः।

येन स्वजीवितस्य अल्पकाले हि विशिष्टज्ञानावरणकर्मणः क्षयोपशमवशात् सम्यग्ज्ञानस्य सदुपयोगः कृतः। दिगम्बरजैनसाहित्ये न विद्यतेस्म कः अपि कोशः यस्मिन् सर्वेषां विषयाणां संग्रहः स्यात्। एतस्य कार्यस्य क्षतिपूर्तिः येन जैनेन्द्रसिद्धान्तकोशानां चतुर्षु भागेषु संकलय्य कृता भवति। ''यथा च बौद्धधर्मे धम्मपद, वैदिकधर्मे गीता, इस्लामधर्मे कुरान इत्यादि ग्रन्थेषु तत् तद्धर्मस्य सारभूततत्त्वानि संक्षेपेण दृष्टानि भवन्ति; न तथा जैनधर्मे सर्वमतावलम्बिनां एकः सारभूतः ग्रन्थः विद्यते।'' इति भावना बाबाविनोबामनसि समुत्पन्ना आसीत्। तस्य एव प्रेरणातः 'समणसुत्तं' इति धर्मग्रन्थस्य संयोजनं च येन कृतम्। न च केवलं

आचार्यवर्य के शरीर में बुखार का आवेग न एक बार, न दो बार, न तीन बार अपितु आज तक बीसों बार आकर चला गया। जब सन् १९७९ ई० में जयपुर नगर में उनका प्रवास था तब वह दुष्ट ग्रह के समान पुनः आ गया। पहले से भी भयंकर वेग से अब उसकी पीड़ा उत्पन्न हुई। आधे मास से अधिक समय तक निरन्तर ज्वर बना रहा। उस समय सुशील वैद्य के द्वारा भक्तिपूर्वक सेवा-सुश्रुषा की गयी। धीरे-धीरे उसका वेग नियंत्रित हुआ। शरीर की शक्ति में जो हानि उत्पन्न हुई, वह तो शीघ्र नहीं पूरी हो सकती थी। फिर भी विहार करते हुए किशनगढ़ पंचकल्याणक में भाग लिया।

सम्यक् समाधि आधि-व्याधि और उपाधि से रहित होती है। समाधि तो दूसरे भव जाने के लिए सुखपूर्वक यात्रा है। उस समय में मनोजन्य क्लेश, चिन्ता आदि का अवकाश नहीं होता और जो समाधिमरण चाहता है, उसे पहले समस्त संकल्प-विकल्प के जाल से मुक्त हो जाना चाहिए।

जिसने अपने जीवन के अल्पकाल में ही विशिष्ट ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से सम्यग्ज्ञान का सदुपयोग किया। दिगम्बर जैन साहित्य में ऐसा कोई भी कोश नहीं था, जिसमें सभी विषयों का संग्रह हो। इस कार्य की क्षतिपूर्ति जिनके द्वारा 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के चारों भागों में संकलित करके की गई है। जैसे बौद्धधर्म में धम्मपद, वैदिकधर्म में गीता, इस्लामधर्म में कुरान इत्यादि ग्रन्थों में उस उस धर्म के सारभूत तत्त्व संक्षेप से दृष्टिगत होते हैं, वैसे ही जैन धर्म में सभी मतावलम्बियों का एक सारभूत ग्रन्थ नहीं है। यह भावना बाबा विनोबा के मन में उत्पन्न हुई थी और उनकी ही प्रेरणा से 'समणसुत्तं' इस धर्मग्रन्थ का संयोजन, जिनके द्वारा किया गया। जो न केवल ज्ञान-पथ पर आरूढ़

ज्ञानपथे आरूढः यः अपि तु अनिर्वाररोगेण पीडितः सन्नपि क्षुल्लकदीक्षां गृहीतवान्। सः भव्यात्मा 'जिनेन्द्रवर्णी' इति नाम्ना सर्वेषां कर्णपथे गोचरीभवति।

सः अभिलषति मनोयोगेन समाधिमरणम्। एकं पत्रं प्राक् लिखितं आसीत् यस्मिन् स्वसमाधिविषये विवरणं कृतवान् सः। केनापि कारणेन तन्न प्रेषितं आचार्यदेवाय। तत् पत्रं स्वयं आनीय १९८० ई० तमे श्री मुक्तागिरिसिद्धक्षेत्रे प्रथमं आचार्यपरमेष्ठिनः भक्तिभरेण दर्शनवन्दनादिकं कृतवान्। पश्चात् ''अहं पूर्ववत् भवितुं इच्छामि'' इति निवेदनं कृतवान्। (तेन प्राक् क्षुल्लकदीक्षा गृहीता पश्चात् कोषनिर्मापणकार्ये अतीव–परिश्रमात् क्षयरोगेण अभिभूत्वा च सा परित्यक्ता तस्मात् कारणात् सः एवं उक्तवान्।)

आचार्यदेवः उवाच–भवद्भावना श्रेष्ठा अस्ति, यत् समाधये दीक्षां पुनः वाञ्छति। परन्तु प्राक् ग्रन्थादिसम्पादनकार्यात् मुक्तः भवेत्। विकल्पमुक्तस्य हि समाधिः स्यात्। इत्थं वचनं मनसि अवधार्य सः सर्वकार्यभारेण निर्मुक्तये प्रयतितवान्। निश्चिन्तः भूत्वा सः एकवर्षानन्तरं श्रीनैनागिरिक्षेत्रे आचार्यदेवस्य दर्शनं कृतवान्। पुनः समाधये प्रार्थितवान् तदा हि ''आजीवितं लेखनकार्यं न करिष्यामि'' इति प्रतिज्ञातवान्। पश्चात् सागरनगरे वाचनासमये तस्य आगमनं अभवत्। तत्रत्याः सामाजिकाः तस्य ज्ञानस्वाध्यायप्रवचनप्रकारेण प्रभाविताः आसन्। ते च काञ्चित् उपाधिं तस्मै प्रदातुं वाञ्छन्तिस्म। तदर्थं आचार्यदेवै सामाजिकाः प्रबोधिताः– ''इदानीं तस्य समाधये भावना वर्तते। उपाधिः तु भार एव। अस्मिन् समये उपाधिप्रदानं चित्तक्षोभाय। यतश्च

थे, अपितु अनिर्वार रोग से पीड़ित होने पर भी, जिन्होंने क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की थी, वह भव्यात्मा 'जिनेन्द्रवर्णी' इस नाम से सभी के कर्ण–पथ में गोचर होते हैं (अर्थात् 'जिनेन्द्र वर्णी' इस नाम से सभी के द्वारा पुकारे जाते हैं)।

वह मनोयोग से समाधिमरण चाहते थे। एक पत्र पहले लिखा गया था, जिसमें उन्होंने अपनी समाधि के विषय में विवरण किया था। किसी कारण से वह पत्र आचार्यदेव के लिए नहीं पहुँच पाया। उस पत्र को स्वयं लेकर सन् १९८० ई० में श्री मुक्तागिरी सिद्धक्षेत्र पर आए। पहले आचार्य परमेष्ठी की भक्तिपूर्वक दर्शन–वन्दना की, पश्चात् 'मैं पहले जैसा होना चाहता हूँ' यह निवेदन किया (उनके द्वारा पहले क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की गयी थी, पश्चात् कोश निर्माण कार्य में अत्यंत परिश्रम और क्षय रोग से पीड़ित होने से वह छोड़ दी, इस कारण से उन्होंने इस प्रकार कहा)।

आचार्यदेव बोले–आपकी भावना अति श्रेष्ठ है, जो समाधि के लिए दीक्षा को पुनः चाहते हो। परन्तु पहले ग्रन्थादि के सम्पादन कार्य से मुक्त होना चाहिए। विकल्प मुक्त की ही समाधि होती है। इन वचनों को मन में धारण कर, वह सभी कार्य भार से मुक्त होने के लिए चले गए। निश्चिन्त होकर उन्होंने एक वर्ष के बाद श्री नैनागिर सिद्धक्षेत्र में आचार्यदेव के दर्शन किए। पुनः समाधि के लिए प्रार्थना की, तब ही ''आजीवन लेखन कार्य नहीं करूँगा'' यह प्रतिज्ञा ली। पश्चात् सागर नगर में वाचना के समय पर उनका आगमन हुआ। वहाँ की समाज, उनके ज्ञान, स्वाध्याय, प्रवचन शैली से प्रभावित हुई और वे कोई उपाधि उनको देना चाहते थे। इसलिए आचार्यदेव के द्वारा समाज को संबोधित किया गया– ''इस समय उनकी समाधि के लिए भावना है। उपाधि तो भार के समान है। इस समय

उपाधिरहितस्य भवति समाधिः ततः अयं कार्यः न उपयोगी स्यात्। तस्मै किं दातव्यं इति मम विषयः।'' इत्थं वचनामृतं आपीय सर्वे निराकुलाः जाताः।

१९८२ ई० तमे यदा सः वर्णी आचार्यदेवस्य समीपं पुनरागतवान् तदा आचार्यवर्यैः दशमप्रतिमाव्रतं तस्मै प्रदत्तम्। श्रीगुरोः आज्ञानुसारेण सः सागरनगरे अवस्थातुं प्रस्थितः। तत्र तस्य प्रवासः मौनेन एव अभवत्। आचार्यर्यस्य निर्देशानुसारेण तस्य रोगस्य सम्यक् चिकित्सा तत्रत्यैः कृता। विद्यार्थीकपूरचन्द्रवैद्यस्य नियुक्तिः उपचारार्थं कृता। अद्यावधि क्षयरोगस्य उचितं भैषज्यं न ज्ञातवान् कः अपि। तथापि तेन वैद्येन स्वानुभवेन सम्यग् रीत्या सपर्या कृता। इतः यावत् रोगस्य उपचारः कृतः तावत् आचार्यदेवः श्रीसम्मेदाचलस्य अधस्तले स्थिते ईसरीं विहृत्यआगतवान् ससङ्घः।

श्रीवर्णी तत्र आनीतवान्। सर्वसङ्घसन्निधौ सल्लेखनाप्रक्रिया प्रारब्धा। तदैव तस्य पुनः क्षुल्लकदीक्षा प्रदत्तवान्। 'अस्मिन् एव श्रीसिद्धक्षेत्रे अहं पूर्वं दीक्षितः अत्रैव त्यक्तवान्। पुनः अत्रैव दीक्षितः अस्मि अतः मम चेतसि महान् सन्तोषः जातः। मम प्राक् निवेदिता चिरभावना अद्य आपूर्तिंगता' इति गद्‌गदतया जल्पन् सः विशुद्धिप्रकर्षं गतः। सम्प्रति तस्य नाम 'श्री सिद्धान्तसागरः' इति कथितवान्। अद्य आचार्यदेवस्य कठिनपरीक्षायां उत्तीर्णः इति मत्वा प्रसन्नमना तस्य दूरदर्शिता अपि स्पष्टं दृष्टा।

एकस्मिन् दिने सहसा श्रीवर्णिनः प्रतीतिः अजायत; यत् मम चेतना लुप्तप्रायः इव। तदा वर्णी

पर उपाधि देना चित्त के क्षोभ के लिए है। उनके लिए क्या देना चाहिए, यह मेरा विषय है।'' ऐसे वचनामृत को पीकर सभी निराकुल हो गए।

सन् १९८२ ई० में जब वह वर्णी आचार्यदेव के पास पुनः आए, तब आचार्यवर्य के द्वारा उनको दसवीं प्रतिमा के व्रत दिए गए। श्रीगुरु की आज्ञा के अनुसार वह सागर नगर में रहने के लिए चले गए। वहाँ उनका प्रवास मौन पूर्वक ही हुआ। आचार्य वर्य के निर्देश के अनुसार उनके रोग की चिकित्सा वहाँ ही की गयी। उपचार के लिए विद्यार्थी कपूरचन्द्र वैद्य की नियुक्ति की गयी। आज तक किसी को भी क्षयरोग की उचित औषधियाँ नहीं मालूम थी। फिर भी उन वैद्य के द्वारा अपने अनुभव (के द्वारा) से अच्छी रीति (प्रकार) से उनकी सेवा की गयी। इधर जब तक रोग का उपचार किया गया, तब तक आचार्य देव ससंघ विहार करते हुए श्री सम्मेदाचल के निचले तल में स्थित ईसरी आ गए।

श्री वर्णी को वहाँ लाया गया। सर्व संघ के सान्निध्य में सल्लेखना प्रक्रिया प्रारंभ हुई। वहाँ ही उनको पुनः क्षुल्लक दीक्षा दी गयी। इस ही सिद्धक्षेत्र में मैंने पूर्व दीक्षा यहाँ ही छोड़ी थी, पुनः यहाँ ही दीक्षित हूँ, अतः मेरे मन में महान् सन्तोष उत्पन्न हुआ है। मेरी पहले निवेदित दीर्घ भावना आज पूरी हुई। ऐसा गद्‌गद् स्वरों में बोलते हुए, उनकी विशुद्धि चरम सीमा पर पहुँच गयी। अब उनका नाम 'श्री सिद्धान्त सागर' ऐसा कहा गया। आज आचार्यदेव की कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ, ऐसा मानकर प्रसन्न मन वाले उनकी दूरदर्शिता भी स्पष्ट देखी गयी।

एक दिन अचानक श्री वर्णी को प्रतीति हुई कि मेरी चेतना लुप्त प्रायः सी है। उस समय वर्णीजी
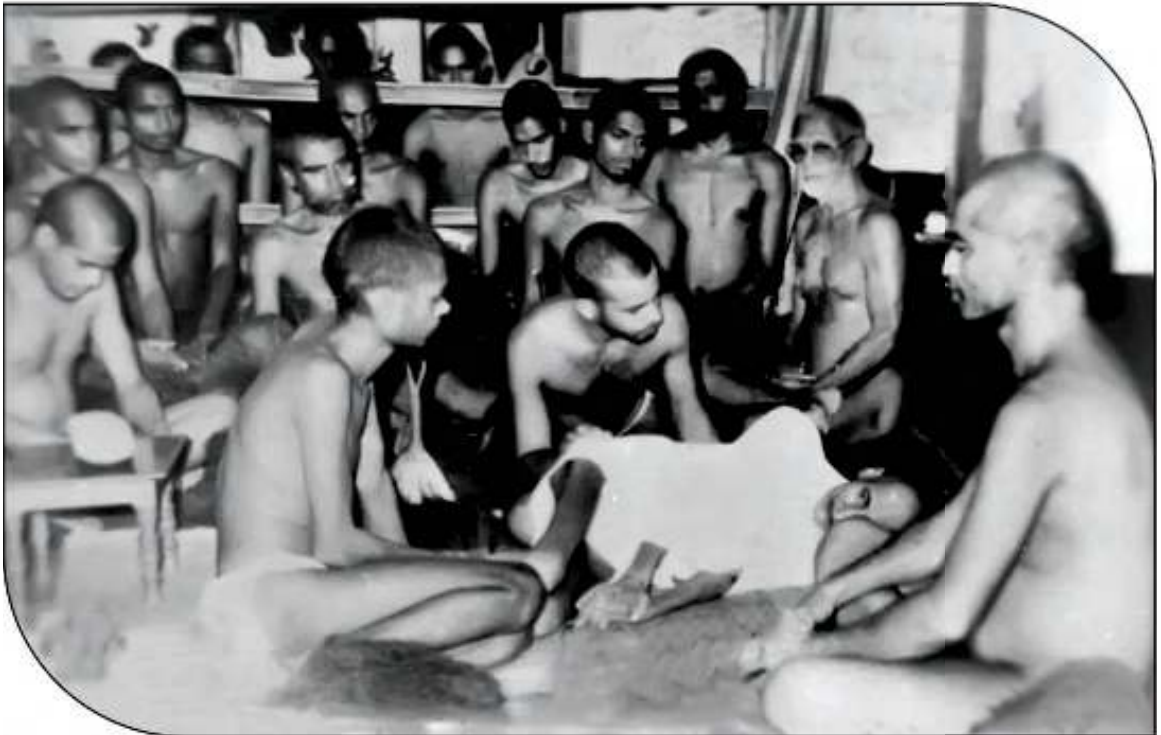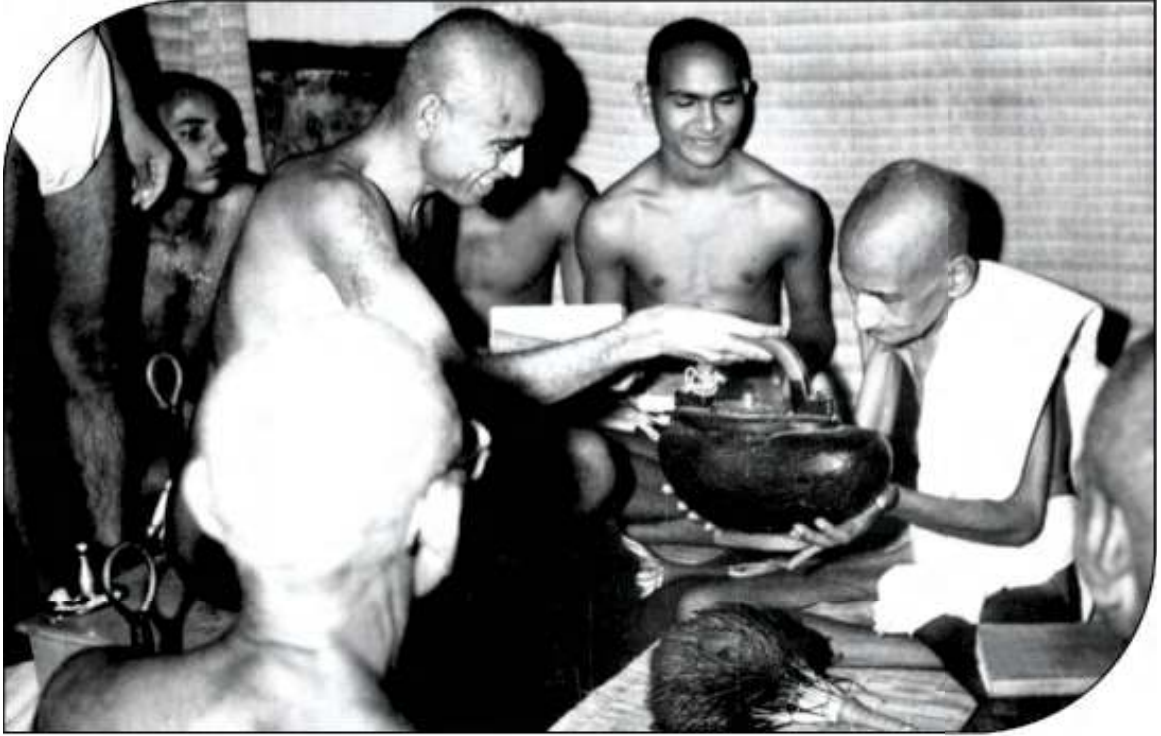
सल्लेखनारत जिनेन्द्र वर्णी

क्षुल्लकपरमसागरं (संप्रति मुनिसुधासागरः) अकथयत्–आचार्यदेवं अनीतवान्। क्षुल्लकेन कथितम्- किमुक्त्वा आनयामि। वर्णी उक्तवान्–''मम समयः निकटमिति वक्तव्यम्''। क्षुल्लकः गतवान् पश्चात् आचार्य देवेन सह आगतः तत्र। आचार्यश्री पृच्छतिस्म–भवान् एवं किं विचिन्तियति? वर्णी–रिष्टसमुच्चयग्रन्थं ददातु। तत्रोल्लिखितगाथां दृष्ट्वा स्वकर्णमलस्य लक्षणं मेलितवान्। पश्चात् स्वदृष्ट्या नासाग्रं न दृष्टम्। पादेषु जलबिन्दवः पतिता किन्तु न ते विसृताः। एतानि लक्षणानि दृष्ट्वा भवन्तः शीघ्रं चयार्थं गन्तव्याः। संघस्थाः श्रीगुरुश्च सर्वे शीघ्रं गत्वा शीघ्रमागताः। तत्काले आचार्यवर्यः समागतः। देहं निरीक्ष्य सः कथितवान्–''अधुना गुरुशिष्ययोः सम्बन्धः अपि विस्मरेत्।'' वर्णिना किमपि न उक्तम्। पुनः आचार्यदेवः अब्रवीत्–यदि भवान् मम वचनं शृणोति तर्हि णमोकारमन्त्रं उच्चरेत्। तथापि न किमपि प्रत्युत्तरं चेष्ट्या इंगितं दृष्टम्। पुनः आचार्यदेवः उक्तवान् तस्य कर्णे ओम्। तदा स ओम् ओम् इति द्विवारं उच्चार्य तृतीयवारं आचार्यदेवस्य चरणेषु शिरः निक्षिप्य महाप्रयाणं कृतवान्। २४ मई १९८३ ई० तमस्य अयं दिवसः।

द्विचत्वारिंशद्विवसपर्यंत एषः समाधिक्रमः प्राचलत्। अन्ते दिवसत्रयं चतुराहारविसर्जनं कृत्वा निराकुलरीत्या सः स्वर्गतः।''जैनदर्शने मरणकाले समाधिविधिः अति उत्तमः अस्ति' विनोबाऽऽचार्येण प्राक् श्रुतः एव आसीत्। श्रीवर्णिनः समाधिना प्रेरितः बाबाविनोबा अपि अन्ते तामेव अङ्गीकृत्य देहविसर्जनं कृतवान् इत्यपि विशिष्टा अस्ति घटना।

ने क्षुल्लक परमसागर (वर्तमान में मुनि सुधासागरजी) को कहा–आचार्यदेव को बुला दो। क्षुल्लकजी ने कहा–क्या कहकर बुलाएँगे? वर्णीजी ने कहा–''मेरा समय निकट है'' यह कहना। क्षुल्लकजी गए और आचार्यदेव को वहाँ साथ लेकर आ गए। आचार्यश्री ने पूछा–आप ऐसा क्यों सोच रहे हैं? वर्णीजी ने कहा–रिष्टसमुच्चय ग्रन्थ देओ। उसमें लिखी गाथा को दिखाकर अपने कान का मैल निकालकर लिखित लक्षण से मिलवाया। बाद में देखा कि अपनी दृष्टि से उन्हें अपना नासाग्र का भाग दिखाई नहीं दे रहा है। पंजे पर जल की बूँदें गिराईं किन्तु वे फैली नहीं। इन लक्षणों को देखकर कहा–''आप लोग शीघ्र चर्या के लिए जावें।'' श्रीगुरु और संघस्थ सभी जन शीघ्र आहारार्थ जाकर आ गए। उसी समय आचार्यवर्य आ गए। देह का निरीक्षण कर वह बोले–आज गुरु शिष्य के संबंध को भी भूल जाना चाहिए। वर्णीजी के द्वारा कुछ भी नहीं कहा गया। पुनः आचार्यदेव बोले–यदि आप मेरे वचन सुनते हो, तो णमोकार–मंत्र का उच्चारण करो। फिर भी कोई भी प्रतिउत्तर चेष्टा के द्वारा नहीं देखा गया। पुनः आचार्यदेव ने उनके कान में 'ओम्' कहा। तब उन्होंने ओम् ओम् ऐसा दो बार उच्चारण कर तीसरी बार...आचार्यदेव के चरणों में सिर रखकर महाप्रयाण किया। यह दिन २४ मई, सन् १९८३ का था।

४२ दिन तक यह समाधि का क्रम चला। अन्त में तीन दिन चारों प्रकार के आहार का त्याग करके, निराकुल रीति से वह स्वर्ग गए। जैन–दर्शन में मरण समय में समाधि विधि अति उत्तम है। आचार्य विनोबा के द्वारा पहले ही सुना गया था। श्री वर्णीजी की समाधि से प्रेरित बाबा विनोबा ने अन्त में वैसी ही समाधि धारण कर, देह विसर्जन किया। यह भी विशिष्ट घटना है।

१९८४ ई० तमे ईसरीक्षेत्रे मुनिश्रीमल्लिसागरः आचार्यगुरुदेवस्य दर्शनार्थं समागतः। पूर्वसम्बन्धं परिहृत्य मुनिना आचार्यदेवस्य वन्दना कृता विनयेन। कतिपयदिवसं स्थित्वा चारित्रशुद्धिसम्बन्धिव्रतं द्विशत-चतुस्त्रिंशदधिकसहस्रं गृहीतं। अष्टवर्षेषु व्रतं परिपूर्णं कर्नाटकप्रान्तस्य ग्रामे 'डगारे' कृतम्। तत्रस्थैः श्रावकेः व्रतसमानसंख्यायां मोदकैः घृतदीपकैश्च समारोहः कृतः। जिनमन्दिरे छत्रसुप्रतिष्ठाद्युपकरणप्रदानं विहितम्। एवं व्रतोद्यापनं कृतम्। कर्मदहनव्रतस्य षट्पञ्चाशदधिकशतसंख्यकोपवासा अपि तेन निष्ठिताः। अन्ये अपि बहवः समये समये अनुष्ठिताः। अत्यधिकशक्तिमान् सः सहजेन उपवासे निवसति। अनन्तरदिवसे आहारः कर्तव्यः इत्यपि स विस्मरति। यदा शुद्ध्यर्थं जलं श्रावकैः आनीयते तदा स्मरति अद्य आहारः ग्राह्यः आहारात् प्राक् कदा व्रतसम्बन्धिजापो विधीयते पश्चात् जलं आयाति तदा आहारं न करोति। एवं उपवासौ द्वौ अपि सहजेन जातौ। तेन कारणेन मंत्रजापस्य समयः परिवर्तितः। एकदिवसे कदाचित् षट्पञ्चाशत् कि० मी० पर्यन्तमपि विहारं कृतवान्।

भवतः वर्षायोगस्य विवरणं किञ्चिदत्र प्रस्तूयते–१९७६ ई० तमे बडोतनगरे (उ.प्र.), १९७७ ई० तमे दिल्लीनगरे, १९७८ ई० तमे पुनः दिल्लीनगरे, १९७९ ई० तमे पुनः दिल्लीनगरे, १९८० ई० तमे जयपुरे, १९८१ ई० तमे अजमेरे, १९८२ ई० तमे कोटानगरे, १९८३ ई० तमे सम्मेदशिखरजी सिद्धक्षेत्र ईसरी स्थाने, १९८४ ई० तमे दिल्लीनगरे, १९८५ ई० तमे अहमदाबादे (गुजरातप्रान्ते), १९८६ ई० तमे सांगलीनगरे (महाराष्ट्रे), १९८७ ई० तमे कोल्हापुर नगरे (महाराष्ट्रे), १९८८ ई० तमे ऐनापुर (कर्नाटके), १९८९ ई० तमे समडोली

सन् १९८४ ई० में, ईसरी में मुनि श्री मल्लिसागरजी आचार्य गुरुदेव के दर्शन के लिए आए। पूर्व संबंध को छोड़कर मुनिश्री ने आचार्यदेव की विनयपूर्वक वंदना की। कुछ दिन वहाँ रुककर चारित्रशुद्धि संबंधी १२३४ व्रतों का संकल्प लिया। आठ वर्षों में कर्नाटक के डगार ग्राम में व्रत पूर्ण कर लिये। वहाँ के श्रावकों ने १२३४ मोदकों से और घृत के दीपकों से उत्सव मनाया। जिनमंदिर में छत्र, ठोना आदि उपकरण भी प्रदान किये। इस प्रकार व्रत का उद्यापन किया। कर्मदहन के १५६ उपवास भी आपने किये। समय-समय पर अन्य भी अनेक उपवास आपने किये। अत्यधिक बलशाली होने से आपका उपवास में सहजवास हो जाता था। एक दिन के बाद आहार करना है, यह भी भूल जाते थे। जब शुद्धि के लिए श्रावक जल लाता था, तब याद आता था, कि आज आहार ग्रहण करना है। कभी-कभी आप आहार से पहले उस व्रत सम्बन्धी जाप को कर लेते थे, बाद में जल आता था, फिर आहार नहीं करते थे। इस प्रकार दो उपवास भी सहजता से हो जाते थे। श्रावकों के कहने पर इस कारण से आपने मंत्र जाप का समय बदल दिया। एक दिन में करीब ६५ कि० मी० भी आप विहार कर लेते थे।

आपके चातुर्मास–१९७६–बड़ौत (ऊ प्र०), १९७७–दिल्ली साइकल मार्केट, १९७८–दिल्ली साइकल मार्केट, १९७९–दिल्ली शक्तिनगर, १९८०–जयपुर, १९८१– अजमेर, १९८२– कोटा, १९८३–सम्मेदशिखरजी, १९८४–दिल्ली शक्तिनगर, १९८५– अहमदाबाद, १९८६– सांगली (महाराष्ट्र), १९८७–कोल्हापुर (महाराष्ट्र), १९८८– ऐनापुर (कर्नाटक), १९८९– समडोली (महाराष्ट्र), १९९०–हसूर (महाराष्ट्र),

(महाराष्ट्रे), १९९० ई० तमे हसूरे (महाराष्ट्रे), १९९१ ई० तमे कुड़चि नगरे (कर्नाटके), १९९२ ई० तमे समडोली (महाराष्ट्रे), १९९३ ई० तमे नान्द्रे (महाराष्ट्रे), १९९४ ई० तमे जयसिंगपुरे (महाराष्ट्रे)।

२३ दिसम्बर १९९४ ई० तमे कोल्हापुरे (महाराष्ट्रे) द्वित्रिमुनिराजानां निर्यापकत्वे भवतः समाधिमरणं अभवत्। सर्वं परित्यज्य मरणस्य घोषणां कृत्वा कटं परित्यज्य भूमिदेशे द्विदिवसं संतिष्ठन् भवान् शान्तिभावेन देहं त्यक्त्वा स्वर्गं ययौ।

इति मुनिप्रणम्यसागरविरचिते अनासक्तमहायोगिनाममहाकाव्ये आचार्य विद्यासागरचरितव्यावर्णने विदुषांपूज्यसंज्ञको दशमः सर्गः समाप्तः।

१९९१-कुडचि (कर्नाटक), १९९२- समडोली (महाराष्ट्र), १९९३- नान्द्रे (महाराष्ट्र), १९९४- जयसिंगपुर (महाराष्ट्र)।

२३ दिसम्बर १९९४ को कोल्हापुर महाराष्ट्र में दो-तीन मुनिराजों के निर्यापकत्व में आपका समाधिमरण हुआ। समस्त परिग्रह को छोड़कर मरण की घोषणा करके चटाई को भी छोड़कर के भूमि पर दो दिन तक रहते हुए आप शांतिभाव से देह को छोड़कर स्वर्ग चले गये।

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला विदुषांपूज्य संज्ञक दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

मुनि श्री मल्लिसागर जी महाराज की अंतिम यात्रा

एकादशः सर्गः

गुणगणनायकः

सहिष्णुः

संभवतः विंशत्यधकवारं मलेरियाज्वरेण सप्तडिग्रीपर्यन्तमापेनाभिभूतो गुरुदेवः पीडामुपगतोऽपि न दैन्यमुपयाति। न ह्यावश्यकेषु शैथिल्यं विदधाति। २००३ ई० तमस्य वर्षायोगात् प्राक् पेण्ड्राग्रामे 'हरपीज्' व्याधिना ग्रस्तः। तद्रोगस्योद्भूतिर्दक्षिणभागे कटिप्रदेशात् अंगुष्ठपर्यन्तं जाता। शुद्धौषधं कैश्चिदपि न प्राप्तम्। पीडा निरन्तरं वृद्धिंगता तथापि निराकुलतया स्थितः। कश्चिद् समागत्य कथयति- मत्पार्श्वे काष्ठौषधिरस्ति तस्य प्रयोगात् व्याधेर्निराकरणं पीडापलायनं च भवेत्। स च काष्ठलेखेन कटिप्रदेशात्पदपर्यन्तमुल्लेखितवान्। तत्पीडामत्यन्तासह्यां सहमानो न क्रदन्तिः। तत्प्रयोगादपि पीडा तथाभूतैव। वायुप्रवाहः अपि खलु कष्टकरः। रात्रौ एकपार्श्वेन स्थितः। परिवर्तनेऽपि महान् कष्टः। प्रतिक्रमणं सामायिक-ध्यानं च प्रातः सम्पादितम्। तदनु मया पृष्टम्-स्वयंभूपाठं पठानि। तदाह-न, श्रवणेनापि तार-स्वरेण पीडा भवति। क्षणं स्थित्वेङ्गितवान् श्रीगुरुः। तदा मन्दस्वरेण तत्पाठो मया श्रावितः। त्रिदिवसानन्तरं यदा रोगस्यावेगो मन्दो जातस्तदा विहारोऽभवत् सर्वोदयक्षेत्रं प्रति। महता कष्टेन कथमपि तत्रागतः। अनन्तरदिवसे हि वर्षायोगस्थापनायाः उपवासः सङ्कल्पितः।

सहनशील

लगभग २० बार सात-आठ डिग्री मलेरिया बुखार से गुरुदेव पीड़ित हुए हैं। पीड़ा प्राप्त होकर भी वह दीनता को प्राप्त नहीं होते हैं। न ही कभी आवश्यकों में शिथिलता करते हैं। २००३ ई० के वर्षायोग से पहले पेण्ड्राग्राम में अचानक आपको 'हरपीज' रोग हो गया। वह रोग शरीर के दांयी ओर कमर से अंगूठे तक उत्पन्न हुआ था। किसी के द्वारा भी शुद्ध औषध की व्यवस्था नहीं हुईं। कष्ट निरन्तर बढ़ता गया, फिर भी गुरुदेव निराकुलता पूर्वक रहते। कोई आकर कहता है- मेरे पास काष्ठ औषधि (जड़ीबूटी) है, जिसके प्रयोग से रोग ठीक हो जाता है और कष्ट भी दूर हो जाता है। उस व्यक्ति से उस जड़ी (लकड़ी) से कमर से लेकर पैर तक कसकर फेर दिया। अत्यन्त असहनीय उस पीड़ा को सहकर भी चिल्लाए नहीं। उस प्रयोग के बाद भी पीड़ा उसी प्रकार की बनी रही। उस रोग में हवा से भी कष्ट होता था। रात्रि में एक करवट से लेटे रहे। करवट बदलने में भी बहुत कष्ट होता था। मैंने (मुनि प्रणम्यसागर ने) पूछा-'स्वयंभू' स्तोत्र पढ़ूँ। तब कहा-नहीं, तेज आवाज सुनने से भी पीड़ा होती है। थोड़ी देर रुककर श्रीगुरु ने इशारा किया। तब धीमी आवाज में श्रीगुरु को पाठ सुनाया। तीन दिन के बाद जब रोग आवेग कम हुआ, तब सर्वोदय क्षेत्र (अमरकंटक) के लिए विहार हुआ। बहुत कष्ट के साथ किसी भी तरह क्षेत्र पर आ गए। दूसरे दिन ही केशलोंच किया। उपवास किया। पारणा के दिन ही वर्षायोग की स्थापना के उपवास का संकल्प ले लिया। इस प्रकार

इति बहुलपीड़ापीडितशरोरेऽपि उत्कृष्टकेशलुञ्चनस्य नियमो नोल्लंघितः। तद्रुजायै सदुष्णवातावरणस्य सेकस्य च आवश्यकता आसीत्। देहान्निर्ममो गुरुः लघुनिवासकक्षं विमुच्य वृहत्कक्षे हि अतिष्ठत्। तत्रैव रजनीमगमयत्। शीतप्रदेशे स्थित्वा रोगपरीषहेण साकं शीतमपि विसहतेस्म। प्रातः प्रसन्नमुखेन साधुसंघायावदत्–परीषहसहनेन विपुलकर्मनिर्जरा जायते। तथा च–

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥

स्वावलम्बी

उपकारं करोतीति उपकरणम्। मुनेरुपकरणं पिच्छकमण्डलुकम्। कमण्डलुं ग्रहीतुमिच्छति श्रावकः। क्वचित् श्रावको न भवेत्तदा परकीयवाञ्छाविकल्पो भवति। तेन मनसि खेदः। मुनेश्चर्या सर्वथा निरालम्बिनी। स्वहस्तक्रिया स्वयं कर्तव्या इति दिक्। स्वस्य कमण्डलुं न परस्मै प्रदत्ते श्रीगुरुः। दीर्घविहारेऽपि स्वयं ह्यादाय तं विहरति। एकदा विहारे पादतले छिद्रोऽभवत् कण्टककारणात्। नानाशर्करिककणास्तस्मिन् गताः। विचरणेऽतीवपीडा समुद्भवतिस्म। स्वेदापूरितमुखे रक्तिमा मनःकष्टमुद्योतयतिस्म मस्तके रेखात्रयी भूमिकमण्डलुभारोष्णताकष्टत्रयीव प्रकटिता। शिष्यैः प्रार्थितोऽपि न तदुपकरणं स्वहस्ताद्विमुञ्चति। मार्गे यदा विश्रामाय स्थितस्तदा एकः साधुः मल्लिसागरस्तमादायाग्रे गतः। उत्थिते सति तन्न दृष्टिंगतः। एकः शिष्यः

गुरुदेव ने बहुत कष्ट से पीड़ित शरीर होने पर भी उत्कृष्ट केशलोंच के नियम का उल्लंघन नहीं किया। उस रोग के लिए कुछ गर्म स्थान और गर्म सिकाई की आवश्यकता थी। देह से निर्मम गुरुदेव छोटे कमरे को छोड़कर बड़े हॉल में ही बैठते थे। उसी हॉल में ही रात्रि में रहते थे। ठण्डे स्थान पर रहकर वह रोग परीषह के साथ शीत परीषह को भी सहन करते थे। सुबह मुख से मुनि संघ के लिए सम्बोधन किया– परीषह सहने से बहुत कर्मों की निर्जरा होती है तथा बिना दुःख की भावना के अर्जित किया गया ज्ञान, दुःख आने पर नष्ट हो जाता है, इसलिए यथाशक्ति मुनि को दुःख से आत्मा की भावना करनी चाहिए।

स्वावलम्बी

जो उपकार करे, वह उपकरण है। मुनि के उपकरण पिच्छिका और कमण्डलु हैं। श्रावक कमण्डलु को ग्रहण करने की इच्छा करता है। कभी श्रावक न हो तो दूसरे की आवश्यकता होने से विकल्प होता है। जिससे मन में खेद उत्पन्न होता है। मुनि की चर्या सर्वथा निरालम्बन वाली होती है। तात्पर्य यह है कि स्वहस्त से करने योग्य क्रिया स्वयं करनी चाहिए। गुरुदेव अपना कमण्डलु दूसरे को नहीं देते हैं। दीर्घकालीन विहार होने पर भी स्वयं ही लेकर करके चलते हैं। एक बार एक काँटा चुभ जाने से पाद तल में छिद्र हो गया। अनेक बालू आदि कण उसमें चले गए। चलने में अत्यधिक पीड़ा होती थी। पसीने से भरे मुख पर लालिमा मन के कष्ट को प्रकट करती थी। मस्तक पर तीन रेखाएँ (त्रिवली) जमीन, कमण्डलु के भार और उष्णता के कष्ट इन तीनों को बताने ही मानो प्रकट हुई हो। शिष्यों के प्रार्थना किए जाने पर भी, वह अपने उपकरण को अपने हाथ से नहीं देते हैं। रास्ते में जब गुरुजी विश्राम के लिए बैठे तभी मल्लिसागर मुनिराज कमण्डलु लेकर आगे चले गए। जब गुरुजी

कथयति कश्चिदग्रे तं ग्रहीत्वा गतः। गुरुराह–तं विना नाहं गमिष्यामि अतः पुनरपि स निषीदति। एवमवलोक्य तमादाय गुरवे यदा प्रदत्तस्तदा विहृतः सः। इति पीडायामपि न क्वचिद्विचलति मनोयोगात्।

मालयाऽपि न जपति स्वावलम्बनात्। यदा स्वस्थस्तदाऽऽत्मस्थः सन् शुद्धोपयोगी। शुद्धात्मानमनुभवति। तीव्रासातोदये शरीरै सति हि क्वचिद्मालया सामायिकं निष्ठापयति। व्याधिव्यसनेन युक्तोऽपि सामायिकं निःप्रमादेन विधायाकथयत् शिष्यमेकदा–पञ्चमाला जपिता।

अत्यन्तधैर्ययुक्तान् सुनिरतिचारयमनियमसंयमितः।
रहितप्रमादचर्यान् नमामि वै नित्यमाचार्यान्॥१॥

महाप्रभावक

तपःप्रभावेण सतां मनस्तुष्यति इत्यविशिष्टः। दुर्जना दुष्टाः दस्यवोऽपि चेत् प्रभावादभिभवन्ति इति विशिष्टः। वर्षायोगात् किञ्चित् प्राक् समागतो गुरुवर्यो नैनागिरिसिद्धक्षेत्रे जनानां चिन्ताविषयाय दस्यु-बहुलक्षेत्रात्। ''कश्चिद् नग्नसाधुः स्वशिष्यसहितः आयातश्चातुर्मासाय'' इति वार्ता तत्समयविश्रुत-दस्योर्मूरतसिहस्य श्रवणगोचरा जाता। तस्यैवानुचराः पीतमद्याः क्षेत्रे समागताः। कोलाहलेन अपशब्द-प्रयोगेन निर्बाधमन्तः प्रविष्टाः। क्षेत्रप्रबन्धकाः चिन्तिताः। ते खलु गुरुसमीपमुपविष्टाः द्वित्रिघण्टापर्यन्तमुपविश्य

उठकर चले तो कमण्डलु दिखाई नहीं दिया। एक शिष्य ने कहा–कोई उसे आगे लेकर चला गया है। गुरु ने कहा–उसके बिना हम नहीं गमन करेंगे और पुनः बैठ गए। यह देखकर कमण्डलु लाकर जब गुरु को दे दिया, तभी उन्होंने विहार किया। इस प्रकार वह कष्ट होने पर भी मनोयोग से विचलित नहीं होते हैं। वह इतने स्वावलम्बी हैं, कि माला से भी जाप नहीं जपते हैं। जब वह स्वस्थ रहते हैं, तब आत्मस्थ होकर शुद्धोपयोगी गुरु शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं। शरीर में तीव्र असाता का उदय होने पर ही, कभी वह माला से सामायिक पूर्ण करते हैं। एक बार रोग से पीड़ित होने पर भी बिना प्रमाद के सामायिक कष्ट में भी करके शिष्य को कहा–''पाँच माला जप ली'' अर्थात् सामायिक कष्ट में भी कर ली। ''अत्यन्त धैर्य युक्त, निरतिचार यम, नियम पालने वाले संयमी, प्रमादचर्या से रहित आचार्यदेव को मैं नित्य नमस्कार करता हूँ।''

महाप्रभावक

तप के प्रभाव से सज्जनों का सन्तुष्ट हो जाना, यह तो सामान्य बात है। दुर्जन, दुष्ट और डाकू भी यदि तप के प्रभाव से अभिभूत होते हैं, तो यह विशिष्ट बात है। वर्षायोग से कुछ पहले गुरुवर्य नैनागिरि सिद्धक्षेत्र पर आये, तो डाकुओं की बहुलता वाला क्षेत्र होने से लोगों को चिन्ता होने लगी। कोई नग्न साधु, अपने शिष्यों के साथ चातुर्मास के लिए आये हैं, ऐसी चर्चा उस समय से ख्यात दस्यु मूरतसिंह के कानों में पहुँची। उस डाकू के आदमी शराब पीकर क्षेत्र पर आ गए। गाली गलौच करते हुए शोरगुल के साथ बिना किसी बाधा के भीतर चले गए। क्षेत्र कमेटी के प्रबन्धक लोग चिन्ता में पड़ गए। वे सभी लोग गुरुदेव के पास जाकर बैठे रहे। दो-तीन घण्टे तक वहीं बैठकर

स्वयमेवोत्थिताः सन्तो वदन्ति–एतद्वर्षीयो वर्षायोगोऽत्रैव भवितव्यः। तावद्गुरुवर्यः किमपि नोक्तवान्। अनन्तरदिवसे दस्युप्रधानः मूरतसिंहः स्वयमेवागतः। प्राह च भवतश्चतुर्मासोऽत्रैव भवितव्यः। मा कस्मिंश्चित् विषये चिन्तयेत्। कस्यापि जनस्य सूचिकाऽपि नापहरिष्यति इति मम वचनम्। श्रीगुरुणा तत्रैव वर्षायोगः कृतः। एकदा नीमचनगरयात्रिकाः बस्याने मार्गं विस्मृत्यारण्यमुपगताः। दस्यवस्तान् गृहीतवन्तः। 'कुत्र गच्छन्ति' इति पृष्टे यदा ते ज्ञातवन्तः यत् नैनागिरिक्षेत्रं यान्ति तदा स्वयं बस्याने उपविश्योचितमार्गं नीत्वा आयाताः। बहुबारमेतत् घटितम्। काऽपि अनुचितघटना न घटिता। अन्येऽपि दस्युप्रमुखाः गुरुवर्यस्य दर्शनेनोपकृता अभवन्। पूजाबब्बा, चम्बलस्य दस्युः रमेशसिकरवारादयः तेषु मुख्याः।

पिच्छिकाप्रभावः

'कलकत्ता' महानगरं प्रति गमनसमये 'बरगढ़' ग्रामे प्रविश्य सामायिकाय कक्षे सर्वसङ्घः उपविष्टः। ग्रामीणाः मिलित्वा उपसर्गाय एकत्रिता अभवन्। पश्चात् द्रक्ष्याम इति उक्त्वा गताः। एवमवलोक्य भक्तश्रावकाः चिन्तामुपगताः महानगरात् आरक्षकबलस्यागमनार्थं संसूचितम्। आचार्यवर्यः कक्षाद् बहिर्गन्तुमुद्यतः। श्रावकैः कपाटयन्त्रं संबद्धम्। गुरुणोक्तम् शीघ्रमुद्घाटय। कपाटयन्त्रं तदा उद्घाटितम्। एकं बलिष्ठमुनिं अग्रे कृत्वा श्रीगुरुः संघसहितो निर्गतः। मार्गे सर्वे विविधोपकरणेन सज्जिताः अतिष्ठन्। दृष्टिं प्रसार्य यदा गुरुणा

अपने आप जाते हुए कहने लगे– इस वर्ष का चातुर्मास तो यहीं होना चाहिए। उस समय गुरुदेव ने कुछ नहीं कहा। दूसरे दिन उनका सरदार मूरतसिंह स्वयं आया और कहा कि आपका चातुर्मास यहीं होना चाहिए। आप किसी बात की चिन्ता न करें। किसी की सूई भी चोरी नहीं होगी, ऐसा मैं आपको वचन देता हूँ। श्रीगुरु ने वहीं पर वर्षायोग किया। एक बार नीमच नगर के यात्री लोग बस से आते हुए मार्ग भूलकर जंगल में पहुँच गए। उन डाकुओं ने उन्हें पकड़ लिया। कहाँ जा रहे हो? ऐसा पूछने पर जब उन्हें ज्ञात हुआ कि नैनागिरि क्षेत्र जा रहे हैं, तो स्वयं बस में बैठकर सही रास्ते पर पहुँचा कर आ गए। ऐसा बहुत बार घटित हुआ। किन्तु कोई भी अनुचित घटना नहीं घटित हुई। इसके अलावा अन्य डाकू भी गुरुदेव के दर्शन से उपकृत हुए हैं। पूजाबब्बा, चम्बल का डाकू रमेश सिकरवार आदि उनमें मुख्य हैं।

पिच्छिका का प्रभाव

'कलकत्ता' महानगर की ओर जाते समय रास्ते में एक 'बरगड़' गाँव मिला। उस गाँव में प्रवेश करके सामायिक के लिए कक्ष में पूरा संघ बैठ गया। गाँव के सभी लोग मिलकर उपसर्ग करने के लिए एकत्रित हो गए। बाद में देखेंगे, ऐसा कहकर चले गये। यह परिस्थिति देखकर भक्त श्रावक चिन्तित हो गए। महानगर से पुलिसबल के आगमन के लिए सूचना दे दी। आचार्यवर्य कमरे से बाहर आने के लिए प्रयास किये। उस समय श्रावकों ने दरवाजे पर ताला लगा दिया। गुरु ने कहा– दरवाजा खोल दो। तब लोगों ने ताला खोल दिया। एक बलिष्ठ मुनि को आगे करके श्रीगुरु संघ सहित विहार कर दिये। रास्ते में सभी लोग अनेक हथियार लिए तैयार बैठे थे। जब गुरुजी ने उन लोगों

आशीर्वादमुद्रया पिच्छिका उत्थापितातदा सर्वे गरुणमुद्रया मुद्रितसर्पा इव निष्क्रिया जाताः। गुरुणोक्तम्– ''बरगड़े गडबडः जातः''। पश्चात् आचार्यदेवैः बेलगछियामंदिरार्थं विहारः कृतः। तत्रैव मन्दिरे बंगालदेशस्य राज्यपालः महामहिम एम० पी० शर्मा समागतः स्वागतं च कृतवान्। तत्पश्चात् आचार्यश्रीः खण्डगिरि–उदयगिरितीर्थं प्रति विहरितवान्।

जिनवाणीभक्तः

गुणास्तु स्वयमेवात्मनि पूर्वसंस्कारवशादुद्भवन्ति। सम्यग्दृष्टेर्जिनवाणीं प्रति विनीतता सहजा एव। गुरुवर्ये सा पुष्कलत्वेन दृश्यते। मञ्चोपरि यदि कश्चन गुरवे शास्त्रं प्रदत्ते तदा नित्यं कराञ्जलिबद्धो भवति। गगनगमनेऽपि शास्त्रं विलोक्य पिच्छकामुत्थाप्य नमस्करोति। शास्त्रोपरि मूल्यं नोल्लेखनीयमिति सदा भावना वर्तते। शास्त्राणां व्यापारेण आजीविका न विधेया। विनयेनैव शास्त्रं पठितव्यम्। इंटरनेट् आदिना शास्त्रप्रचारे विनयो विलीयतेऽतस्तस्मिन् तन्नाधेयम्। स सदैव स्मारयति–

विणयेण सुदमधीदं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिदं।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि॥

के ऊपर दृष्टि डालकर आशीर्वाद की मुद्रा में पीछी उठायी तो सभी लोग ऐसे खड़े रह गये, जैसे गरुड़ मुद्रा से सर्पों को कीलित कर दिया हो। आगे चलकर गुरुजी मुख से निकला–''बरगड़ में गड़बड़ हुई।'' उसके बाद आचार्यदेव ने बेलगछिया मंदिर की ओर विहार किया। वहाँ मंदिर में बंगलादेश के राज्यपाल महामहिम एम० पी० शर्मा ने आकर स्वागत किया। पश्चात् आचार्यश्री खण्डगिरिउदयगिरि की ओर विहार कर गये।

जिनवाणीभक्त

गुण तो आत्मा में स्वयं ही पूर्व संस्कार के कारण उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव की जिनवाणी के प्रति विनीत भाव सहज ही होता है। गुरुवर्य में यह विनय बहुलता से देखी जाती है। मंच पर यदि कोई गुरु के लिए शास्त्र प्रदान करता है, तो हमेशा हाथ की अंजुलि जोड़कर नमस्कार करते हैं। आते–जाते समय भी शास्त्र को देखकर पिच्छी उठाकर नमस्कार करते हैं। शास्त्र के ऊपर मूल्य नहीं लिखना चाहिए, इस प्रकार की भावना गुरुजी की सदा रहती है। शास्त्रों के व्यापार से आजीविका नहीं चलानी चाहिए। विनयपूर्वक ही शास्त्र पढ़ना चाहिए। इंटरनेट आदि से शास्त्र प्रचार करने में विनय विलीन हो जाती है, इसलिए उसमें ग्रन्थों को फीड नहीं करना चाहिए। वह सदैव स्मरण कराते हैं कि–

''विनय से पढ़ा हुआ श्रुतज्ञान यदि प्रमाद से कदाचित् विस्मरण भी हो जाए, तो भी परभव में वह स्मरण आ जाता है और केवलज्ञान को प्राप्त कराता है।'' (मूला. ५/८९)

दृढ़संकल्पी

महतां महनीयता महत्कार्यकरणाद् दृश्यते। सा च दृढाध्यवसायेन विना न भवति। दीक्षासमये मञ्चोपरि सर्वजनसमक्षं स्वकरेण केशलुञ्चनं तस्याद्यलक्षणम्। पश्चादपि प्रभूताः घटनाः घटिताः सन्ति। तासु एकतमा सर्वविशिष्टत्वादुल्लेखनीया। श्रीकुण्डलपुरसिद्धक्षेत्रे बड़ेबाबा आदिनाथभगवतो मूर्तेर्विस्थापनमतीव दुष्करम्। गुरुदेवस्य मनसि एष भावः सहसा नायातः। प्राक् मन्दिरस्य जीर्णोद्धारस्य वार्ता प्राचलत्। ततस्तत्परिकरः परिवर्धितव्यः इति भावना। पश्चात् मूर्तेर्मुखं शुभदिशायां भविव्यमिति भावनया अभिनवमन्दिरेऽभिनव-बृहद्वेदिकोपरि बड़ेबाबामूर्तिस्थापनायाः प्रयासःकृतः। एतत्कार्यं तु असम्भाव्यमेवेति सङ्घस्थसाधूनां श्रावकाणां वा विचारः। कार्यारब्धे सति पुरातत्त्वविभागस्य प्रतिरोधोऽभवत्। शासनं सर्वकारस्य प्रशासनं च विरोधाय समागतम्। ''बड़े बाबामूर्तेर्ये भक्तास्ते सर्वे एतत्कार्यं निष्ठापयिष्यामः। बुन्देलखण्डस्य क्षेत्रस्य विशालतमा मूर्तिरिषाऽस्ति, वृषभनाथस्य यथा दक्षिणभारते तत्पुत्रस्य बाहुबलिनः। मूर्तेरनुरूपमासनमपि भवितव्यम्। भगवतः आसनप्रदानं भक्तानां कर्त्तव्यम्। अस्मिन् कार्ये केषामपि विरोधो न कार्यः। भक्तानां भक्तिप्रभावेण तत्प्रतिबिम्बं स्वयमेव पुष्पमिवोत्थाय गमिष्यति इति विश्वसितव्यम्।'' इति उद्घोषणा गुरुवर्येण कृता। ''ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं बड़े बाबा अर्हं नमः'' इति जापस्याखण्डपाठः प्राचलत् सर्वत्र सर्वमन्दिरेषु। अनन्तरदिने बुन्देलखण्डस्य

दृढ़संकल्पी

महान् व्यक्तियों की महानता महान् कार्य करने से ही दिखाई देती है। वह महानता दृढ़ अध्यवसाय के बिना नहीं होती है। दीक्षा के समय मञ्च के ऊपर सभी लोगों के सामने अपने हाथ से केशलोंच करना उसका पहला लक्षण है। उसके बाद भी बहुत सी घटनाएँ घटित हुई हैं। उसमें सर्व विशिष्ट होने से एक घटना उल्लेखनीय है। श्री कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र पर बड़े-बाबा आदिनाथ भगवान की मूर्ति को हटाना अत्यन्त दुष्कर कार्य था। गुरुदेव के मन में यह मूर्ति स्थानान्तरण का भाव सहसा नहीं आया। पहले मन्दिर के जीर्णोद्धार की वार्ता चली। उसके बाद वह परिकर बढ़ाना चाहिए, इस प्रकार की भावना हुई। फिर भावना बनी कि मूर्ति का मुख शुभ दिशा में होना चाहिए। बस, इसी भावना से नये मन्दिर में नवीन बृहद् वेदी के ऊपर बड़े बाबा की मूर्ति की स्थापना का प्रयास किया गया। संघ के सभी साधुओं और श्रावकों का विचार था, कि यह कार्य तो असम्भव ही है। कार्य के प्रारम्भ में ही पुरातत्त्व विभाग का विरोध हुआ। सरकारी शासन और प्रशासन भी विरोध के लिए आ गया। उस समय पर गुरुदेव ने यह उद्घोषणा की कि बड़े बाबा के जो भक्त हैं, वे सब इस कार्य को करेंगे। जैसे भगवान् आदिनाथ के पुत्र बाहुबली की मूर्ति दक्षिण भारत में है उसी प्रकार भगवान् आदिनाथ की बुन्देलखण्ड क्षेत्र की यह विशाल प्रतिमा है। मूर्ति के अनुरूप आसन भी होना चाहिए। भगवान् को आसन प्रदान करना तो भक्तों का कर्तव्य है। इस कार्य में किसी को भी विरोध नहीं करना चाहिए। भक्तों की भक्ति के प्रभाव से वह मूर्ति स्वयं ही फूल की तरह उठकर चली जाएगी, ऐसा विश्वास करना चाहिए। सर्वत्र सभी मन्दिरों में ''ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं बड़े बाबा अर्हं नमः'' इस जाप

प्रत्येकं ग्रामान् नगराच्च युवानः प्रौढ़ाश्च समागताः। जननीभिःतिलकं कृत्वा स्वसुताः धर्मरक्षार्थं प्रेषिताः। पर्वतोपरि रक्षार्थं पंक्तिक्रमेण सर्वत्र भक्तानां सम्मर्दो जातः। पर्वतादधस्तात् पुलिस्अधीक्षकः जिलाधीक्षकः पुरातत्त्वविभागाधिकारी स्वीयस्वीयबलसहितः अतिष्ठत्। आचार्यदेवस्य दर्शनव्याजेन सकृदुपरि गमनाय प्रयतमानोऽपि सफलीअभवत्। RAF संस्थायाः सशक्तसैनिकाः अपि प्रस्थिताः तेऽपि पर्वतोपरि नायातुं समर्थाः अभवन्। शनैः शनैः तत्रैव दिने नूतनासने मूर्तेः स्थापना जाता। गुरुदेवस्य हर्षाश्रुभिः तत्परिसरः पवित्रीभूतः। सर्वैः गुरुवर्यस्य दृढसंकल्पस्य भूरि प्रशंसा कृता।

सर्वोत्तमत्यागी

देहादपि ममत्वशून्यो हि साधुः किलात्मनः आराधकः। सर्वेन्द्रियेषु रसनेन्द्रियविजयनं दुष्करम्। रसपरित्यागेऽपि सर्वदा स्वानुकूलं भोजनं न वाञ्छति। अवाञ्छितेऽपि शिष्या यदि समायोजयन्ति तदपि न स्वीकरोति। एकदा त्रिचतुर्दिवसान्तं एकसदृशमाहारं गृहीतवान्। ततः समाह कञ्चित् साधुम्–कश्चिदागत्य भोजनशालायां व्यवस्थापयति। तत्रैव दिवसे गुरुणा दृष्टम् यत् गवाक्षात् काचित् वस्तु प्रदानं करोति। स्वास्थ्यस्य प्रतिकूले सत्यपि औषधं सहजेन न गृह्णाति। अतिकष्टेन क्वचित् एकद्विदिवसपर्यन्तमाहरति। आहारस्य पश्चादपि परप्रशंसादोषं नानुचरति। अस्वस्थेऽप्यदीनता स्वाभिप्रेतस्य वाञ्छनाय कथमपि न सूचयति।

का अखण्ड पाठ प्रारम्भ हो गया। दूसरे ही दिन बुन्देलखण्ड के प्रत्येक ग्राम और प्रत्येक नगर से युवा और प्रौढ़ व्यक्ति आ गए। कई माताओं ने पुत्रों को तिलक लगाकर धर्म की रक्षा के लिए भेजा। पर्वत पर लाइन बनाकर सुरक्षा करने के लिए सब ओर भक्तों की अपार भीड़ इकट्ठी हो गई। पर्वत की तलहटी पर पुलिस अधीक्षक, जिला अधीक्षक, पुरातत्त्व विभाग के अधिकारी अपनी–अपनी सेना (सिपाही) सहित आकर रुक गए। आचार्यश्री के दर्शन करना है, ऐसे छल से ऊपर आने की चेष्टा करने पर भी वे लोग ऊपर नहीं आ पाए। RAF संस्था की मिलेट्री फोर्स भी भेजी गई। वे मिलेट्री के जवान भी पर्वत पर आने में समर्थ नहीं हुए। धीरे–धीरे उसी दिन ही नवीन सिंहासन पर मूर्ति की स्थापना की गई। गुरुदेव के हर्षाश्रुओं से वह परिसर पवित्र हो गया। सभी ने गुरुवर के दृढ़संकल्प की भूरि–भूरि प्रशंसा की।

सर्वोत्तमत्यागी

देह से भी ममत्वशून्य साधु निश्चित ही आराधक होता है। सभी इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय की विजय दुष्कर है। वह रस परित्याग करने पर भी सर्वदा स्वानुकूल भोजन नहीं चाहते हैं। नहीं चाहते हुए भी शिष्य यदि उसकी समायोजना करा देते हैं, तो भी वह उसको स्वीकार नहीं करते हैं। एक बार तीन–चार दिवस तक एक जैसा आहार ग्रहण करते रहे। तब किसी साधु के पूछने पर कहा– कोई आकर व्यवस्था करता है। गुरुदेव स्वास्थ्य के प्रतिकूल होने पर भी औषध सहजता से ग्रहण नहीं करते हैं। अतिकष्ट से कभी एक–दो दिन तक ही ग्रहण करते हैं। आहार के बाद भी पर प्रशंसा रूप दोष नहीं करते हैं। अस्वस्थ होने पर भी अदीनता और अपनी इच्छा क्या है, यह कभी भी सूचित

एकदा अमरकण्टके गुरुदेवस्यास्वास्थ्यस्य समाचारं श्रुत्वा तत्क्षेत्रस्य प्रसिद्धसाधुः कल्याणबाबा समागतः। स च कञ्चित् अपृच्छत्- दर्शनं कदा भविष्यति। तेनोक्तम् सायं षट्वादनानन्तरं न ब्रूते। स प्रतिनिवृत्तः। अपरेद्युः पुनरागतः। आचार्यदेवः प्रतिक्रमणावश्यके निरतः आसीत्। बाबा अगत्य अतिष्ठत्। तेन साकं मौनी नारदमुनिः औषधिमञ्जूषासहितो वैद्यराजोऽन्योऽपि जनश्च आसन्। प्रतिक्रमणस्य पश्चात् कल्याणबाबा उक्तवान्- श्रूयते, भवतः अस्वस्थता जाता। पुनश्च न च भवतः अपितु देहस्य। तदाह गुरुदेवः आम् सम्प्रति सुष्ठु वर्तते। बाबा आह- वैद्यराजोऽयमस्ति। शुद्धस्य काष्ठौषधस्य व्यवस्था अस्ति। यदि कश्चित् अनुचितो न भवेत्तदा...। न, न तस्यावश्यकता अधुना नास्ति इति गुरुणोक्तम्। पुनश्च बाबा विनयेनाह–न काऽपि वार्ता। मम कर्तव्यमेतत् आसीत्। भवान् गृह्णातु न वा। इत्युक्त्वा निर्गतः। सत्यमेवोक्तम्–भोजणगिद्धिविहीणो उत्तमचागो हवे तस्स॥

वात्सल्यमनाः

उदारहृदयस्य श्रेष्ठगुणो वात्सल्यम्। अनुजेषु शिष्येषु च महतां स्नेहो वात्सल्यमभिधीयते। भाग्योदये सागरनगरे आचार्यश्रीज्ञानसागरस्य समाधिदिवसे मम अलाभोऽभवत्। ग्रीष्मस्य तीव्रता तद्दिवसे आसीत्। प्रत्याख्यानान्तरं गुरुदेवसमक्षे कैश्चित् साधुभिः चर्चा कृता–यत् अद्य घर्मोऽत्यधिकः। पुनश्च मध्याह्नवेलाया-

---

नहीं करते हैं। किसी ने कहा है–''जब तुम अपनी जिह्वा जीत सकते हो, तो तुम निश्चित रूप से पूरा शरीर और मन सरलता से जीत सकते हो।'' एक बार अमरकण्टक में गुरुदेव के अस्वस्थता का समाचार सुनकर उस क्षेत्र के प्रसिद्ध बाबा 'कल्याण बाबा' आए। बाबा ने किसी को पूछा–दर्शन कब होंगे? किसी ने कहा–शाम को छह बजे के बाद नहीं बोलते हैं। बाबा वापस लौट गए। दूसरे दिन वह पुनः आए। आचार्यदेव प्रतिक्रमण में लीन थे। बाबा आकर के बैठ गए। उनके साथ एक मौनी नारद मुनि, औषधि के पिटारे से सहित एक अन्य वैद्यराज भी बैठे थे। प्रतिक्रमण के बाद कल्याण बाबा ने कहा–सुना है आप अस्वस्थ हैं। फिर कहा नहीं, नहीं आप नहीं शरीर अस्वस्थ है? गुरुदेव ने कहा–हाँ! अब ठीक हैं। बाबा ने कहा–यह वैद्यराज हैं। शुद्ध काष्ठौषध की भी व्यवस्था है। यदि कुछ अनुचित न हो तो आप....। गुरुदेव ने कहा–नहीं, नहीं उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। फिर बाबा ने विनय से कहा–कोई बात नहीं। यह मेरा कर्तव्य था। आप ग्रहण करें अथवा नहीं। सत्य ही कहा है– जो भोजन की गृद्धि से रहित है वही उत्तम त्यागी है।

वात्सल्यमना

उदार हृदय का श्रेष्ठ गुण वात्सल्य है। अपने से छोटों में और शिष्यों में, बड़ों का जो स्नेह होता है, वह वात्सल्य कहलाता है। सागर जिले में 'भाग्योदय क्षेत्र' पर आचार्य श्री ज्ञानसागर महाराज का समाधिदिवस मनाया गया। उस दिन मेरा अलाभ हो गया। अर्थात् आहार की विधि नहीं बनी। उस दिन गर्मी बहुत तीव्र थी, प्रत्याख्यान के बाद गुरुदेव के समक्ष कुछ साधु महाराज ने चर्चा की, कि आज गर्मी बहुत अधिक है। पुनः मध्याह्न बेला में आहार के लिए जाने की अनुमति दे देनी चाहिए।

सर्वोदय तीर्थ, अमरकंटक में कल्याण बाबा एवं अन्य बाबाओं को
सम्बोधन देते हुए आचार्यश्री

माहारार्थं गमनायानुमतिः प्रदातव्या। आचार्यदेवेनोक्तम् न एकवारमेव चर्यार्थं गमनमुचितम्। अतः विकल्पो न कर्तव्यः। वैयावृत्त्यं कुरु। समताभावेन तद्दिवसो गतः। रात्रौ निद्राऽपि विमुखीभूता। प्रातः नववादने चर्याकाले समागते शुद्धिकरणस्थाने गुरुदेवः स्वयमागतः। मम पार्श्वे स्थित्वा प्राह शिरोऽधो नमय। मयैतत् कृतम्। गुरुदेवेन स्वकमण्डलुमुखेन उष्णजलं मस्तकोपरि धारारूपेण निपातितम्। उक्तमपि–ग्रीष्मो हि ग्रीष्मं वारयति। क्षणं विरम्य पुनश्चोक्तम्– कथमनुभवसि इदानीम्? सुष्ठु, स्फूर्तिरागता इत्युक्त्वा मन्दिरे वयं सर्वे गताः।

तथैव कुण्डलपुरे सिद्धक्षेत्रे तीव्रग्रीष्मदिवसेषु एकदा प्रारम्भे ह्यन्तरायः सञ्जातः। तद्दिवसे गुरुदेवेन केशलुञ्चनं कृतम्। शिष्याणामाग्रहेण पूर्वनिर्मित्ते सुधानिवृत्ते कक्षे गुरुदेवः समागतः। सधर्मिभिरहमपि तत्रोपागतः। सामायिकः अनुष्ठितः तदुपरान्तं केनचित् साधुना गदितम् मां संलक्ष्य–अद्य महाराजस्यान्तरायः। आम्, क्षणं विरम्योक्तम्–करोरुकदण्डे शुद्धघृतेन मन्दं मन्दं मर्दितव्यम्। गुरुणा स्वाक्षसमक्षे तत्कारितम्। अहं तु लज्जयाऽधोदृष्टिं निधाय चिन्तितवान्–धन्योऽयं गुरुः यत् स्वोपवासकष्टमवगणय्य मम कष्टं दूरीकरोति। अहमपि सौभाग्यशाली यद् गुरुकृपापात्रं भवामि।

कुशलचिकित्सकः

२००६ अमरकण्टके वर्षायोगेऽहं ज्वरेण ग्रस्तः। ज्वरेण साकं श्लेष्मप्रकोपोऽपि तीव्रतरः। प्रतिदिनं श्लेषमशमनायोपाये विधीयमानेऽपि न श्लेष्मणो हानिर्न च ज्वरस्य हानिर्दृष्टा। वैद्यचिकित्सकैः परीक्ष्यमाणे

आचार्य देव ने कहा–नहीं, चर्या के लिए एक बार जाना/निकलना ही उचित है। इसलिए आप लोगों को विकल्प नहीं करना चाहिए। वैय्यावृत्ति करो। वह दिन तो समताभाव से निकल गया। किन्तु रात्रि में निद्रा भी दूर चली गयी। प्रातः नौ बजे चर्या समय होने पर शुद्धि करने के स्थान पर गुरुदेव स्वयं आए, मेरे पास में रुककर कहा–शिर नीचे करो। मैंने कर दिया। गुरुदेव ने अपने कमण्डलु की टोंटी से गर्म जल को मस्तक के ऊपर धारा रूप से गिराया और कहा भी कि–गर्मी ही गर्मी को मारती है। थोड़ी देर बाद रुककर पुनः कहा–अब कैसा अनुभव हो रहा है? मैंने कहा–अच्छा लग रहा है, स्फूर्ति आ गई, ऐसा कहकर हम सभी महाराज मन्दिर में चले गए।

इसी तरह कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र पर तीव्र गर्मी के दिनों में एक बार प्रारम्भ में अन्तराय हो गया। उसी दिन गुरुदेव ने केशलुंचन किया था। शिष्यों के आग्रह से चूने के बने हुए पुराने कमरे में गुरुदेव आ गए। साधर्मी मुनिराज मुझे भी वहीं ले आए। सामायिक हो गई। उसके बाद किसी महाराज ने मुझे लक्ष्य करके आचार्यश्री से कहा–आज महाराज को अन्तराय है। हाँ, थोड़ी रुककर कहा–रीढ़ की हड्डी पर शुद्ध घी से धीरे-धीरे मालिश करना चाहिए। गुरुदेव ने अपने सामने ही वैय्यावृत्ति करवाई। मैं तो लज्जा से नीचे दृष्टि रखकर सोचने लगा–ये गुरुदेव धन्य हैं, जो अपने उपवास के कष्ट को कुछ न समझकर, मेरे कष्ट को दूर कर रहे हैं। मैं भी सौभाग्यशाली हूँ, जो गुरु की कृपा का पात्र बना हूँ।

कुशल चिकित्सक

सन् २००६ के वर्षायोग में मैं ज्वर से पीड़ित हो गया। बुखार के साथ कफ का प्रकोप भी बहुत तीव्र था। प्रतिदिन कफ को कम करने का उपाय करते हुए भी, कफ कम नहीं हुआ और न ही बुखार

सति ज्वरस्योद्घोषणा कृता। एवं एकवारमपि सामान्यो भवति न वा। परीक्षा कृता। सामान्यः दृष्टः। तदा श्रीगुरुणा गदितम्–नास्ति। चिकित्सका ब्रुवन्ति–तस्यैव लक्षणानि परीक्षणविधौ दृष्टानि अतः तदेवास्ति। औषधप्रयोगेऽपि सुधारो न तोषकरः प्राजायत। कतिपयदिनानन्तरं केशलुञ्चनस्य समयः समागतः। तदर्थमाज्ञा वाञ्छिता। उपायान्तरं न विज्ञाय कथमपि आज्ञा प्रदत्ता। अपरेद्युः तत्कृतम्। दर्शनार्थं पश्चाद् गतोऽहम्। तदा पृष्टम्–स्वास्थ्यं कथम्? केशलुञ्चने कथं प्रतीतम्? लोचानन्तरं स्वास्थ्यमनुभवामि। श्लेष्मनिष्कासनं यतः पूर्णतया जातमिति प्रतीयते। आम् पश्यतु। इत्युक्तम् सायंकाले पुनः पृष्टम्–कथमसि? मयोक्तं "सुष्ठु; भवत्कृपातः अद्य ज्वरो नागतः" मा वदतु किमपि इति विरमय्य पारणानन्तरं पृष्टम्–कथमस्ति ज्वरः? तन्नागतः इत्युत्तरम्। अन्येद्युः तद्विषये पुनः पृष्टम्–अद्यापि सुष्ठु। तदोच्चस्वरेण सहर्षमुक्तम्–केशलुञ्चनेन सह निर्गतः सः। निश्चिन्तो भव। मयोक्तम्– "भवद्वाण्या एव प्रभाव एषः। सर्वे चिकित्सका भीतिमुत्पादयन्तः आसन्। भवान् एव कुशल वैद्यः।" तथैव एकवारं कुण्डलपुरे "मन्दज्वरमनुभवामि" इति निवेदितम्। क्षणानन्तरं महासागरः आनन्दसागरश्च मुनी कक्षे समागतौ। गुरुदेवेन वैयावृत्यर्थं प्रेषितौ इति च कथिमित्याज्ञा। लवणमिश्रितमेतद् घृतमस्ति। पदतलेऽस्य मर्दनं कार्यमित्याज्ञा। अर्धघण्टानन्तरं सेवया पूर्णतया स्वास्थ्यमनुभवन् गुरुदेवस्य चरणौ नमस्कृत्योक्तम्–भवत्प्रेषितमौषधं तु संजीवनीसदृशम्। मन्दं हसितः सः।

कम हुआ। वैद्य और चिकित्सकों के द्वारा परीक्षण करने पर उन्होंने 'टाइफाइड' बुखार बताया।

यह सुनकर भी गुरुदेव ने पूछा–कि तापमान कभी कम से कम एक बार भी सामान्य होता है या नहीं। मैंने परीक्षा की, सामान्य दिखा। तभी श्रीगुरु ने कहा–टाइफाइड नहीं है। चिकित्सक कहते हैं, कि टाइफाइड के लक्षण ही परीक्षण में आये हैं, इसलिए वही है। औषधि का प्रयोग करने पर भी सन्तोषजनक सुधार नहीं हुआ। कुछ दिन बाद केशलोंच का समय आ गया। उसके लिए मैंने गुरु से आज्ञा चाही। कोई दूसरा उपाय न जानकर गुरुजी ने किसी भी तरह आज्ञा प्रदान की। दूसरे दिन केशलोंच किया। बाद में दर्शन के लिए गया तो गुरुजी ने पूछा–स्वास्थ्य कैसा है? केशलोंच करने में कैसा अनुभव हुआ? मैंने कहा–लोंच होने के बाद स्वस्थ महसूस कर रहा हूँ क्योंकि कफ पूरी तरह से निकल गया है, ऐसा प्रतीत होता है। हाँ, देखो! इस प्रकार कहा। शाम को पुनः पूछा–कैसे हो? मैंने कहा–"ठीक हूँ, आपकी कृपा से आज बुखार नहीं आया।" कुछ मत बोलो, इस प्रकार रोक दिया, फिर पारणा के बाद पूछा–बुखार कैसा है? मैंने उत्तर दिया–बुखार नहीं आया। दूसरे दिन फिर पूछा–मैंने कहा, आज भी ठीक हूँ। तब जोर की आवाज से हर्ष के साथ कहा–"वह तो केशलोंच के साथ ही चला गया। अब निश्चिन्त रहो।" मैंने कहा–"आपकी वाणी का ही यह प्रभाव है। सभी डॉक्टर तो डरा रहे थे। आप ही कुशल वैद्य हैं।" इसी तरह एक बार की बात है कि कुण्डलपुर में मुझे कुछ हरारत लग रही थी, मैंने गुरुजी को बताया। थोड़ी देर बाद मुनि श्री महासागर और आनन्दसागरजी कमरे में आये और कहा कि गुरुदेव ने आपकी वैय्यावृत्ति के लिए हम दोनों को भेजा है। यह घी है, जिसमें नमक मिला है। इसकी मालिश पैरों के तलवे में करना है, यह आज्ञा है। आधा घण्टे के बाद सेवा से जब मुझे पूर्ण स्वस्थता महसूस होने लगी, तो गुरुदेव के चरणों में नमस्कार करके कहा–"आपके द्वारा भेजी हुई औषधि तो संजीवनी बूटी के समान थी।" गुरुदेव मन्द–मन्द मुस्कराने लगे।

निःस्पृही आत्मा

"लिङ्गं ण परावेक्खो अपुणब्भवकारणं होदि" इति सिद्धान्तात् जिनलिङ्गमादाय परस्यापेक्षा न करणीया। एकत्वभावनामनुभाव्यापि एकाकी विहरन् कष्टमनुभवति साधुः। यश्च स्वात्मनि नित्यमेकत्वभावनां भावयति स न परादरमपेक्षते। ग्रामाद् ग्रामान्तरे नगरे वा प्रदेशे तत्रत्यानामागमनं बैण्डबाजादि-कोलाहलेन स्वागतं समाचारपत्रपत्रिकाविषये परिचयाकांक्षणं च विना हि सदैव विहरति आचार्यश्रेष्ठः। कटनीनिवासी पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री इत्थंभूतां निःस्पृहतामवेक्ष्य तं प्रति श्रद्धालुरभवत्। पञ्चकल्याणमहोत्सवसदृश-वृहत्कार्यक्रमेऽपि बहुदिवसात् बहुमासात् वा प्राक् तिथिनिर्धारणं विना तत्र सान्निध्यमात्रं प्रददाति। गर्भजन्मकल्याणावसरे मम कार्यं नास्ति, कल्याणादेव मम कार्यमित्युंद्घोषणा गुरुदेवस्य निरीहतामुद्योतयति। वृहत्पत्रिकानिर्माणं स्वस्यान्यस्य वा छायाचित्राणां संयोजना, मञ्चस्य प्रारूपः इत्यादिविषये किमपि न चिन्तयति, न च तद्विषये वार्तासङ्केतादिकं करोति।

"उपकरणं जिनलिङ्गं धृतं मया शिवस्य प्रथमं लिङ्गम्।
पिच्छिःकमण्डलुधारण-मपि बाह्यं लाञ्छनं युक्तम्॥२॥
सिद्धान्तपठनजनितं ज्ञानं लिङ्गमन्तरङ्गं स्वीयम्।
तद्भावलिङ्गहेतुः किमु पुनरत्र शास्त्रभारेण॥३॥"

निःस्पृही आत्मा

यह सिद्धान्त है कि-"यह जिनलिंग परापेक्षी नहीं है तथा पुनर्भव का कारण नहीं है।" ऐसे जिनलिंग को धारण कर, पर की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। एकत्व भावना को भाकर के भी एकाकी विहार करते हुए साधु कष्ट का अनुभव करता है, किन्तु जो स्वात्मा में नित्य ही एकत्व की भावना करता है, वह पर के आदर की अपेक्षा नहीं करता है। एक ग्राम से दूसरे ग्राम में अथवा नगर में प्रवेश होने पर उस स्थान के लोगों का आगमन, बैण्ड-बाजादि के कोलाहल से स्वागत समाचार पत्र-पत्रिका के विषय में परिचय की आकांक्षा के बिना ही सदैव आचार्य श्रेष्ठ विहार करते हैं। कटनी निवासी पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री इस प्रकार की निःस्पृहता को देखकर गुरुदेव के प्रति श्रद्धालु हो गए। पञ्चकल्याणक सदृश महोत्सव के वृहत् कार्यक्रम के होने पर भी बहुत दिन अथवा बहुत महीना पहले से तिथि निर्धारण के बिना वहाँ सान्निध्य प्रदान कर देते हैं। वह कहते हैं कि-गर्भ-जन्म कल्याणक के अवसर में मेरा कुछ कार्य नहीं है। तप कल्याणक से ही मेरा कार्य है, यह उद्घोषणा गुरुदेव की निरीहता को दिखाता है। बड़ी-बड़ी पत्रिकाओं का बनवाना, अपने या अन्य के फोटो की संयोजना करना, मञ्च का प्रारूप बनाना इत्यादि विषय में वह कुछ भी सोचते नहीं हैं और उस विषय में वार्ता, संकेत आदि कुछ भी नहीं करते हें। वह विचारते हैं कि-

"मैंने जिनलिंग रूप जो उपकरण धारण किया है, वह मोक्ष का प्रथम चिह्न है और पिच्छि कमण्डलु को धारण करना भी बाह्य चिह्न ही उचित है। सिद्धान्त के पढ्ने से उत्पन्न हुआ ज्ञान स्वकीय

विहारकाले पुरवासिनो भक्तिवशात् भावयन्ति यत् गुरुवर्यो मम पुर्यामागमिष्यति अतः प्रागेव ते पुरसज्जां विदधति। द्विपथं चतुष्पथं वाऽऽगत्य ते निवेदयन्ति। एताः प्रसङ्गा बहुवारं संघटन्ते। निःस्पृहतायाः पराकाष्ठा किलेयम्।

एकदा १९९९ ई० तमस्य वर्षायोगात् प्राक् आचार्यदेवः ससंघः नेमावरसिद्धोदयसिद्धक्षेत्रे वाचनां कुर्वन् तिष्ठतिस्म। वर्षायोगस्थापनायां त्रिदिवसात् प्राक् मध्याह्नस्वाध्यायं कृत्वा सहसा विहारं कृतवान्। सर्वे विस्मिताः अभवन्। रात्रिविश्रामः खातेग्रामे अभवत्। प्रातः आहारचर्या ससंघस्य संजाता। सर्वे सामयिकानन्तरं उपदेशकरणाय मञ्चसज्जादिकं कृतवन्तः। सर्वे चिन्तयन्ति यत् इदानीं वर्षासमयः अस्ति। यदि गुरुदेवः प्रवचनं दद्यात् तावत् वर्षा आगमिष्यति अतः अद्य गुरुदेवस्य प्रवासः अत्रैव भवेत्। तदा सामयिकं विधाय गुरुदेवः व्यहरत्। अल्पसमयात् एव वर्षा संजाता। एकस्य पुलिनस्य उपरिस्तात् सर्वसंघः निर्गतः। तत्पश्चादेव पुलिनं जलेन मज्जितं। एवं दृष्ट्वाऽपि सर्वे सविस्मयं श्रीगुरुं प्रशंसितवन्तः। तदनु विहृत्य गोमट्टगिरौ इंदौरनगरे नगरप्रवेशः वर्षायोगस्य स्थापना च अत्यानन्देन महासम्मर्देन सह निष्पन्ना।

दृढ़संयमी

संयमो द्वेधोपेक्षापहृतभेदात्। उपेक्षासंयमस्याभ्यासी हि अपहृतसंयमे निरतिचारतया प्रवर्तते। जीवरक्षा किलापहृतसंयमस्य ध्येयः। अहिंसानिष्ठो गुरुवर्यो ईसरीवर्षायोगे संघस्थजनाय प्रतिक्रमणग्रंथत्रयीम्

अंतरंग लिंग है। वही भावलिंग का हेतु है, फिर अन्य शास्त्र भार से क्या?''

विहारकाल में नगरवासी भक्तिवश यह भावना करते हैं, कि गुरुवर्य मेरी नगरी में आएँगे इसलिए वे पहले से ही नगर सज्जा कर लेते हैं। किसी दौराहे या चौराहे पर आकर वे निवेदन करते हैं। आचार्यदेव उस समय उन्हें जहाँ जाना है, वहीं जाने का संकल्प लेने के कारण उस ग्राम या नगर में नहीं जाते हैं। ऐसे प्रसङ्ग बहुतवार घटित होते हैं। निःस्पृहता की यह पराकाष्ठा है।

एक बार १९९९ ई० के वर्षायोग के पहले आचार्यदेव ससंघ नेमावर सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र में वाचना करते हुए ठहरे थे। वर्षायोग की स्थापना से तीन दिन पहले मध्याह्न का स्वाध्याय करके वह सहसा विहार कर गए। सभी विस्मित हो गए। रात्रि विश्राम खातेग्राम में हुआ। प्रातः ससंघ की आहार चर्या हुई। सभी जन सामायिक के बाद उपदेश करवाने के लिए मञ्च आदि को किए। सभी सोचते है कि इस समय वर्षा का काल है। यदि गुरुदेव प्रवचन करेंगे तो वर्षा आ जाएगी अतः आज गुरुदेव का प्रवास यहाँ होवे। तभी सामायिक करके गुरुदेव विहार कर गए। थोड़े ही समय मे वर्षा हुई। एक पुलिया के ऊपर से सारा संघ निकल गया। उसके तुरन्त बाद ही पुलिया जल में डूब गई। इस प्रकार देखकर सभी सविस्मय श्रीगुरु की प्रशंसा करने लगे। उसके बाद विहार करके गोमट्टगिरि इंदौर नगर में प्रवेश हुआ और वर्षायोग की स्थापना अतिआनन्द और बहुत भीड़ के साथ निष्पन्न हुई।

दृढ़ संयमी

उपेक्षा संयम और अपहृतसंयम के भेद से संयम दो प्रकार का है। उपेक्षासंयम का अभ्यासी ही अपहृत संयम में निरतिचार रूप से प्रवृत्ति करता है। जीव रक्षा निश्चय से अपहृत संयम का ध्येय है।

अध्यापयतिस्म। तत्र निष्ठीवनादिषु अपि दोषो भवेत् तन्निराकरणार्थं प्रतिक्रमणं क्रियते इति विषयः। तदनुसारेण संयमवर्धनार्थं विष्ठीवनं सिंहाणकनिष्कासनं न करोमीति चिन्तितवान् गुरुदेवः। ततः पृभति तेन तन्न कृतम्। सर्वेन्द्रियेषु जिह्वेन्द्रियविजयनं अतिकठिनं शास्त्रेषु उक्तम्। तेन गुरुदेवेन १९६९ ई० तमे लवणमधुररसपरित्यागः कृतः। पश्चात् स्पर्शेन्द्रियविजयार्थं १९८५ ई० तमे आहारजी क्षेत्रे संस्तररूपेण कटस्य परित्यागोऽपि कृतः। शनैः शनैः संयमवृद्ध्यर्थं १९९४ ई० तमे रामटेकक्षेत्रे वनस्पतिशाकफलानां परित्यजनं विहितम्। एते सर्वे परित्यागाः आजीवितं अनुष्ठिताः। पंचाचारेषु वीर्याचारेण निजदेहशक्तिपरीक्षणार्थं विशेषरूपेण कर्मनिर्जरार्थं च १९९० ई० तमे गुरुदेवेन मुक्तागिरिसिद्धक्षेत्रे निरंतरं नवसंख्योपवासाः कृताः। स्वहस्तेन कपाटोद्घाटनं अर्गलापसरणमपि न विदधाति। प्रायश्चित्तग्रन्थे एकबारं कपाटोद्घाटनेन एकस्योपवासस्य दण्डो विहित इति च प्रबोधयति संघस्थान्। उत्तरगुणरूप संयमस्य परिपालनं सदा दृढतया करोति।

अखण्ड ब्रह्मचारी

ब्रह्मचर्यस्य निर्दुष्टपालनेन परस्य स्वस्य चापत्तिः स्वयमेव विनश्यति। रात्रौ स्वकीयकाष्ठफलकादन्यत्र न स गमयति। तपः साधनाफलेन निशायां न कदापि मलमूत्रस्य बाधा जायते। अखण्डब्रह्मचर्यं दुःस्वप्ना-

---

अहिंसानिष्ठ गुरुवर ईसरी वर्षायोग में संघस्थ साधुओं के लिए प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी का अध्ययन कराते थे। उसमें आया कि निष्ठीवन (थूकना) आदि में भी दोष है, उस दोष का निराकरण करने के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है, यह विषय चल रहा था, उसी के अनुसार संयम की वृद्धि के लिए थूकना, नाक का मल निकालना आदि नहीं करूँगा, इस तरह गुरुदेव ने विचार कर लिया। उसके बाद उन्होंने फिर यह क्रिया नहीं की। सभी इन्द्रियों में जिह्वा इन्द्रिय को जीतना अति कठिन है, ऐसा शास्त्रों में कहा है। इस कारण से गुरुदेव ने १९६९ ई० में नमक और मीठे रस का परित्याग किया। बाद में स्पर्शन इन्द्रिय को जीतने के लिए १९८५ ई० में आहारजी क्षेत्र पर संस्तर के रूप में प्रयोग आने वाली चटाई का परित्याग भी किया। धीरे-धीरे संयम की वृद्धि के लिए १९९४ ई० में रामटेक क्षेत्र पर हरी सब्जी और फलों का भी परित्याग किया। ये सभी त्याग गुरुदेव ने जीवन-पर्यंत के लिए किए हैं। पंचाचार में वीर्याचार से अपनी देह की शक्ति की परीक्षा के लिए और विशेषरूप से कर्म-निर्जरा के लिए १९९० ई० में गुरुदेव ने मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र पर लगातार नौ उपवास किये। अपने हाथ से दरवाजे को खोलना, साँकल या कुण्डी खोलना-लगाना भी वह नहीं करते हैं। प्रायश्चित्त ग्रंथ में लिखा है कि एक बार दरवाजा खोलने से एक उपवास का दण्ड होता है। इस प्रकार से वह संघस्थ साधुओं को समझाते हैं। उत्तरगुण रूप संयम का पालन गुरुदेव सदा दृढ़ता से करते हैं।

अखण्ड ब्रह्मचारी

ब्रह्मचर्य का निर्दोष पालन करने से पर की और स्व की आपत्ति स्वयं ही विनष्ट हो जाती है। रात्रि में अपने काष्ठफलक से अन्यत्र वह गमन नहीं करते हैं। तप-साधना के फल से रात्रि में कभी भी उन्हें मल-मूत्र की बाधा उत्पन्न नहीं होती है। अखण्ड ब्रह्मचर्य दुःस्वप्न नहीं आने से घटित होता

९ उपवास के बाद पारणा करते हुए आचार्यश्री

घटनात् प्रतीयते। ब्रह्मचारी निशि निशाचरैर्न कष्टं प्राप्यते। नैनागिरिसिद्धक्षेत्रे वसतौ सर्पाणामावासस्तथापि निर्बाधं निःशङ्कं गुरुदेवोऽवसत्। कश्चित् सर्पो तत्फलकादधस्तात् इतस्ततः संचरतिस्म। यदा जनाः समायान्ति तदा भित्तिमाश्लिष्यैकतोऽतिष्ठत्। तथैव 'चाँदखेड़ी' अतिशयक्षेत्रतः छाबड़ानगरागमनकाले सूर्यो मध्यमार्गे ह्यस्तंगतः। रात्रिविश्रामोऽरण्य एवाभवत्। छबड़ापुरवासिनः समागत्य फलकादिव्यवस्थापनकार्ये संलग्ना अभवन्। इतः आचार्यदेवो निश्चिन्तेन स्वावश्यकेषु दत्तचित्तोऽभूत्। निशि कश्चिद् मनुष्यो वृहत्श्मश्रुधरो भुशुण्डिकासहितः मां परितः परिभ्रमति इति गुरुदेवेन दृष्टम्। प्रातः स दृष्टिगोचरो न जातः। तत्सम्बन्धिनीं वार्ता कृत्वाऽल्पकौतुकेन पुरवासिनं गुरुराह–किं न मञ्चो विनिर्मितः। तथैव उमाभारती पपौराक्षेत्रे १९८६ ई० तमे गुरुदेवस्य दर्शनार्थमागतवती। सा च तदा कथावाचनं कृतवती आसीत्। तावत् सा राजनीतेर्बहि एवासीत्। गुरुदेवेन सह चर्चां कृत्वोक्तवती–''मया बहवः सन्तो दृष्टास्ते खलु मां वासनादृष्टयाऽवलोकयन्ति स्म। भवतः समीपमहं निर्भीकतया निश्चिन्तेन तिष्ठामि।'' तदाप्रभृति साऽनेकवारं स्वयमेवागतवती आशीर्वाद–प्राप्त्यर्थम्।

अहिंसक

अहिंसा तु महाप्राणो जैनधर्मस्य शाश्वतः।
व्रतेष्वाद्यव्रतं प्रोक्तमहिंसा परमं तपः ॥४॥

है। ब्रह्मचारी रात्रि में निशाचर जीवों के द्वारा कष्ट को प्राप्त नहीं होते हैं। नैनागिरि सिद्धक्षेत्र में वसतिका में सर्पों का आवास था, फिर भी बिना किसी बाधा के निःशंक होकर गुरुदेव वहाँ रुकते थे। कोई सर्प तो उनके पाटे के नीचे से इधर-उधर घूमता रहता था। जब अन्य लोग आते थे तो वह दीवाल से चिपककर एक तरफ हो जाता था। उसी प्रकार चाँदखेड़ी अतिशय क्षेत्र से छबड़ा नगर आने के समय पर सूर्य मध्य मार्ग में ही अस्तंगत हो गया, इसलिए रात्रि विश्राम जंगल में ही हुआ। छबड़ा वासी समाजजन आकर के पाटे आदि की व्यवस्था कार्य में संलग्न हुए। इधर आचार्य देव निश्चिंत होकर अपने आवश्यकों में एकाग्रचित्त हो गये। रात्रि में कोई बड़ी मूँछों वाला मनुष्य बन्दूक के साथ मेरे चारों ओर घूम रहा है, इस तरह गुरुदेव ने देखा। प्रातः वह मनुष्य दृष्टिगोचर नहीं हुआ। उस संबंधी चर्चा करके गुरुदेव ने अल्प कौतुक के साथ नगरवासियों को कहा–क्या मंच बना रहे थे? इसी प्रकार उमाभारती पपौरा क्षेत्र (१९८६ ई०) में गुरुदेव के दर्शन के लिए आई। वह उस समय पर कथा वाचन करती थी। तब वह राजनीति से बाहर ही थी। गुरुदेव के साथ चर्चा करके उसने कहा–मैंने बहुत से संत देखे हैं, वे मुझे वासना की दृष्टि से ही देखते थे। आपके समीप मैं निर्भीक होकर निश्चिंतता से बैठती हूँ। उसके बाद वह अनेक बार आचार्य श्री का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए स्वयं आती रही।

अहिंसक

''अहिंसा जैनधर्म का शाश्वत महाप्राण है। सभी व्रतों में यह प्रथम व्रत कहा गया है। अहिंसा ही परम तप है।''

अहिंसा व्रत-परिपालकः किल निजात्मब्रह्मणि रमते। त्रस-स्थावर-हिंसात्यागिनोऽपि स्थावरहिंसाविरतिं प्रति सावधाना न भवन्ति। आचार्यवर्यः षट्कायजीवरक्षां महता प्रयत्नेन पालयति। पञ्चस्थावरेषु अग्निकायिकजीवानां विराधना वैज्ञानिकयन्त्रप्रयोगद्वारेण बहुधा विदधाति। गाथानां पद्यानुवादो मनसि निशि कृत्वा प्रातःकाले आलिखति। पञ्चशती-मूकमाटी-प्रभृति-ग्रन्थानामनुवादश्च कदापि निशि न कृतः। विद्युतः प्रयोगः कृतकारितानुमोदेन न तेन विधीयते। अग्नौ षट्कायिकानां विराधना सततमेवेति सङ्घस्थान् प्रबोधयति। अनुमोदनेन कायवाक्चेष्टया च नित्यमहिंसारक्षणे प्रणिधान परः सः।

एकदाविलासपुरे पुरे गुरुणा साकं वयमपि शुद्ध्यर्थं बहिर्गताः। प्रत्यावर्त्य रेल्पथोपरि इंजनः समास्थत्। तत्रान्यपथाभावे कतिपयकालं प्रतीक्षमाणाः सर्वे। तस्य चालकः एतत् दृश्यं पश्यन् आसीत्। तदा मयोक्तं चालकाय यत् 'अपसर लघुदूरम्' समीपस्थितः आचार्यवर्यस्तत्क्षणमुक्तवान्-मैवं वदतु, तस्य चालने महारम्भो भवेत् तस्यानुमोदनात् वयं। सर्वे निर्गताः। आचार्यदेवस्य तत्सावधानमनस्कतां स्मारं स्मारं अद्यापि सुखी स्याम। सत्यमेव-

यथैति हृदये स्थैर्यं करुणा सर्वदेहिषु।
तथा प्रकाशते प्रीतिं विवेकश्रीः परां मुदा ॥५॥

अहिंसा व्रत का पालन करने वाला, अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप में रमण करता है। त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा के त्यागी भी स्थावर जीवों की हिंसा से विरति के प्रति सावधान नहीं रहते हैं। आचार्यवर्य षट्काय के जीवों की रक्षा बड़े प्रयत्न के साथ करते हैं। पंच स्थावरों में अग्निकाय जीवों की विराधना वैज्ञानिक यंत्रों के प्रयोग के द्वारा बहुत प्रकार से देखी जाती है। रात्रि में आचार्य देव विद्युत का प्रयोग किए बिना ही आत्मचिन्तन करते हैं। गाथाओं का पद्यानुवाद मन में रात्रि में करके प्रातःकाल ही लिखते हैं। पंचशती, मूकमाटी आदि ग्रंथों का अनुवाद कभी भी उन्होंने रात्रि में नहीं किया। बिजली का प्रयोग कृत-कारित-अनुमोदना से भी वह नहीं करते हैं। अग्नि में छहकाय के जीवों की विराधना निरंतर होती है। इस तरह वह संघस्थ साधुओं को समझाते हैं। अनुमोदना से और वचन-काय की चेष्टा से नित्य अहिंसा की रक्षा में उनका उपयोग रहता है।

एक बार बिलासपुर में हम भी गुरुजी के साथ शुद्धि के लिए बाहर गये। लौट करके रेलपथ के ऊपर एक इंजन खड़ा था। वहाँ और कोई दूसरा रास्ता नहीं था। कुछ समय सभी ने प्रतीक्षा की। उस इंजन का चालक यह दृश्य देख रहा था। तभी मैंने उस चालक से कहा-थोड़ा दूर हटा लो। समीप में खड़े हुए आचार्यवर्य उसी क्षण कहने लगे- इस तरह नहीं बोलते हैं। उसके चलने में बहुत आरम्भ होगा। उसकी अनुमोदना से पाप होगा। थोड़ी देर बाद वह स्वयं ही दूर चला गया। रास्ता पाकर हम सभी निकल गये। आचार्यदेव की उस मन की सावधानी को याद करते-करते मुझे आज भी सुखद अनुभूति होती है। सत्य ही है-

''जैसे-जैसे करुणा मनुष्य के हृदय में स्थिर होती जाती है, वैसे-वैसे विवेक-रूपी लक्ष्मी उत्कृष्ट प्रीति को प्रकाशित करती है।''

सत्यमहाव्रती

संयमी हि वचनेषु प्रयत्नपरतां विधत्ते। सत्यवादनमपि वचस्तपः। कौतुकेऽपि सः ग्राम्यं न वक्ति। महासंघनायको भूत्वाऽपि स्त्रीणां ब्रह्मव्रतगृहीतानामपि नाम नाऽऽख्याति। कार्ये सत्यपि तस्य ग्रामस्य नगरस्य वाऽन्येङ्गतस्य प्ररूपणं कृत्वा वदति। तमेवाज्ञां प्रदत्ते यो भूरिशो वाञ्छति यतश्चाज्ञाभङ्गे वचोनिष्फलता भवेदिति भीतेः सत्यं रक्षति। मौखर्यशून्यता वाक्। व्रतरक्षणार्थं मौनमेव प्रियम्। उचितमेव–

ब्रुवन्ति ये ते मुनयो न धीरा, तिष्ठन्ति मौने सुधियोऽतिवीराः।
विद्यागुरोरार्षवचः किलैत, दस्तीति मौनं परमार्थमित्रम्॥६॥

वचनप्रदाने हिंसा भवति व्याकुलतावशात् इत्युपदिशति। गुरुदेवस्य वचनसिद्धिरस्ति इति केचिद्वदन्ति। तदपि नाश्चर्यकरं व्रतसद्भावात्।

सत्यमेव–

ऋद्धिश्च मौनेन वचः प्रसिद्धि र्मुनौ व्रतं वास्ति सुखस्य वृद्धिः।
प्रवादनं व्याकुलताफलं यत् ततोऽस्ति मौनं परमार्थमित्रम्॥७॥

यदि श्रीगुरोर्मुखात् 'ओम्शान्तिः' इति वचनं निस्सरेत् तदाऽमुकस्य कार्यमवश्यं भवेत्।

सत्यमहाव्रती

संयमी ही वचनों में प्रयत्नवान होते हैं। सत्य बोलना भी वचन तप है। गुरुदेव कौतुक में भी ग्राम्यभाषा नहीं बोलते हैं। महासंघनायक होकर के भी ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाली ब्रह्मचारिणी के भी नाम वह नहीं बोलते हैं। कुछ आवश्यकता होने पर उसके ग्राम, नगर अथवा अन्य किसी पहचान के द्वारा बोलते हैं। वह उसी को आज्ञा देते हैं, जो बहुत बार आज्ञा चाहता है। क्योंकि आज्ञा भंग हो जाने पर वचन की निष्फलता हो जाती है। इस भीति से वह सत्य की रक्षा करते हैं। उनके वचन मौखर्य से रहित होते हैं। व्रत की रक्षा करने के लिए मौन ही प्रिय है। उचित ही है–

''जो मुनि बोलते हैं, वे धीर नहीं हैं और जो बुद्धिमान् मौन रहते हैं वे अतिवीर हैं। यह आर्षवचन आचार्य श्री विद्यासागर गुरु के हैं। इसलिए मौन ही परमार्थ का मित्र है।''

वह उपदेश देते हैं, कि वचन प्रदान करने में व्याकुलता होने से हिंसा होती है। गुरुदेव को वचन की सिद्धि है, इस प्रकार कई लोग कहते हैं। यह बात भी सत्यव्रत का सद्भाव होने से आश्चर्यकारी नहीं है। सत्य ही है–

''मौन से ही ऋद्धि होती है, मौन से ही वचनों की प्रसिद्धि अर्थात् वचन सिद्धि होती है, मौन से ही मुनि में व्रत होता है और सुख की वृद्धि मौन से ही होती है। चूँकि बोलना तो विशेष आकुलता का फल है, इसलिए परमार्थ का मित्र मौन है।''

यदि श्री गुरु के मुख से 'ओम् शांति' यह वचन निकल जायें, तो अमुक का कार्य अवश्य होता है ऐसा भी लोग मानते हैं।

अकिञ्चनः

सङ्घस्य समाजस्य मध्ये निवसन्नपि सदैव स्वात्मचिन्तया विहरति गुरुदेवः। १९८६ ई॰ तमस्य वर्षायोगस्थापनार्थं पपौराक्षेत्रं प्रति गमनसमये मडावराग्रामे कुक्कुरस्य स्पर्शादलाभोऽभवत्। अपरस्मिन् दिने जाबालिपुरवासिनो राकेशः, चन्द्रः, संजय इति ब्रह्मचारित्रियेण (सम्प्रति क्षु॰ गम्भीरसागरः, मुनिचन्द्रसागरः, क्षु॰धैर्यसागरः) प्रतिगृहीतः। आहारक्रियानन्तरं सामायिकं कृत्वा विजहार। अस्तंगते सूर्ये सायं कानने हि अतिष्ठत्। तत्रैको गर्तो मानवाकृतितुल्यो दृष्टः। तस्मिन्नेव परिमार्जनं कृत्वा स तत्रैव स्थितः। कश्चित् कटमानीयागतः। तस्योपयोगो गुरुणा न कृतः। भूशयनं हि कृतम्।

तथैव करेलीग्रामं गमनसमये सायंकाले वृष्टिर्जाता। रात्रिगमनभयात् पथि स्थितः परन्तु तिमिरे गमनं न कृतम्। सङ्घस्थाः अग्रे गताः। प्रातः सर्वे प्रायश्चित्तं गृहीतवन्तः। दमोहनगरेऽपि जटाशङ्करपर्वतस्योपरि शर्करिलभूमौ शयानासनं तनुममत्वरहितः सः व्यधात्। अकिञ्चनभावनावशाद्धि सर्वेषां हृदि प्रभुत्वेन तिष्ठति इति प्रतीयते। यतश्च–

अकिञ्चनोऽहमित्येवं व्रतमीशत्वकारणम्।
रहस्यं योगिभिः प्रोक्तं परं हि परमात्मनः ॥८॥

अकिञ्चन

संघ और समाज के बीच में रहकर भी गुरुदेव सदैव स्वात्म चिंता से विहार करते हैं। १९८६ ई॰ का वर्षायोग स्थापना करने के लिए पपौराजी तीर्थक्षेत्र में जाते समय, मड़ावरा ग्राम में कुत्ते का स्पर्श हो जाने से अलाभ हो गया। दूसरे दिन जबलपुर निवासी राकेश, चन्द्र, संजय इन तीनों ब्रह्मचारियों (वर्तमान में क्षु॰ गम्भीरसागर, मुनि चन्द्रसागर, क्षु॰ धैर्यसागर) ने पड़गाहन किया। आहार क्रिया के बाद सामायिक करके विहार हुआ। सूर्य के अस्त हो जाने पर सांयकाल जंगल में रुक गए। वहाँ पर एक मानव आकार में गड्ढा दिखाई दिया। उसी में परिमार्जन करके बैठ गए। कोई चटाई लेकर के आया, किन्तु उसका उपयोग गुरुदेव ने नहीं किया। उन्होंने भू-शयन ही किया।

उसी प्रकार करेली ग्राम में गमन करते समय सायंकाल वारिश होने लगी। जिससे अंधकार होने लगा। रात्रि गमन के भय से रास्ते में ही गुरुदेव ठहर गए। किन्तु अँधेरे में गमन नहीं किया। संघ के साधु आगे चले गए। प्रातःकाल सभी ने प्रायश्चित्त ग्रहण किया। दमोह नगर में भी जटाशंकर पर्वत के ऊपर बालू भूमि में गुरुदेव के शरीर के ममत्व से रहित होकर शयनासन करते थे। इस अकिंचन भावना के कारण से ही सभी के हृदय में वह प्रभु के रूप में तिष्ठित हैं, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि–

''मैं अकिंचन हूँ। इस प्रकार का व्रत ही ईश्वरपने का कारण है। योगियों के द्वारा परमात्मा का यह उत्कृष्ट रहस्य कहा गया है।''

महादयालुः

रेशिंदीगिरिः अपरविश्रुतनामनैनागिरिः पार्श्वतीर्थंकरसमवसरणागमनाद् विश्रुतः वरदत्तादिपञ्चतपःपूतानां सिद्धभूमिः विशोभते। आचार्यगुरुदेवः विहृत्यात्र आगतः १९७८ ई० तमे। भगवतः पार्श्वनाथस्य चतुर्दश–फुट्कायोत्सर्गमूर्तेः दर्शनात् प्रमुदितमनाः अवदत्–''कियती शान्तिः अत्रास्ति, वास्तवेन इयं सिद्धमही साधनास्थली'' दस्युप्रधाने क्षेत्रे कोऽपि अधिककालपर्यन्तं न तिष्ठतिस्म। वर्षायोगाय आचार्यदेवस्य मनःस्थितिं अवगम्य क्षेत्रस्य संरक्षकजनाः चिन्ताविषयं गताः। एकदा परिज्ञातविषयः कुख्यातदस्युः हरीसिंहः स्वयमेव आगत्य उपस्थितः। स प्राह–''महाराज! भवान् संघसहितः निश्चिन्तो भूत्वा तिष्ठेत्। मम दस्युसमुदायः भवतः संङ्घं भक्तगणं च किञ्चिदपि न बाधिष्यते। मह्यं सेवाऽवसरं प्रददातु।''

आचार्यदेवस्य सन्निधिमात्रेण दस्युप्रधानस्य भावे परिवर्तनं सर्वेषां अद्भुतं प्रतीतम्। वर्षायोगः प्रारब्धः। तत्क्षेत्रकानने कृतसामायिकक्रियाविधिः 'सिद्धशिला' इति नाम्ना ख्याते प्रस्तरशकले अतिष्ठत् सूरिः। तत्रैव केरवना (जिला–दमोह) ग्रामनिवासी रावखेतसिंहजू आखेटक्रियाप्रियः मृगघातार्थं धृतनालीकास्त्रः अनुधावन् जातरूपस्य पृष्ठे स्थितं मृगंअवलोक्य सहसा चरणेषु प्रणिपत्य स्वयमेव परप्रेरणां विना 'अद्यदिवसात्' मृगयापरित्यासङ्कल्पनं करोमीति न्यवेदयत्। एतेन मृगरक्षा मृगयाकलितस्य शुभाशिषश्च प्राप्तिः जाता।

महादयालु

रेशिंदीगिरि जिसका कि दूसरा नाम नैनागिरि है। यह तीर्थ पार्श्वनाथ भगवान् का समवसरण आने के कारण से विख्यात है। वरदत्तादि पंच ऋषियों की यह सिद्धभूमि है। आचार्य गुरुदेव विहार करके यहाँ १९७८ ई० में आए। भगवान् पार्श्वनाथ की १४ फीट की कायोत्सर्ग प्रतिमा के दर्शन करके मन प्रसन्न हुआ तथा कहा–''यहाँ कितनी शांति है। वास्तव में यह सिद्धभूमि साधना स्थली है।'' डाकुओं की प्रधानता वाले उस क्षेत्र में कोई भी अधिक समय तक वहाँ नहीं रुकता था। आचार्यदेव की वर्षायोग के लिए मनःस्थिति को जानकर क्षेत्र के संरक्षक सदस्य चिंता में पड़ गए। एक बार जब कुख्यात डाकू हरिसिंह को इस बात का पता चला, तो वह स्वयं आकर के उपस्थित हो गया और कहने लगा –'महाराज! आप संघ सहित निश्‍चिंत होकर रुकें। मेरा डाकुओं का समुदाय आपके संघ और भक्तगणों को कुछ भी बाधा नहीं पहुँचाएगा। मेरे लिए सेवा का अवसर प्रदान करें।'

आचार्यदेव की सन्निधि मात्र से उस डाकू के भाव में परिवर्तन सभी के लिए आश्चर्यकारी लगा। वर्षायोग प्रारम्भ हुआ। उस क्षेत्र के जंगल में 'सिद्धशिला' इस नाम से ख्यात एक पत्थर पर आचार्यश्री ने सामायिक की क्रिया विधि सम्पन्न की। वहीं पर एक 'केरवना' (जिला दमोह) गाँव का निवासी रावखेतसिंहजू शिकार क्रीड़ा का शौकीन था। वह बन्दूक को धारण किए हुए एक हिरण का घात करने के लिए उसके पीछे दौड़ रहा था। दौड़ता–दौड़ता वह हिरण उन निर्ग्रन्थ गुरुदेव के पीछे आकर बैठ गया। मृग की यह दशा देखकर वह शिकारी सहसा आचार्यश्री के चरणों में नमस्कार करके स्वयं ही किसी की प्रेरणा के बिना यह निवेदन करने लगा–''आज के बाद में शिकार करने का त्याग करता हूँ।'' इस तरह से मृग की रक्षा और शिकारी को शुभाशीष की प्राप्ति हुई।

दस्यु दल आचार्यश्री के सामने आत्म समर्पण करते हुए

महाकारुणिक संत

१७ नवम्बर १९८३ ई० तमे द्वादशवर्षेण धर्मशालानिकटमधिवसता शुना खाद्यपदार्थव्याजेनाग्नि–गोलकास्त्रं भक्षितम्। तद्विस्फोटनाद् विक्षताननो जलमन्दिरस्य द्वारि अतिष्ठत्। वन्दनार्थमागताभिर्ब्रह्मचारिणी–भगिनीभिः तस्य दुर्दशामवलोकनेन तत्कष्टनिवारणाय णमोकारमन्त्रपाठः श्रावितः। तत्प्रभावतो न्यूनीभूतवेदनो स गिरौ आचार्यमहोदयस्य प्रवचनश्रवणार्थं गतः। तस्य दशामवलोक्य प्रतिबोधितो गुरुणातव मरणसमयः समागतः। व्रतं वाञ्छति किम्? शिरोविधुननेन स्वीकृतिरिङ्गिता। ततः णमोकारमन्त्रं श्रुत्वा पुरस्सर स्वीकृताशनपानपरित्यागो धर्मशालायां तस्य पुरतो निहितान्नपानेऽपि अनवलोकितमनाः १९ नवम्बर दिने पञ्चपरमपदोच्चारणं संशृण्वन् पञ्चतामाप।

अल्पसार्थकभाषी

आचार्यदेवः अत्यल्पं वदति किन्तु महार्थसमन्वितं तद्वचनं भवति। एकदा इन्दौरनगरस्य एकः श्रावकः कुण्डलपुरतीर्थे दर्शनार्थं आगतः। दर्शनेन अभिभूतः प्रवचनस्य अभिलाषी सः अभवत्। किन्तु तदा प्रवचनं न विधाय गुरुदेवः स्वसाधनायां अतिसाहसेन गुरोः सकाशं गत्वा सः सज्जनः आह– भवतः शब्दद्वयं श्रोतुं वाञ्छामि। कृपया मम व्याकुलतां पूरयेत्। अद्य गृहं प्रतिनिवृत्तः अस्मि। दर्शनलाभः पुनरपि कदा

महाकारुणिक संत

१७ नवम्बर, १९८२ ई० की बात है–बारह वर्ष से धर्मशाला के निकट एक कुत्ता रहता था। उसने खाद्य पदार्थ समझकर के एक दिन अग्निगोलक अस्त्र (बम) खा लिया। उसका विस्फोट हो जाने से उसका मुख क्षत–विक्षत हो गया। वह जल मंदिर के द्वार पर बैठा रहता था। वंदना के लिए आई हुईं ब्रह्मचारिणी बहनों ने उसकी दुर्दशा को देखकर उसके कष्ट का निवारण करने के लिए णमोकार मंत्र का पाठ सुनाया। उसके प्रभाव से उसकी वेदना कुछ कम हो गई, जिससे वह पर्वत पर आचार्य महोदय के प्रवचन सुनने के लिए गया। उसकी दशा को देख करके गुरुदेव ने उसे संबोधन दिया–''तुम्हारा मरण का समय आ गया है, क्या व्रत की इच्छा करते हो?'' उस कुत्ते ने सिर हिलाकर के स्वीकृति दी। णमोकार मंत्र सुनकर के उसने आगे रखे भोजन पानी के परित्याग को स्वीकार कर लिया। धर्मशाला में उसके सामने अन्न–पान रख देने पर भी वह उसे देखता नहीं था। १९ नवम्बर के दिन पंचपरमेष्ठी के उच्चारण को सुनते हुए उसका देवलोक हो गया।

अल्पसार्थकभाषी

आचार्यदेव बहुत कम बोलते हैं, किन्तु उनका कम बोलना भी महान् अर्थ से युक्त रहता है। एक बार इन्दौर नगर का एक श्रावक कुण्डलपुर तीर्थ पर दर्शन के लिए आया। दर्शन से अभिभूत हुआ वह प्रवचन का अभिलाषी हो गया, किन्तु उस समय गुरुदेव प्रवचन न करके अपनी साधना में ही लीन रहते थे। अति साहस करके गुरु के पास जाकर वह सज्जन कहने लगे–आपसे दो शब्द सुनना चाहता हूँ। कृपा करके आप मेरी व्याकुलता को पूरी कर दें। आज मैं घर वापस लौट रहा हूँ। फिर

भवेत्? वस्तुतः किं नाम धर्मः अस्ति? तदाह गुरुदेवः– 'अद्यपर्यन्तं यत् न रुचिकरं जातं स एव धर्मः यच्च रुचिकरं अभूत् स एव अधर्मः' गुरुदेवस्य सार्थमल्पवचनं श्रुत्वा स मनसि गद्गदायते।

तथैव १९८७ ई० तमे नैनागिरितीर्थे एकः विद्वान् 'तीर्थंकर' नाम पत्रिकायाः सम्पादकः डॉ० नेमिचन्द्र जैनः दर्शनार्थं आगतः। सः जिज्ञासते–भवतः आध्यात्मिकता काव्यसाधना च परस्परं घनिष्ठमित्रवत् दृश्यते। तत्कथं सम्भवेत्? काव्यस्य सम्बन्धः लालित्येन अस्ति, अध्यात्मस्य तु निजात्ममात्रेण इति। तदाह गुरुदेवः– ''यद्यपि अहं अध्यात्मं रुच्ये तथापि काव्यरचनार्थं यदा बहिः आयामि तदा विश्राम्यति।''

तथैव जाबलिपुरमहानगरे बाबारामदेवः दर्शनार्थं आगतः। निकटं स्थित्वा पृच्छतिस्म–भवता महाशिक्षिता युवानः दीक्षिताः, एतस्य महासंघस्य भवान् एव आचार्यः। भवता कथं संसारात् सर्वे विमुखीकृताः इति ज्ञाप्स्यामि। तदाह गुरुदेवः–''मया किमपि न कृतं एतेभ्यः संसारः न रुचितः तेन अत्र आगताः। सर्वे हसितवन्तः अकर्तव्यं च दृष्टवन्तः।''

नारीशक्ति उद्धारक

नारीषु करुणामातृत्वसमर्पणबुद्धिकौशलप्रबंधनादिनानागुणनैपुण्यं स्वभावेन तिष्ठति। तेषां गुणानां योजको हि दुर्लभः। यदुक्तं–कदाचित् पूर्वकर्मवशेन पत्युः वियोगे नारीषु वैधव्यं आयाति। वैधव्ये सति

दर्शनलाभ कब होगा? वस्तुत मैं जानना चाहता हूँ कि धर्म किसका नाम है? तब गुरुदेव ने कहा–आज तक जो रुचिकर नहीं लगा, वह ही धर्म है और जो रुचिकर लगा, वह अधर्म है। गुरुदेव के सार्थक अल्पवचन सुनकर वह मन में गद्गद् हो गया।

उसी प्रकार १९७८ ई० में नैनागिरि तीर्थ पर एक विद्वान् डॉ० नेमिचन्द्र जैन दर्शनार्थ आए, जो 'तीर्थंकर' पत्रिका के सम्पादक थे। उन्होंने जिज्ञासा की, कि–आपकी आध्यात्मिकता और काव्य साधना में परस्पर घनिष्ट मित्रता देखी जाती है। वह कैसे संभव है? काव्य का सम्बन्ध लालित्य से है और अध्यात्म का सम्बन्ध अपनी आत्मा मात्र से है तभी गुरुदेव ने कहा–यद्यपि मैं अध्यात्म की रुचि रखता हूँ, फिर भी काव्य रचना के लिये जब बाहर आता हूँ, तब इससे विश्राम पाता हूँ।

उसी प्रकार जबलपुर महानगर में बाबा रामदेव दर्शन के लिए आए। निकट बैठकर उन्होंने पूछा–आपने महा शिक्षित युवाओं को दीक्षित किया है। इस महासंघ के आप आचार्य हैं। आपने इन सब को संसार से कैसे विमुख किया है, यह जानना चाहता हूँ। तब गुरुदेव ने कहा–मैंने कुछ भी नहीं किया, इनके लिए संसार रुचा नहीं, इसलिए ये यहाँ आ गए। यह उत्तर सुनकर सभी हँसने लगे और आचार्यदेव का अकृतत्व देखा।

नारीशक्ति उद्धारक

नारियों में करुणा, मातृत्व, समर्पण, बुद्धि, कौशल, प्रबंधन आदि नाना गुणों का नैपुण्य स्वभाव से रहता है। उन गुणों का योजक ही दुर्लभ है। कहा भी है–कदाचित् पूर्वकर्म के कारण पति का वियोग होने पर नारियों में वैधव्य आ जाता है। वैधव्य होने पर कभी भी पुनः विवाह नहीं किया

बाबा रामदेव आचार्यश्री से तत्त्वचर्चा करते हुए

कदापि पुनर्विवाहः न कर्तव्यः इति भारतीय-संस्कृति। यतश्च-

कविता कज्जलं कामः क्रयणं कौस्तुभो हृदि।
मृते भर्तरि नारीणां ककाराः पंच वर्जिताः॥९॥

एषा एव एका नारी धार्मिका सरला निष्ठया वैधव्यपूर्णजीवनने जीविता सतनानगर्यां निवसति स्म। यदा आचार्य देवस्य तन्नगर्यां आगमनं अभवत् तदा गुरुदेवस्य निर्दोषचर्यां उत्कृष्टज्ञानं च अवेक्ष्य सा समर्पिता जाता। तदुपरान्तं आचार्यदेवः कटनीं आगतवान्। तत्रैव तीव्रासाताकर्मोदयसंजाते आचार्यदेवः अस्वस्थः जातः। सा नारी 'रत्तीबाई' समर्पणभावेन संघसेवां अकरोत्। तस्याः योग्यतां परिलक्ष्य गुरुदेवेन ब्राह्मीआश्रम, सागरस्य संचालिका नियुक्ता। तस्याः कुशलनेतृत्वे ब्रह्मचारिभगिनीनां संख्या पञ्चदशसंख्यातः द्विशतपञ्चाशत् जाता। तत्प्रेरणातश्च सप्तविंशतिभगिनीभिः दीक्षा गृहीता। निजायुषः पूर्णतां ज्ञात्वा सा समाधिमरणव्रतं ग्रहीतवान्। द्विसप्ततिवर्षायुषि तया सल्लेखनामरणं क्षुल्लिकादीक्षया आत्मश्रीनाम्ना संजातम्।

एवंविधा अनेका नारयः स्वपरकल्याणं आप्ता। संप्रति नारीसंस्काराणां सुष्ठु दृढीकरणाय शिक्षां प्रदानाय गुरुदेवेन 'प्रतिभास्थली' नाम्ना एकसंस्था स्थापिता। यत्र बालब्रह्मचारिणः त्रिशतसंख्यका भगिन्यः अध्यापनकार्यं निजव्रतपालनं च कृत्वा स्वपरकल्याणेन समयं सार्थकं कुर्वन्नासन्।

जाता है, यह भारतीय संस्कृति है। क्योंकि-

''कविता, काजल, कामभाव, क्रय (खरीददारी करना), कौस्तुभ (सुगंधित पदार्थ) ये पाँच ककार भर्ता के मर जाने पर नारियों के हृदय में नहीं होने चाहिए।''

ऐसी ही एक धार्मिक, सरल नारी निष्ठा से वैधव्यपूर्ण जीवन जीती हुई सतना नगर में निवास करती थी। जब आचार्यदेव का उस नगरी में आगमन हुआ, तब गुरुदेव की निर्दोष चर्या और उत्कृष्ट ज्ञान को देखकर वह समर्पित हो गई। उसके बाद आचार्यदेव कटनी नगर आ गए। वहीं पर तीव्र असाता कर्म के उदय से आचार्यदेव अस्वस्थ हो गए। उस स्त्री 'रत्तीबाई' ने वहाँ समर्पण भाव से संघ में सेवा (आहारदानादि) की। उसकी योग्यता को देखकर गुरुदेव ने उन्हें ब्राह्मी आश्रम सागर की संचालिका नियुक्त किया। उन्हीं के कुशल नेतृत्व में ब्रह्मचारिणी बहनों की संख्या १५ से २५० हो गई। उन्हीं की प्रेरणा से २७ बहनों ने उस समय दीक्षा ग्रहण की। अपनी आयु की पूर्णता जानकर रत्तीबाई ने समाधिमरण व्रत ग्रहण किया। ७२ वर्ष की आयु में उनका सल्लेखनामरण क्षुल्लिका दीक्षा के साथ क्षुल्लिकाश्री 'आत्मश्री' नाम के साथ हुआ।

इस प्रकार की अनेक नारियाँ स्व-पर कल्याण को प्राप्त की हैं। वर्तमान में नारी संस्कारों को अच्छी तरह दृढ़ करने के लिए और उन्हें शिक्षा प्रदान करने के लिए गुरुदेव ने 'प्रतिभास्थली' नाम से एक संस्था स्थापित की। जिसमें बाल ब्रह्मचारिणी लगभग ३०० बहनें अध्यापन कार्य करके और अपने व्रतों का पालन करके स्व-पर कल्याण के द्वारा समय को सार्थक करती हुई रह रहीं हैं।
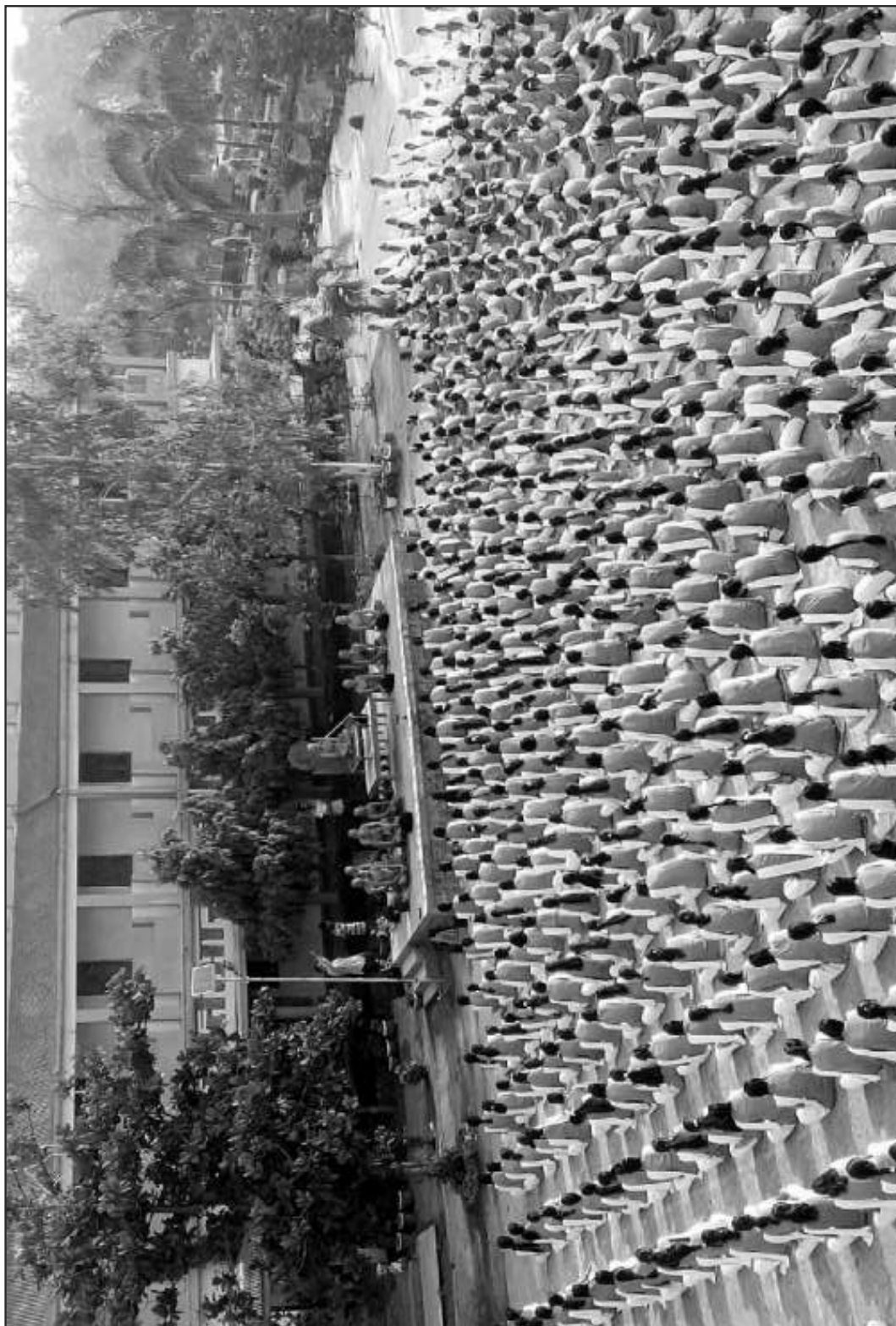
प्रतिभास्थली की बालिकाओं को उपदेश देते हुए आचार्यश्री

महान् अतिथिः

संयममविराधयन्नतति सोऽतिथिः। मनोवाक्कायभेदेन यः संयमं परिपालयति स एव संयमी। यश्च वाक्संयमं धारयति स न चिरकालपूर्वं हि वचनबद्धो भवति। तेनेव कारणेन श्रीगुरुः पंचकल्याणवर्षायोग-विधानादिकरणाय पूर्वेण वचनबद्धो न कदापि स्यात्। तथैव स्वीयदीक्षाचार्यपदारोहणादिदिवसानां न प्रतीक्षां करोति, न च पूर्वेण कदापि समायोजयति किञ्चित्। कतिवरं तु स दिवसो विहारकाले हि गमयति। न च तद्दिवसार्थं शीघ्रं गत्वा नगरमायाति। श्रीगुरुवे संयमादिदिवसाः अपि न रोचन्ते किं पुनर्जन्मादिदिवसस्य वार्ता। दीक्षादि दिवसेष्वपि यदा संघस्था मुनयः सुधियः श्रावकाश्च अतिनिवेदनं कुर्वन्ति तदा मञ्चस्योपरि विराजमानो भवति। तद्दिवसे स्वगुरोः स्मरणं विशेषेण करोति श्रीगुरुः।

निर्ग्रन्थो व्रतधारी यः पापारम्भविवर्जितः।
कदाऽऽयातो कदा यातस्तिथिर्न निश्चितं कृता ॥१०॥

मम पूजादिसत्कारो भवेदिति तु चिन्तया।
प्रवर्तते विना नित्यं सोऽतिथिरवगीयते॥११॥

हितकरज्ञानप्रदाता

जबलपुरे १९८१ ई० तमस्य एषा वार्ता अस्ति। गुरुदेवस्य संघस्थाः साधवः पठनपाठनार्थं ग्रन्थादि-

---

महान् अतिथि

संयम की विराधना किये बिना जो चलते हैं, वे अतिथि हैं। मन-वचन-काय के भेद से जो संयम का परिपालन करते हैं, वह ही संयमी हैं। जो वचन संयम को धारण करते हैं, वो बहुत पहले से वचनबद्ध नहीं होते हैं, इसी कारण से श्रीगुरु पंचकल्याणक, वर्षायोग, विधानादि करने/कराने के लिए पहले से वचनबद्ध कभी नहीं होते हैं। उसी प्रकार अपनी दीक्षा, आचार्य पदारोहण आदि दिवस की प्रतीक्षा भी नहीं करते हैं और न पहले से कभी भी कुछ भी समायोजना करते हैं। कितनी ही बार तो वह दीक्षा दिवस आदि के दिन विहारकाल में ही चले जाते हैं। उस दिन के लिए शीघ्र चल करके नगर में भी नहीं आते हैं। श्रीगुरु के लिए संयम आदि दिवस भी नहीं रुचते हैं फिर जन्मदिन आदि की क्या बात? दीक्षादिवस आदि के दिनों में भी जब संघस्थ मुनि, सुधी श्रावक अत्यधिक निवेदन करते हैं, तब वह मंच पर विराजमान होते हैं, उस दिन वह अपने गुरु का स्मरण विशेष रूप से करते हैं।

''जो निर्ग्रन्थ हैं, व्रतधारी हैं, पाप और आरम्भ से रहित हैं, कब आये और कब गये इस प्रकार से जिनकी तिथि निश्चित नहीं की गई है तथा मेरा पूजा आदि सत्कार हो इस प्रकार की चिंता के बिना जो सदा प्रवृत्ति करते हैं वह अतिथि कहे जाते हैं''

हितकर ज्ञान प्रदाता

जबलपुर १९८१ ई० की यह बात है-गुरुदेव के संघस्थ साधु पठन-पाठन के लिए ग्रन्थ आदि

सामग्रीमपि आज्ञां विना न गृह्णन्ति स्म। पठनार्थं शास्त्रं कथं आनयेत् इति विचिन्त्य मुनिक्षमासागर–सुधासागरादिसाधवः कोमलसिंघईनामकं श्रेष्ठिश्रावकं कथितवन्तः यत्–आचार्यगुरुदेवस्य करकमलयोः शास्त्रमर्पितव्यं येन वयं साधवः बुद्धिमन्तः भवेम। श्रावकबन्धुना जैनेन्द्रसिद्धान्तकोशस्य त्रयो भागाः समर्पिताः। एकद्विदिवसानन्तरं ते साधुभिः गृहीताः। त्रिदिवसानन्तरं गुरुदेवेन पृष्टं–ते कोशाः कुत्र गताः। अस्माकं पार्श्वे सन्ति इति निगदिताः सर्वैः। अस्तु–अस्तु। अधुना कक्षायां अध्ययनं मत्समीपे कर्तुं न आवश्यकता अस्ति। भवन्तः कोशात् एव ज्ञानं प्राप्नुयुः। सर्वे उदासीनाः जाताः। क्षणान्तरे सर्वैः कोशग्रन्थाः आनीय धृताः। तदा वात्सल्येन गुरुणा प्रबोधितं–भो! साधवः! कोशेन ज्ञानस्य पूर्णता न भवति। इदानीं भवन्तः बालबुद्धयः सन्ति। आचार्याणां मूलग्रन्थानां अभ्यासः प्रथमः कर्तव्यः। तेनैव ज्ञानं दृढतरं भवति। कोशास्तु कदा क्वापि काले विशिष्टसन्दर्भदर्शनार्थं पठेयुः। सर्वे गुरुदेवस्य दूरदर्शिहितकारिज्ञानं अवबुध्य प्रसन्नाः जाताः।

सकारात्मकाहिंसकः

''धम्मो दयाविसुद्धो'' ''धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो'' इत्यादि गाथाभिरहिंसा धर्मस्योद्घोषणा पूर्वाचार्यैः कृताऽस्ति। पिपीलिका न हंतव्या, जीवो न मारितव्यः इत्यादि हिंसातो विरमणमहिंसा अस्ति निषेधात्मकस्वरूपात्, किन्तु अहिंसाया सकारात्मकपक्षः अपि अस्ति। सत्त्वेषु मैत्री, विश्वकल्याणस्य

सामग्री को भी बिना आज्ञा के ग्रहण नहीं करते। पढ़ने के लिए शास्त्र कैसे बुलायें, ऐसा विचार करके मुनि क्षमासागर, सुधासागर आदि साधुओं ने कोमल सिंघई नाम के श्रेष्ठी श्रावक को कहा कि आचार्य गुरुदेव के करकमलों में शास्त्र को अर्पित कर दीजिये, जिससे हम सभी साधुओं को ज्ञान प्राप्त होवे। श्रावक बन्धु ने जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश के तीन भाग समर्पित कर दिये। एक दो दिन के बाद वे ग्रन्थ साधुओं ने ले लिए। तीन दिन के बाद गुरुदेव ने पूछा–वे कोश कहाँ गये? सभी ने कह दिया–वह हम लोगों के पास हैं। गुरुदेव ने कहा– ठीक है, ठीक है, आज कक्षा में अध्ययन के लिए मेरे पास आने की आवश्यकता नहीं है, आप लोग कोश पढ़कर ही ज्ञान प्राप्त करें। सभी उदास हो गए। थोड़ी देर बाद सभी ने कोश ग्रन्थ ला करके रख दिये। तभी वात्सल्य से गुरु ने समझाया– भो साधुओ! कोश से ज्ञान की पूर्णता नहीं होती है। इस समय आप लोग बाल–बुद्धि हो। आचार्यों के मूल ग्रन्थों का अभ्यास पहले करना चाहिए, उससे ही ज्ञान दृढ़ होता है। कोश तो कभी किसी समय पर विशिष्ट संदर्भ देखने के लिए पढ़ने चाहिए। सभी साधु गुरुदेव के दूरदर्शी हितकारी ज्ञान को समझकर प्रसन्न हुए।

सकारात्मक अहिंसक

धम्मो दया विसुद्धो अर्थात् धर्म दया से विशुद्ध है ''धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो'' अर्थात् धर्म मंगल है, अहिंसा, संयम और तप उत्कृष्ट हैं। इत्यादि गाथा के द्वारा अहिंसा धर्म की उद्घोषणा पूर्वाचार्यों ने की है। चींटी नहीं मारना चाहिए, जीव को नहीं मारना चाहिए इत्यादि हिंसा से दूर होना अहिंसा है। यह अहिंसा का निषेधात्मक स्वरूप है, किन्तु अहिंसा का सकारात्मक पक्ष भी होता है। सभी जीवों में मैत्रीभाव, विश्वकल्याण की भावना, प्राणिमात्र के उद्धार के लिए प्रयास, मूक

भावना, प्राणिमात्रोद्धारकाय प्रयासः, मूकपशून् प्रति संवेदना इत्यादयः। एवं विचिन्त्यापि पूर्वं पञ्चशताधिक-द्विसहस्रवर्षाणि व्यतीतानि किन्तु काऽपि कल्याणकारी योजना न प्रवृत्ता आसीत्। 'दयोदयगोशाला' इति नाम्ना अनेकस्थानेषु गोशालाषु गोरक्षणं क्रियते। आशीर्वादस्य माहात्म्यम् एतत्।

त्रिसन्ध्याभिवन्दी

आचार्यदेवः चतुर्दिशासु दिग्वन्दनानन्तरं त्रिकालसामायिकात् पूर्वं पश्चाद्वा ''स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले...'' इत्यादि स्वम्भूस्तोत्रं प्रतिदिवसं पूर्वाह्णे मध्याह्णे अपराह्णे च पठति। इत्थं चतुर्विंशतितीर्थङ्कराणां स्तुतिः तीव्ररागभक्त्या क्रियते। नन्दीश्वरभक्तिरपि त्रिसन्ध्यासु भवता पठ्यते। सामायिकपाठः 'सत्त्वेषु मैत्री...' इति चापि आम्नायते। एवं अर्हद्भक्तिः, तीर्थङ्करभक्तिः, तीर्थभक्तिः, चैत्यभक्तिः इत्येताः प्रति तीव्रानुरागेण कृता भक्तिः आत्मानं विशुध्यति सर्वास्रव निरोधिनी च भवति।

निर्विकल्पनिर्दोषसामायिकः

श्रीगुरुः त्रिसन्ध्यासु शुद्धोपयोगमुख्येन निर्विकल्पसामायिकं अनुष्ठाति। तदर्थं स नियमेन अध्यात्म-गाथापाठमवलम्ब्य शुद्धात्मानं ध्यायति। तासु गाथासु काश्चिदत्र प्रस्तूयन्ते।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥

पशुओं के प्रति संवेदना इत्यादि। इस प्रकार चिंतन करके भी पहले ढाई हजार वर्ष बीत गये, किन्तु कोई भी कल्याणकारी योजना प्रवृत्त नहीं हुई। 'दयोदय गौशाला' इस नाम से अनेक स्थानों पर गौशालाओं में पशुओं की रक्षा की जाती है। यह गुरुदेव के आशीर्वाद का माहात्म्य है।

त्रिसंध्याभिवन्दी

आचार्यदेव चारों दिशाओं में दिग्वन्दना करने के बाद तीनों काल की सामायिक से पहले अथवा बाद में स्वयंभूस्तोत्र प्रतिदिन पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न में पढ़ते हैं। इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति वह तीव्र राग भक्ति से पढ़ते हैं। नन्दीश्वर भक्ति भी तीनों संध्याओं में आप पढ़ते हैं। सामायिक पाठ सत्त्वेषु मैत्रीं...इसका भी पाठ करते हैं। इस प्रकार अर्हत्भक्ति, तीर्थंकरभक्ति, तीर्थभक्ति, चैत्यभक्ति, इत्यादि भक्तियों के प्रति तीव्र अनुराग के साथ आत्मा की विशुद्धि होती है और सब प्रकार के आस्रव रुक जाते हैं।

निर्विकल्पनिर्दोषसामायिकः

श्रीगुरु तीनों संध्याओं में शुद्धोपयोग की मुख्यता से निर्विकल्प सामायिक करते हैं। उसके लिए वह नियम से अध्यात्म गाथाओं के पाठों का आलम्बन लेकर शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं। उन गाथाओं में कुछ गाथायें यहाँ प्रस्तुत की जा रहीं हैं–

अरस, अरूप, गंधरहित, अव्यक्त, चेतनागुण वाला, शब्दरहित, लिंग के ग्रहण से रहित और अनिर्दिष्ट संस्थान वाला जीव जानो ॥ समयसार ५४॥

मा मुज्झह मा रज्झह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्प-सिद्धीए ॥

एगो मे सासदो आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥

एवं कृते सति निश्चयप्रतिक्रमण-निश्चयभक्ति-निश्चयध्यानरूप-निश्चयावश्यकं साधयति।

आचार्यदेवः अस्वस्थावस्थायामेव णमोकारमन्त्रेण जापानुष्ठानं कुर्वन् सामायिकं पूरयति। एकदा अत्यन्तरुग्णावस्थायां शयानो हि सामायिकं कृतवान्। पश्चात् ब्रूते कञ्चित् मया पञ्चमाला पूर्णरूपेण जपिता।

गुरुदेवः अनेककार्यार्थं आगतजनानां व्यासङ्गेनापि सामायिककालं न परित्यजति। माला कदापि न धत्ते। अस्वस्थकाले यदि कश्चित् प्रददाति तदैव ग्रहणं कृत्वा पुनस्त्यजति। हस्तेनैव गणनां कृत्वा एकवारे चतुर्विंशतिमालाः जपितुं समर्थोऽस्ति। ''प्रमादो न कर्तव्यः। प्रमादेन निद्रया च सामायिककालस्य पूरणापेक्षया

यदि तुम विचित्र ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त को स्थिर करना चाहते हो, तो इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में मोह मत करो, राग मत करो, द्वेष मत करो ॥ द्रव्यसंग्रह ४८॥

मेरा आत्मा ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला है, एक है, शाश्वत है, शेष सभी बाहरी भाव संयोग लक्षण वाले हैं ॥ नियमसार १०२॥

मैं एक हूँ, निश्चय से शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य परमाणु मात्र कुछ भी मेरा नहीं है ॥ समयसार ४३॥

इस प्रकार ध्यान करने पर निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय भक्ति, निश्चय ध्यानरूप, निश्चय आवश्यकों को वह साधते हैं।

आचार्यदेव अस्वस्थ अवस्था में ही णमोकार मंत्र से जाप अनुष्ठान करते हुए सामायिक को पूर्ण करते हैं। एक बार अत्यन्त रुग्ण अवस्था में लेटे हुए ही सामायिक की, बाद में किसी को कहा- ''मैंने पाँच माला पूर्णरूप से जाप कर लीं।''

गुरुदेव अनेक कार्यों के लिए आये हुए लोगों के कारण व्यासंग होने पर भी सामायिक काल को नहीं छोड़ते हैं। वह कभी भी अपने पास माला नहीं रखते हैं। अस्वस्थ अवस्था में यदि कोई माला दे देता है, तो उसे ग्रहण कर, पुनः छोड़ देते हैं। जाप हाथ से ही गणना करके एक बार में चौबीस मालाओं का जाप करने में समर्थ हैं। आप कहते हैं कि 'प्रमाद नहीं करना चाहिए'। प्रमाद से और निद्रा से सामायिक काल की पूर्ति करने की अपेक्षा णमोकार मंत्र की पाँच मालाओं का जाप अवश्य

णमोकारमंत्रस्य पञ्चमाला जाप्या: अवश्यमिति'' शिष्यान् प्रतिबोधयति।

रुचिकराध्यात्मपदावली

आचार्यदेव: प्रतिदिनं प्रात: स्वाध्यायप्रतिक्रमणसामायिकावश्यकस्य पश्चात् स्वयंभूस्तोत्रं पठति। तदुपरान्तं रुचिकराध्यात्मपदावली अपि भवता आम्नायते। तस्या: किञ्चित् विवरणमत्र–

अचेतनमिदं दृश्य-मदृश्यं चेतनं तथा।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि माध्यस्थोऽहं भवाम्यत: ॥

कोऽहं कीदृग् गुण: क्वत्य: किं प्राप्य: किं निमित्तक:।
इत्यूह: प्रत्यहं नो चे - दस्थाने हि मतिर्भवेत् ॥

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जीमेहि मा बहु जंपह।
दुक्खं सह जिण णिद्दा मेत्तिं भावेहि सुट्ठु वेरग्गं ॥

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मेत्तिं पहावेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥

करना चाहिए। इस तरह वह शिष्यों को समझाते हैं।

रुचिकराध्यात्मपदावली

आचार्यदेव प्रतिदिन प्रात:काल स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, सामायिक आवश्यक के पश्चात् स्वयंभूस्तोत्र पढ़ते हैं, उसके उपरान्त रुचिकर अध्यात्म पदावली का भी पाठ करते हैं। उसका कुछ विवरण यहाँ प्रस्तुत है–

यह दिखाई देने वाला जगत् अचेतन है तथा चेतन अदृश्य है। अत: मैं कहाँ रोष करूँ और कहाँ संतोष करूँ। इसलिए माध्यस्थ होता हूँ ॥ समाधितंत्र ४७॥

मैं कौन हूँ? मेरे गुण किस प्रकार के हैं? मैं कहाँ से आया हूँ? मेरे लिए क्या प्राप्त करने योग्य है? क्या निमित्त हैं? इस प्रकार प्रतिदिन ऊहापोह यदि नहीं होती है, तो अस्थान में बुद्धि चली जाती है ॥ क्षत्रचूड़ामणि॥

भिक्षाचर्या करो, अरण्य में वास करो,थोड़ा भोजन करो, कम बोलो, दु:ख सहो, निद्रा जीतो, मैत्री की भावना करो और वैराग्य को अच्छा बनाओ ॥ मूलाचार॥

जिससे राग से विरक्ति हो, जिससे कल्याणमार्ग में राग उत्पन्न हो, जिससे मैत्री की प्रभावना हो, जिनशासन में वही ज्ञान कहा गया है ॥ मूलाचार २६८॥

जिससे तत्त्व का बोध हो, चित्त का निरोध हो, आत्मा विशुद्ध हो, जिनशासन में वही ज्ञान कहा

जेण तच्चं विवुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमोणपहुदी समदारहिदस्स समणस्स ॥

कालजयीकृतिकारः

श्रीगुरुदेवेन राष्ट्रभाषायां 'मूकमाटी' महाकाव्यस्य रचना कृता अस्ति। अस्मिन् काव्ये धर्मस्य दर्शनस्य अध्यात्मस्य च सारो दृश्यते एकतः अन्यतस्तु आतंकवाददलितजनसमस्यार्थलिप्सादि-सामाजिककुरीतानां निर्मूलनलक्ष्येण सह पारिवारिकवैयक्तिकसमस्यानां च निराकरणं दृश्यते। मृदादिमूकपात्रैः परस्परं चर्चा अतीव मिष्टा सार्थका च कृतिकारेण कारिता। अस्याः कृतेः रचना शून्यैकपञ्चद्वितमे वीरनिर्वाणसंवत्सरे (२५ अप्रैल १९८४) वैशाखकृष्णस्य दशमीतिथौ "श्री दिगम्बर जैन अतिशयक्षेत्र पिसनहारी मढिया-जबलपुर-मध्यप्रदेशे'

गया है ॥ मूलाचार २६७॥

जो मेरे द्वारा कुछ भी रूप देखा जाता है, वह सर्वथा कुछ नहीं जानता है और जो जानता है, उसका रूप दिखाई नहीं देता। इसलिए मैं किससे बोलूँ? ॥ समाधितंत्र ॥

जिसके शत्रु और बंधुवर्ग में समता हो, सुख और दुःख में समता हो, प्रशंसा और निन्दा में समता हो, मिट्टी के ढेले और स्वर्ण में समता हो, जीवन और मरण में समता हो, वह श्रमण है ॥ प्रवचनसार॥

वनवास में रहना, कायक्लेश करना, विचित्र उपवास करना, अध्ययन और मौन आदिधारण करना, समता रहित श्रमण के लिए ये क्या करेंगे? ॥ नियमसार ॥

कालजयीकृतिकार

श्रीगुरुदेव ने राष्ट्रभाषा में 'मूकमाटी' महाकाव्य की रचना की है। इस महाकाव्य में जहाँ एक ओर धर्म का, दर्शन का और अध्यात्म का सार दिखाई देता है वहीं दूसरी ओर आतंकवाद, दलितजनों की समस्या, अर्थलिप्सा आदि सामाजिक कुरीतियों का निर्मूलन लक्ष्य के साथ पारिवारिक वैयक्तिक समस्याओं का निराकरण भी दिखाई देता है। कृतिकार के द्वारा मिट्टी आदि मूक पात्रों की परस्पर में अत्यधिक मिष्ट और सार्थक चर्चा करायी गई है। इस कृति की रचना वी० नि० सं० २५१० वैशाखकृष्णा दशमी तिथि तदनुसार २५ अप्रैल, १९८४ में श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर (म० प्र०) में बुधवार को प्रारम्भ हुई थी। उसके बाद वी० नि० सं० २५१३ माघशुक्ल

बुधवासरे प्रारब्धा। ततश्च त्र्येकपञ्चद्वितमे (२५१३) वीरनिर्वाण संवत्सरे माघशुक्ल-त्रयोदश्यां बुधवासरे (११फरवरी १९८७) समाप्ता अभवत्। अस्य ग्रन्थस्य प्रकाशनं विश्रुतग्रन्थमाला 'भारतीयज्ञानपीठ' नाम्नः जातम् १९८८ ई० तमे। अस्योपरि एकः डी० लिट्० , सप्तविंशतिः पी-एच० डी० सम्बन्धि विशालाः शोधप्रबन्धाः, अष्टौ एम० फिल०, द्वौ एम० एड०, षट् एम० ए० सम्बन्धिलघुशोधप्रबन्धाश्च शोधार्थिनाः लिखिताः। आंग्लबांग्लामराठीकन्नडभाषायामपि अनुवादः जातः। राष्ट्रभाषायाः लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारः 'साहित्य अकादेमी नयी दिल्ली' इति संस्थायाः पूर्वसचिवः 'डॉ० प्रभाकर माचवे' इति नामधेयस्य सम्पादकत्वे अनेकसमालोचकैः विविधपक्षमाधारीकृत्य त्रिशतं समीक्षाः लिखिताः। तासां प्रकाशनमपि भारतीयज्ञानपीठ संस्थातः त्रिषु खण्डेषु अभवत्। प्रथमं संस्करणं २००७ ई० तमे प्रकाशितं 'मूकमाटी मीमांसा' इति शीर्षकेण। तन्मीमांसायाः कुशलसम्पादनं पूर्वसम्पादकस्याकस्मिकनिधनात् विक्रमविश्वविद्यालय उज्जैनस्य पूर्व हिन्दीविभागाध्यक्षः मूर्धन्यविद्वान् 'आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी' अकरोत्।

शिथिलाचारविनाशकः

मुनिराजः षड्कायजीवहिंसातो विरक्तो भवति। आधुनिक युगे विद्युत्प्रयोगेन समुत्पन्नसाधनानि अनेकानि उपलभ्यन्ते। आचार्यदेवः रात्रौ पठनलेखनादिक्रियां न स्वयं करोति, न संघस्थान् अनुमोदयति।

नैनागिरौ शीतकाले एकदा संघस्थनवदीक्षिताः आचार्यदेवं प्रति निवेदयन्ति यत् रात्रिकप्रतिक्रमणं रात्रौ

त्रयोदशी बुधवार, तदनुसार ११ फरवरी, १९८७ को पूर्ण हुई। इस ग्रन्थ का प्रकाशन विख्यात ग्रन्थमाला भारतीय ज्ञानपीठ से १९८८ में हुआ। इसके ऊपर एक डी० लिट्, २७ पी-एच० डी० सम्बन्धी विशाल शोध प्रबन्ध, ८ एम० फिल०, २ एम० एड०, ६ एम० ए० सम्बन्धी लघुशोध प्रबन्ध शोधार्थियों के द्वारा लिखे गये है। अंग्रेजी, बांग्ला, मराठी, कन्नड़ भाषा में भी इसका अनुवाद हुआ है। राष्ट्रभाषा के प्रतिष्ठित साहित्यकार 'साहित्य अकादमी नई दिल्ली' संस्था के पूर्व सचिव 'डॉ० प्रभाकर माचवे' के सम्पादकत्व में अनेक समालोचकों के द्वारा विविध पक्षों को आधार बनाकर ३०० समीक्षाएँ लिखी गईं हैं। उनका प्रकाशन भी भारतीय ज्ञानपीठ संस्था से ही तीन भागों में हुआ है। प्रथम संस्करण ई० २००७ को 'मूकमाटी मीमांसा' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। पूर्व संपादक का आकस्मिक निधन हो जाने से उस मीमांसा का कुशल सम्पादन विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन के पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष मूर्धन्य विद्वान् 'आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी' ने किया है।

शिथिलाचारविनाशकः

मुनिराज छहकाय के जीवों की हिंसा से विरक्त होते हैं। आधुनिक युग में विद्युत् प्रयोग से उत्पन्न अनेक साधन उपलब्ध होते हैं। आचार्यदेव रात्रि में पठन, लेखन आदि क्रियायें न स्वयं करते हैं न संघस्थों को करने के लिए अनुमोदित करते हैं।

नैनागिरि शीतकाल में एक बार संघस्थ नवदीक्षित आचार्यदेव से निवेदन करते हैं, कि रात्रि प्रतिक्रमण हम लोग रात में पढ़ नहीं सकते हैं इसलिए आपकी आज्ञा चाहते हैं, कि बाहर प्रकाश उत्पन्न

पठितुं न शक्नुमः तेन भवतः आज्ञां इच्छन्ति–''बहिः प्रकाशोत्पादिका (लालटेन्) तिष्ठति किं तस्याः प्रकाशे स्थित्वा प्रतिक्रमणं कुर्मः''। आचार्यदेवेन कथितः–प्रातः खलु कर्तव्यम्। शिष्याः कथयन्ति–भवान् प्रातः अन्यविषयं कक्ष्यायां पाठयन्ति पश्चात् चर्यासमयः भवतिः तेन समयस्यावकाशो नास्ति। आचार्यदेवः पुनर्भणति–अर्धं आहारात् पूर्वं अर्धं च पश्चात् कुर्वन्ताम्। शिष्यैः मनसि अवगतम्–दीपप्रकाशे पठितुं आज्ञा नास्ति। सर्वे स्वस्थाने गताः। मासद्वयानन्तरं ते आगत्य कथयन्ति–सम्प्रति प्रतिक्रमणं स्मृतं। मासद्वय–सम्बन्धिदोषाणां–प्रायश्चितं वाञ्छामः। आचार्यदेवैः समुक्तम् इदानीं तु मासद्वयं एव दोषभागिनः। यदि रात्रौ पठितुं आज्ञां अहं अयच्छम् तदा जीवनपर्यन्तं दोषानुषङ्गो जायेत।

अद्‌भुत चिन्तक

कुण्डलपुर तीर्थक्षेत्रे एकदा आचार्यदेवः ससंघः विराजमानः आसीत्। तदा तीव्रग्रीष्मसमयः वर्ततेस्म। प्रातः पर्वतस्थ–जिनदेवस्य वन्दनाकरणानन्तरं अवरूह्य वसतिकायां आगतः तदा ईषद्‌विश्रान्तः आसीत्। कमण्डलुं शोषणार्थं आस्थत्। तत्र स्थितः अपि चिन्तनं प्रावर्तत। सहजेनोक्तम्–''अद्य एकः अभिनवा हाइकूछन्दसि रचना जाता'' मया उत्कण्ठया पृष्टं–आचार्यदेव! अवश्यं श्रावयितव्यम्। तिलस्य ओटे, पर्वतः अस्तः ज्ञानं, ज्ञेयतः वृहत्। पुनरुक्तः। मया शिरः प्रकम्पितम्। क्षणं विश्रम्य मयोक्तम्। आचार्यश्री! ज्ञानं ज्ञेयात् वृहत् कथं भवेत्। आचार्य कुन्दकुन्ददेवैस्तु प्रवचनसारे प्रोक्तम्–'णाण णेयपामाणं'। आचार्यदेवेनोक्तम्–

करने वाली लालटेन है। क्या उसके प्रकाश में बैठकर प्रतिक्रमण कर सकते हैं? आचार्यदेव ने कहा प्रातः कर लेना चाहिए। शिष्यों ने कहा–प्रातः आप अन्य विषयों को कक्षा में पढ़ाते हैं, बाद में चर्या का समय हो जाता है, इसलिए समय नहीं मिलता है। आचार्यदेव ने कहा–आधा आहार से पहले कर लिया करो, आधा आहार के बाद कर लेना। शिष्यों ने मन में जान लिया, कि दीपक के प्रकाश में पढ़ने की आज्ञा नहीं है। सभी अपने स्थान पर चले गए। दो माह बाद वे सभी आकर कहते हैं, कि अब हमें प्रतिक्रमण याद हो गया है। दो मास सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित चाहते हैं। आचार्यदेव ने कहा अभी तो आप दो महीने के दोष के ही भागी बने हैं। यदि रात्रि में पढ़ने की आज्ञा देते, तो जीवनपर्यंत दोष लगता रहता।

अद्‌भुत चिन्तक

कुण्डलपुर तीर्थक्षेत्र पर एक बार आचार्य–श्री ससंघ विराज रहे थे। बहुत तीव्र गर्मी का समय था। सुबह पहाड़ पर बड़े बाबा जिनदेव की वन्दना करने के बाद, जब नीचे उतर के आए। कुछ थके हुए थे। कमण्डलु सुखाने के लिए रख दिया। बैठे–बैठे भी चिन्तन चल रहा था। सहज ही बोल उठे–आज एक नया हाइकू बनाया है। हमने बड़ी उत्कण्ठा से पूछा–आचार्यश्री! जरूर सुनाइये। मंदिर के शिखर की ओर देखते हुए–''तिल की ओट , पहाड़ छुपा ज्ञान/ ज्ञेय से बड़ा'' पुनः दोहराया। हमने सिर हिलाया। फिर क्षणभर रुककर हमने कहा–आचार्यश्री ज्ञान ज्ञेय से बड़ा कैसे हो सकता है? आचार्य कुन्दकुन्द ने तो प्रवचनसार में कहा है–'णाणं णेयपमाणं' अर्थात् ज्ञान तो ज्ञेय प्रमाण होता है।

मया ज्ञातं, त्वमेवमेव कथयेः। शृणु! प्रवचनसारग्रन्थे यल्लिखितं तज्ज्ञेयस्य प्रमाणापेक्षया अत्र तु ज्ञानस्य शक्त्यपेक्षया मया प्रोक्तं। अहं प्रहस्य स्वीकारोक्तिं कृतवान् अस्मि। आचार्यदेवः अतिप्रसन्नः अभवत्। शास्त्राद अपि अधिकतरा चिन्तनशक्तिः आचार्यदेवस्य इति विचिन्त्य विस्मितवान् अस्मि।

संस्कृतरचनाकारः

१. शारदास्तुतिः—संस्कृत-भाषायां गुरुदेवेन सर्वप्रथमं शारदास्तुतिः कृता। द्रुतविलंबितछन्दसि द्वादशपदकाव्येषु निबद्धा इयं स्तुतिः अतिसरला मनोरमा चास्ति। एषा कृतिः मदनगंजकिशनगढे, अजमेरप्रान्ते (राजस्थाने) क्रिस्ताब्दे १९७१ तमे वर्षायोगमध्ये रचिता जाता। एकं पद्यकाव्यं द्रष्टव्यमस्ति-

वृषजलेन वरेण वृषापगे शमय तापमहो मम दुस्सहम्।
सुखमुपैमि निजीयमपूर्वकं द्रुतमहं लघुधीरथ येन हि ॥६॥

शारदास्तुतिपूर्वकमाशीर्वादं प्राप्य भवता अनेकशतकानां रचना कृतेति मन्येऽहम्। स्तुतेः राष्ट्रभाषायां पद्यानुवादः सिवनी (म० प्र०) स्थाने पंचकल्याणकोत्सवात् पूर्वं क्रिस्ताब्दस्य १९९१ तमे कृतः।

२. श्रमणशतकम्— आचार्यगुरुदेवैः श्रुतोपयोगे मनोनिरोधाय संस्कृतभाषायां श्रमणसंस्कृतिसंवर्धनार्थं च संस्कृतकाव्यानां रचना कृता। सा कृतिः आर्याछन्दसि ६ मई १९७४ ई० तमे विनिर्मिता। तस्याः मातृभाषायां

आचार्यश्री बोले-मुझे मालूम था तुम यही कहोगे। देखो! प्रवचनसार में जो लिखा है वह ज्ञेय के प्रमाण की अपेक्षा से है और यह जो हम कह रहे हैं वह ज्ञान शक्ति की अपेक्षा से है, आया समझ में। और हमने हँसकर स्वीकृति प्रदान की हाँ, बिल्कुल सही। आचार्यश्री भी प्रसन्न हुए। शास्त्रों से भी ऊपर उठकर सोचने वाली चिन्तनशक्ति को समझकर हम आश्चर्यचकित रह गए।

२९. संस्कृत रचनाकारः—

१. शारदा स्तुति—संस्कृत भाषा में सबसे पहले गुरुदेव ने शारदा स्तुति की रचना की। द्रुतविलम्बित छन्द में बारह पद्य काव्यों में निबद्ध यह स्तुति अति सरल और मनोरम है। यह कृति राजस्थान अजमेर जिला मदनगंज किशनगढ़ में १९७१ ई० के वर्षायोग काल के मध्य रची गई। इसका एक काव्य द्रष्टव्य है-

धर्मामृत की वर्षा करके, ताप हरो मुझे हर्षा करके।
सुखमय जीवन अथाह मम हो, धर्मामृत के प्रवाह तुम हो॥

शारदा स्तुति पूर्वक जिनवाणी आशीर्वाद प्राप्त करके आपने अनेक शतकों की रचना की, ऐसा मैं मानता हूँ। इस स्तुति का हिन्दी भाषा में पद्यानुवाद सिवनी मध्यप्रदेश पंचकल्याणक उत्सव से पहले १९९१ में किया गया।

२. श्रमणशतक—आचार्य गुरुदेव के द्वारा श्रुतोपयोग में मन लगाने के लिये एवं श्रमणसंस्कृति का संवर्धन करने के लिये संस्कृत भाषा में संस्कृत काव्यों की रचना की गई। आर्या छन्द में वह कृति (श्रमणशतक) ६ मई १९७४ ई० में पूर्ण हुई। इसका हिन्दी भाषा में पद्यानुवाद १८ सितम्बर, १९७४ ई०

पद्यानुवाद: १८ सितम्बर १९७४ ई० तमे अजमेरे राजस्थाने पूर्णीकृतः। मङ्गलाचरणे यल्लिखितम्–

श्री वर्धमान! माऽय आकलय्य मतसुराप्तमानमाय!।
विधींश्चा मानमाय मचिरेण कलयामनिमाय ॥१॥

अन्तिमश्लोके च निवेदितम् –

वै विषमयीमविद्या विहाय ज्ञानसागरजां विद्याम्।
सुधामेम्यात्मविद्यां नोच्छामि सुकृतजां भुविद्याम् ॥१०१॥

अस्मिन् ग्रन्थे आचार्यधरसेनविरचितविश्वलोचनकोषस्य प्रयोगः बाहुल्येन अभवत्।

३. भावनाशतकम्– दर्शनविशुद्धिप्रभृतिषोडशकारणभावनानां विवरणं शब्दानुप्रासयमकचित्रालंकारैः अलंकृत्य अस्मिन् ग्रन्थे कृतमस्ति। अस्य प्रथमश्लोके रत्नत्रयधरगुरुं संपूज्य निष्कामभावनायाः प्राप्ते प्रार्थना कृतास्ति। तद्यथा–

सुधृतरत्नत्रयशरं गुरो ध्यानवसुनिनष्ट कुसुमशरम्।
त्वां पीतानुभवशरं यजेऽमुं शमय मेऽनाश! रम् ॥१॥

आर्यानुष्टुप् छन्दसि शतकं पूर्णं कृत्वा एकश्लोके गुरुस्मरणं विधाय ग्रन्थसमाप्तिः कृता। वीरनिर्वाण–

में अजमेर राजस्थान में पूर्ण हुआ। मंगलाचरण में आपने लिखा है–

जिनके समक्ष देव नम्रीभूत हैं, जिन्होंने ज्ञान, लक्ष्मी और यश को प्राप्त किया है तथा जो मान और माया से रहित हैं, ऐसे हे वर्धमान जिनेन्द्र! मेरे कर्म और जन्म–जरा–मृत्यु रूप रोगों को एक साथ शीघ्र ही नष्ट कर मुझे कल्याणरूप अवस्था अथवा सुयश को प्राप्त कराओ ॥१॥

अंतिम श्लोक में भी कहा है–मैं आत्मज्ञ, निश्चय से विषमयी अविद्या को छोड़कर ज्ञानरूप सागर में उत्पन्न ज्ञानसागरजी से प्राप्त आत्मविद्या को प्राप्त होता हूँ। पुण्य से प्राप्त होने वाला जो स्वर्ग है, उसे नहीं चाहता हूँ ॥१०१॥

इस ग्रन्थ में आचार्य धरसेन विरचित विश्वलोचन कोश का प्रयोग बहुलता से हुआ है।

३. भावनाशतक–दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं का विवरण शब्दालंकार, अनुप्रासालंकार, यमकालंकार, चित्रालंकार से अलंकृत करके इस ग्रन्थ में किया गया है। इसके प्रथम श्लोक में रत्नत्रयधारी गुरु की पूजा करके निष्काम भावना की प्राप्ति की प्रार्थना की गई है। वह इस प्रकार है–

हे गुरो! हे ज्ञानसागर! हे अनाश! नाश अथवा आशा से रहित! रत्नत्रयरूप हार के धारक, ध्यानरूप अग्नि के द्वारा काम को नष्ट करने वाले और अनुभवरूपी जल का पान करने वाले आपकी मैं पूजा करता हूँ। आप मेरी इस कामाग्नि को शांत कर मुझे निष्काम बनने में सहायक हों।

आर्या, अनुष्टुप् छन्द में यह शतक पूर्ण करके एक श्लोक में गुरु का स्मरण करके ग्रन्थ की समाप्ति की गई है। वी० नि० सं० २५०१ तदनुसार ११ मई, १९७५ ई० रविवार को गंभीर नदी के तट पर

संवत्सरे द्विपञ्चशून्यैकतमे तदनु ११.०५.१९७५ ई० तमे रविवासरे गंभीरनदीतटस्थिते श्रीमहावीरजी अतिशयक्षेत्रे राजस्थानप्रान्ते इदं शतकं परिपूर्णमभवत्। अस्य पद्यानुवादः 'वसंततिलकाछन्दसि' तदेव वीरनिर्वाणवर्षे तदनु १०.०८.१९७५ ई० तमे रविवासरे सुहागनगरीसंज्ञया ख्याते फिरोजाबादनगरे उत्तरप्रदेशप्रान्ते बाहुबली-जिनालये समाप्तः।

४. निरञ्जनशतकम्—अस्मिन् ग्रन्थे सिद्धपरमात्मनः अर्हत्परमात्मनश्च गुणानुवादः कृतः। द्रुतविलम्बितछन्दसि एषा कृतिः विरचिता आसीत्। अस्य ग्रन्थस्य मङ्गलाचरणे जिनदेवस्य स्तुतिं करोमीति संकल्पः दृष्टः। तद्यथा–

सविनयं ह्यभिनम्य निरंजनं नतिमितं नृसुरैर्मुनिरंजनम्।
भवलयाय करोमि समासतः स्तुतिमिमां च मुदात्र समासतः ॥१॥

एकोनशतछन्दसि श्रमणशतकसदृशश्लोकं विरचितवान् गुरुदेवः। यत्र स्वनामगुरुनामोल्लेखः श्लेषालङ्कारे दृष्टव्यः। रचनाकालं स्थानपरिचयं च प्रदाय पञ्चश्लोके मंगलकामनाऽपि कृताऽस्ति। वीरनिर्वाण-संवत्सरे द्विपञ्चशून्यत्रितमे (२५०३ तमे) श्रुतपञ्चमीदिवसे तदनु २३.०५.१९७७ ई० तमे मध्यप्रदेशप्रान्ते दमोहजनपदे कुण्डलगिरिसिद्धक्षेत्रे इदं शतकं परिपूर्णमभवत्। तत्पश्चात् तत्रैव क्षेत्रे १६.०६.१९७७ ई० तमे वसंततिलकाछन्दसि पद्यानुवादः पूर्णः जातः।

स्थित श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र राजस्थान में यह शतक परिपूर्ण हुआ। इसका पद्यानुवाद वसंततिलका छन्द में उसी वीर निर्वाण वर्ष में १० अगस्त, १९७५ ई० रविवार को सुहागनगरी के नाम से विख्यात फिरोजाबाद नगर उत्तरप्रदेश प्रान्त के बाहुबली जिनालय में पूर्ण हुआ।

४. निरञ्जन शतक—इस ग्रन्थ में सिद्ध परमात्मा और अर्हत् परमात्मा का गुणानुवाद किया गया है। यह कृति द्रुतविलम्बित छन्द में रची गई है। इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में मैं जिनदेव की स्तुति करता हूँ, यह संकल्प किया गया है। वह इस प्रकार है–

इस जगत् में (मैं विद्यासागर) मनुष्यों और देवों के द्वारा स्तुत तथा मुनियों को प्रमुदित करने वाले कर्मकालिमा से रहित सिद्ध परमात्मा को विनयपूर्वक नमस्कार कर अपना संसार परिभ्रमण नष्ट करने के लिए हर्ष सहित उन निरंजन जिनेश्वर अथवा सिद्ध परमेष्ठी की संक्षेप से इस स्तुति को करता हूँ।

९९ छन्दों में स्तुति को पूर्ण करके अंतिम छन्द में श्रमणशतक के समान श्लोक की रचना गुरुदेव ने की है। जिसमें स्व नाम और गुरु नाम का उल्लेख श्लेषालंकार में देखा जाता है। रचनाकाल और स्थान का परिचय देकर बाद में पाँच श्लोकों में मंगलकामना भी की गई है। वी० नि० सं० २५०३ श्रुतपंचमी के दिन तदनुसार २३ मई, १९७७ ई० में मध्यप्रदेश दमोह जिले के कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र पर यह शतक पूर्ण हुआ। तत्पश्चात् उसी क्षेत्र पर १६ जून, १९७७ ई० में वसन्ततिलका छन्द में इसका पद्यानुवाद पूर्ण हुआ।

५. परीषहजय शतकम्—जिनदर्शने द्वाविंशतिपरीषहाणां वर्णनं यदुपलब्धं भवति तदेव द्रुतविलम्बित-छन्दसि नवभावसंयोजनैः सह स्वपरोपकारार्थं कृतमस्ति। परीषहविजयायसाम्यभावानामवलम्बन-मतीवाश्यकम्। तत्पूर्तये इदं शतकं बहूपयोगि अस्ति। कुण्डलगिरिकोनीजी (जबलपुर, म० प्र०) क्षेत्रे सप्ताधिक-शतकारिकासु रचित संस्कृत काव्यं ज्ञानोदयछन्दसि पद्यानुवादेन सह विक्रमसंवत्सरे द्विसहस्राष्टत्रिंशत्तमे तदनुसार ७.०३.१९८२ ई० तमे मंगलवारे फाल्गुनशुक्ल पूर्णिमायां पूर्णमभवत्। अस्यैकं काव्यं दृष्टव्यम्-

सपदि संपदि संविदि वा सुखी विपदि नो भुवि योऽविदि वाऽसुखी।
स हि परीषहकान् सहितुं क्षमः शुचितपश्चरमं विहितुं क्षमः ॥९६॥

६. सुनीतिशतकम्—विविधोपयोगिव्यावहारिकदृष्टान्तेन उपजातिछन्दसि कृता रचना अद्भुतानन्दं भक्तहृदये प्रवर्षति। अयं काव्यग्रन्थः विहारप्रान्तस्य गिरीडीहपुरे ज्ञानोदयछन्दसि राष्ट्रभाषायां पद्यानुवादेन सह विक्रमसंवत्सरे द्विसहस्रचत्वारिंशत्तमे तदनुसार २५.०४.१९८३ ई० सोमवासरे चैत्रशुक्लत्रयोदश्यां पूर्णोजातः। अस्यैकपद्यकाव्यं दृष्टव्यमस्ति-

क्षुद्रोऽस्मि बोधेन बलेन वीर! त्वदाश्रयात् स्याद् विभुता ध्रुवात्र।
स्यादुद्गमे सा नदिका लधिष्ठा नदीपतिं प्राप्य विमानपात्रा ॥९९॥

---

५. परीषहजयशतक— जिनदर्शन में जो २२ परीषहों का वर्णन प्राप्त होता है, वह वर्णन ही द्रुतविलम्बित छन्द में अभिनव भावों की संयोजना के साथ स्व-परोपकारार्थ किया गया है। परीषह विजय के लिए साम्य-भावों का अवलम्बन अत्यन्त आवश्यक है। उन भावों की पूर्ति के लिए यह शतक बहुत उपयोगी है। कुण्डलगिरि कोनीजी जबलपुर मध्यप्रदेश क्षेत्र पर १०७ कारिकाओं में रचित संस्कृत काव्य ज्ञानोदय छन्द में पद्यानुवाद के साथ विक्रमसंवत् २०३८ तदनुसार ७ मार्च १९८२ ई० दिन मंगलवार फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को पूर्ण हुआ। इसका एक काव्य दृष्टव्य है-

पदपूजन संपद संविद पा पद-पद होते सुखित नहीं,
निन्दन, आपद, अपयश में फिर साधु कभी हो दुखित नहीं।
दुस्सह सब परिषह सहने में सक्षम ऋषिवर धीर सभी;
आत्मध्यान के पात्र, ध्यान कर पाते हैं भव तीर तभी॥

अर्थ— पृथ्वी पर जो सम्पत्ति और सम्यग्ज्ञान में सुखी तथा विपत्ति और अज्ञान में शीघ्र ही दुखी नहीं होता, वही परीषहों को सहन करने में समर्थ होता है और वही निर्मल तप करने में शक्त होता है।

६. सुनीतिशतक—विविध उपयोगी व्यवहारिक दृष्टान्तों के द्वारा उपजाति छन्द में की गई यह रचना भक्त हृदय में अद्भुत आनंद वर्षाती है। यह काव्य ग्रन्थ विहार प्रान्त के गिरीडीह नगर में ज्ञानोदय छन्द में हिन्दी भाषा के पद्यानुवाद के साथ विक्रमसंवत् २०४० तदनुसार २५ अप्रैल १९८३ ई० सोमवार चैत्रशुक्ल त्रयोदशी को पूर्ण हुआ। इसका एक पद्यकाव्य दृष्टव्य है-

७. चैतन्यचन्द्रोदयशतकम्—अध्यात्मग्रन्थविषयकशुभाशुभशुद्धोपयोगानामालम्बनेन रचिता इयं कृतिः गुरुदेवस्य अनेकविषयेषु चिन्तनगम्भीरतां प्रवदति। अस्याः पूर्णता वीरनिर्वाणसंवत्सरे द्विसहस्र- पञ्चशतैक- विंशतितमे तदनु (१९९५ ई॰ तमे) श्रुतपञ्चमीदिवसे कुण्डलपुरसिद्धक्षेत्रे (दमोह म॰ प्र॰) जाता। पश्चात् पद्यानुवादसय पूर्णता वीरनिर्वाणवर्षे द्विसहस्रपञ्चशतैक त्रिंशत्तमे 'प्रतिभास्थली' ज्ञानोदयविद्यापीठस्य शुभारम्भदिवसे (तदनुसार १८ फरवरी २००५) जाता। पञ्चदशादिकशतकाव्येषु उपजातिछन्दसि रचनेयम्।

८. धीवरोदय चम्पूमहाकाव्यम्— एतत्काव्यं अद्यावधि अप्रकाशितमस्ति।

बहुभाषाविद्

आचार्यगुरुदेवस्य प्रारम्भिकशिक्षा गृहे कन्नड़भाषामाध्यमेन नवमकक्ष्यापर्यन्तमभवत्। आचार्यगुरु- ज्ञानसागरस्य चरणसान्निध्ये संस्कृतप्राकृतहिन्दी आंग्लभाषाणां ज्ञानं प्राप्तम्। महाराष्ट्रभाषा तु दक्षिणदेशे व्यवहारे प्रयुज्यते तेन विज्ञातम्। श्री सम्मेदशिखरसिद्धक्षेत्रस्य यात्रावसरे बंगालीभाषा अपि शिक्षिता। न केवलं शिक्षिता अपि तु तद्भाषायां लेखनमपि कृतम्। प्राकृतभाषायां 'विज्जाणुवेक्खा' १९८४ ई॰ तमे

बल में बालक, हूँ किस लायक, बोध कहाँ मुझमें स्वामी,
तव गुणगण की स्तुति करने से पूर्ण बनूँ तुम-सा नामी।
गिरि से गिरती सरिता पहली, पतली सी ही चलती है।
किन्तु अन्त में रूप बदलती सागर में जा ढलती है॥

अर्थ—हे वीर! मैं ज्ञान और बल से क्षुद्र हूँ, परन्तु आपके आश्रय से मुझमें निश्चित ही विभुता- विशालता हो सकती है। जैसे कि नदी उद्‌गम स्थान पर अत्यन्त लघु होती है, परन्तु समुद्र को पाकर वह विशाल प्रमाण का पात्र हो जाती है ॥९९॥

७. चैतन्यचन्द्रोदयशतक— अध्यात्म ग्रन्थ विषयक शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोगों का आलम्बन लेकर यह कृति रची गई है। जो गुरुदेव के अनेक विषयों में चिन्तन की गंभीरता को प्रकट करती है। इसकी पूर्णता वीरनिर्वाणसंवत् २५२० तदनुसार १९९५ ई॰ श्रुतपंचमी के दिन कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र दमोह में हुई। तत्पश्चात् पद्यानुवाद की पूर्णता वी॰ नि॰ सं॰ २५३० तदनुसार १८ फरवरी, २००५ प्रतिभास्थली ज्ञानोदय विद्यापीठ जबलपुर के शुभारम्भ दिवस पर हुई।

८. धीवरोदय चम्पूमहाकाव्य— यह काव्य अभी तक अप्रकाशित है।

बहुभाषाविद्

आचार्य गुरुदेव की प्रारम्भिक शिक्षा घर में कन्नड़ भाषा के माध्यम से नवमी कक्षा पर्यंत हुई। आचार्य गुरु ज्ञानसागरजी के चरण सान्निध्य में संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। मराठी भाषा तो दक्षिण प्रान्त में व्यवहार (बोलचाल) में प्रयोग की जाती है। इसलिए उसका भी ज्ञान है। श्री सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र की यात्रा के अवसर पर आपने बंगाली भाषा भी सीख ली। आपने न केवल वह भाषा सीखी अपितु उस भाषा में लेखन भी किया। प्राकृत भाषा में 'विज्जाणुवेक्खा'

जबलपुरे मध्यप्रदेशे रचिता। सम्प्रति अस्य ग्रन्थस्य अष्टगाथा एव उपलब्धा सन्ति। तद्यथा–

पढमिय पढमं पढमं पुण पुण्णापुण्णपुण्णइचत्तं।
पुण्णं पुराणपुरुसं परमगइं सुपत्तं ॥१॥
ववगवणियमयरयमय-मयपचयं गदं च गुणणिलयं।
वत्थुं पस्सदि वंदे पडिसमयठिदिवयजणणमयं ॥२॥
जिणवयणं सिवअयणं वत्थुसहावावलोयणे णयणं।
णिद्दिट्ठं उवणयणं तम्हा वरं मणो तं णयणं ॥३॥
खाणि खुगदाणि दमणं कुणंति णणियणियत्थाणणुगमणं।
समणं करेमि णमणं जादु लयं तेण भवभमणं ॥४॥
फलदि खलुसमयसारं लहुणयदि विप्पलयं च संसारं।
णिच्छामि सग्गसारं वोच्छामि सीावणासारं ॥५॥
गोदं णिच्चमणिच्चं चित्तं पंचेंदियसुहं ण णिच्चं।
णियचित्तं खलु णिच्चं इदि पंचेंदियसुहं ण णिच्चं ॥६॥

की रचना १९८४ ई० में जबलपुर मध्यप्रदेश में की। वर्तमान में इस ग्रन्थ की केवल आठ गाथा ही उपलब्ध हैं। वह इस प्रकार हैं–

सर्वप्रथम मैं उन पूर्व पुराणपुरुष तीर्थंकर आदिनाथ को प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने पुण्य तथा अपुण्यरूप पाप आदि को पूर्णतः नष्ट कर दिया है और परमगतिरूप मुक्ति को प्राप्त कर लिया है ॥१॥

जिन्होंने निजकर्मरजरूपी समूह को दूर कर दिया है, जो गुणों के आगर हैं तथा जो प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी वस्तु को जानते-देखते हैं, ऐसे सर्वज्ञ/सिद्धों को मैं प्रणाम करता हूँ ॥२॥

मैं उन्हीं नयनों/नेत्रों को श्रेष्ठ मानता हूँ, जिन्होंने वस्तु-स्वभाव के देखने-जानने में समर्थ जिनवचनरूपी शिव-अयन/शिव-मार्ग अथवा शिवरूप नयन प्रदान किए हैं, जो उपकरण के रूप में कहे गए हैं। वे नयन नयात्मक हैं ॥३॥

जिन्होंने इन्द्रिय-दमन कर अथवा इन्द्रिय-वासनाओं पर विजय प्राप्त कर निज-स्थान/आत्मा में अनुगमन किया है और संसार के जन्म-मरण रूप भ्रमण को दूर कर दिया है, उन श्रमणों को मैं नमन करता हूँ ॥४॥

जिसकी अंतिम परिणति समयसार है तथा जो संसार को शीघ्र ही समाप्ति की ओर ले जाता है, उस भावनासार/मुक्ति की मैं इच्छा करता हूँ; स्वर्गीय सुखों की नहीं ॥५॥

नीच-उच्च गोत्र नित्य नहीं हैं, विविध प्रकार के पंचेन्द्रिय सुख भी नित्य नहीं हैं। मेरा चित्त/मन या परिणाम ही नित्य है; इस प्रकार का चिन्तन करना चाहिए ॥६॥

वयसीलं खलु सग्गं सुहासलिलकणं च गदंकुसग्गं।
संसार तु समग्गं जाणं तो ति जादु समग्गं ॥७॥
भवभीदबहुमहिदेहिं पडिभवाणं भवाहिमुक्के हिं।
भणियं पडिणियवं तं अहिणवभावेण भवणं हि ॥८॥

आंग्लभाषायां 'ममचेतना' इति कविता कृता। तद्यथा–

MY SELF

Oh! Passioniessness which is my nature.
so I am myself creation teacher..........
Anent consciousness of imperfection.
Objects of pleasure are like sharp razor
Whereby the soul deciates ito danger.
My nature is free from deceitfulness.
Becuase filled with sure uprightness.
I am the store of asset of knowledge
So I am free from attachment and rage.

जैसे कुश के अग्रभाग पर स्थित, जलकण शीघ्र नष्ट हो जाता है, वैसे ही स्वर्ग-सुख भी नष्ट होने वाला है। अतः सम्यक् रूप से जाग्रत होकर संसार को पूर्णतः जानने का प्रयास करो ॥७॥

संसार से भयभीत बुधजनों और संसार सागर से पार होने वाले ऋषिजनों द्वारा, जो प्रतिभाषित है, उसकी मैं प्रतिदिन भावना भाता हूँ। यही भावना संसार-सागर से पार कराने वाली है ॥८॥

अंग्रेजी भाषा में 'मम चेतना' यह कविता लिखी गई–

मेरी चेतना

मम स्वभाव रहा वीतरागपना
नियम से मैं कुशल गुरु हूँ अपना।
अपरिपूर्ण चैतन्य के साथ कहीं
वास्तविक अमिट मम संबंध नहीं।
हैं विषय कषाय से तीक्ष्ण कृपाण
तभी पीड़ित होते आतम प्राण।
कुटिलता से मम स्वभाव है दूर
पर ऋजुता से परिपूरित जरूर।
मैं उज्ज्वल बोध-धन-धाम
तो राग-रोष का फिर क्या काम?

बंगलाभाषायां तिस्रः कविताः उपलब्धाः सन्ति। तद्यथा–

অর্থই অনর্থের মূল
তাহার ত্যাগ পরমার্থের চূল
তাই সুজনের জন্য
সে সদা ধূল ।।

রে মন যে মন
নদীর জীবন ভাল কূল
রে মন তে মন
মানব জীবন গুরু পাদমূল

আমি আমার
গৃহে গুণের
সদা করি
গান ।
যে মন মীন
জলে বিলীন
খুশী থাকে
প্রাণ ।।
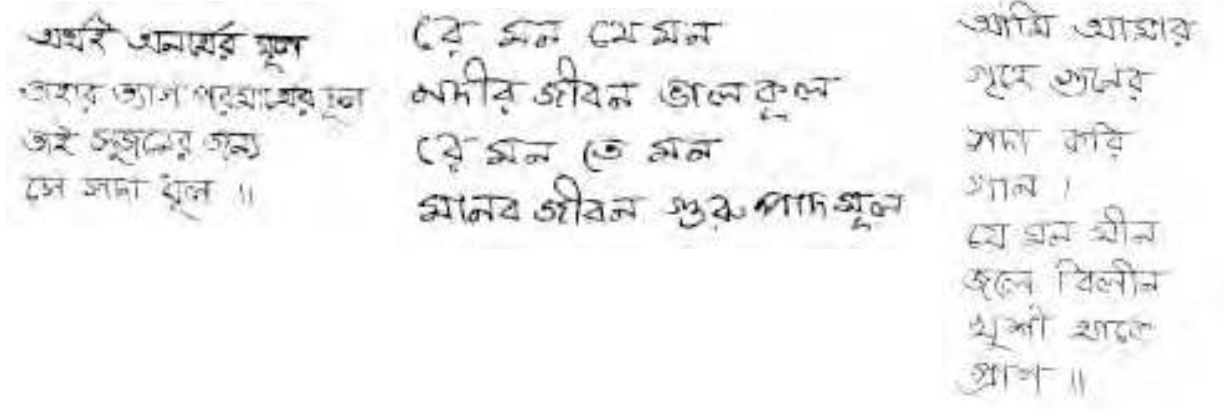
बंगलाभाषा में भी तीन कविताएँ उपलब्ध हैं, जो इस प्रकार हैं–

१. उच्चारण–

अर्थ इ अनर्थेर मूल
ताहार त्याग परमार्थेर चूल
ताइ सुजनेर जन्य
से सदा धूल

अर्थ–

अर्थ है अनर्थ का मूल
अर्थ का त्याग ही
परमार्थ शिखर को पाना है
सज्जनों के लिए वह अर्थ
सदा धूल के समान व्यर्थ है।

२. उच्चारण–

रे मन जे मन
नदीर जीवन भाल कूल
रे मन ते मन
मानव जीवन गुरु पादमूल

अर्थ–

नदी का जीवन ही दो तट हैं
वैसे ही हे मन! तेरा जीवन भी
गुरु–चरणों की संगति से ही
उन्नति की ओर जाएगा।

३. उच्चारण–

आमि आमार
गृहे गुणेर
सदा करि
गान।
जेमन मीन जले
विलीन खुशी थाके प्राण ॥

अर्थ–

मैं मेरी आत्मा में
उसके गुणों का सदा
गुणगान करता हूँ।
जैसे कि जल में विलीन मीन
के प्राण खुश रहते हैं।

आचार्य विद्यानन्दिविरचिताप्त परीक्षाग्रन्थस्य कन्नडभाषायामनुवादः विक्रमसंवत्सरे द्विसहस्रसप्त विंशतितमे (तदनुसार २८ अप्रैल १९७० ई० तमे) अनुवादः विहारकाले अजमेरे प्रारम्भकृतः।

राष्ट्रभाषायां न केवलं पद्यानुवादः कृतः अपितु अनेकदोहाशतकानां रचनया सह भक्तिगीतानां सृजनमपि स्वकीयश्रीगुरोः सल्लेखनाकाले २२ नवम्बर १९७२ ई० तमात् १ जून १९७३ ई० तममध्यकाले कृतम्। तद्यथा–

आचार्य विद्यानंद विरचित आप्तपरीक्षा ग्रंथ का कन्नड़ भाषा में अनुवाद विक्रमसंवत् २०२७ तदनुसार २८ अप्रेल १९७० ई० में अजमेर में विहारकाल में अनुवाद प्रारम्भ किया गया। वर्तमान में यह ग्रन्थ पूर्णतः अनुपलब्ध है।

गुरुदेव ने हिन्दी भाषा में न केवल पद्यानुवाद किए हैं अपितु अनेक दोहाशतकों की रचना के साथ भक्ति गीतों का सृजन भी किया है। अपने गुरु की सल्लेखनाकाल में २२ नवम्बर १९७२ ई० से १ जून १९७३ तक कुछ भजनों की रचना की जो इस प्रकार हैं–

१. अब मैं मम मन्दिर में रहूँगा–५ पद
२. पर भव त्याग तू शीघ्र दिगम्बर – ४ पद
३. मोक्ष ललना को जिया! कब वरेगा – ४ पद
४. भटकन तब तक भव में जारी – ४ पद
५. बनना चाहता यदि शिवांगना पति – ४ पद
६. चेतन निज को जान जरा – ५ पद
७. समकित लाभ – ११ पद
८. अहो यही सिद्धशिला – १२ पद
९. अनागत जीवन (कविता)

शताष्टस्तोत्रम्
आचार्यदेवस्य शताष्टनाम्ना स्तुतिः

जिनशासनवर्धकः स्वामी त्वामेवात्मानुशासकः।
जिनवाणी सुमर्मज्ञः तस्मात्संस्तुतिरुच्यते ॥१॥
जिनशासनतोऽन्यत्र न पृथक् शासनंश्रितः।
मूकमाटीमहाख्याति- कृतिकर्ताऽपि निर्मदः ॥२॥
अनैकानामपि ग्रन्थानां निर्माता त्वं सुधीर्बुधः।
तेषां प्रसारको नैव तस्मात्संस्तुतिरुच्यते ॥३॥
प्रचारको न धर्मस्य किन्त्वहं स्वात्मसाधकः।
गुरूक्तिं हृदये धत्से गुरुभक्ताय ते नमः ॥४॥
आचार्येषु विशिष्टस्य गुणानां वर्णनं न स्यात्।
शताष्टनामसार्थेन संस्तौम्यतः पुनः पुनः ॥५॥
महाव्रती महाज्ञानी निस्पृही च निराग्रही।
मूलाचारो भवच्चर्या साक्षात्समयसारकः ॥६॥

शताष्टस्तोत्र
आचार्यदेव की १०८ नामों से स्तुति

आप जिनशासन की वृद्धि करने वाले हैं, स्वामी हैं, आप ही आत्मानुशासक हैं, जिनवाणी के अच्छे मर्मज्ञ हैं, इसलिए आपकी संस्तुति की जाती है ॥१॥

जिनशासन से भिन्न अन्य शासन का आश्रय नहीं लिया, आप मूकमाटी महाख्यातीप्राप्त कृति के कर्ता होते हुए भी निर्मद हैं ॥२॥

आप अनेक ग्रंथों के निर्माता हैं, श्रेष्ठ बुद्धिमान् हैं, ज्ञानवान हैं, ग्रंथों के निर्माता होते हुए भी आप उनके प्रसारक नहीं हैं, इसलिए आपकी स्तुति की जाती है ॥३॥

मैं धर्म का प्रचारक नहीं हूँ, किन्तु स्वात्मा का साधक हूँ। इस प्रकार के गुरुवचनों को आप हृदय में धारण करते हैं। ऐसे गुरुभक्त आपको नमस्कार हो ॥४॥

आचार्यों में विशिष्ट आपके गुणों का वर्णन करना संभव नहीं है, फिर भी १०८ नामों से आपकी पुनः-पुनः स्तुति करता हूँ ॥५॥

आप महाव्रती हैं, महाज्ञानी हैं, निस्पृही हैं, निराग्रही हैं, आपकी चर्या मूलाचार है, आप साक्षात् समयसार हैं ॥६॥

न कस्मात्त्वं प्रतिस्पर्धी सर्वेषामग्रगामुकः।
रत्नत्रयपथेऽबाधो गन्धहस्तीव गच्छसि ॥७॥
शीते बाह्यांगणे शेसे ग्रीष्मे घर्मप्रदेशके।
वर्षायां निर्जने तीर्थे अस्मिन्कालेऽपि वर्तसे ॥८॥
महापुण्यं महाभाग्यं दृष्ट्वान्ये मत्सरं गताः।
तथापि तेषु सद्भावो भवच्चित्तेऽपि वर्तते ॥९॥
अनेकाचार्यसंभूतेऽपि त्वं तेषु शिरोमणिः।
रत्नं वा शोभते स्वर्णमुद्रायां नान्यथा तथा ॥१०॥
त्वन्नामश्रवणात् केचिद् विना दर्शैरिहास्थया।
मनुते साधुरेकस्त्वं त्वन्नाम्यैतत्प्रभावता ॥११॥
इत्थं विचिन्त्य मे चित्ते स्तुतिवार्ता समागता।
तत एव करिष्यामि स्तुतिः शताष्टनामभिः ॥१२॥
नमस्ते मोक्षमार्गाय नमस्तात् सिद्धिगामिने।
नमस्ते जातरूपाय निर्विकाराय ते नमः ॥१३॥

आपकी किसी से प्रतिस्पर्धा नहीं है, आप सभी से आगे हैं, रत्नत्रय पथ पर गंधहस्थी के समान निर्बाध गमन करते हैं ॥७॥

शीतकाल में बाह्य आँगन में, ग्रीष्मकाल में गरमस्थान में, वर्षा में निर्जन तीर्थ में इस पंचमकाल में भी आप रहते हो ॥८॥

आप महापुण्यवान हैं, महाभाग्यवान हैं, आपको देखकर अन्य मत्सरता को प्राप्त हो जाते हैं। फिर भी उन लोगों के प्रति सद्भाव आपके चित्त में रहता हैं ॥९॥

अनेक आचार्यों के होने पर भी आप उनमें शिरोमणि हैं, जिस प्रकार कि स्वर्ण की अँगूठी में रत्न ही शोभा पाता है, अन्य और कुछ नहीं ॥१०॥

इस संसार में आपके नाम श्रवण से ही कितने ही लोग दर्शन के बिना ही आस्था से आपको ही एक मात्र साधु मानते हैं। यह आपके नाम का प्रभाव है ॥११॥

इस प्रकार से विचार करके मेरे चित्त में स्तुति की वार्ता उत्पन्न हुई है, इसलिए आपकी शताष्ट नामों से स्तुति करता हूँ ॥१२॥

आप मोक्षमार्ग स्वरूप हैं, आपके लिए नमस्कार हो। आप सिद्धि में जाने वाले हैं, आपके लिए नमस्कार हो। आप जातरूप हैं, आपके लिए नमस्कार हो। आप निर्विकार हैं, आपके लिए नमस्कार हो ॥१३॥

नमो महाश्रमणाय पंचाचाराय ते नमः।
नमो दुर्लभ-दर्शाय दृष्टिपूताय ते नमः ॥१४॥
सुपुण्यालुः कृपालुश्च करुणालुश्च जीविषु।
अनिष्ठ्यूतोऽप्रमत्तश्चा विनिन्दकोऽस्त्यपारधीः ॥१५॥
गुणाधारो गुणज्ञो यः गुणिहृदयसेवितः।
गुणगम्यो गुणध्याता गुणज्ञाता गुणाग्रणीः ॥१६॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः सम्यग्ज्ञानपरायणः।
सम्यक्चारित्रगंभीरः सम्यक्तपःप्रसाधकः ॥१७॥
आधारवाननासक्तयोगी दोषावपीडकः।
अपायोपायदर्शी च निष्पीतशिष्यदोषकः ॥१८॥

आप महाश्रमण हैं, आपके लिए नमस्कार हो। आप पंचाचार स्वरूप हैं, आपके लिए नमस्कार हो। आपका दर्शन दुर्लभ है, आपके लिए नमस्कार हो। आपकी दृष्टि पवित्र है, आपके लिए नमस्कार हो ॥१४॥

१. आप श्रेष्ठ पुण्यवाले हैं, इसलिए **सुपुण्यालु** हैं। २. **कृपालु** हैं। ३. जीवों में करुणा स्वभाव वाले हैं, इसलिए **करुणालु** हैं। ४. आप थूकते नहीं हैं, इसलिए **अनिष्ठ्यूत** है। ५. आप **अप्रमत्त** हैं। ६. किसी की निंदा नहीं करते, इसलिए **विनिन्दक** हैं। ७. आप अपार बुद्धि वाले हैं, इसलिए **अपारधी** हैं ॥१५॥

८. आप गुणों के आधार हैं, इसलिए **गुणाधार** हैं। ९. गुणों को जानने वाले हैं, इसलिए **गुणज्ञ** हैं। १०. गुणीजनों के हृदय में आप सेवित हैं, इसलिए **गुणिहृदयसेवित** हैं। ११. गुणों के द्वारा आप जानने योग्य हैं, इसलिए **गुणगम्य** हैं। १२. गुणों का ध्यान करते हैं, इसलिए आप **गुणध्याता** हैं। १३. आप गुणों को जानते हैं, इसलिए **गुणज्ञाता** हैं। १४. गुणों में आप सबसे अग्रणी हैं, इसलिए **गुणाग्रणी** हैं ॥१६॥

१५. सम्यग्दर्शन से सहित हैं, इसलिए आप **सम्यग्दर्शनसम्पन्न** हैं। १६. सम्यग्ज्ञान में कुशल हैं, इसलिए आप **सम्यग्ज्ञानपरायण** हैं। १७. सम्यक्चारित्र में गंभीर हैं, इसलिए आप **सम्यक्चारित्रगंभीर** हैं। १८. समीचीन तप को साधते हैं, इसलिए आप **सम्यक्तपःप्रसाधक** हैं ॥१७॥

१९. शिष्यों के लिए आधार हैं, इसलिए आप **आधारवान** हैं। २०. आप अनासक्त भाव से ध्यान योग करते हैं, इसलिए **अनासक्त योगी** हैं। २१. शिष्यों के दोषों को आप बाहर निकाल देते हो, इसलिए आप **दोषावपीड़क** हैं। २२. शिष्यों के दुःखों को दूर करने का उपाय आप देख लेते हैं, इसलिए आप **अपायोपायदर्शी** हैं। २३. शिष्य के दोषों को किसी दूसरे से नहीं कहते, इसलिए आप **निष्पीतशिष्यदोषक** हैं ॥१८॥

संव्यवहारवानाज्ञा - प्रदानसुविचारकः।
शुद्धोपयोगसम्मुख्यो शुद्धात्मध्यानप्रेरकः ॥१९॥

भित्त्यादिषु निरालम्बो लोकख्यात्यनपेक्षकः।
विद्युत्प्रयोगदूरस्थो निशासद्ध्यानचिन्तकः ॥२०॥

सर्वावश्यकसंपूर्णः सर्वोपाधिविवर्जितः।
आधुनिकोपधिदूरः समाध्याहितचित्तकः ॥२१॥

अकर्ता संघकर्तापि व्यभोक्ता सर्वभाक्तिकः।
संचालकोप्यबद्धोयोऽ - विरुद्धोप्यविरोधकः ॥२२॥

---

२४. प्रायश्चित देने में कुशल हैं, इसलिए आप **संव्यवहारवान** हैं, २५. आज्ञा प्रदान करने में आप बहुत विचार करते हैं, इसलिए आप **आज्ञाप्रदानसुविचारक** हैं। २६. शुद्धोपयोग आपका मुख्य धर्म हैं, इसलिए आप **शुद्धोपयोगसम्मुख्य** हैं। २७. शुद्धात्मा के ध्यान की शिष्यों को प्रेरणा देते हैं, इसलिए आप **शुद्धात्मध्यानप्रेरक** हैं ॥१९॥

२८. दीवाल आदि से टिक करके शयनासनादि क्रियायें नहीं करते हैं, इसलिए आप **भित्यादिषुनिरालम्ब** हैं। २९. लोकख्याति की अपेक्षा नहीं रखते हैं, इसलिए आप **लोकख्यात्युपेक्षक** हैं। ३०. विद्युत् के प्रयोग से आप दूर रहते हैं, इसलिए आप **विद्युत्प्रयोगदूरस्थ** हैं। ३१. रात्रि में समीचीन ध्यान एवं चिन्तन करते हैं, इसलिए आप **निशासद्ध्यानचिन्तक** हैं ॥२०॥

३२. सभी आवश्यकों को आप प्रतिदिन पूर्ण करते हैं, इसलिए आप **सर्वावश्यकसम्पूर्ण हैं**। ३३. सभी प्रकार के परिग्रहों से रहित हैं, इसलिए आप **सर्वोपाधिविवर्जित** हैं। ३४. आधुनिक उपकरणों (लेपटाप, मोबाइल, कैमरा आदि) से रहित हैं, इसलिए **आधुनिकोपधिदूर** हैं। ३५. आपका चित्त सदा धर्मध्यान से युक्त रहता है, इसलिए आप **समाध्याहितचित्तक** हैं ॥२१॥

३६. आप कर्त्ताबुद्धि से रहित हैं, इसलिए **अकर्त्ता** हैं। ३७. आप अकर्त्ता होकर भी संघ के कर्त्ता हैं, इसलिए आप **संघकर्त्ता** हैं। ३८. भोक्ताबुद्धि से रहित हैं, इसलिए आप **व्यभोक्ता** हैं। ३९. सभी जन आपकी भक्ति करते हैं, इसलिए आप **सर्वभाक्तिक** हैं। ४०. संघ का संचालन करते हैं, इसलिए आप **संचालक** हैं। ४१. संचालन करते हुए भी बँधते नहीं, इसलिए आप **अबद्ध** हैं। ४२. किसी के विरुद्ध नहीं हैं, इसलिए आप **अविरुद्ध** हैं। ४३. किसी का विरोध नहीं करते हैं, इसलिए आप **अविरोधक** हैं ॥२२॥

आर्यायोग्यगुणाचार्यो गभीरोऽप्यल्पकौतुकः।
ब्रह्मचारी सदाचारी पंचेन्द्रियनिरोधकः ॥२३॥

गुप्तिगुप्तो निःसपत्नः सदा सूत्रार्थचिन्तकः।
अभिनवार्थसंदायी सूत्रानुसारिदेशकः ॥२४॥

सर्वाचार्यवरिष्ठश्च गुणज्येष्ठो गरिष्ठधीः।
सर्वचेष्टाविशिष्टः स्यात् सहजसरलः प्रगीः ॥२५॥

कालसामयिकाविष्टः प्रतिक्रमणतत्परः।
निश्चयज्ञः कृतज्ञश्च गुरुगौरववर्धकः ॥२६॥

---

४४. आर्यिकाओं के योग्य आचार्य के गुणों को धारण करते हैं, इसलिए **आर्यायोग्यगुणाचार्य** हैं, ४५. चर्या में गंभीर हैं, इसलिए आप **गंभीर** हैं, ४६. गंभीर होते हुए भी शिष्यों के साथ अल्प कौतुक करते हैं, इसलिए **अल्पकौतुक** हैं, ४७. ब्रह्म में आचरण करते हैं, इसलिए आप **ब्रह्मचारी** हैं, ४८. सत् शोभनीय आचरण होने से आप **सदाचारी** हैं, ४९. पंचेन्द्रिय निरोध व्रतों का पालन करने से आप **पंचेन्द्रियनिरोधक** हैं ॥२३॥

५०. तीन गुप्तियों से गुप्त हैं, इसलिए **गुप्तिगुप्त** हैं, ५१. आपका कोई विरोधी नहीं हैं, इसलिए आप **निःसपत्न** हैं, ५२. सदा सूत्र के अर्थों का चिन्तन करते हैं, इसलिए **सूत्रार्थचिन्तक** हैं, ५३. नये-नये अर्थों को बताते हैं, इसलिए **अभिनवार्थसंदायी** हैं, ५४. सूत्र के अनुसार देशना करते हैं, इसलिए **सूत्रानुसारिदेशक** हैं ॥२४॥

५५. वर्तमान सभी आचार्यों में वरिष्ट हैं, इसलिए **सर्वाचार्यवरिष्ठ** हैं, ५६. गुणों में आप ज्येष्ठ हैं, इसलिए **गुणज्येष्ठ** हैं, ५७. आपकी बुद्धि गरिष्ठ है, इसलिए आप **गरिष्ठधी** हैं, ५८. सभी चेष्टायें विशिष्ट हैं, इसलिए आप **सर्वचेष्टाविशिष्ठ** हैं, ५९. आप **सहज-सरल** हैं, ६०. आपकी वाणी प्रकृष्ट है, इसलिए आप **प्रगी** हैं ॥२५॥

६१. आप समय पर सामायिक करने वाले हैं, इसलिए **कालसामायिकाविष्ट** हैं, ६२. आप प्रतिक्रमण एकाग्रता से करते हैं, इसलिए **प्रतिक्रमणतत्पर** हैं, ६३. आप निश्चय को जानते हैं, इसलिए **निश्चयज्ञ** हैं, **६४.** आप उपकार को मानते हैं, इसलिए **कृतज्ञ** हैं, ६५. आप गुरु के गौरव को बढ़ाने वाले हैं, इसलिए **गुरुगौरववर्धक** हैं ॥२६॥

गुरुः कुलगुरुः स्वामी गुरुशिष्यो गुरोर्गुरुः।
गुरुभक्तो गुरुसेवी गुर्वाज्ञाधृत उरूः ॥२७॥

ब्रह्मचारियुवानारी- महासंघप्रणायकः।
विशेषाधिकदीक्षाकः जिनदीक्षाप्रदायकः ॥२८॥

तिमिरैकस्थितिस्थाता रजनीशरीराक्रियः।
मौनी ध्याता यमी त्राता सर्वसङ्केत-वर्जितः ॥२९॥

अतिथिश्च निरापेक्षोऽ- नियतकालगामुकः।
रसत्यागी च निःसङ्गो नामसम्मानवैमुखः ॥३०॥

---

६६. आप अंधकार को दूर करते हैं, इसलिए **गुरु** हैं। ६७. आप श्रमण-आर्यिका कुल के गुरु हैं, इसलिए **कुलगुरु** हैं। ६८. आप **स्वामी** हैं। ६९. आप अपने गुरु के शिष्य हैं, इसलिए **गुरु-शिष्य** हैं। ७०. आप अपने गुरु के भी गुरु हैं, इसलिए **गुरोर्गुरु** हैं। **७१.** आप गुरु के भक्त हैं, इसलिए **गुरुभक्त** हैं। ७२. आप गुरु की सेवा करने वाले हैं, इसलिए **गुरुसेवी** हैं। ७३. आप गुरु की आज्ञा धारण करते हैं, इसलिए **गुर्वाज्ञाधृत** हैं, **७४.** आप महान् हैं, इसलिए **उरू** हैं ॥२७॥

७५. आप ब्रह्मचारी युवा और नारी महासंघ के नायक हैं, इसलिए **ब्रह्मचारीयुवानारी-महासंघनायक** हैं। ७६. विशेष-अधिक दीक्षा देने से आप **विशेषाधिकदीक्षाक** हैं। ७७.आप जिनदीक्षा देने से **जिनदीक्षाप्रदायक** हैं ॥२८॥

७८. आप रात के अंधकार में एक स्थान पर ही रहते हैं, इसलिए **तिमिरैकस्थितिस्थाता** हैं। ७९. आप रात्रि में मल-मूत्र आदि शरीर की क्रिया से रहित हैं, इसलिए **रजनीशरीराक्रिय** हैं। ८०. आप मौन रहते हैं, इसलिए **मौनी** हैं। ८१. आप ध्यान करते हैं, इसलिए **ध्याता** है। ८२. आप पंच यमों का पालन करते हैं, इसलिए **यमी** हैं। ८३. आप सब जीवों के रक्षक हैं, इसलिए **त्राता** हैं। ८४. आप सभी प्रकार के संकेतों से रहित हैं, इसलिए **सर्वसंकेतवर्जित** हैं ॥२९॥

८५. आपके आने-जाने की कोई तिथि नहीं है, इसलिए **अतिथि** हैं। ८६. आप पर अपेक्षा से रहित हैं, इसलिए **निरापेक्षी** हैं। ८७. आपके गमन करने का काल निश्चित नहीं है, इसलिए **अनियतकालगामुक** हैं। ८८. आप रसों के त्यागी हैं, इसलिए **रसत्यागी** हैं। ८९. आप संग (परिग्रह) से रहित हैं, इसलिए **निःसंग** हैं। ९०. आप नाम-सम्मान से विमुख हैं, इसलिए **नामसम्मानवैमुख** हैं ॥३०॥

दूरदर्शी युगादर्शो युगश्रमण ईशिता।
युगकविः स्वयंपन्था धर्मचक्रप्रवर्तकः ॥३१॥

मनोज्ञोऽन्यमनोहारी जेता सन्तशिरोमणिः।
महाकान्तिर्दयामूर्तिः पशुसम्पत्तिरक्षकः ॥३२॥

सर्वप्रदेशशिष्येशो मध्यप्रदेशविहारकः।
नारीशक्त्यादरी जिन-तीर्थरक्षापरस्तथा ॥३३॥

इति मुनिप्रणम्यसागरविरचिते अनासक्तमहायोगिनाममहाकाव्ये आचार्य विद्यासागरचरितव्यावर्णने गुणगणनायकसंज्ञको एकादशः सर्गः समाप्तः।

---

९१. आप आगे की सोचते हैं, इसलिए **दूरदर्शी** हैं। ९२. आप इस युग के आदर्श हैं, इसलिए **युगादर्श** हैं। ९३. आप इस युग के महाश्रमण हैं, इसलिए **युगश्रमण** हैं। ९४. आप सभी के स्वामी हैं, इसलिए **ईशिता** हैं। ९५. आप इस युग के कवि हैं, इसलिए **युगकवि** हैं। ९६. आपने स्वयं मोक्षमार्ग पर निर्दोष प्रवृति की है, इसलिए **स्वयंपंथा** हैं। ९७. आपने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है, इसलिए **धर्मचक्रप्रवर्तक** हैं ॥३१॥

९८. आप सभी को अच्छे लगते हैं, इसलिए **मनोज्ञ** हैं। ९९. आप अन्य के मन का हरण करते हैं, इसलिए **अन्यमनोहारी** हैं। १००. आपने इन्द्रियों को जीता है, इसलिए **जेता** हैं। १०१. आप संतों में शिरोमणि हैं, इसलिए **संतशिरोमणि** हैं। १०२. आपके शरीर बहुत कांतिमान है, इसलिए आप **महाकांति** हैं। १०३. आप दया की मूर्ति हैं, इसलिए **दयामूर्ति** हैं। १०४. आप पशुसम्पदा के रक्षक हैं, इसलिए **पशुसम्पत्तिरक्षक** हैं ॥३२॥

१०५. आपके सभी प्रांतों के शिष्यों के ईश हैं, इसलिए **सर्वप्रदेशशिष्येश** हैं। १०६. आप मध्यप्रदेश में अधिक विहार करते हैं, इसलिए **मध्यप्रदेशविहारक** हैं। १०७. आप नारीशक्ति का आदर करते हैं, इसलिए **नारीशक्त्यादरी** हैं। १०८. आप तीर्थ की रक्षा में तत्पर रहते हैं, इसलिए **जिनतीर्थरक्षापर** हैं ॥३३॥

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामकमहाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला गुणगणनायक संज्ञक ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज पूजन

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

निर्ग्रन्थोनिरतात्मसौख्य-निलयो, मुक्त्यातुरस्तारकस्।
तीर्थोद्धारक! वीतकामकलहो, विज्ञोऽपि गोरक्षकः।
सन्मार्गं हृदि शान्तितो नयति यो, भव्यांश्च मुक्तिश्रिये
विद्यासागर-पूज्यपाद-कमलं, संस्थाप्य संपूजये॥

ॐ ह्रूं आचार्य श्री विद्यासागरमुनीन्द्र!अत्र अवतर अवतर संवौषट्!अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनं। अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधिकरणम्।

जन्मान्तकापन्नभयातिभीता, जवञ्जवे जन्तव आर्तनीता।
विद्यागुरोऽर्चन्ति हरोपविद्या,भवान्तमद्भिश्चरणं हि सर्वाः ॥१॥

ॐ ह्रूं आचार्य श्री विद्यासागरमुनीन्द्राय जन्मजरामृत्यु विनाशाय जलं निर्वपामीति स्वाहा।

कृतं मया चन्दनपूतलेप्यं, न शीतमाप्तं मनसाऽपि किञ्चित्।
ततोऽघ-सन्तप्तमनोविशान्त्यै, तवाऽर्च्यते मङ्गलपादपद्मम् ॥२॥

ॐ ह्रूं आचार्य श्री विद्यासागरमुनीन्द्राय संसार ताप विनाशाय चंदनं निर्वपामीति स्वाहा।

ज्ञेयप्रभावेन हि खण्डितो य-, दखण्डितज्ञानविमण्डनाय।
विधौतविद्योतनतण्डुलौघैः, पादाम्बुजं वै सुगुरोऽर्च्यते ते ॥३॥

ॐ ह्रूं आचार्य श्री विद्यासागरमुनीन्द्राय अक्षय पद प्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा।

लोके तु सत्वाः कुसुमास्त्रदोषै,र्भ्रमन्ति नित्यं भवभूमिमध्ये।
कामाष्टकं शर्तुममर्त्य-शत्रुं,पुष्पैस्त्वदीयं चरणं यजेऽहम् ॥४॥

ॐ ह्रूं आचार्य श्री विद्यासागरमुनीन्द्राय कामबाण-विनाशनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा।

वरं विशुद्धं रुचिरं मयेदं, भुक्तं मुहु र्मोहवशेन सर्वम्।
क्षुद्रोगशान्त्यै भुवि नात्र वैद्यो, नैवेद्यमानीय पदे यजेऽहम् ॥५॥

ॐ ह्रूं आचार्य श्री विद्यासागरमुनीन्द्राय क्षुधारोग विनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।

उन्मत्तवन्मोह-तमः प्रसारान्, निधाय दुःखं भवभार ऊढः।
अलब्धभूतिं चरणं विलब्धुं, मयाऽर्च्यते दीपकरोचिषा ते ॥६॥

ॐ ह्रूं आचार्य श्री विद्यासागरमुनीन्द्राय मोहान्धकार विनाशाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा।

एकं निमित्तं भवरोगसूते, र्देहात्ममध्ये विपरीतबुद्धिः।
भक्त्यानले कल्मषमोहधूपं, क्षिप्त्वा पवित्रं शरणं दधेऽहम् ॥७॥

ॐ ह्रूं आचार्य श्री विद्यासागरमुनीन्द्राय अष्टकर्म-दहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा।

वातादमक्षोटमनूनमैलां, प्रस्थाप्य शुद्धं तपनीयपात्रे।
अमूल्य-निर्वाण-फलं समाप्तुं, पदानुरागी तव पूजयेऽहम् ॥८॥

ॐ ह्रूं आचार्य श्री विद्यासागरमुनीन्द्राय मोक्षफल प्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा।

विद्याम्बुधे! ते हिम-चन्दनं वाः, सुतण्डुलं वा कुसुमं प्रदीपम्।
धूपं फलं चारुचरुं मिलित्वा, प्रपूज्यते प्राप्तुमनर्घधाम ॥९॥

ॐ ह्रूं आचार्य श्री विद्यासागरमुनीन्द्राय अनर्घपद-प्राप्तये अर्घ्यम् निर्वपामीति स्वाहा।

जयमाला

(छन्द-चौपाई)

गुरुगुणधामगुरो!भुवि भक्तः, को गातुं गुणगानं शक्तः।
नामालापोऽपि यतः पापं, हन्ति ततोऽहं ब्रुवे प्रतापम् ॥१॥
दक्षिणभागे भारतदेशे, रम्ये कर्नाटक - प्रदेशे।
ग्रामे सदलगि सत्कुलगेहे, बहुलक्षणयुत जननी-देहे ॥२॥
शरत्त्रियामावसिते दिव्यः, शिशुरजनि हि शशिकान्ति र्भव्यः।
पितुर्मलप्पासीत्सुनाम, सुश्रीमती च मातुर्नाम ॥३॥
रूप्यसमं रूपं ते रुचितं, सकलजनानामङ्के ललितम्।
नासया हि जितचम्पकपुष्पं, रागाकीर्णकपोलं रक्तं ॥४॥
कंठे नो रेखात्रयं किन्तु रत्नमयधाम।
विद्याधर! भूमौ ततो विश्रुतनामाभाणि ॥५॥

(चौपाई)

सुखतो विगते सति शिशुकाले, किं सत्यं किं हेयमिहाले।
इत्यूहापोहं मम चित्तं, तुदते किं करणीयं युक्तम् ॥६॥
सह कालेन हि जातं वित्तं, क्षययुतमघखानि वैं चित्तम्।
काले कलौ कलिः प्रतिपादं, कालो व्यर्थमेति संवादे ॥७॥
कारागारं वनितापत्यं, भोगं भंगुर - मखिलमसत्यम्।
गृहतो मनसि मराले मत्वा, पुरमजमेरं प्रति लघु गत्वा ॥८॥
भवता देशव्रतं गृहीतं, देशभूषणाद्यतेः समीपम्।
रुचितो यजतः पठतो वीतं, वर्षं मुक्त्वा तत् सामीप्यम् ॥९॥
किशनगढेऽगमदथ पठनार्थं, तत्रस्थितसुमुनेः करुणार्थम्।
याचतेस्म संज्ञं ज्ञानाब्धिं, कविं वरिष्ठञ्चागम-विज्ञम् ॥१०॥
नमो ज्ञानसागरचिदे, विगतमोहरतिमान!
शान्तचित्त! निःस्पृहबुधे, निखिलगुणौघनिधान! ॥११॥

(चौपाई)

सम्प्राप्यारं पदं प्रशीतं, हृष्टस्तृषातुरै र्वा: पीतम्।
शुभलक्षणलाञ्छनयुत-गात्रं, दृष्ट्वाभूदुपकारकपात्रम् ॥१२॥
शिष्टमधुरमितनम्रैर्वाक्यै, र्भक्त्याचरणसपर्याकार्यैः।
लब्ध्वा हृदये परां प्रसत्तिं, संप्रवर्ध्य गुरुवचनसुभक्तिम् ॥१३॥
कामाक्रोशारीन्विदित्वा, बाह्यान्तरसङ्गाङ्गं हित्वा।
तत्पादे मुनिदीक्षावाप्ता, सर्वसिद्धिदा जिनरूपाप्ता ॥१४॥
यथाजातदैगम्बररूपं, भवता हितं ततं चिद्रूपम्।
चेतनसूतसुधां सुपातुं, त्रासितसर्वजनानवपातुम् ॥१५॥
अवतरितो भुवि भुवन-हितार्थं, यथा कौमुदी जलेरुहार्थम्।
कल्याणाभिनिवेशकचक्षुः, शिथिलाचरणविनाशकभिक्षुः ॥१६॥

(दोहा)

महाव्रताभूषित - वपु - र्विद्याब्धस्त्वन्नाम।
सत्यवचोगुण-धारको देहि शान्तिसुखधाम ॥१७॥

(चौपाई)

धर्मध्याने तत्त्वे सारे, संवेगे चिन्मयसंसारे।
यस्य मनो लगति श्रुत-पाठे, परहित सम्पादन करणार्थे ॥१८॥
ज्ञानगुरूणां प्रथमः शिष्यः, त्वं सुशोभितः पट्टे यस्य।
सम्प्रति त्वमन्तरमतियोगी, मनो जनानामक्ष-विभोगि ॥१९॥
संस्कृतपद्ये कृतमनवद्यं, षट्शतकं बहु-हिन्दी-पद्यम्।
'मूकमाटी' कृतिरद्भुतपात्री, पराध्यात्म-जिनदर्शनदात्री ॥२०॥
क्षुद्रैकान्तगिरामयिभेत्ता, जन्मजरारीणामतिहर्ता।
जय जय जय जिनशासन भक्त, जय जय निमर्म चानासक्त ॥२१॥
देहि देहि रत्नत्रय-भूतिं, भवतु भवतु मम तवानुभूतिः।
नय नय नय मा श्री प्रासादं, भव भव भव हर्षाय सदा त्वम् ॥२२॥
कलिकाले भो! महद् - विचित्रं दर्शनमेतादृशमाचार्यम्।
बहूक्तेन किं धन्यंमन्यः, शमभावाय हि पुनः 'प्रणम्य' ॥२३॥
पूजार्हं पूजा कृता गुणपुंजं प्रणमामि।
पूजातः पूज्यस्य यत् पूज्योऽहं विभवामि ॥२४॥

ॐ ह्रूं आचार्य श्री विद्यासागरमुनीन्द्राय अनर्घपद-प्राप्तये अर्घ्यम् निर्वपामीति स्वाहा।

॥ पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्॥

द्वादशः सर्गः

महाप्रभावकः

गुरोस्तपःप्रभावेन भव्या ये दीक्षितां गताः।
तेषां नामानि भाषेऽहं क्रमेण विस्तरेण च ॥१॥
मासे हि मार्गशीर्षेऽत्र पूर्णिमायां बृहस्पतौ।
दिवसे विक्रमाब्दे च पक्षत्रिशून्यपक्षके ॥२॥
क्षेत्रेषु सिद्धक्षेत्रे तु स्वर्णगिर्यां पवित्रके।
चत्वारः क्षुल्लका जाता गुरोः पवित्रहस्ततः ॥३॥
नियमसागरो योगसागरो समयार्णवः।
प्रवचनार्णवस्तेषां नवसंज्ञा प्रकीर्तिता ॥४॥
कार्तिकसितपंचम्यां शुभे मंगलवासरे।
त्रित्रिशून्यद्वये याते भुवि विक्रमवर्षके ॥५॥
दर्शनसागरोऽन्योऽत्र चारित्रसागरो मतः।
द्वयौ ऐतौ दिने तस्मिन् क्षुल्लकेन प्रतिष्ठितौ ॥६॥
तीर्थे च कुण्डले पूते सिद्धक्षेत्रे शुभे दिने।
चतुस्त्रिशून्यपक्षाब्दे हि विक्रमे वर्षके तथा ॥७॥
दशम्यां श्रावणीकृष्णे ऐलकदर्शनार्णवः।
तत्रैव कार्तिके शुक्ले नवम्यां शनिवासरे ॥८॥

गुरु के तप के प्रभाव से जो भव्य दीक्षित हुए हैं, उनके नाम यहाँ पर क्रम से विस्तार से कहता हूँ– मार्गशीर्ष मास के शुक्लपूर्णिमा दिन गुरुवार विक्रमसंवत् २०३२ सिद्धक्षेत्रों में पवित्र क्षेत्र सोनागिरि पर गुरु के पवित्र हाथों से चार क्षुल्लक दीक्षाएँ हुईं। **१.** क्षु० नियमसागरजी , **२.** क्षु० योगसागरजी, **३.** क्षु० समयसागरजी, **४.** क्षु० प्रवचनसागरजी। ये उनके नए नाम हुए ॥१–४॥

कार्तिक शुक्ल पंचमी शुभ मंगलवार दिन को विक्रमसंवत् २०३३ में दो क्षुल्लक दीक्षाएँ हुईं– **१.** क्षु० दर्शनसागरजी, **२.** क्षु० चारित्रसागरजी ॥५–६॥

पवित्र सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर पर विक्रमसंवत् २०३४ श्रावणकृष्ण दशमीं के शुभ दिन में ऐलक श्री दर्शनसागरजी हुए। उसी वर्ष कार्तिकशुक्ल नवमीं शनिवार शुभ दिन में उसी स्थान पर ऐलक श्रीयोगसागरजी हुए ॥७–८॥

चतुस्त्रिशून्यपक्षाब्दे ऐलको योगसागरः।
नैनागिरि - सुतीर्थेस्मिन् पञ्चत्रिशून्यपक्षके ॥९॥
आश्विनकृष्णामावस्या - मेलकनियमार्णवः।
कार्तिककृष्णामावस्यां ऐलकसमयार्णवः ॥१०॥
तत्रैव कार्तिके शुक्ले द्वितीया गुरुवासरे।
क्षुल्लकौ दीक्षितौ मह्यां संयमशीलसागरौ ॥११॥
माघमासेऽसिताष्टम्यां षट्त्रिशून्य - द्वयाब्दके।
क्षुल्लिका दीक्षिताः पञ्च ऐलकगुप्तिसागरः ॥१२॥
क्षमाचपरमो भावः सुबोधः संज्ञया क्रमात्।
सुगुप्तिः पंचमो ज्ञेयो गुरुभावानुसारतः ॥१३॥
माघस्यैकादशी कृष्णे तत्रैव सोमवासरे।
ऐलकौ तौ तदाब्दे हि संयमशीलसागरौ ॥१४॥
चैत्रकृष्णस्य षष्ठम्यां षट्त्रिशून्यद्वयाब्दके।
क्षेत्रे द्रोणगिरिभूमौ मुनिः समयसागरः ॥१५॥
सागरे मोराजी - क्षेत्रे वैशाखे कृष्णपूर्णके।
सप्तत्रिशून्यपक्षाब्दे दीक्षितौ मंगले दिने ॥१६॥
श्रमणेषु द्वितीयो यो सुनाम्ना योगसागरः।
तृतीयश्च मुनि श्रेष्ठौ ख्यातो नियमसागरः ॥१७॥

विक्रमसंवत् २०३५ नैनागिरि सिद्धक्षेत्र पर आश्विनकृष्ण अमावस्या को ऐलक श्री नियमसागरजी हुए। उसी सिद्धक्षेत्र पर उसी वर्ष कार्तिककृष्ण अमावस्या (दीपावली) मंगलवार को ऐलक श्रीसमयसागरजी हुए। उसी सिद्धक्षेत्र पर उसी वर्ष कार्तिकशुक्ल द्वितीया दिन गुरुवार को **१.** क्षु० श्री संयमसागरजी एवं **२.** क्षु० श्रीशीलसागरजी हुए ॥९-११॥

विक्रमसंवत् २०३६ माघकृष्ण अष्टमी के दिन उसी सिद्धक्षेत्र पर पाँच क्षुल्लक दीक्षाएँ एवं एक ऐलक दीक्षा हुई। **१.** क्षु० श्री क्षमासागरजी, **२.** क्षु० श्री परमसागरजी (वर्तमान में मुनि सुधासागर), **३.** क्षु० श्री भावसागरजी (वर्तमान में मुनि सरलसागरजी), **४.** क्षु०श्री सुबोधसागरजी, **५.** क्षु० श्री सुगुप्तिसागरजी। ऐलक श्री गुप्तिसागरजी। गुरु के भावों के अनुसार ये नाम क्रम से प्राप्त हुए ॥१२-१३॥

उसी वर्ष, उसी स्थान पर माघकृष्ण एकादशी सोमवार के दिन दो ऐलक दीक्षाएँ हुई-**१.** ऐ० संयमसागरजी, **२.** ऐ० शीलसागरजी ॥१४॥

विक्रमसंवत् २०३६ चैत्रकृष्ण षष्ठी तदनुसार ८ मार्च १९८० ई० में श्री सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि की भूमि पर **प्रथम** मुनि श्री समयसागर जी दीक्षित हुए ॥१५॥

वैशाखकृष्ण अमावस्या विक्रमसंवत् २०३७ दिन मंगलवार को मोराजी क्षेत्र सागर में श्रमणों में **द्वितीय** श्रमण श्री योगसागरजी एवं **तृतीय** मुनि श्री नियमसागरजी ख्यात हुए ॥१६-१७॥

सिद्धक्षेत्र नैनागिर में मुनि दीक्षा देते हुए आचार्यश्री

कार्तिकेऽसितामावस्यां सप्तत्रिशून्यपक्षके।
शुक्रे मुक्तागिरौ तीर्थे ऐलकक्षमासागरः ॥१८॥
नैनागिरि-सुतीर्थेऽस्मिन् भाद्रे मासि च मंगले।
अष्टत्रिशून्यपक्षाब्दे नामसुबोधसागरः ॥१९॥
कार्तिके शुक्लपक्षे च द्वितीयायां बृहस्पतौ।
नैनागिर्यां तदाब्दे हि चेतनः ओमसागरः ॥२०॥
अष्टत्रिशून्यपक्षाब्दे बीनाबारहक्षेत्रके।
फाल्गुनमासद्वितीया-तिथौ च भावसागरः ॥२१॥
वैशाखकृष्णसप्तम्यां नवत्रिशून्यपक्षके।
सागरे मोरा च स्थाने ऐलक-परमार्णवः ॥२२॥
भाद्रे शुक्ले द्वितीयायां नैनागिरौ तदाब्दके।
त्रयो हि मुनयो जाताः क्षमा गुप्तिश्च संयमः ॥२३॥
फाल्गुनस्य त्रयोदश्यां कृष्णे तदाब्दके तथा।
सम्मेदे सिद्धभूमौ च ऐलका सप्तदीक्षिताः ॥२४॥

कार्तिककृष्ण अमावस्या विक्रमसंवत् २०३७ तदनुसार ७ नवम्बर १९८० ई० में मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र दिन शुक्रवार को **१.** ऐलक श्री क्षमासागरजी हुए ॥१८॥

सिद्धक्षेत्र नैनागिरि पर १९८१ ई० में भाद्र मास मंगलवार को ऐलक सुबोधसागरजी हुए। उसी क्षेत्र पर उसी वर्ष कार्तिकशुक्ल द्वितीया दिन गुरुवार को **१.** मुनि श्री चेतनसागर एवं **२.** मुनि श्री ओमसागरजी हुए ॥१९-२०॥

१९८२ ई० तदनुसार विक्रमसंवत् २०३८ फाल्गुनकृष्ण द्वितीया तिथि में अतिशयक्षेत्र बीनाबारह पर ऐलक श्री भावसागरजी हुए ॥२१॥

वैशाख कृष्ण सप्तमी विक्रमसंवत् २०३९ तदनुसार १५ अप्रैल १९८२ ई० मोराजी क्षेत्र सागर में **१.** ऐलक श्री परमसागरजी हुए ॥२२॥

नैनागिरि सिद्धक्षेत्र पर विक्रमसंवत् २०३९ भाद्रशुक्ल द्वितीया तदनुसार २० अगस्त १९८२ को तीन मुनि दीक्षाएँ हुईं -**१.** मुनि श्री क्षमासागरजी, **२.** मुनि श्री गुप्तिसागरजी, **३.** मुनि श्री संयमसागरजी ॥२३॥

विक्रमसंवत् २०३९ फाल्गुनकृष्ण त्रयोदशी तदनुसार १० फरवरी १९८३ को श्री सिद्धक्षेत्र सम्मेदशिखरजी पर सात ऐलक दीक्षाएँ हुईं। **१.** ऐलक श्री निःशंकसागरजी, **२.** ऐलक श्री दयासागरजी, **३.** ऐलक श्री समतासागरजी, **४.** ऐलक श्री स्वभावसागरजी, **५.** ऐलक श्री समाधिसागरजी, **६.** ऐलक श्री करुणासागरजी, **७.** ऐलक श्री अभयसागरजी ॥२४-२५॥

निःशंकश्च दयावार्धिः समता च स्वभावस्तु।
समाधिकरुणार्णवः अभयसागरस्तथा ॥२५॥
शून्यचतुः-खपक्षाब्दे आश्विने हि तृतीयके।
कृष्णपक्षे दिने सूर्ये ईसरी स्थानपूतके ॥२६॥
सुधा च समतावार्धिः स्वभावश्च समाधिश्च।
सरलसागरः पञ्च श्रमणा भुवि दीक्षिताः ॥२७॥
कार्तिकशुक्लपंचम्यां तदाब्दे तत्र क्षुल्लकः।
यो जिनेन्द्रवर्णी पूर्वं सिद्धान्त-सागरोऽभवत् ॥२८॥
आषाढ-शुक्लमासस्य चतुर्दश्यां च दीक्षितः।
अहारे वैराग्यनाम्ना द्विचतुःशून्यपक्षके ॥२९॥
कार्तिक-कृष्णमासस्य दशम्यां शुक्रवासरे।
तत्रैव च तदाब्दे हि क्षुल्लका नव दीक्षिताः ॥३०॥
प्रमाणः प्रशमो ध्यान - सम्यक्त्वसागरस्तथा।
संवेगो मंगलवार्धिः वात्सल्य आर्जवार्णवः ॥३१॥
तेषां नामानि गीतानि मार्दवसागरोऽन्तिमे।
मार्गशीर्षे तदाब्दे हि चतुर्थ्यां शुक्लपक्षके ॥३२॥

विक्रमसंवत् २०४० आश्विनकृष्ण तृतीया तदनुसार २५ सितम्बर १९८३ दिन रविवार पवित्र स्थान ईसरी (बिहार) में पाँच मुनि दीक्षाएँ हुईं। **१.** मुनि श्री सुधासागरजी, **२.** मुनि श्री समतासागरजी, **३.** मुनि श्री स्वभावसागरजी, **४.** मुनि श्री समाधिसागरजी, **५.** मुनि श्री सरलसागरजी ॥२६-२७॥

विक्रमसंवत् २०४० कार्तिकशुक्ल पंचमी तदनुसार २१ नवम्बर १९८२ दिन बुधवार को जो पहले जिनेन्द्रवर्णी थे वह **१.** क्षुल्लक श्री सिद्धान्तसागरजी हुए ॥२८॥

विक्रमसंवत् २०४२ आषाढ़शुक्ल चतुर्दशी तदनुसार १ जुलाई १९८५ में आहारजी क्षेत्र पर **१.** मुनि श्री वैराग्यसागरजी हुए ॥२९॥

कार्तिककृष्ण दशमी दिन शुक्रवार उसी वर्ष उसी स्थान पर नौ क्षुल्लक दीक्षाएँ हुईं। **१.** क्षु० श्री प्रमाणसागरजी, **२.** क्षु० श्री प्रशमसागरजी, **३.** क्षु० श्री ध्यानसागरजी, **४.** क्षु० श्री सम्यक्त्वसागरजी, **५.** क्षु० श्री संवेगसागरजी, **६.** क्षु० श्री मंगलसागरजी, **७.** क्षु० श्री वात्सल्यसागरजी, **८.** क्षु० श्री आर्जवसागरजी, **९.** क्षु० श्री मार्दवसागरजी ॥३२॥

द्रोणगिरिशुभे क्षेत्रे क्षुल्लकः सौम्यसागरः।
माघे शुक्ले च द्वादश्यां नैनागिरि-सुक्षेत्रके ॥३३॥
मंगलवासरे द्वादश त्रिचतुःशून्यपक्षके।
प्रसन्नश्च पवित्रश्च निश्चयो नयसागरः ॥३४॥
विनयश्च गंभीरश्च धैर्यो निसर्गसागरः।
चन्द्रश्च क्षुल्लका जाता उदार उत्तमसागरः ॥३५॥
निर्भयसागरश्चान्त्ये एकादश तथार्यिकाः।
तैः सह तास्तदाब्दे हि गुरुणा नाम कीर्तितम् ॥३६॥
गुरु-दृढ़-मृदु-ऋजु- तपो सत्य गुणमत्यः।
जिन-निर्णययोज्ज्लाः पावनमति-दीक्षिताः ॥३७॥
आषाढशुक्लमासस्य चतुर्दश्यां शुक्रे दिने।
थूवौनेऽतिशये क्षेत्रे चतुश्चतु श्च पक्षाब्दे ॥३८॥
प्रमाणः प्रशमस्तथा सम्यक्त्वः संवेगार्णवः।
ऐलकाः सप्त संजाताः मंगलार्जवमार्दवाः ॥३९॥

उसी वर्ष द्रौणगिरि सिद्धक्षेत्र पर मार्गशीर्षशुक्ल चतुर्थी तदनुसार १५ दिसम्बर, १९८५ को क्षुल्लक श्री सौम्यसागरजी हुए। विक्रमसंवत् २०४३ माघशुक्ल द्वादशी दिन मंगलवार तदनुसार १० फरवरी १९८७ सिद्धक्षेत्र नैनागिरि पर १२ क्षुल्लक दीक्षाएँ हुईं। **१.** क्षु० श्री प्रसन्नसागरजी, **२.** क्षु० श्री पवित्रसागरजी, **३.** क्षु० श्री निश्चयसागरजी, **४.** क्षु० श्री नयसागरजी, **५.** क्षु० श्री विनयसागरजी, **६.** क्षु० श्री गंभीरसागरजी, **७.** क्षु० श्री धैर्यसागरजी, **८.** क्षु० श्री निसर्गसागरजी, ९. क्षु० श्री चंद्रसागरजी **१०.** क्षु० श्री उदारसागरजी, **११.** क्षु० श्री उत्तमसागरजी, **१२.** क्षु० श्री निर्भयसागरजी। इसी के साथ ११ आ० दीक्षाएँ हुईं जिनके नाम गुरुदेव ने इस प्रकार कहे- **१.** आ० श्री गुरुमतिजी, **२.** आ० श्री दृढ़मतिजी, **३.** आ० श्री मृदुमतिजी, **४.** आ० श्री ऋजुमतिजी, **५.** आ० श्री तपोमतिजी, **६.** आ० श्री सत्यमतिजी, **७.** आ० श्री गुणमतिजी, **८.** आ० श्री जिनमतिजी, **९.** आ० श्री निर्णयमतिजी, **१०.** आ० श्री उज्ज्वलमतिजी, **११.** आ० श्री पावनमतिजी ॥३३-३७॥

आषाढ़शुक्ल चतुर्दशी दिन शुक्रवार विक्रमसंवत् २०४४ तदनुसार १० जुलाई १९८७ थूवौनजी अतिशय क्षेत्र पर सात ऐलक दीक्षाएँ हुईं। **१.** ऐ० श्री प्रमाणसागरजी, **२.** ऐ० श्री प्रशमसागरजी, **३.** ऐ० श्री सम्यक्त्वसागरजी, **४.** ऐ० श्री संवेगसागरजी, **५.** ऐ० श्री मंगलसागरजी, **६.** ऐ० श्री आर्जवसागरजी, **७.** ऐ० श्री मार्दवसागरजी ॥३८-३९॥

चैत्रशुक्लत्रयोदश्यां पञ्चचतु:खपक्षाब्दे।
स्वर्णगिरिशुभे क्षेत्रे मुनयश्चाष्टसंख्यका: ॥४०॥
प्रमाणश्चाद्य आर्जव मार्दव पवित्रोत्तमा:।
चिन्मय: पावनश्चान्ते कीर्तित: सुखसागर: ॥४१॥
आषाढशुक्लमासेऽस्मिन् पञ्चचतु: - खपक्षाब्दे।
जाबलिपुर-मढिया - स्थाने चतुर्दशीतिथौ ॥४२॥
वात्सल्यो निश्चयश्चापि उदारनिर्भयार्णवौ।
चत्वार ऐलका जाता: गुरुवारे दिने शुभे ॥४३॥
श्रावणशुक्लषष्ठ्यां हि षट्चतु:शून्यपक्षाब्दे।
कुण्डलपुरक्षेत्रेऽत्र दीक्षिता आर्यिका: पुन: ॥४४॥
प्रशान्तस्तथा पूर्णश्चानन्तविमल-शुभ्रा हि।
कुशलनिर्मलसाधु - मतयश्चाष्टमातृका: ॥४५॥
दिवसद्वयानन्तरे शुक्लमती च दीक्षिता।
श्रावणशुक्लस्यसप्तम्यां दिने च बुधवासरे ॥४६॥

चैत्रशुक्लत्रयोदशी विक्रमसंवत् २०४५ दिन गुरुवार तदनुसार ३१ मार्च १९८८ (महावीर जयंती) सिद्धक्षेत्र सोनागिरि पर आठ मुनि दीक्षाएँ हुईं। **१.** मुनि श्री प्रमाणसागरजी, **२.** मुनि श्री आर्जवसागरजी, **३.** मुनि श्री मार्दवसागरजी, **४.** मुनि श्री पवित्रसागरजी, **५.** मुनि श्री उत्तमसागरजी, **६.** मुनि श्री चिन्मयसागरजी, **७.** मुनि श्री पावनसागरजी, **८.** मुनि श्री सुखसागरजी ॥४०-४१॥

आषाढ़शुक्ल चतुर्दशी विक्रमसंवत् २०४५ दिन गुरुवार तदनुसार २८ जुलाई १९८८ अतिशयक्षेत्र पिसनहारी मढ़िया जबलपुर में चार ऐलक दीक्षाएँ हुईं। **१.** ऐ० श्री वात्सल्यसागरजी, **२.** ऐ० श्री निश्चयसागरजी, **३.** ऐ० श्री उदारसागरजी, **४.** ऐ० श्री निर्भयसागरजी ॥४२-४३॥

श्रावणशुक्ल षष्ठी विक्रमसंवत् २०४६ दिन सोमवार तदनुसार ७ अगस्त १९८९ कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र में पुन: आर्यिका दीक्षाएँ हुईं। **१.** आ० श्री प्रशांतमतिजी, **२.** आ० श्री पूर्णमतिजी, **३.** आ० श्री अनंतमतिजी, **४.** आ० श्री विमलमतिजी, **५.** आ० श्री शुभ्रमतिजी, **६.** आ० श्री कुशलमतिजी, **७.** आ० श्री निर्मलमतिजी, **८.** आ० श्री साधुमतिजी। फिर दो दिन बाद श्रावणशुक्ल सप्तमी दूसरी दिन बुधवार तदनुसार ९ अगस्त १९८९ को उसी स्थान पर आ० श्री शुक्लमतिजी दीक्षित हुईं ॥४४-४६॥

तदाब्दे फाल्गुने कृष्णे दशमी मंगले दिने।
नरसिंहपुरे स्थाने आर्यिकाः पञ्च दीक्षिताः ॥४७॥
साधना च विलक्षणा धारणा च प्रभावना।
भावना त्रिदिनान्तरे चिन्तन-वैराग्यमती ॥४८॥
वैशाखे शुक्लपक्षस्य तृतीयायां बुधे दिने।
मुक्तागिरि-शुभे क्षेत्रेऽष्टचतुःशून्यपक्षाब्दे ॥४९॥
सिद्धान्तश्चापि सम्पूर्णोऽ पूर्वोऽक्षयश्च सप्ताऽपि।
रयणश्च प्रशान्तश्च क्षुल्लकः पूर्णसागरः ॥५०॥
आषाढे शुक्लपक्षे च चतुर्दश्यां गुरौ दिने।
तत्क्षेत्रे च तदाब्दे हि क्षुल्लको नम्रसागरः ॥५१॥
तत्क्षेत्रे च तदाब्दे हि तत्तिथौ अष्ट-दीक्षिताः।
ऐलका विनयश्चापि सिद्धान्तः सागरान्तकः ॥५२॥
सम्पूर्णोऽपूर्ववार्धिश्चा- क्षयो रयणसागरः।
प्रशान्तः सप्तमश्चाप्यष्टमः पूर्णसागरः ॥५३॥

फाल्गुनकृष्णदशमी दिन मंगलवार विक्रमसंवत् २०४६ तदनुसार २० फरवरी १९९० नरसिंहपुर मध्यप्रदेश पाँच आर्यिका दीक्षाएँ हुईं। **१.** आ० श्री साधनामतिजी, **२.** आ० श्री विलक्षणमतिजी, आ० श्री धारणामतिजी, **४.** आ० श्री प्रभावनामतिजी, **५.** आ० श्री भावनामतिजी। तीन दिन के बाद २३ फरवरी १९९० उसी स्थान पर आ० श्री चिन्तनमतिजी एवं आ० श्री वैराग्यमतिजी की दीक्षा हुई ॥४७-४८॥

वैशाखशुक्ल तृतीया दिन बुधवार विक्रमसंवत् २०४८ तदनुसार १६ मई १९९१ मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र पर सात क्षुल्लक दीक्षाएँ हुईं। **१.** क्षु० श्री सिद्धान्तसागरजी **२.** क्षु० श्री संपूर्णसागरजी, **३.** क्षु० श्री अपूर्वसागरजी, **४.** क्षु० श्री अक्षयसागरजी, **५.** क्षु० श्री रयणसागरजी, **६.** क्षु० श्री प्रशांतसागरजी, **७.** क्षु० श्री पूर्णसागरजी ॥ ४९-५०॥

आषाढ़शुक्ल चतुर्दशी विक्रमसंवत् २०४८ दिन गुरुवार तदनुसार २५ जुलाई १९९१ सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि पर **एक** क्षु० नम्रसागरजी की दीक्षा हुई ॥५१॥

उसी क्षेत्र पर उसी वर्ष उसी दिन आषाढ़शुक्ल चतुर्दशी २५ जुलाई १९९१ को आठ ऐलक दीक्षाएँ भी हुईं। **१.** ऐ० श्री विनयसागरजी **२.** ऐ० श्री सिद्धान्तसागरजी, **३.** ऐ० श्री संपूर्णसागरजी, **४.** ऐ० श्री अपूर्वसागरजी, **५.** ऐ० श्री अक्षयसागरजी, **६.** ऐ० श्री रयणसागरजी, **७.** ऐ० श्री प्रशांतसागरजी, **८.** ऐ० श्री पूर्णसागरजी ॥५२-५३॥

आषाढशुक्लपंचम्यां दिने च शनिवासरे।
कुण्डलपुरि च क्षेत्रे दीक्षितार्याः पञ्चदश ॥५४॥
आदर्श-दुर्लभान्तरा - विचलानुनयास्तथा।
अनुग्रहाक्षयामूर्ता खण्डालोकानुपमाभिः ॥५५॥
अपूर्वानुत्तरानर्घै साकमतिशया मती।
अनुभवानंदमत्यौ त्रिदिवानन्तरं तथा ॥५६॥
माघशुक्ल-तृतीयायां नवचतुः खपक्षाब्दे।
मढियाजी-शुभे क्षेत्रे पञ्चकल्याणकोत्सवे ॥५७॥
पञ्चविंशतिसंख्याका आर्यिका नव दीक्षिता।
श्रीगुरोर्मुखतस्तासां नामन्यासः कृतो यथा ॥५८॥
सिद्धान्तश्चाकलङ्कश्च निकलङ्कश्च आगमः।
स्वाध्यायनम्र-विनम्रा- तुलविशद-मातृकाः ॥५९॥
पुराणविनतमती विपुलोमधुरस्तथा।
प्रसन्नः प्रशमश्चाधि- गम-मुदितमत्यन्ताः ॥६०॥

आषाढ़शुक्ल पंचमी दिन शनिवार विक्रम संवत् २०४९ तदनुसार ४ जुलाई १९९२ सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुरजी पर १५ आर्यिका दीक्षाएँ हुईं। **१.** आ० श्री आदर्शमतिजी, **२.** आ० श्री दुर्लभमतिजी, **३.** आ० श्री अंतरमतिजी, **४.** आ० श्री अविचलमतिजी, **५.** आ० श्री अनुनयमतिजी, **६.** आ० श्री अनुग्रहमतिजी, **७.** आ० श्री अक्षयमतिजी, **८.** आ० श्री अमूर्तमतिजी, **९.** आ० श्री अखण्डमतिजी, **१०.** आ० श्री आलोकमतिजी, **११.** आ० श्री अनुपममतिजी, **१२.** आ० श्री अपूर्वमतिजी, **१३.** आ० श्री अनुत्तरमतिजी, **१४.** आ० श्री अनर्घमतिजी, **१५.** आ० श्री अतिशयमतिजी। तीन दिन बाद ७ जुलाई १९९२ को दो **१.** आ० श्री अनुभवमतिजी एवं **२.** आ० श्री आनंदमतिजी की दीक्षा हुई ॥५४-५६॥

माघशुक्ल तृतीया दिन सोमवार विक्रम संवत् २०४९ तदनुसार २५ जनवरी १९९३ पिसनहारी मढ़ियाजी जबलपुर में २५ आर्यिका दीक्षाएँ हुईं। श्री गुरु के मुख से उनका नामन्यास इस प्रकार किया गया। **१.** आ० श्री सिद्धान्तमतिजी, **२.** आ० श्री अकलंकमतिजी, **३.** आ० श्री निकलंकमतिजी **४.** आ० श्री आगममतिजी **५.** आ० श्री स्वाध्यायमतिजी **६.** आ० श्री नम्रमतिजी **७.** आ० श्री विनम्रमतिजी **८.** आ० श्री अतुलमतिजी **९.** आ० श्री विशदमतिजी **१०.** आ० श्री पुराणमतिजी **११.** आ० श्री विनतमतिजी **१२.** आ० श्री विपुलमतिजी **१३.** आ० श्री मधुरमतिजी **१४.** आ० श्री प्रसन्नमतिजी **१५.** आ० श्री प्रशममतिजी **१६.** आ० श्री अधिगममतिजी **१७.** आ० श्री मुदितमतिजी ॥५७-६०॥

सहजानुगमामंदा - भेदैकत्वमतिर्मता।
कैवल्यश्चापि संवेगो निर्वेगः स्यात्तथान्तिमे ॥६१॥
आषाढस्य सिते पक्षे चतुर्दश्यां य तद्गिरौ।
एकपञ्च-ख-पक्षाब्दे ऐलकनम्रसागरः ॥६२॥
द्विपञ्चशून्यपक्षाब्दे आश्विने च चतुर्दशी।
शुक्ले कुण्डलपुर्यां हि क्षुल्लका दीक्षितास्त्रयः ॥६३॥
निर्वेगश्च विनीतश्च निर्णयसागरो मतः।
तारंगाक्षेत्रके तस्यां त्रिपञ्चशून्यपक्षाब्दे ॥६४॥
वैशाखस्य सिते पक्षे तृतीयायां दिने शनौ।
प्रज्ञा प्रबुद्धवार्धिश्च प्रशस्तश्च प्रवचनः ॥६५॥
पुण्यः प्रभावपायौ च क्षुल्लकाः सप्त दीक्षिताः।
श्रावणशुक्लसप्तम्यां त्रिपञ्चशून्यपक्षाब्दे ॥६६॥
महुवाऽतिशये क्षेत्रे चत्वार ऐलकास्तथा।
निर्वेगश्च विनीतश्च निर्णयः प्रबुद्धार्णवः ॥६७॥

---

१८. आ० श्री सहजमतिजी **१९.** आ० श्री अनुगममतिजी **२०.**आ० श्री अमंदमतिजी **२१.** आ० श्री अभेदमतिजी **२२.** आ० श्री एकत्वमतिजी **२३.** आ० श्री कैवल्यमतिजी **२४.** आ० श्री संवेगमतिजी **२५.** आ० श्री निर्वेगमतिजी ॥५७-६१॥

आषाढ़शुक्ल चतुर्दशी दिन शुक्रवार विक्रमसंवत् २०५१ तदनुसार २१ जुलाई १९९४ अतिशयक्षेत्र रामटेकजी नागपुर में **एक** ऐलक नम्रसागरजी की दीक्षा हुई ॥६२॥

आश्विनशुक्ल चतुर्दशी दिन शनिवार विक्रमसंवत् २०५२ तदनुसार ७ अक्टूबर १९९५ कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र में तीन क्षुल्लक दीक्षाएँ हुईं। **१.** क्षु० श्री निर्वेगसागरजी, **२.** क्षु० श्री विनीतसागरजी, **३.** क्षु० श्री निर्णयसागरजी। वैशाखशुक्ल तृतीया दिन शनिवार विक्रमसंवत् २०५३ तदनुसार २० अप्रैल १९९६ तारंगाजी सिद्धक्षेत्र में सात क्षुल्लक दीक्षाएँ हुईं। **१.** क्षु० श्री प्रज्ञासागरजी (वर्तमान में मुनि अजितसागरजी), **२.** क्षु० श्री प्रबुद्धसागरजी, **३.** क्षु० श्री प्रशस्तसागरजी, **४.** क्षु० श्री प्रवचनसागरजी, **५.** क्षु० श्री पुण्यसागरजी, **६.** क्षु० श्री प्रभावसागरजी, **७.** क्षु० श्री पायसागरजी। श्रावणशुक्ल सप्तमी दिन बुधवार विक्रमसंवत् २०५३ तदनुसार २१ अगस्त, १९९६ अतिशयक्षेत्र महुआजी में चार ऐलक दीक्षाएँ हुईं। **१.** ऐ० श्री निर्वेगसागरजी, **२.** ऐ० श्री विनीतसागरजी, **३.** ऐ० श्री निर्णयसागरजी, **४.** ऐ० श्री प्रबुद्धसागरजी ॥६३-६७॥

कुण्डलपुर में आर्यिका दीक्षा देते हुए आचार्यश्री

मार्गशीर्षस्य मासस्य सितस्य दशमीतिथौ।
त्रिपञ्चशून्यपक्षाब्दे प्रशस्तश्च प्रवचनः ॥६८॥
पुण्य प्रभाव-पायाश्च ऐलकत्वेन शोभिताः।
गिरनारे शुभे तीर्थे पञ्चैते च प्रसीदताः ॥६९॥
चैत्रशुक्लस्य चाष्टम्यां सिद्धवरकूटे शुभे।
त्रिपञ्चशून्यपक्षाब्दे ऐलकः शैलसागरः ॥७०॥
ज्येष्ठे सिद्धोदये शुक्ले एकस्यां शुक्रवासरे।
चतुःपञ्च खपक्षाब्दे एकोनत्रिंशदार्यिकाः ॥७१॥
सूत्रश्च सुनयो माता सकलश्च सविनयः।
सतर्कः संयमः समयः शोध-शाश्वतमातृके तथा ॥७२॥
सरल-शील-सुशीलाः शैलमाता च शीतला।
श्वेत-सारौ च सत्यार्थः सिद्धश्च सुसिद्ध स्तथा ॥७३॥
विशुद्ध-साकार-सौम्या सूक्ष्म-सुशांत-शान्ताश्च।
सदयश्चसमुन्नत - शास्त्र-सुधारमत्यन्ताः ॥७४॥

मार्गशीर्षशुक्ल दशमी दिन गुरुवार विक्रमसंवत् २०५३ तदनुसार १९ दिसम्बर १९९६ सिद्धक्षेत्र गिरनारजी में पाँच ऐलक दीक्षाएँ हुईं। **१.** ऐ० श्री प्रशस्तसागरजी, **२.** ऐ० श्री प्रवचनसागरजी, **३.** ऐ० श्री पुण्यसागरजी, **४.** ऐ० श्री प्रभावसागरजी, **५.** ऐ० श्री पायसागरजी ॥६८-६९॥

चैत्रशुक्ल अष्टमी दिन मंगलवार विक्रमसंवत् २०५३ तदनुसार १ अप्रैल, १९९७ सिद्धक्षेत्र सिद्धवरकूट **१.** ऐलक शैलसागरजी (वर्तमान में मुनि ऋषभसागरजी) की दीक्षा हुई ॥७०॥

ज्येष्ठशुक्ल एकम दिन शुक्रवार विक्रमसंवत् २०५४ तदनुसार ६ जून, १९९७ सिद्धक्षेत्र सिद्धोदय नेमावर में २९ आर्यिका दीक्षाएँ हुईं। **१.** आ० श्री सूत्रमतिजी, **२.** आ० श्री सुनयमतिजी, **३.** आ० श्री सकलमतिजी, **४.** आ० श्री सविनयमतिजी, **५.** आ० श्री सतर्कमतिजी, **६.** आ० श्री संयममतिजी, **७.** आ० श्री समयमतिजी, **८.** आ० श्री शोधमतिजी, **९.** आ० श्री शाश्वतमतिजी, **१०.** आ० श्री सरलमतिजी, **११.** आ० श्री शीलमतिजी, **१२.** आ० श्री सुशीलमतिजी, **१३.** आ० श्री शैलमतिजी, **१४.** आ० श्री शीतलमतिजी, **१५.** आ० श्री श्वेतमतिजी **१६.** आ० श्री सारमतिजी, **१७.** आ० श्री सत्यार्थमतिजी, **१८.** आ० श्री सिद्धमतिजी, **१९.** आ० श्री सुसिद्धमतिजी, **२०.** आ० श्री विशुद्धमतिजी, **२१.** आ० श्री साकारमतिजी, **२२.** आ० श्री सौम्यमतिजी, **२३.** आ० श्री सूक्ष्ममतिजी, **२४.** आ० श्री सुशांतमतिजी, **२५.** आ० श्री शांतमतिजी, **२६.** आ० श्री सदयमतिजी, **२७.** आ० श्री समुन्नतमतिजी, **२८.** आ० श्री शास्त्रमतिजी, **२९.** आ० श्री सुधारमतिजी ॥७१-७४॥

श्रावणशुक्लमासस्य षष्ठ्यां च मंगले दिने।
पुण्ये सिद्धोदये क्षेत्रे चतु:पञ्च खपक्षके ॥७५॥
पुराणश्चप्रयोगश्च प्रबोधश्चापि क्षुल्लका:।
प्रणम्यश्च प्रसादश्च प्रभात परीतौ सप्त ॥७६॥
श्रावणस्य सिते पक्षे पूर्णिमायां सिद्धोदये।
चतुपञ्च-खपक्षाब्दे चतुर्दशार्यिका भुवि ॥७७॥
उपशान्तमतिराद्याऽ - कम्पामूल्यमती तथा।
आराध्यमतिरोंकार: उन्नताचिन्तालोल्या हि ॥७८॥
अनमोलश्चाचिन्त्य:स्या - दुद्योताज्ञाचला मता।
अवगमश्च मत्यन्ता रक्षाबन्धनपर्वगा: ॥७९॥
चतु:पञ्चखपक्षाब्दे शारदीयां सिद्धोदये।
अपूर्वश्च प्रशान्तश्च निर्वेगवारिधिस्तथा ॥८०॥
विनीतो निर्णयश्चापि प्रबुद्धश्च प्रवचन:।
पुण्यपायौ प्रसादश्च मुनयो दश दीक्षिता: ॥८१॥

श्रावणशुक्ल षष्ठी दिन मंगलवार विक्रमसंवत् २०५४ तदनुसार ९ अगस्त १९९७ सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर में ७ क्षुल्लक दीक्षाएँ हुईं। **१.** क्षु० श्री पुराणसागरजी, **२.** क्षु० श्री प्रयोगसागरजी, **३.** प्रबोधसागरजी **४.** प्रणम्यसागरजी, **५.** क्षु० श्री प्रसादसागरजी, **६.** क्षु० श्री प्रभातसागरजी, **७.** क्षु० श्री परीतसागरजी (वर्तमान में मुनि सम्भवसागरजी) ॥७५-७६॥

श्रावणशुक्ल पूर्णिमा दिन सोमवार (रक्षाबंधन) विक्रमसंवत् २०५४ तदनुसार १८ अगस्त १९९७ सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर १४ आर्यिका दीक्षाएँ हुईं। **१.** आ० श्री उपशांतमतिजी, **२.** आ० श्री अकम्पमतिजी, **३.** आ० श्री अमूल्यमतिजी, **४.** आ० श्री आराध्यमतिजी, **५.** आ० श्री ओंकारमतिजी, **६.** आ० श्री उन्नतमतिजी, **७.** आ० श्री अचिन्तमतिजी, **८.** आ० श्री अलोल्यमतिजी, **९.** आ० श्री अनमोलमतिजी, **१०.** आ० श्री अचिंत्यमतिजी, **११.** आ० श्री उद्योतमतिजी, **१२.** आ० श्री आज्ञामतिजी, **१३.** आ० श्री अचलमतिजी, **१४.** आ० श्री अवगममतिजी ॥७७-७९॥

आश्विनशुक्ल पूर्णिमा दिन गुरुवार (शरदपूर्णिमा) विक्रम संवत् २०५४ तदनुसार १६ अक्टूबर १९९७ सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर में १० मुनि दीक्षाएँ हुईं। **१.** मुनि श्री अपूर्वसागरजी, **२.** मुनि श्री प्रशांतसागरजी, **३.** मुनि श्री निर्वेगसागरजी, **४.** मुनि श्री विनीतसागरजी, **५.** मुनि श्री निर्णयसागरजी, **६.** मुनि श्री प्रबुद्धसागरजी, **७.** मुनि श्री प्रवचनसागरजी, **८.** मुनि श्री पुण्यसागरजी, **९.** मुनि श्री पायसागरजी, **१०.** मुनि श्री प्रसादसागरजी ॥८०-८१॥

सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर में दीक्षा प्रदान करते हुए आचार्यश्री

पौषशुक्लस्य सप्तम्यां तदाब्दे च तत्स्थानके।
प्रज्ञापुराणप्रयोगाः प्रबोधश्च प्रणम्यो हि ॥८२॥
प्रभातसागरश्चान्ते ऐलकैः शोभिताश्च षट्।
माघशुक्लस्य पक्षस्य पूर्णिमायां तिथौ बुधे ॥८३॥
चतुःपञ्च खपक्षाब्दे मुक्तागिरिप्रसिद्धके।
अभयो नवसु चाद्य श्चाक्षयश्च प्रशस्तश्च ॥८४॥
पुराणश्च प्रयोगश्च प्रबोधसागरस्तथा।
प्रणम्योऽस्ति प्रभातश्च श्रमणाश्चन्द्रसागरः ॥८५॥
वैशाखशुक्ल-सप्तम्यां क्षेत्रे सिद्धोदये शुभे।
षट्पञ्चशून्यपक्षाब्दे त्रयोविंशतिसाधवः ॥८६॥
तीर्थकृन्नामतस्तेषां नाम क्रमेण चोदितम्।
ऋषभसागराच्चापि सर्वान्ते पार्श्वसागरः ॥८७॥

पौषशुक्ल सप्तमी दिन सोमवार विक्रमसंवत् २०५४ तदनुसार ५ जनवरी १९९८ सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर में ६ ऐलक दीक्षाएँ हुईं। **१.** ऐ० श्री प्रज्ञासागरजी **२.** ऐ० श्री पुराणसागरजी, **३.** ऐ० श्री प्रयोगसागरजी, **४.** प्रबोधसागरजी, **५.** ऐ० श्री प्रणम्यसागरजी, **६.** ऐ० श्री प्रभातसागरजी ॥८२-८३॥

माघशुक्ल पूर्णिमा दिन बुधवार विक्रमसंवत् २०५४ तदनुसार ११ फरवरी १९९८ श्री मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र बैतूल में ९ मुनि दीक्षाएँ हुईं। **१.** मुनि श्री अभयसागरजी, **२.** मुनि श्री अक्षयसागरजी, **३.** मुनि श्री प्रशस्तसागरजी, **४.** मुनि श्री पुराणसागरजी, **५.** मुनि श्री प्रयोगसागरजी, **६.** मुनि श्री प्रबोधसागरजी, **७.** मुनि श्री प्रणम्यसागरजी, **८.** मुनि श्री प्रभातसागरजी, **९.** मुनि श्री चंद्रसागरजी ॥८४-८५॥

वैशाखशुक्ल सप्तमी दिन गुरुवार विक्रमसंवत् २०५६ तदनुसार २२ अप्रैल १९९९ सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर में २३ मुनि दीक्षाएँ हुईं। **१.** मुनि श्री ऋषभसागरजी, **२.** मुनि श्री अजितसागरजी, **३.** मुनि श्री संभवसागरजी, **४.** मुनि श्री अभिनंदनसागरजी, **५.** मुनि श्री सुमतिसागरजी, **६.** मुनि श्री पद्मसागरजी, **७.** मुनि श्री सुपार्श्वसागरजी, **८.** मुनि श्री चंद्रप्रभसागरजी, **९.** मुनि श्री पुष्पदंतसागरजी, **१०.** मुनि श्री शीतलसागरजी, **११.** मुनि श्री श्रेयांससागरजी, **१२.** मुनि श्री पूज्यसागरजी, **१३.** मुनि श्री विमलसागरजी, **१४.** मुनि श्री अनंतसागरजी, **१५.** मुनि श्री धर्मसागरजी, **१६.** मुनि श्री शांतिसागरजी, **१७.** मुनि श्री कुंथुसागरजी, **१८.** मुनि श्री अरहसागरजी, **१९.** मुनि श्री मल्लिसागरजी, **२०.** मुनि श्री सुव्रतसागरजी, **२१.** मुनि श्री नमिसागरजी, **२२.** मुनि श्री नेमिसागरजी, **२३.** मुनि श्री पार्श्वसागरजी ॥८६-८७॥

श्री मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र में ९ मुनि दीक्षा प्रदान करते हुए आचार्यश्री

एक षट्शून्यपक्षाब्दे श्रावण-षट्-तिथौ सिते।
जाबलिपुरितीर्थेऽस्मिन् दयोदये च दीक्षिताः ॥८८॥
वीरः क्षीरश्च धीरश्च उपशमः प्रशमश्च।
आगमो हि महावार्धि-र्विराटो विशालार्णवः ॥८९॥
शैलोऽचलः पुनीतश्च वैराग्योऽविचलस्तथा।
विशदो धवलसौम्यौ अनुभवश्च दुर्लभः ॥९०॥
विनम्रोऽतुल-भावौ चा - प्यनन्दागम्यसागरौ।
सहजसागरश्चेति पञ्चविंशति - साधवः ॥९१॥
द्विषष्ठशून्यपक्षाब्दे माघे च पूर्णिमा-तिथौ।
कुण्डलपुरिक्षेत्रेऽस्मिन्-नष्टपञ्चाशदार्यिकाः ॥९२॥
स्वस्थस्तथ्यश्च वात्सल्यः पथ्यश्च जागृतमतिः।
कर्तव्यश्चापि गंतव्यः संस्कारश्चापि निष्कामः ॥९३॥
विरतश्च तथोदारौ विजितमतिः सन्तुष्टः।
निकटः संवरो ध्येयश्चात्मचैत्यमती तथा ॥९४॥

श्रावणशुक्ल षष्ठी दिन शनिवार विक्रमसंवत् २०६१ तदनुसार २१ अगस्त २००४ दयोदय तीर्थ तिलवाराघाट जबलपुर में २५ मुनि दीक्षाएँ हुईं। **१.** मुनि श्री वीरसागरजी, **२.** मुनि श्री क्षीरसागरजी, **३.** मुनि श्री धीरसागरजी, **४.** मुनि श्री उपशमसागरजी, **५.** मुनि श्री प्रशमसागरजी, **६.** मुनि श्री आगमसागरजी, **७.** मुनि श्री महासागरजी, **८.** मुनि श्री विराटसागरजी, **९.** मुनि श्री विशालसागरजी, **१०.** मुनि श्री शैलसागरजी, **११.** मुनि श्री अचलसागरजी, **१२.** मुनि श्री पुनीतसागरजी, **१३.** मुनि श्री वैराग्यसागरजी, **१४.** मुनि श्री अविचलसागरजी, **१५.** मुनि श्री विशदसागरजी, **१६.** मुनि श्री धवलसागरजी, **१७.** मुनि श्री सौम्यसागरजी, **१८.** मुनि श्री अनुभवसागरजी, **१९.** मुनि श्री दुर्लभसागरजी, **२०.** मुनि श्री विनम्रसागरजी, **२१.** मुनि श्री अतुलसागरजी, **२२.** मुनि श्री भावसागरजी, **२३.** मुनि श्री आनंदसागरजी, **२४.** मुनि श्री अगम्यसागरजी, **२५.** मुनि श्री सहजसागरजी ॥८८-९१॥

माघशुक्ल पूर्णिमा दिन सोमवार विक्रमसंवत् २०६२ तदनुसार १३ फरवरी २००६ श्रीकुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र पर ५८ आर्यिका दीक्षाएँ हुईं। **१.** आ० श्री स्वस्थमतिजी, **२.** आ० श्री तथ्यमतिजी, **३.** आ० श्री वात्सल्यमतिजी, **४.** आ० श्री पथ्यमतिजी, **५.** आ० श्री जागृतमतिजी, **६.** आ० श्री कर्त्तव्यमतिजी, **७.** आ० श्री गंतव्यमतिजी, **८.** आ० श्री संस्कारमतिजी, **९.** आ० श्री निष्काममतिजी, **१०.** आ० श्री विरतमतिजी, **११.** आ० श्री तथामतिजी, **१२.** आ० श्री उदारमतिजी, **१३.** आ० श्री विजितमतिजी, **१४.** आ० श्री सन्तुष्टमतिजी, **१५.** आ० श्री निकटमतिजी, **१६.** आ० श्री संवरमतिजी, **१७.** आ० श्री ध्येयमतिजी, **१८.** आ० श्री आत्ममतिजी, **१९.** आ० श्री चैत्यमतिजी ॥९२-९४॥

दयोदय तीर्थ तिलवाराघाट जबलपुर में २५ मुनि दीक्षा प्रदान करते हुए आचार्यश्र

पृथ्वी-निर्मदमत्यन्तौ पुनीतश्च विनीतश्च।
मेरुमत्याप्तमती चाप्युपशम-ध्रुवमती ॥९५॥
असीमो गौतमश्चापि संयतागाध-निर्वाणाः।
मार्दवोमंगलश्चास्ति परमार्थमतिर्ध्यानः ॥९६॥
विदेहावायपाराश्चा- गत-श्रुतमती मता।
अदूरश्च स्वभावश्च धवलो विनयस्तथा ॥९७॥
समित्यमितमत्यन्तौ परम-चेतनो मती।
निसर्गो मननश्चावि- कारचारित्रमातृके ॥९८॥
श्रद्धोत्कर्षौ च नाम्ना ते संगतलक्ष्यनामनी।
भक्तिमतिस्तथान्ते हि गुरुणा पात्रतां गताः ॥९९॥
त्र्येकशून्यद्विक्रिस्ताब्दे चतुर्थ्यां श्रावणी सिते।
रामटेके महाराष्ट्रौ चतुर्विंशति-दीक्षिताः ॥१००॥
निःस्वार्थश्चापि निर्दोषो निर्लोभश्च निरोगो हि।
निर्मोहो निष्पक्षश्चापि निस्पृहनिश्चलार्णवौ ॥१०१॥

---

२०. आ० श्री पृथ्वीमतिजी, **२१.** आ० श्री निर्मदमतिजी, **२२.** आ० श्री पुनीतमतिजी, **२३.** आ० श्री विनीतमतिजी, **२४.** आ० श्री मेरूमतिजी, **२५.** आ० श्री आप्तमतिजी, **२६.** आ० श्री उपशममतिमतिजी, **२७.** आ० श्री ध्रुवमतिजी, **२८.** आ० श्री असीममतिजी, **२९.** आ० श्री गौतममतिजी, **३०.** आ० श्री संयतमतिजी, **३१.** आ० श्री अगाधमतिजी, **३२.** आ० श्री निर्वाणमतिजी, **३३.** आ० श्री मार्दवमतिजी, **३४.** आ० श्री मंगलमतिजी, **३५.** आ० श्री परमार्थमतिजी, **३६.** आ० श्री ध्यानमतिजी, **३७.** आ० श्री विदेहमतिजी, **३८.** आ० श्री अवायमतिजी, **३९.** आ० श्री पारमतिजी, **४०.** आ० श्री आगतमतिजी, **४१.** आ० श्री श्रुतमतिजी, **४२.** आ० श्री अदूरमतिजी, **४३.** आ० श्री स्वभावमतिजी, **४४.** आ० श्री धवलमतिजी, **४५.** आ० श्री विनयमतिजी, **४६.** आ० श्री समितिमतिजी, **४७.** आ० श्री अमितमतिजी, **४८.** आ० श्री परममतिजी, **४९.** आ० श्री चेतनमतिजी, **५०.** आ० श्री निसर्गमतिजी, **५१.** आ० श्री मननमतिजी, **५२.** आ० श्री अविकारमतिजी, **५३.** आ० श्री चारित्रमतिजी, **५४.** आ० श्री श्रद्धामतिजी, **५५.** आ० श्री उत्कर्षमतिजी, **५६.** आ० श्री संगतमतिजी, **५७.** आ० श्री लक्ष्यमतिजी, **५८.** आ० श्री भक्तिमतिजी ॥९१-९९॥

श्रावणशुक्ल चतुर्थी दिन विक्रमसंवत् तदनुसार १० अगस्त २०१३ अतिशयक्षेत्र रामटेकजी में २४ मुनि दीक्षाएँ हुईं। **१.** मुनि श्री निस्वार्थसागरजी, **२.** मुनि श्री निर्दोषसागरजी, **३.** मुनि श्री निर्लोभसागरजी, **४.** मुनि श्री नीरोगसागरजी, **५.** मुनि श्री निर्मोहसागरजी, **६.** मुनि श्री निष्पक्षसागरजी, **७.** मुनि श्री निस्पृहसागरजी, **८.** मुनि श्री निश्चलसागरजी, **९.** मुनि श्री निष्कंपसागरजी, **१०.** मुनि श्री
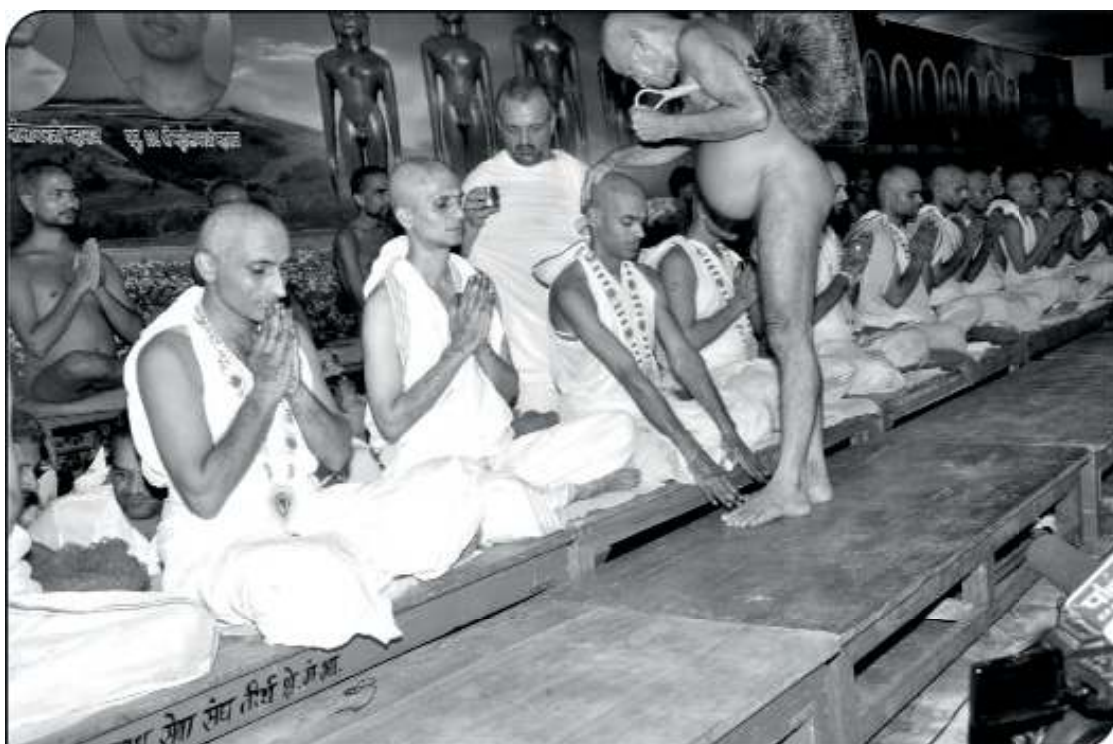
अतिशयक्षेत्र रामटेक में २४ मुनि दीक्षा प्रदान करते हुए आचार्यश्री

निष्कम्पश्चापि निष्पंदो निरामयो निरापदः।
निराकुलो निरुपमो निष्कामस्तु निरीहश्च ॥१०२॥
निस्सीमश्चापि निर्भीको नीरागो नीरजस्तथा।
निष्कलङ्कश्च निर्मदो निसर्गनिःसङ्गार्णवौ ॥१०३॥
चतुरेक-खपक्षस्य क्रिस्ताब्दे कार्तिकेऽसिते।
विदिशानगर्यां त्रयो दीक्षिताश्चाष्टमीतिथौ ॥१०४॥
शीतलः शाश्वतश्चापि समरथश्च श्रमणः।
पञ्चैकखपक्षस्य क्रिस्ताब्दे पूर्णिमातिथौ ॥१०५॥
आषाढस्य त्रयो दीक्षाः बीनाबारहक्षेत्रके।
संधानश्चापि संस्कारः ओंकारसागरो मतः ॥१०६॥

वर्षायोगः

मुनिदीक्षां च प्रगृह्य वर्षायोगे समास्थितः।
तस्य विवरणं किञ्चित् करोमि गुरुभक्तितः ॥१॥
प्रथम-द्वयवर्षेषु शिष्यतो गुरुणा सह।
राजस्थानेऽजमेरे स वर्षायोगं समाश्रितः ॥२॥

निस्पंदसागरजी, ११. मुनि श्री निरामयसागरजी, १२. मुनि श्री निरापदसागरजी, १३. मुनि श्री निराकुलसागरजी, १४. मुनि श्री निरुपमसागरजी, १५. मुनि श्री निष्कामसागरजी, १६. मुनि श्री निरीहसागरजी, १७. मुनि श्री निस्सीमसागरजी, १८. मुनि श्री निर्भीकसागरजी, १९. मुनि श्री नीरागसागरजी, २०. मुनि श्री नीरजसागरजी, २१. मुनि श्री निकलंकसागरजी, २२. मुनि श्री निर्मदसागरजी, २३. मुनि श्री निसर्गसागरजी, २४. मुनि श्री निस्संगसागरजी ॥१००-१०३॥

कार्तिककृष्ण अष्टमी दिन विक्रमसंवत् तदनुसार १६ अक्टूबर २०१४ शीतलधाम विदिशा नगरी में चार मुनि दीक्षाएँ हुईं। १. मुनि श्री शीतलसागरजी, २. मुनिश्री शाश्वतसागरजी, ३. मुनि श्री समरससागरजी, ४. मुनि श्री श्रमणसागरजी ॥१०४॥

आषाढ़शुक्ल पूर्णिमा दिन विक्रमसंवत् तदनुसार ३१ जुलाई २०१५ अतिशयक्षेत्र बीनाबारह जी में तीन मुनि दीक्षाएँ हुईं। १. मुनि श्री संधानसागरजी, २. मुनि श्री संस्कारसागरजी, ३. मुनि श्री ओंकारसागरजी॥ १०५-१०६॥

वर्षायोग

मुनिदीक्षा ग्रहण करके श्री गुरु वर्षायोग में स्थित हो जाते हैं। उसका कुछ विवरण गुरुभक्ति से यहाँ करता हूँ। १९६८ ई० से प्रथम दो वर्षों में शिष्यरूप में ही गुरु के साथ राजस्थान अजमेर में

ततो वर्षद्वये चाग्रे गुरुसेवासु तत्परः।
किशनगढसुस्थाने चातुर्मासं स चाकरोत् ॥३॥
पञ्चमवर्ष-वर्षायां गुरुपादे स्थितः सुधीः।
नसीराबाद-नाम्नेह पञ्चमपरमेष्ठितः ॥४॥
नवनवचतुःपक्षे वीरे निर्वाणमागते।
व्याबरे च चतुर्मासे संस्थितः सुरिरूपतः ॥५॥
स पुनश्चाजमेरे हि राजस्थान-प्रदेशके।
सूरिणा सुखतः प्राप्तो वर्षायोगश्च सप्तमः ॥६॥
उत्तरप्रदेशप्रान्ते एक एवाष्टमस्ततः।
पश्चान्मध्यप्रदेशेऽस्मिन् कुण्डलपुरि क्षेत्रके ॥७॥
नवमो दशमस्तत्र स्थाने चैवाऽतिशायिते।
नैनागिरौ च तत्पश्चात् थूवौने द्वादशमश्च ॥८॥
ततो मुक्तागिरौ सूरिः पुनर्नैनागिरौ द्वयौ।
ततश्च ईसरी-क्षेत्रे मढ़िया जाबलिपुरे ॥९॥
अहारे टीकमगढ़े पपौरायां जनपदे।
पुनः थूवौनजी क्षेत्रे मढ़ियाजी क्षेत्रे पुनः ॥१०॥

दो वर्षायोग किए। उसके बाद दो वर्ष गुरुसेवा में अच्छी तरह तत्पर रहते हुए किशनगढ़ में दो वर्षायोग हुए ॥१-३॥

पाँचवा वर्षायोग भी गुरुचरणों में रहते हुए नसीराबाद में पंचम परमेष्ठी (मुनि अवस्था में ही)पद के साथ हुआ ॥४॥

वीरनिर्वाणसंवत् २४९९ (१९७३ ई०) में व्यावर में आचार्य अवस्था में चातुर्मास हुआ। पुनः राजस्थान के अजमेर नगर में सप्तम वर्षायोग (१९७४ ई०) कुशलतापूर्वक सम्पन्न हुआ ॥५-६॥

उत्तरप्रदेश प्रान्त के फिरोजाबाद में (१९७५ ई०) आठवाँ वर्षायोग हुआ। तत्पश्चात् मध्यप्रदेश के कुण्डलपुर अतिशय-सिद्धक्षेत्र में (१९७६-७७ ई०) नौवाँ, दशवाँ वर्षायोग हुआ। तत्पश्चात् ग्यारहवाँ (१९७८ ई०) वर्षायोग नैनागिरि में हुआ। बारहवाँ (१९७९ ई०)थूवौन जी में, तेरहवाँ (१९८० ई०) मुक्तागिरि में, चौदहवाँ (१९८१ ई०) नैनागिरि में, पंद्रहवाँ (१९८२ ई०) पुनः नैनागिरि में, सोलहवाँ (१९८३ ई०) ईसरी में, सत्रहवाँ (१९८४ ई०) जबलपुर मढ़ियाजी अतिशयक्षेत्र में, अठारहवाँ (१९८५ई०) अतिशयक्षेत्र आहारजी (टीकमगढ़) में, उन्नीसवाँ (१९८६ ई०) पपौराजी में, बीसवाँ (१९८७ ई०) थूवौनजी में, इक्कीसवाँ (१९८८ ई०) पुनः जबलपुर मढ़ियाजी में, बाइसवाँ (१९८९ ई०) कुण्डलपुर में,

कुण्डलपुरि क्षेत्रेऽस्मिन् मुक्तागिरौ पुन द्वयौ।
कुण्डलपुरि पुनः क्षेत्रे पंचविंशतिमस्तथा ॥११॥
रामटेके द्वयौ पौनः पुन्यं च कुण्डलपुरे॥
महुवाऽतिशये क्षेत्रे नव्ये सिद्धोदये ततः ॥१२॥
भाग्योदयनवे तीर्थे गोम्मटगिरसंस्थितः।
षड्द्वयपञ्चपक्षाब्दे क्षेत्रे चामरकंटके ॥१३॥
नव्ये दयोदये क्षेत्रे पुनः सिद्धोदये तथा।
अमरकंटके चान्यः पुनः क्षेत्रे दयोदये ॥१४॥
बीनाबारह - सुक्षेत्रे क्षेत्रे चामरकंटके।
चत्वारिंशत्तमो योगः पुनश्च बीनाबारहे ॥१५॥
ततश्च रामटेकेऽस्मिन् चतुर्थोऽमनकंटके।
बीनाबारहे च पुनश् - चन्द्रगिरौ द्वयौ तथा ॥१६॥
पुनश्च रामटेकेऽभूत् विदिशानगरे तथा।
बीनाबारहक्षेत्रे स्यादष्टाचत्वारिंशत्तमः ॥१७॥

तेइसवाँ व चौबीसवाँ (१९९०-९१ ई०) मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र में, पच्चीसवाँ (१९९२ ई०) कुण्डलपुर में, छब्बीसवाँ व सत्ताईसवाँ (१९९३-९४ ई०) रामटेक में, पुनः अट्ठाईसवाँ (१९९५ ई०) कुण्डलपुर में, उन्तीसवाँ (१९९६ ई०) महुआजी में, तीसवाँ (१९९७ ई०) नव्य सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर में, इकत्तीसवाँ (१९९८ ई०) भाग्योदयतीर्थ सागर में, बत्तीसवाँ (१९९९ ई०) गोम्मटगिरि इंदौर में, तैतीसवाँ (२००० ई०) सर्वोदयतीर्थ अमरकंटक में, चौतीसवाँ (२००१ ई०) नवनिर्मित दयोदयतीर्थ तिलवाराघाट जबलपुर में, पैतीसवाँ (२००२ ई०) सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर, छत्तीसवाँ (२००३ ई०) सर्वोदयतीर्थ अमरकंटक में, सैंतीसवाँ (२००४ ई०) पुनः दयोदयतीर्थक्षेत्र तिलवाराघाट जबलपुर, अड़तीसवाँ (२००५ ई०) अतिशयक्षेत्र बीनाबारहजी में, उन्नतालीसवाँ (२००६ ई०) अमरकंटक में, चालीसवाँ (२००७ ई०) अतिशयक्षेत्र बीनाबारहजी में, इकतालीसवाँ (२००८ ई०) रामटेकजी में, ब्यालीसवाँ (२००९ ई०) सवोदयतीर्थ अमरकंटक में चौथा चातुर्मास, तैतालीसवाँ (२०१० ई०) अतिशयक्षेत्र बीनाबारहजी में, चवालीसवाँ व पैंतालीसवाँ (२०११-१२ ई०) चंद्रगिरि डोंगरगढ़ में, छ्यालीसवाँ (२०१३ ई०) रामटेकजी में, सैतालीसवाँ (२०१४ ई०) शीतलधाम विदिशा में, अड़तालीसवाँ (२०१५ ई०) अतिशयक्षेत्र बीनाबारहजी में सानन्द सम्पन्न हुआ ॥७-१७॥ (२०१६ ई०) उनचांसवाँ चातुर्मास-भोपाल (राजधानी-म० प्र०)

पंचकल्याणकः

श्रीगुरोः पञ्चकल्याणैः जिनबिम्बाः प्रतिष्ठिताः।
स्वमुखोच्चारमन्त्रैर्ये तत्तत्स्थानक - वर्णनम् ॥१॥
फाल्गुनशुक्लमासस्य सप्तम्याः आ त्रयोदशी।
द्रोणगिरि-शुभेक्षेत्रे विक्रमे त्रित्रिखद्वये ॥२॥
चतुस्त्रिशून्यपक्षाब्दे बीनाबारहक्षेत्रके।
फाल्गुनस्यासिते पक्षे सप्तम्याः दिनपञ्चके ॥३॥
पञ्चत्रिशून्यपक्षाब्दे फाल्गुनस्य द्वितीयतः।
कृष्णे पक्षे समारभ्य मुरैना पुरि निष्ठितः ॥४॥
षड्रत्नशून्यपक्षाब्दे ज्येष्ठशुक्लद्वितीयतः।
शुक्ले पक्षे समारभ्य किशनगढ़े निष्ठितः ॥५॥
अष्टत्रिशून्यपक्षाब्दे खजुराहो पुरिस्थिते।
पौषशुक्लस्य-पूर्णिमा-पञ्चकल्याणकोत्सवः ॥६॥
कोनीजी-मन्दिरे कृष्णे फाल्गुनस्य त्रयोदशी।
अष्टत्रिशून्यपक्षाब्दे तदारभ्य प्रतिष्ठितम् ॥७॥

पंचकल्याणक

श्रीगुरु के स्वमुख से उच्चरित मंत्रों के द्वारा पंचकल्याणकों के माध्यम से जो जिनबिम्ब प्रतिष्ठित हुए हैं उन-उन स्थानों का यहाँ वर्णन करते हैं ॥१॥

विक्रमसंवत् २०३३ फाल्गुनशुक्ल सप्तमी से त्रयोदशी तक तदनुसार २५.०२.१९७७ से ०२.०३.१९७७ तक द्रोणगिरि शुभक्षेत्र पर पंचकल्याणक हुए ॥२॥

विक्रमसंवत् २०३४ फाल्गुनकृष्ण सप्तमी से पाँच दिन तक तदनुसार ०१.०३.१९७८ से ०६.०३.१९७८ तक बीनाबारह क्षेत्र पर पंचकल्याणक हुए ॥३॥

विक्रमसंवत् २०३५ फाल्गुनकृष्ण द्वितीया से सप्तमी तक तदनुसार २८.०२.१९७९ से ०५.०३.१९७९ तक मुरैना में पंचकल्याणक हुए ॥४॥

विक्रमसंवत् २०३६ ज्येष्ठशुक्ल द्वितीया से पंचमी तक तदनुसार २७.०५.१९७९ से ३१.०५.१९७९ तक मदनगंजकिशनगढ़ में पंचकल्याणक हुए ॥५॥

विक्रमसंवत् २०३८ पौषशुक्ल पूर्णिमा से माघकृष्ण षष्ठी तक तदनुसार २०.०१.१९८१ से २६.०१.१९८१ तक खजुराहो छतरपुर में पंचकल्याणक हुए ॥६॥

विक्रमसंवत् २०३८ फाल्गुनकृष्ण त्रयोदशी से फाल्गुनशुक्ल द्वितीया तदनुसार २१ से २५ फरवरी १९८२ तक कुण्डलगिरि कोनीजी में पंचकल्याणक हुए ॥७॥

शाहपुरभटौनीये माघशुक्लैकमीतिथेः।
एकचतुःखपक्षाब्दे पञ्चदिनं महोत्सवः ॥८॥
एकचतुःखपक्षाब्दे फाल्गुनस्य तृतीयतः।
कृष्णे पक्षे प्रतिष्ठा स्यात् गंजबासौदानामके ॥९॥
द्विचतुः शून्य-पक्षाब्दे केसली-ग्रामसंज्ञके।
कृष्णे पक्षे प्रतिष्ठा स्यात् फाल्गुनद्वादशी तिथौ ॥१०॥
नैनागिरि-शुभे क्षेत्रे माघस्य दशमी-तिथेः।
पक्षे सिते प्रतिष्ठास्यात् त्रिचतुः शून्यपक्षाब्दे ॥११॥
पञ्चचतुः खपक्षाब्दे माघे शुक्ले च द्वादशी।
ततः पञ्चदिनं गोटेग्रामे पञ्चकल्याणकम् ॥१२॥
षट्चतुःशून्यपक्षाब्दे सिते मृगशिरे शुभे।
दशमीतिथिमारभ्य सिरोंजे प्रतिष्ठाऽभवत् ॥१३॥
तदाब्दे फाल्गुने कृष्णे पक्षे च सप्तमीदिनात्।
नरसिंहपुरे स्थाने पञ्चकल्याणकं भवेत् ॥१४॥
तदाब्दे फाल्गुने शुक्ले पक्षे शुभाष्टमीदिनात्।
पथरियाऽऽख्यके ग्रामे पञ्चकल्याणकं भवेत् ॥१५॥

विक्रमसंवत् २०४१ माघशुक्ल एकम से पाँच दिन तक तदनुसार २२ से २७ जनवरी, १९८५ तक शहपुरा भटौनी जबलपुर में पंचकल्याणक हुए ॥८॥

विक्रमसंवत् २०४१ फाल्गुन कृष्ण तृतीया से पाँच दिन तक तदनुसार ८ से १४ फरवरी, १९८५ तक गंजबासौदा में पंचकल्याणक हुए ॥९॥

विक्रमसंवत् २०४२ फाल्गुनकृष्ण द्वादशी से पाँच दिन तदनुसार ७ से ११ मार्च, १९८६ केसली (सागर) में पंचकल्याणक हुए ॥१०॥

विक्रमसंवत् २०४३ माघशुक्ल दशमी से पाँच दिन तदनुसार ८ से १२ फरवरी, १९८७ नैनागिरि क्षेत्र पर पंचकल्याणक हुए ॥११॥

विक्रमसंवत् २०४५ माघशुक्ल द्वादशी से पाँच दिन तदनुसार १७ से २२ फरवरी, १९८९ गोटेगाँव में पंचकल्याणक हुए ॥१२॥

विक्रमसंवत् २०४६ मगशिरशुक्ल दशमी से पाँच दिन तदनुसार ८ से १३ दिसम्बर, १९८९ सिरोंज (विदिशा) में पंचकल्याणक हुए ॥१३॥

विक्रमसंवत् २०४६ फाल्गुनकृष्ण सप्तमी से पाँच दिन तदनुसार १७ से २२ फरवरी, १९९० नरसिंहपुर में पंचकल्याणक हुए ॥१४॥

विक्रमसंवत् २०४६ फाल्गुनशुक्ल अष्टमी से पाँच दिन तदनुसार ४ से ८ मार्च, १९९० पथरिया

तदाब्दे कार्तिके मासे कृष्णपक्षैकमीदिनात्।
मुक्तागिरौ सुतीर्थे लघु-पञ्चकल्याणकं भवेत् ॥१६॥
सप्तचतुःखपक्षाब्दे माघे च दशमीतिथेः।
सिवनी नगरे सिते पञ्चकल्याणकोत्सवः ॥१७॥
नवचतुःखपक्षाब्दे माघे शुक्लैकमीतिथेः।
मढियाजीशुभे क्षेत्रे प्रारभ्य पञ्चवासरम् ॥१८॥
तदाब्दे फाल्गुने कृष्णे चतुर्थ्याः पञ्चवासरम्।
देवरी सागरप्रान्ते तत्राभवन् महोत्सवः ॥१९॥
तदाब्दे फाल्गुने कृष्णे चतुर्दश्याः पञ्चवासरम्।
सागरे मुख्यनगर्यां सम्पन्नेऽभूज्जिनोत्सवः ॥२०॥
नवैकपञ्चपक्षाब्दे वीरनिर्वाणवार्षिके।
रामटेके द्वितीयातः भाद्रे सा लघुरूपिका ॥२१॥
द्विद्विपञ्चपक्षाब्दे वीरे मृगशिरे सिते।
द्वादशीतिथितो लघ्वी प्रतिष्ठा बीनाबारहे ॥२२॥

दमोह में पंचकल्याणक हुए ॥१५॥

विक्रमसंवत् २०४६ कार्तिककृष्ण एकम से तीन दिवसीय तदनुसार ५ से ७ अक्टूबर, १९९० मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र पर (जिनबिम्बों के लेप के उपरान्त)लघु पंचकल्याणक हुए ॥१६॥

विक्रमसंवत् २०४७ माघशुक्ल दशमीं से पाँच दिन तदनुसार २५ से ३० जनवरी, १९९१ सिवनी में पंचकल्याणक हुए ॥१७॥

विक्रमसंवत् २०४९ माघशुक्ल एकम से पाँच दिन तदनुसार २३ से २७ जनवरी, १९९३ शुभक्षेत्र मढ़ियाजी जबलपुर में पंचकल्याणक हुए ॥१८॥

विक्रमसंवत् २०४९ फाल्गुनकृष्ण चतुर्थी से पाँच दिन तक तदनुसार १० से १६ फरवरी, १९९३ देवरी सागर में पंचकल्याणक हुए ॥१९॥

विक्रमसंवत् २०४९ फाल्गुकृष्ण चतुदर्शी से पाँच दिन तदनुसार २० से २६ फरवरी, १९९३ सागर में पंचकल्याणक हुए ॥२०॥

वीरनिर्वाणसंवत् २५१९ भाद्रपद द्वितीया से चतुर्थी तक तदनुसार १७ से १९ सितम्बर, १९९३ रामटेक नागपुर में (लेप के पश्चात्) लघु पंचकल्याणक हुए ॥२१॥

वीरनिर्वाणसंवत् २५२२ मगशिरशुक्ल द्वितीया से तदनुसार ३ से ६ दिसम्बर, १९९५ बीनाबारह में (वज्रलेप के पश्चात्) लघु पंचकल्याणक हुए ॥२२॥

त्रिद्विपञ्चपक्षाब्दे वीरे माघचतुर्दशी।
कृष्णे आहुरानगरे सूरतेऽभून् महोत्सवः ॥२३॥
चतुर्द्विपञ्चपक्षाब्दे वीरे शुक्लतृतीयके।
वैशाखे सागरे जाता प्रतिष्ठा सा सुखोद्भवा ॥२४॥
षड्द्वयपञ्चपक्षाब्दे वीरे च नवमीतिथेः।
माघे शुक्ले करेलीना- मग्रामे स महोत्सवः ॥२५॥
तदाब्दे छिन्दवाडायां फाल्गुनकृष्णपक्षके।
अमावस्यां हि प्रारभ्य पञ्चदिनमहोत्सवः ॥२६॥
सप्तद्विपञ्चपक्षाब्दे वीरे फाल्गुन कृष्णके।
कुण्डलपुरि क्षेत्रे हि चतुर्दश्याश्च निष्ठितः ॥२७॥
अष्टद्विपञ्चपक्षाब्दे वीरे पौषे च सप्तमी।
शुक्ले तिथिस्तदारभ्य छपारा-ग्रामे निष्ठितः ॥२८॥
तदाब्दे माघ-शुक्लस्य दशम्याः पञ्चवासरम्।
बण्डा स्थानेऽभवत् पञ्च- कल्याणकमहोत्सवः ॥२९॥

वीरनिर्वाणसंवत् २५२३ माघकृष्ण चतुर्दशी से पाँच दिन तदनुसार ६ से १० फरवरी, १९९७ आहूरानगर सूरत में पंचकल्याणक हुए ॥२३॥

वीरनिर्वाणसंवत् २५२४ वैशाखशुक्ल तृतीया से पाँच दिन तदनुसार २९ अप्रैल से ७ मई, १९९८ सागर में पंचकल्याणक हुए ॥२४॥

वीरनिर्वाणसंवत् २५२६ माघशुक्ल नौमी से पाँच दिन तदनुसार १४ से २१ फरवरी, २००० करेली मध्यप्रदेश में पंचकल्याणक हुए ॥२५॥

वीरनिर्वाणसंवत् २५२६ फाल्गुनकृष्ण अमावस्या से पाँच दिन तदनुसार ६ से १३ मार्च, २००० छिंदवाढ़ा मध्यप्रदेश में पंचकल्याणक हुए ॥२६॥

वीरनिर्वाणसंवत् २५२७ फाल्गुनकृष्ण चतुर्दशी से पाँच दिन तदनुसार २१ से २७ फरवरी, २००१ कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र पर पंचकल्याणक हुए ॥२७॥

वीरनिर्वाणसंवत् २५२८ पौषशुक्ल द्वितीया से पाँच दिन तदनुसार १५ से २१ जनवरी, २००२ छपारा मध्यप्रदेश में पंचकल्याण हुए ॥२८॥

वीरनिर्वाणसंवत् २५२८ माघशुक्ल दशमी से पाँच दिन तदनुसार २२ से २७ फरवरी, २००२ बण्डा जिला सागर में पंचकल्याणक हुए ॥२९॥

नवद्विपञ्चपक्षाब्दे वीरे माघ-तृतीयतः।
कृष्णे प्रारभ्य भोपाले पञ्चदिवसानुत्सवः ॥३०॥
तदाब्दे माघशुक्लस्य द्वादशीतो दिनं पञ्च।
सागरे निष्ठितः पञ्च- कल्याणकमहोत्सवः ॥३१॥
शून्यत्रिपञ्चपक्षाब्दे वीरे माघत्रयोदशी।
कृष्णे विलासपुरेऽभूत् तदा कल्याणकोत्सवः ॥३२॥
षट् खखपक्षक्रिस्ताब्दे पुनः स्थापित-बिम्बके।
कुण्डलपुरि तीर्थेऽस्मिन् प्रतिष्ठा च लघ्वी गता ॥३३॥
त्रयषट्शून्यपक्षाब्दे माघे शुक्ले च सप्तमी।
जबलपुरि सा जाता ततश्च पञ्चवासरम् ॥३४॥
तदाब्दे फाल्गुने पक्षे शुक्ले हि द्वितीयातिथौ।
सागरे विक्रमस्य स्यात् प्रतिष्ठा सा सुमंगला ॥३५॥
तदाब्दे फाल्गुने शुक्ले पूर्णिमातो दिनं पञ्च।
पथरिया संज्ञके च ग्रामेऽभूत् स महोत्सवः ॥३६॥

वीरनिर्वाणसंवत् २५२९ माघकृष्ण तृतीया से पाँच दिन तदनुसार २१ से २५ जनवरी, २००३ भोपाल में पंचकल्याणक हुए ॥३०॥

वीरनिर्वाणसंवत् २५२९ माघशुक्ल द्वादशी से पाँच दिन तदनुसार १४ से २१ फरवरी, २००३ भाग्योदय सागर में पंचकल्याणक हुए ॥३१॥

वीरनिर्वाणसंवत् २५३० माघकृष्ण त्रयोदशी से पाँच दिन तदनुसार २० से २५ जनवरी, २००४ विलासपुर में पंचकल्याणक हुए ॥३२॥

१७ से १९ जनवरी, २००६ कुण्डलपुर में बड़ेबाबा मूर्ति पुनःस्थापना के पश्चात् लघुपंचकल्याणक हुए ॥३३॥

विक्रमसंवत् २०६३ माघशुक्ल सप्तमी से तदनुसार २५ जनवरी से १ फरवरी, २००७ शिवनगर कॉलोनी, जबलपुर में पंचकल्याणक हुए ॥३४॥

विक्रमसंवत् २०६३ फाल्गुनशुक्ल द्वितीया से तदनुसार १९ से २५ फरवरी, २००७ सागर में पंचकल्याणक हुए ॥३५॥

विक्रमसंवत् २०६३ फाल्गुनशुक्ल पूर्णिमा से तदनुसार ४ से १० मार्च, २००७ पथरिया मध्यप्रदेश में पंचकल्याणक हुए ॥३६॥
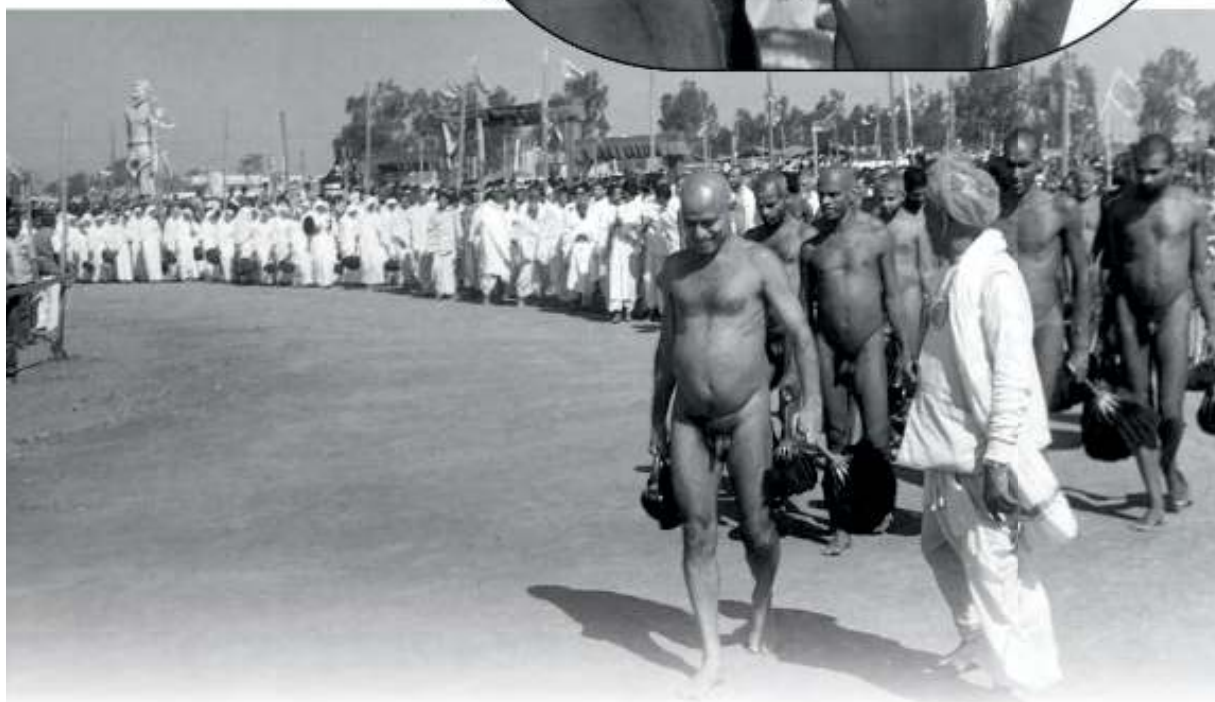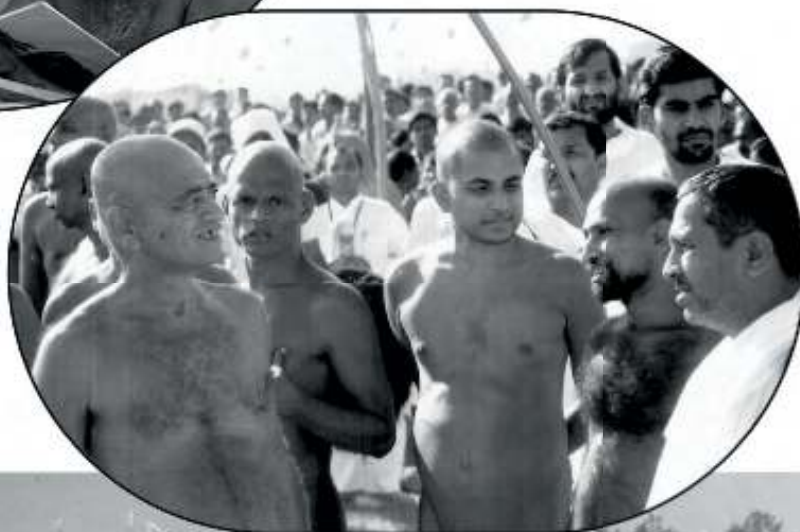
पंचकल्याणक महोत्सव के अद्भुत क्षण

चतु:षट्खपक्षाब्दे विक्रमे शुक्लद्वादशी।
पौषे स्याद् बेगमगंजे ततः पञ्चदिनोत्सवः ॥३७॥
तदाब्दे माघशुक्लस्य पञ्चमीतो दिनं पञ्च।
गंजबासौदाख्यस्थाने मध्यप्रान्ते महोत्सवः ॥३८॥
पञ्चषट्शून्यपक्षाब्दे चैत्रे सित-दशम्याश्च।
विदिशा नगरे जातः पञ्चदिनं महोत्सवः ॥३९॥
तदाब्दे मार्गशीर्षस्य पञ्चम्याश्च सिते तिथेः।
नागपुरे दिनं पञ्च प्रावर्तत जिनोत्सवः ॥४०॥
तदाब्दे फाल्गुने कृष्णे त्रयोदश्याः दिनं पञ्च।
जाबलपुरि साऽभवत् प्रतिष्ठा धर्मवर्धिनी ॥४१॥
षट्षट्खद्विविक्रमाब्दे वैशाखे च शुक्लाष्टमी।
सागरे पञ्चदिनानि ततो जिनमहोत्सवः ॥४२॥
तदाब्दे माघकृष्णास्य चामावस्यातिथेस्तथा।
शहडोले पुर्यामभवत् पञ्चकल्याणकोत्सवः ॥४३॥

विक्रमसंवत् २०६४ पौषशुक्ल द्वादशी से तदनुसार २० से २७ जनवरी, २००८ बेगमगंज मध्यप्रदेश में पंचकल्याणक हुए ॥३७॥

विक्रमसंवत् २०६४ माघशुक्ल पंचमी से तदनुसार ११ से १८ फरवरी, २००८ गंजबासौदा मध्यप्रदेश में पंचकल्याणक हुए ॥३८॥

विक्रमसंवत् २०६५ चैत्रशुक्ल दशमी से तदनुसार १५ से २१ अप्रैल, २००८ विदिशा में पंचकल्याणक हुए ॥३९॥

विक्रमसंवत् २०६५ मगशिरशुक्ल पंचमी से तदनुसार ३ से ९ दिसम्बर, २००८ नागपुर में पंचकल्याणक हुए ॥४०॥

विक्रमसंवत् २०६५ फाल्गुनकृष्ण त्रयोदशी से तदनुसार २२ फरवरी से १ मार्च, २००९ तक मढ़ियाजी जबलपुर में पंचकल्याणक हुए ॥४१॥

विक्रमसंवत् २०६६ वैशाखशुक्ल अष्टमी से तदनुसार २ से ७ मई, २००९ सागर में पंचकल्याणक हुए ॥४२॥

विक्रमसंवत् २०६६ मगशिरशुक्ल पंचमी से तदनुसार २२ से २९ नवम्बर, २००९ शहडोल में पंचकल्याणक हुए ॥४३॥

तदाब्दे माघकृष्णस्य चामावस्यातिथेस्तथा।
सतना पुर्यामभवत् पञ्चकल्याणकोत्सवः ॥४४॥
षट्त्रिपञ्चद्वयाब्दे च वीरनिर्वाणवर्षके।
मार्गशीर्षासितैकम्याः महाराजपुरे तथा ॥४५॥
अष्टत्रिपञ्चद्वयाब्दे वीरनिर्वाणवर्षके।
दुर्गे च शुक्लषष्ठ्यास्तु पंचकल्याणकोत्सवः ॥४६॥
तत्राब्दे फाल्गुने शुक्ले चतुर्थ्याः पञ्चवासरम्।
रामटेके महाराष्ट्रे पञ्चकल्याणकोत्सवः ॥४७॥
पौषकृष्णदशम्यास्तु पौषशुक्लचतुर्थकीम्।
खातेग्रामे च क्रिस्ताब्दे पञ्चैकशून्य-पक्षके ॥४८॥
तत्राब्दे चैत्रकृष्णैकात् चैत्रशुक्लस्य सप्तमीम्।
प्रतिष्ठा जिनबिम्बानां ग्रामे हि गौरझामरे ॥४९॥
कार्तिकासित - पंचम्यास्तत्राब्दे सप्तवासरम्।
प्रतिष्ठा जिनबिम्बानां गढाकोटाख्यग्रामके ॥५०॥

विक्रमसंवत् २०६६ माघकृष्ण अमावस्या से तदनुसार १५ से २१ जनवरी, २०१० सतना में पंचकल्याणक हुए ॥४४॥

वीर निर्वाण संवत् २५३६ मगशिरकृष्ण एकम् से तदनुसार २२ से २७ नवम्बर, २०१० महाराजपुर सागर में पंचकल्याणक हुए ॥४५॥

वीर निर्वाण संवत् २५३८ माघशुक्ल एकम् से तदनुसार २४ से २९ जनवरी, २०१२ दुर्ग छत्तीसगढ़ में पंचकल्याणक हुए ॥४६॥

वीर निर्वाण संवत् २५३८ फाल्गुनशुक्ल चतुर्थी से तदनुसार २५ फरवरी से २ मार्च, २०१२ रामटेक नागपुर में पंचकल्याणक हुए ॥४७॥

पौष कृष्णा दसमी से पौष शुक्ला चतुर्थी तक ई० सन् २०१५ में १६ से २४ जनवरी तक खातेगाँव में पंचकल्याणक हुए ॥४८॥

उसी सन् २०१५ में चैत्र कृष्णा एकम् से चैत्र शुक्ल की सप्तमी तक ६ मार्च से १२ मार्च तक गौरझामर गाँव में जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा हुई ॥४९॥

उसी सन् २०१५ में कार्तिक कृष्णा पंचमी से कार्तिक कृष्णा दसमी तक ३०. ११. २०१५ से ६.१२.२०१५ गढ़ाकोटा ग्राम में जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा हुई ॥५०॥

मार्गशीर्षासिते पक्षे द्वादशम्या स तृतीयके।
तत्राब्दे रहलीग्रामे जिनबिम्ब-महोत्सवः ॥५१॥
क्रिस्ताब्दे पौषशुक्लस्य षष्ठ्याश्च पञ्चवासरम्।
तारादेहीसुग्रामेस्मिन् षष्ठैकशून्यपक्षके ॥५२॥
फाल्गुने शुक्लपक्षस्य नवम्याः पूर्णिमातिथिम्।
कटंगीनामके ग्रामे तत्राब्दे स महोत्सवः ॥५३॥

इति मुनिप्रणम्यसागरविरचिते अनासक्तमहायोगिनाममहाकाव्ये आचार्य विद्यासागरचरिते महाप्रभावकसंज्ञकः द्वादशः सर्गः समाप्तः।

मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी से मार्गशीर्ष कृष्णा तृतीया तक उसी सन् २०१५ में ८ से १४ दिसम्बर में रहली ग्राम में जिनबिम्ब महोत्सव हुआ ॥५१॥

पौष शुक्ल षष्ठी से पाँच दिन तक तारादेही ग्राम में ईस्वी सन् २०१६ में १५ जनवरी से २१ जनवरी तक पंचकल्याणक हुआ ॥५२॥

फाल्गुन शुक्ला नवमी से पूर्णिमा तिथि तक उसी सन् २०१६ में १७ से २३ मार्च तक कटंगी में पंचकल्याणक हुए ॥५३॥

भोपाल (भानपुरा) सन् २०१६ में २९ नवम्बर से ५ दिसम्बर तक पंचकल्याणक सम्पन्न हुए ॥५४॥

इस प्रकार मुनिप्रणम्यसागर विरचित अनासक्त महायोगी नामक महाकाव्य में आचार्य विद्यासागर चरित्र का वर्णन करने वाला महाप्रभावक संज्ञक बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

आचार्यश्री के सान्निध्य एवं निर्देशन में हुई समाधियों का परिचय

१. मुनि श्री पवित्रसागरजी महाराज

शुक्रवार, १०.०१.१९६९, माघ कृष्ण षष्ठी, वि० सं० २०२५ को केसरगंज, अजमेर में ७६ वर्ष की उम्र में आपकी समाधि हुई। आपका पूर्व में नाम ब्र० श्री पन्नालालजी था। आपको आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने दीक्षा दी थी।

२. मुनि श्री पार्श्वसागरजी महाराज

बुधवार, १६.०५.१९७३, वैशाख शुक्ल चतुर्थी, वि० सं० २०३० को नसीराबाद, अजमेर में आपकी समाधि हुई। आप आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज की समाधि देखने आये १५ मई को आकस्मिक व्याधि हो जाने से आपका समाधिमरण हुआ।

३. आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज

ज्ञान एवं तप में युवा आचार्य श्री ज्ञानसागरजी का शरीर वृद्धावस्था के कारण क्रमशः क्षीण होने लगा। गठिया के कारण सभी जोड़ों में अपार पीड़ा होने लगी। इस स्थिति में उन्होंने स्वयं को आचार्य पद का निर्वाह करने में असमर्थ पाया और जैनागम के नियमानुसार आचार्य-पद का परित्याग कर सल्लेखना व्रत ग्रहण करने का दृढ़ निश्चय किया। अपने संकल्प को कार्य रूप में परिणति करने हेतु उन्होंने नसीराबाद में मगसिर कृष्ण २, वि० सं० २०२९, बुधवार, २२ नवम्बर, १९७२ को लगभग २५००० जनसमुदाय के समक्ष अपने योग्यतम शिष्य मुनि श्री विद्यासागरजी से निवेदन किया-''यह नश्वर शरीर धीरे-धीरे क्षीण होता जा रहा है, मैं अब आचार्य पद छोड़कर पूर्णरूपेण आत्मकल्याण में लगना चाहता हूँ। जैनागम के अनुसार ऐसा करना आवश्यक और उचित है, अतः मैं अपना आचार्य पद तुम्हें सौंपता हूँ।''

आचार्यश्री के इन शब्दों की सहजता तथा उनके असीमित मार्दव गुण से मुनि श्री विद्यासागर जी द्रवित हो उठे। तब आचार्यश्री ने उन्हें अपने कर्तव्य, गुरु सेवा, भक्ति और आगम की आज्ञा का स्मरण कराकर सुस्थिर किया। उच्चासन का त्यागकर उस पर मुनि श्री विद्यासागरजी को विराजित किया। शास्त्रोक्त विधि से आचार्य पद प्रदान करने की प्रक्रिया सम्पन्न की।

अनन्तर स्वयं नीचे के आसन पर बैठ गये। उनकी मोह एवं मान मर्दन की अद्भुत पराकाष्ठा चरम सीमा पर पहुँच गयी। अब मुनि श्री ज्ञानसागरजी ने अपने आचार्य श्री विद्यासागरजी से अत्यन्त विनयपूर्वक निवेदन किया-

''भो गुरुदेव! कृपां कुरु।''

'हे गुरुदेव! मैं आपकी सेवा में समाधि ग्रहण करना चाहता हूँ। मुझ पर अनुग्रह करें। आचार्य श्री विद्यासागर जी ने अत्यन्त श्रद्धा विह्वल अवस्था में उनको सल्लेखना व्रत ग्रहण कराया। मुनि श्री

ज्ञानसागरजी सल्लेखना व्रत का पालन करने के लिए क्रमशः अन्न, फलों के रस एवं जल का परित्याग करने लगे। २८ मई, १९७३ को आहार का पूर्ण रूपेण त्याग कर दिया। वे पूर्ण निराकुल होकर समता भाव से तत्त्व चिन्तन करते हुए आत्मरमण में लीन रहते। आचार्य श्री विद्यासागर जी, ऐलक सन्मतिसागरजी एवं क्षुल्लक स्वरूपानंदजी निरन्तर अपने पूर्व आचार्य के समीप रहकर तन्मयता व तत्परता से सेवा करते, सम्बोधित करते थे।

ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या, १ जून, १९७३ का दिन, समाधिमरण का पाठ चल रहा था। चारों ओर परम शांति थी। ''ॐ नमः सिद्धेभ्यः'' का उच्चारण हृदयतन्त्री को झंकृत कर रहा था। उसी समय आत्मलीन मुनि श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने प्रातः १०: ५० मिनट पर पार्थिव देह का परित्याग कर दिया।

मुनि श्री पार्श्वसागरजी महाराज की सल्लेखना कराते हुए मुनि विद्यासागरजी महाराज

४. क्षुल्लक श्री श्रेयांससागरजी महाराज

आपकी समाधि आचार्यश्री ने करायी। सन् १९७४, सोनीजी की नसियां, अजमेर में। तारीख, तिथि उपलब्ध नहीं हो पायी।

५. क्षुल्लक श्री चन्द्रसागरजी महाराज

आषाढ़ कृष्ण अमावस्या, वि० सं० २०३५ बुधवार, सन् १९७८ में सिद्धक्षेत्र नैनागिरिजी, जिला–छतरपुर (म० प्र०) में सायं ७:३० बजे आपकी समाधि हुई। यह समाधि ८ दिन चली।

६. श्री समाधिसागरजी (दशम् प्रतिमाधारी)

शनिवार, १४.०८.१९८२, भाद्रपद कृष्ण दशमीं, वि० सं० २०३९ को दोपहर १०:५५ बजे श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र नैनागिरि जी, जिला–छतरपुर (म०प्र०) में ७४ वर्ष की उम्र में आपकी समाधि हुई। आपका पूर्व नाम ब्र० राजारामजी वर्णी था। आपने दसवीं प्रतिमा के व्रत लेकर २२ जून १९८२ को संकल्प, अन्न त्याग, समाधिसागर नामकरण, २६ जून, १९८२ को दूध त्याग, २५ दिन बाद छाछ त्याग, २१ दिन बाद जल त्याग पूर्वक समाधि हुई।

७. श्री समतासागरजी (दशम् प्रतिमाधारी)

सोमवार, १८.१०.१९८२, आश्विन शुक्ल द्वितीया, वि० सं० २०३९ को सायं ४ बजे श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र नैनागिरि जी, जिला–छतरपुर (म०प्र०) में ८३ वर्ष की उम्र में आपकी समाधि हुई। आपका पूर्व नाम ब्र० श्री चिरोंजीलाल जैन, विदिशा था। आपने २० जुलाई, १९८२ को दस प्रतिमा सल्लेखना व्रत क्षेत्र न्यास एवं समतासागर नामकरण, १४ अगस्त, १९८२ अन्न त्याग, एक माह बाद १३ सितम्बर, १९८२ को छाछ त्याग, ३४ दिन बाद १६ अक्टूबर, १९८२ को जल त्याग पूर्वक समाधि हुई।

८. श्री स्वभावसागरजी (दशम् प्रतिमाधारी)

मंगलवार ०२–११–१९८२, कार्तिक कृष्ण एकम्, वि० सं० २०३९ को श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र नैनागिरि जी, जिला–छतरपुर (म०प्र०) में ९३ वर्ष की उम्र में आपकी समाधि हुई। आपका पूर्व नाम श्री बालचंद जैन (महुनावारे) था। आपने १ अक्टूबर, १९८२ को दस प्रतिमा नामकरण, अन्न त्याग, ३१ दिन बाद २ नवम्बर छाछ त्याग, जल त्याग, रात्रि ११:२० पर समाधि मरण।

९. ऐलक श्री सुमतिसागरजी

सोमवार, १५.११.१९८२, कार्तिक कृष्ण अमावस्या दीपावली को प्रातः ८ बजे श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र नैनागिरि जी, जिला–छतरपुर (म०प्र०) में आपकी समाधि हुई। आप १९ सितम्बर, १९८२ को नैनागिरी जी आये, २० सितम्बर से मात्र छाछ एवं जल, आहार पूर्व से ही लकवा की शिकायत होने के कारण १० नवम्बर, १९८२ को दोनों ग्रहण में अशक्यता, अंतिम ५ दिन निराहार रहे।

१०. क्षुल्लक श्री सिद्धान्तसागरजी महाराज

२४ मई, १९८३ ईसरी (बिहार) में ख्याति प्राप्त बा० ब्र० श्री जिनेन्द्रकुमारजी वर्णी से प्रसिद्ध विद्वान् जैन सिद्धान्त कोष के प्रणेता, आपने आचार्य श्री से १५ अप्रैल, १९८३ को क्षुल्लक दीक्षा ली। १७ अप्रैल से सल्लेखना प्रारम्भ हुई। क्रमशः साधना करते हुए ३५–३६ दिन की समाधि काल रहा। २४ मई, १९८३ को आपकी समाधि हुई।

११. ब्रह्मचारी श्री दीपचंदजी

मंगलवार, १८.०६.१९८५, आषाढ़ कृष्ण अमावस्या, वि० सं० २०४२ को प्रातः ८ बजे श्री

दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र अहारजी, जिला–टीकमगढ़ (म०प्र०) में ६० वर्ष की उम्र में आपकी समाधि हुई। आपने ६ जून, १९८५ को अन्न त्याग किया, १३ जून, १९८५ को अहार जी आये एवं १८ जून, १९८५ को सल्लेखना हुई।

१२. मुनि श्री वैराग्यसागरजी महाराज

सोमवार, ०९.०९.१९८५, भाद्रपद कृष्ण दशमीं, वि० सं० २०४२ को सायं ५.५० बजे श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र अहारजी, जिला–टीकमगढ़ (म०प्र०) में ८२ वर्ष की उम्र में आपकी समाधि हुई। आप २८ जून, १९८५ को अहार जी आये, ३० जून, १९८५ को सल्लेखना हेतु निवेदन ०१ जुलाई, १९८५ चातुर्मास स्थापना के दिन आचार्य श्री के द्वारा मुनि दीक्षा दी गई, सल्लेखना विधि प्रारम्भ। २९ जुलाई, १९८५ को अन्न त्याग ७ अगस्त, १९८५ लौकी पानी का त्याग, ९ सितम्बर, १९८५ को मठा एवं जल का त्याग पूर्वक आपकी समाधि हुई।

१३. क्षुल्लिका श्री संयमश्री माताजी

रविवार, ०८.१२.१९८५, मार्ग शीर्ष कृष्ण एकादशी, वि० सं० २०४२ को रात्रि १२:१५ बजे श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र अहारजी, जिला–टीकमगढ़ (म०प्र०) में ८० वर्ष की उम्र में आपकी समाधि हुई। ८ नवम्बर, १९८५ को क्षुल्लिका दीक्षा के पूर्व आपने अन्न का त्याग कर दिया, सिर्फ जल आदि ही लेती रहीं। ३ दिसम्बर, १९८५ को चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया और पाँच दिन उपवास के साथ ८ दिसम्बर, १९८५ को आपकी समाधि हो गई।

१४. ब्रह्मचारी श्री ताराचंदजी

सोमवार १८.०८.१९८६, श्रावण शुक्ल चतुर्दशी, वि० सं० २०४३ को रात्रि १२ बजे श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र पपौराजी, जिला–टीकमगढ़ (म०प्र०) में आपकी समाधि हुई। १५ दिनों तक आपकी सल्लेखना का काल रहा।

१५. क्षुल्लक श्री गुणभद्रसागर जी

बुधवार २७.०८.१९८६, भाद्रपद कृष्ण अष्टमी, वि० सं० २०४३ को दोपहर २ बजे श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र पपौराजी, जिला–टीकमगढ़ (म०प्र०) में आपकी समाधि हुई।

१६. क्षुल्लिका श्री आत्मश्री जी

गुरुवार १९.०९.१९९१, भाद्रपद शुक्ल एकादशी, वि० सं० २०४८, उत्तम तप धर्म के दिन श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि जी, जिला–बैतूल (म०प्र०) में ७० वर्ष की उम्र में आपकी समाधि हुई। आपकी क्षुल्लिका दीक्षा १९ सितम्बर, १९८१ को प्रातः ६ बजे हुई एवं इसी दिन प्रातःकाल ११ बजे आपकी सल्लेखना हो गई।

१७. श्री प्रज्ञाश्री जी (दशम् प्रतिमाधारी)

मंगलवार, १०.११.१९९२, कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा, चातुर्मास में दोपहर २ बजे श्री दिगम्बर

जैन सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर जी, जिला–दमोह (म०प्र०) में आपकी समाधि हुई। आप जबलपुर व्रती आश्रम में रहीं। आप ४ नवम्बर, १९९२ को कुण्डलपुर आयीं। सल्लेखना के कुछ दिन पूर्व आपने आचार्य श्री से दसवीं प्रतिमा के व्रत लिये। आपका नामकरण प्रज्ञाश्री किया गया।

१८. क्षुल्लिका श्री समाधिमति माताजी

बुधवार ०६.०१.१९९३, पौष शुक्ल त्रयोदशी, वि० सं० २०४९ को प्रातः १०:२० बजे मढ़िया जी, जबलपुर (म०प्र०) में ७४ वर्ष की उम्र में आपकी समाधि हुई। आप जबलपुर ब्राह्मी विद्याश्रम की संचालिका रहीं, गुरु आज्ञा में रहकर करीब ३० दिन तक समाधि साधनारत रहीं, आपकी क्षुल्लिका दीक्षा २८ दिसम्बर, १९९२ को हुई। आपकी समाधि के समय ११० पिच्छीधारी उपस्थित थे ।

१९. ब्रह्मचारी श्री राजधरलाल जी (सात प्रतिमाधारी)

बुधवार, २१.०४.१९९३, वैशाख कृष्ण अमावस्या, वि० सं० २०५० को दोप. १२.३० बजे श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, बीनाबारहा जी, जिला–सागर (म०प्र०) में आपकी समाधि हुई। आप ऐलक श्री निःशंकसागरजी महाराज के गृहस्थ अवस्था के पिता श्री थे।

२०. आर्यिका श्री १०५ निर्वाणमति माताजी

शनिवार, २१.०८.१९९३, प्रथम भाद्र शुक्ल चतुर्थी, वि० सं० २०५० को प्रातः ५.५५ बजे श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, रामटेक, जिला–नागपुर (महा०) में ७९ वर्ष की उम्र में आपकी समाधि हुई। आपने १८ जुलाई, १९९३ से अन्न त्याग किया तथा १९ अगस्त, १९९३ को आचार्यश्री द्वारा आपको आर्यिका दीक्षा प्रदान की गई ।

२१. आर्यिका श्री १०५ शान्तिमति माताजी

मंगलवार, २१.०९.१९९३, द्वितीय भाद्र शुक्ल षष्ठी, उत्तम मार्दव धर्म, वि० सं० २०५० को रात्रि १०: ५० बजे श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, रामटेक, जिला–नागपुर (महा.) में ९६ वर्ष की उम्र में आपकी समाधि हुई। आपने ६ अगस्त, १९९३ को अन्न त्याग किया तथा २२ अगस्त, १९९३ को आचार्यश्री द्वारा आपको आर्यिका दीक्षा प्रदान की गई ।

२२. क्षुल्लक श्री धर्मसागरजी महाराज

शुक्रवार, २९.०८.१९९४, श्रावण शुक्ल त्रयोदशी, वि० सं० २०५१ को सायं ७ बजे श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, रामटेक, जिला–नागपुर (महा०) में ७६ वर्ष की उम्र में आपकी समाधि हुई। आषाढ़ शुक्ल पंचमी, वि० सं० २०५१ आचार्यश्री के दीक्षा के २६ वर्ष पूर्ण होकर २७ वे वर्ष के प्रारम्भ में १० प्रतिमा ग्रहण कर २३ जुलाई, १९९४ श्रावण वदी एकम् शनिवार को क्षुल्लक दीक्षा आचार्यश्री द्वारा दी गई एवं नामकरण क्षुल्लक धर्मसागर किया।

२३. ब्रह्मचारी श्री रोशनलाल जी (सात प्रतिमाधारी)

शुक्रवार, २३.०९.१९९४, आसोज कृष्ण चतुर्थी, वि० सं० २०५१ को सायं ८:२५ बजे श्री

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, रामटेक, जिला–नागपुर (महा०) में ७५ वर्ष की उम्र में आपकी समाधि हुई। आप पूर्व में आचार्यश्री के संघ में रहे एवं दिगम्बर जैन युवक संघ के संघपति भी रहे। पर्युषण में एक आहार तथा एक उपवास की साधना की।

२४. क्षुल्लक श्री पुनीतसागरजी

मंगलवार, २६.०९.१९९५, आश्विन शुक्ल द्वितीया, वि० सं० २०५२ को दोपहर १२:१९ बजे श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र, कुण्डलपुर, जिला–दमोह (म०प्र०) में ९६ वर्ष की उम्र में आपकी समाधि हुई। ५६ दिनों की सल्लेखना में आपके २९ उपवास हुए। १ से २७ अगस्त के बीच १० उपवास बाद में एक दिन के अंतर से एक उपवास। १४ सितम्बर, १९९५ को उपवास, १६ सितम्बर, १९९५ को छाछ एवं जल के अतिरिक्त सभी प्रकार के आहार का त्याग। २३ सितम्बर, १९९५ को क्षुल्लक दीक्षा।

२५. ब्रह्मचारी पंडित श्री जगन्मोहनलालजी शास्त्री (सात प्रतिमाधारी)

शनिवार, ०७.१०.१९९५, आश्विन शुक्ल चतुर्दशी, वि० सं० २०५२ को सायं ७:२० बजे श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र, कुण्डलपुर, जिला–दमोह (म०प्र०) में ९५ वर्ष की उम्र में आपकी समाधि हुई। आप दिगम्बर जैन विद्वत् समाज के ख्याति प्राप्त विद्वान् थे। आचार्यश्री की षट्खण्डागम ग्रन्थ की वाचनाओं में ग्रन्थ वाचक विद्वान् तथा कुलपति रहे, सल्लेखना प्रक्रिया में एक माह तक मट्ठा ही ग्रहण कर रहे थे। अंतिम दस दिनों में केवल जल ग्रहण किया।

२६. ऐलक श्री आनंदसागरजी

मंगलवार, २१.०४.१९९७, चैत्र शुक्ल चतुर्दशी, वि० सं० २०५४ को रात्रि १०.४५ बजे श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र सिद्धवरकूट, जिला–खरगोन (म०प्र०) में ८६ वर्ष की उम्र में आपकी समाधि हुई। १ अप्रैल, १९९७ को क्षुल्लक दीक्षा, ९ अप्रैल को अन्न त्याग, १३ अप्रैल को ऐलक दीक्षा, २० अप्रैल को सर्वपरिग्रह त्याग। सल्लेखना के समय आचार्यश्री सहित ८१ पिच्छीधारी उपस्थित थे।

२७. ब्र० भगवानदासजी जैन

शुक्रवार, २१.०८. १९९८, भाद्र कृष्ण चतुर्थी, वि० सं० २०५५ रात्रि १२:५५ बजे, भाग्योदय तीर्थ, सागर (म०प्र०) में हुई। आप गढ़ाकोटा निवासी थे। आचार्यश्री के पास २३ जुलाई, १९९८ गुरुवार को आये। आपने दशमीं प्रतिमा का संकल्प लेकर समाधिमरण किया।

२८. मुनि श्री सिद्धसागरजी महाराज

शनिवार, ३ जुलाई, १९९९, आषाढ़ कृष्ण पंचमी, वि० सं० २०५६ प्रातःकाल ९:१० बजे सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर देवास में हुई। आप आचार्य श्री सुमतिसागरजी महाराज के शिष्य थे। आचार्यश्री के पास कुण्डलपुर से विहार करते हुए १५ अप्रैल, १९९९ को नेमावर आये। ८० दिन का समाधिकाल रहा। आपकी समाधि के समय आचार्यश्री के साथ ४८ मुनि, २२ आर्यिका, १ ऐलक महाराज थे।

२९. पं॰ श्री दरबारीलालजी कोठिया (बीना)

सोमवार, ३ जनवरी, २००० पौष कृष्ण दशमीं, वीर निर्वाण संवत् २५२६ वि॰ सं॰ २०५६ दोपहर ३:५० बजे सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर जिला देवास में आपकी समाधि हुई। आप न्यायाचार्य, जैनदर्शन के ख्याति प्राप्त राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित थे। आप आचार्यश्री के पास २६ दिसम्बर, १९९९ दिन बुधवार को नेमावर में आये। उसी दिन से आप सल्लेखना प्रारम्भ हो गई। आपने आचार्य श्री से ९ वीं प्रतिमा के संकल्प लेकर समाधिमरण किया।

३०. श्री शिखरचंदजी जैन (दिल्ली वाले)

आपकी सल्लेखना सन् २००२ को सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर के चातुर्मास के दौरान हुई। आपका श्रावक के व्रतों को लेकर समाधि मरण हुआ। आपकी तिथि/तारीख ज्ञात नहीं हो सकी ।

३१. ब्र॰ बहिन सरला दीदी (वाशिम, महा॰)

१ फरवरी, २००६ को सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर, जिला-दमोह (म॰प्र॰) में आचार्यश्री जी के साथ ४८ मुनि और १०४ आर्यिकाओं की उपस्थिति में समाधिमरण हुआ। आप आचार्यश्री के गुरु भाई आचार्यकल्प श्री विवेकसागरजी महाराज की गृहस्थावस्था की पुत्री थीं। आप इन्दौर महिलाश्रम की २ वर्ष तक संचालिका रहीं। आपको पथरी की बीमारी हो जाने और उसका लेजर ऑपरेशन फैल हो जाने के कारण किडनी खराब हो गयी, ऐसी स्थिति में आपने आचार्यश्री जी के चरणों में पहुँचकर समाधिमरण किया।

३२. सिंघई श्री कन्छेदीलाल जी (दमोह)

८ मई, २०१४, सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर, जिला-देवास (म॰प्र॰) में आपका समाधिमरण हुआ था। आप गुरुभक्त कुण्डलपुर तीर्थ क्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष सिंघई संतोषकुमारजी के पिताश्री थे। वृद्धावस्था को देखकर और बीमारी के आने से गुरु चरणों में पहुँचे। आपने मुनि श्री भव्यसागरजी महाराज से २ प्रतिमाओं के व्रत भी लिए थे।

३३. ब्र॰ भैयालाल जी जैन (इंदौर)

१० फरवरी, २०१५, सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर, जिला-देवास (म॰प्र॰) में आपका समाधिमरण हुआ था। आप ब्र॰ अनिल भैया, अधिष्ठाता, उदासीन आश्रम इंदौर के पिताजी थे। आपने १० वर्ष उदासीन आश्रम में रहकर साधना की। १ महीने तक १० प्रतिमाओं के साथ आचार्य श्री के सान्निध्य में सल्लेखना चली।

आचार्य श्री से दीक्षित शिष्यगण जो समाधिस्थ हो गये हैं उनका विवरण

मुनिगण

१. **मुनि श्री संयमसागरजी महाराज**
समाधि की तिथि–ज्येष्ठ शुक्ल ४, वि॰सं॰ २०४०
दिनांक–१४ जून, १९८३, मंगलवार
समाधि स्थल–भेलूपुर, वाराणसी (उ॰प्र॰)

२. **मुनि श्री वैराग्यसागरजी महाराज**
समाधि की तिथि–भाद्रपद कृष्ण १०, वि॰ सं॰ २०४२
दिनांक–९ सितम्बर, १९८५, सोमवार
समाधि स्थल–अतिशय क्षेत्र अहारजी, जिला–टीकमगढ़ (म॰प्र॰)

३. **मुनि श्री प्रवचनसागरजी महाराज**
समाधि की तिथि–मार्गशीर्ष शुक्ल ६, वि॰ सं॰ २०६०
दिनांक–२९ नवम्बर, २००३, शनिवार
समाधि स्थल–कटनी (म॰प्र॰)

४. **मुनि श्री अपूर्वसागरजी महाराज**
समाधि की तिथि–कार्तिक कृष्ण ३, वि॰ सं॰ २०६२
दिनांक–२० अक्टूबर, २००५, गुरुवार
समाधि स्थल–धामनी, जिला–सांगली (महा॰)

५. **मुनि श्री सुमतिसागरजी महाराज**
समाधि की तिथि–फाल्गुन शुक्ल १२, वि॰ सं॰ २०६५
दिनांक–८ मार्च, २००९, रविवार
समाधि स्थल–अशोकनगर (म॰प्र॰)

६. **मुनि श्री शान्तिसागरजी महाराज**
समाधि की तिथि–भाद्रपद कृष्णा ४, वि॰ सं॰ २०७१
दिनांक–१३ अगस्त, २०१४, गुरुवार
समाधि स्थल–शीतलधाम, विदिशा (म॰प्र॰)

७. **मुनि श्री क्षमासागरजी महाराज**
समाधि की तिथि–चैत शुक्ल ८
दिनांक–१३ मार्च, २०१५
समाधि स्थल–मोराजी, सागर

८. **मुनि श्री धीरसागरजी महाराज**
समाधि की तिथि–पौष शुक्ल १३, वि० सं० २०७३
दिनांक–१० जनवरी, २०१७, मंगलवार
समाधि स्थल–गुना (म०प्र०)

१. २. ३. ४.
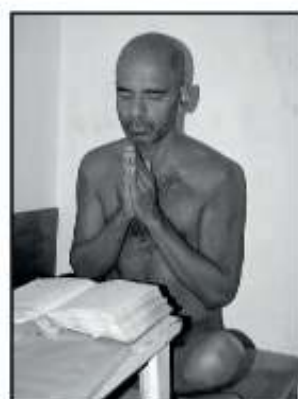
५. ६. ७. ८.

आर्यिकायें

१. **आर्यिका श्री निर्वाणमति माता जी**
समाधि की तिथि–प्रथम भाद्रपद शुक्ल ४, वि० सं० २०५०
दिनांक–२१ अगस्त १९९३, शनिवार
समाधि स्थल–रामटेक, जिला–नागपुर (महा०)

२. **आर्यिका श्री शान्तिमति माताजी**
समाधि की तिथि–द्वितीय भाद्रपद शुक्ल ६, वि० सं० २०५०
दिनांक–२१ सितम्बर, १९९३, मंगलवार
समाधि स्थल–रामटेक, जिला–नागपुर (महा०)

३. **आर्यिका श्री जिनमति माताजी**
समाधि की तिथि–कार्तिक शुक्ल १४, वि० सं० २०५८
दिनांक–२९ नवम्बर, २००१ गुरुवार
समाधि स्थल–खिमलासा, जिला–सागर (म०प्र०)

४. **आर्यिका श्री एकत्वमति माताजी**
समाधि की तिथि–मार्गशीर्ष कृष्ण ११, वि० सं० २०५८
दिनांक–११ दिसम्बर, २००१, मंगलवार
समाधि स्थल–टी० टी० नगर, भोपाल (म०प्र०)

५. **आर्यिका श्री अतिशयमति माताजी**
समाधि की तिथि–भाद्रपद शुक्ल १, वि० सं० २०६६
दिनांक–२१ अगस्त, २००९, शुक्रवार
समाधि स्थल–रांझी, जिला–जबलपुर (म०प्र०)

६. **आर्यिका श्री अविकारमति माताजी**
समाधि की तिथि–आश्विनी कृष्ण ९, वि० सं० २०७१
दिनांक–१७ सितम्बर, २०१४, बुधवार
समाधि स्थल–अशोकनगर (म०प्र०)

१ २ ४ ५

ऐलकगण

१. **ऐलक श्री आनंदसागरजी महाराज**
समाधि की तिथि–चैत्र शुक्ल १४, वि० सं० २०५४
दिनांक–२१ अप्रैल, १९९७, मंगलवार
समाधि स्थल–सिद्धक्षेत्र सिद्धवरकूट, जिला–खरगोन (म०प्र०)

२. **ऐलक श्री नि:शंकसागरजी महाराज**
समाधि की तिथि–पौष कृष्ण–८/९, वि० सं० २०७१
दिनांक–१५ दिसम्बर, २०१४, सोमवार
समाधि स्थल–बंगला चौराहा, जिला–अशोकनगर (म०प्र०)
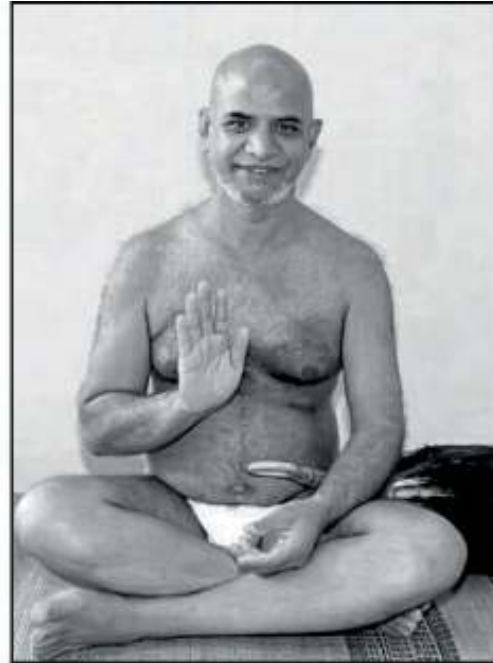
क्षुल्लकगण

१. **क्षुल्लक श्री सिद्धांतसागरजी महाराज**
समाधि की तिथि–चैत्र शुक्ल १२, वि० सं० २०४०
दिनांक–२४ मई, १९८३, रविवार
समाधि स्थल–ईसरी, जिला–गिरीडीह (झारखंड)

२. **क्षुल्लक श्री धर्मसागरजी महाराज**
समाधि की तिथि–श्रावण शुक्ल १३, वि० सं० २०५१
दिनांक–२९ अगस्त, १९९४, शुक्रवार
समाधि स्थल–रामटेक, जिला–नागपुर (महा०)

३. **क्षुल्लक श्री पुनीतसागरजी महाराज**
समाधि की तिथि–आश्विनी शुक्ल २, वि० सं० २०५२
दिनांक–२६ सितम्बर, १९९५, मंगलवार
समाधि स्थल–सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर जी, जिला–दमोह (म०प्र०)

४. **क्षुल्लक श्री चारित्रसागर जी महाराज**
समाधि की तिथि–मार्गशीर्ष शुक्ल ८, वि० सं० २०५३
दिनांक–१७ दिसम्बर, १९९६, मंगलवार
समाधि स्थल–अलीगढ़ (उ०प्र०)

२
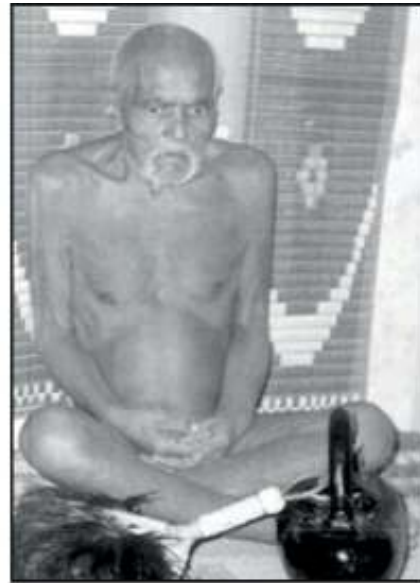
४

क्षुल्लिकायें

१. **क्षुल्लिका श्री संयमश्री जी**
समाधि की तिथि–मार्गशीर्ष कृष्ण ११, वि० सं० २०४२
दिनांक–८ दिसम्बर, १९८५, रविवार
समाधि स्थल–अतिशय क्षेत्र अहारजी, जिला–टीकमगढ़ (म०प्र०)

२. **क्षुल्लिका श्री आत्मश्री जी**
समाधि की तिथि–भाद्रपद शुक्ल ११, वि० सं० २०४८
दिनांक–१९ सितम्बर, १९९१, गुरुवार
समाधि स्थल–सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरी जी, जिला–बैतूल (म०प्र०)

३. **क्षुल्लिका श्री समाधिश्री जी**
समाधि की तिथि–पौष शुक्ल १३, वि० सं० २०४९
दिनांक–६ जनवरी, १९९३, बुधवार

आचार्य श्रीज्ञानसागरप्रशस्तिपत्रम्

(उपजाति)

श्रीमूलसंघे स्वसमाधिमुख्ये, श्री कुन्दकुन्दान्वय उत्तमेऽस्मिन्।
श्रीशान्तिसिन्धुर्भुवि भव्यबन्धु, र्निरुद्धभट्टारकराजपान्थः॥ १॥

अर्थ—जिसमें अपनी आत्मा की समाधि मुख्य है, ऐसे श्रेष्ठ मूलसंघ श्री कुन्दकुन्द आचार्य की परम्परा में भव्य जीवों के बन्धु आचार्य श्री शान्तिसागरजी इस धरातल पर हुए हैं, जिन्होंने भट्टारकों के राजमार्ग को रोक दिया है।

(शार्दूलविक्रीडित)

तत्पट्टेऽजनि वीरसागरसुधीः स्याद्वादरत्नाकरः
श्रीवीराधिपधर्मकेतुपवनः संसेव्यपादोत्पलः।
तत्पट्टेऽभवदागमार्थकुशलः सैद्धान्तिकस्तत्त्ववित्
श्रीमानाप्तपदद्वयस्य नितरां ध्याता शिवार्यो वरः॥ २॥

अर्थ—उनके पट्ट पर श्री वीरसागर आचार्य हुए, जो स्याद्वाद रत्नाकर थे, जो वीर भगवान् की धर्मध्वजा को फहराने के लिए वायु के समान थे और जिनके चरण कमल सभी से सेवा के योग्य थे। उनके पट्ट पर फिर आगम के अर्थ में निपुण, सैद्धांतिक तत्त्व को जानने वाले, श्रीमान् जिनेन्द्रदेव के चरण युगल को सदा ध्याने वाले, श्रेष्ठ आचार्य श्री शिवसागरजी हुए हैं।

(आर्या)

तस्य प्रथमः शिष्यो ज्ञानसागरश्चागमनेत्रो दिव्यः।
निस्पृहनिरीहचेता यद्वार्ताहं कथयामीतः ॥३॥

अर्थ—उनके प्रथम शिष्य आचार्य ज्ञानसागरजी हुए हैं, जो दिव्य, आगमचक्षु, निस्पृह और निरीह चित्त के धारक थे। उन्हीं की वार्ता यहाँ से मैं करता हूँ।

(चौपाई)

देशे भारतवर्षे प्रान्ते, राजस्थाने सौख्ये शान्ते।
राणौलीग्रामे कौ रम्यः, पुत्रो जज्ञे सदोपगम्यः ॥४॥

अर्थ—इस भारतवर्ष के सुख शान्ति युक्त राजस्थान प्रान्त में इस भूतल पर एक राणौली नाम का रमणीय ग्राम है, जहाँ सभी को प्रिय पुत्र उत्पन्न हुआ।

(वसन्ततिलका)

श्रीमच्चतुर्भुजभुजारमणास्पदीया
सौभाग्यवद्घृतवरी तनयस्तदीया।

भूरामलाह्वयविपश्चिदपास्तकामो
योऽभूत् कवित् कविवरः समकालिदासः ॥५॥

(प्रमाणिका)

अधीत्य संस्कृतागम-प्रमाणतर्कदर्शनम्।
विलिख्य लेखवृत्तिगद्यपद्यभूरिभारतीम् ॥६॥
पदे च पाठके प्रतिष्ठितः स नैकसंघके।
तथापि वीरसागरात् समाप्य सप्तमं व्रतम् ॥७॥

अर्थ—श्रीमान् श्रेष्ठी चतुर्भुज की भुजाओं में रमण के स्थान को प्राप्त सौभाग्यवती घृतवरी माँ का पुत्र भूरामल नाम का हुआ,जो विद्वान्, काम वासना से रहित, आत्मा का ज्ञाता, कवियों में श्रेष्ठ, कालिदास कवि के समान था। संस्कृत, आगम, प्रमाण, शास्त्र, तर्क शास्त्र, दर्शन शास्त्र को पढ़कर उन्होंने अनेक लेख, टीकाएँ और गद्य-पद्य में जिनवाणी को ब्रह्मचारी अवस्था में लिखकर अनेक आचार्य संघों में उपाध्याय के कार्य में प्रतिष्ठित रहे। फिर उन्होंने श्री वीरसागर आचार्य से सप्तम प्रतिमा के व्रत लिए।

अभूल्लघोर्मुनेरिव स्वतः ततः कलापकः।
महाव्रतेन भूषितः शिवार्यतः सतां मतः ॥८॥

अर्थ—पश्चात् वे स्वयं क्षुल्लक बन गए। श्री शिवसागरसूरि से वे महाव्रतों से भूषित हुए और सज्जनों के मान्य हुए।

अलंकृतश्च सूर्युपाधिना च वृत्तचक्रिणा।
पुनातु मे मनो यथा दिवाकरः क्षितेस्तमः ॥९॥

अर्थ—आचार्य और चारित्र चक्रवर्ती की उपाधि से वे अलंकृत हुए। जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी के अंधकार को दूर कर, पवित्र करता है, उसी प्रकार, वे मेरे मन को पवित्र करें।

(अनुष्टुप्)

भाषायां संस्कृते तेन कृतमेकादश तथा।
काव्यं सल्लक्षणोपेतं विविधं विषयाभृतम् ॥१०॥

अर्थ—उन्होंने संस्कृत भाषा में श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त अनेक प्रकार के विषयों से भरे ग्यारह काव्य लिखे हैं।

(उपजाति)

जयोदयाख्यं चरितं जयस्य, महासुकाव्यं रचितं वरस्य।
छन्दोऽभिपूर्णं रसतोऽभिषिक्तं, जीयादलंकारयुतं जगत्सु ॥११॥

अर्थ—श्रेष्ठ जयकुमार का चरित्र जयोदय नामक महाकाव्य में है। वह काव्य समीचीन छन्दों से पूर्ण और अनेक रसों से भरा है। अलंकारों से युक्त जगत् में वह काव्य जयवन्त रहे।

वीरोदयाख्यं महनीयकाव्यं, शर्माभ्युदयोऽपि च वीरपस्य।
तथा स्वरूपं हि कथं भवेत्त-,दृर्षेः समाख्यं लघुकायकाव्यम् ॥१२॥

अर्थ—वीरोदय नाम का महान् काव्य है और वीर शर्माभ्युदय भी एक काव्य है। 'ऋषि का स्वरूप कैसा हो' यह लघुकाय काव्य का नाम है।

(अनुष्टुप्)

सुदर्शनमहाकाव्यं विशुद्धादर्शदर्शवत्।
भद्रोदयं च जानीयात् सर्गतुल्यं हि भद्रदम् ॥१३॥

अर्थ—निर्मल दर्पण में दर्शन के समान 'सुदर्शन महाकाव्य' है और भद्रोदय काव्य कल्याणप्रद है, इसमें सर्ग सुदर्शन काव्य के समान हैं।

गद्यपद्यमयं चम्पू-काव्यं व्यक्तं दयोदयम्।
वरं सम्यक्त्वसाराख्यं शतकं कापथघट्टनम् ॥१४॥

अर्थ—'दयोदय' नाम का गद्य-पद्य मय चम्पू काव्य स्पष्ट ही है। 'सम्यक्त्वसार' शतक नाम का श्रेष्ठ काव्य कुपथ का विरोधी है।

(चौपाई)

मुनिमनोरञ्जनाऽशीतिस्तु, मनोमुनेर्मोदाय सदाऽस्तु।
एवं द्वादशभक्तिसंख्यको, भक्तिसंग्रहो ग्रन्थो ग्रथितः ॥१५॥

अर्थ—मुनि के मन को सदा प्रसन्न करने के लिए 'मुनि मनोरञ्जनाशीति' है। बारह भक्ति की संख्या वाला 'भक्ति संग्रह' ग्रन्थ लिखा है।

हितसम्पादकमिष्टं काव्यं, निःप्रतिमं सर्वं विज्ञेयम्।
अथ मातरि भाषायामुक्तं, यत्तदहं प्रवदामि समस्तम् ॥१६॥

अर्थ—'हित सम्पादक' यह भी इष्ट काव्य है, ये सभी अतुलनीय जानना। अब हिन्दी भाषा में जो लिखा है, वह सब कहता हूँ।

भाग्यपरीक्षाविधो विधेयो, गुणसुन्दरवृत्तान्तो ध्येयः।
पवित्रमानवजीवनसंज्ञः पठनीयः सर्वैः भुवि सद्यः ॥१७॥

अर्थ—'भाग्य परीक्षा' नाम का ग्रन्थ विधेय है, 'गुणसुन्दर वृत्तान्त' ध्यान रखने योग्य है। 'पवित्र मानव जीवन' नाम का ग्रन्थ तो सभी को इस पृथ्वी पर शीघ्र पठनीय है।

काव्यं श्रेष्ठं ऋषभचरित्रं, चरितार्थं पुरुषार्थपरत्वम्।
अथ गद्ये यद्रचितं तेन, तन्निगदामि त्वं शृणु सर्वं ॥१८॥

अर्थ—'ऋषभ चरित्र' एक श्रेष्ठ काव्य है, जो कि पुरुषार्थ प्रधान और चरितार्थ है। अब गद्य में उन्होंने जो लिखा है, उसे पूर्ण कहता हूँ सुनो–

सचिद्विवेचनमहो च मुख्यं, सचिद्विचाराख्यं शिवसख्यम्।
कुन्दकुन्द एवं जिनधर्मः, सरलविवाहविधोचितमर्म ॥१९॥
इतिहासस्य पृष्ठो वै नाम, शोधनिबंधो लघुपरिमाणः।
समयसारशास्त्रस्य सुटीका, विहितापैतविवादा सैका ॥२०॥

अर्थ—अहो 'सचित्त विवेचन' और 'सचित्त विचार' ये दोनों ही कृति मोक्ष की सखा हैं और मुख्य हैं। 'कुन्दकुन्द एवं जिनधर्म', 'सरल विवाह विधि', 'इतिहास के पन्ने' यह शोध निबंध लघु परिमाण वाला है। श्री 'समयसार' ग्रन्थ की प्रमुख टीका लिखी है, जो विवाद रहित है।

(वसन्ततिलका)

गद्याकृतिर्विदितरत्नकरण्डशास्त्रे
शब्दार्थभावयुतमानवधर्मसंज्ञा।
भावानुवाद उदयादिविवेकनामा
पद्यात्मकः समयसारविशुद्धशास्त्रे॥ २१॥

अर्थ—शब्दार्थ और भाव के साथ 'मानवधर्म' नाम से 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' पर गद्य में टीका है तथा 'समयसार' ग्रन्थ पर पद्यात्मक विवेकोदय नाम का **भावानुवाद है।**

सारे कृतिः प्रवचनस्य मनोऽभिरामा
सुश्लोकभारसहिता किल देववाण्याम्।
तत्त्वार्थसूत्रसमयस्य च पञ्चमी वा
सर्वा ललाटतिलकैव हि रोचमाना ॥२२॥

अर्थ—'प्रवचनसार' की टीका है, जो मन को सुंदर लगती है तथा उसी के साथ संस्कृत के श्लोक भी उन गाथाओं के विषय में हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' की हिन्दी टीका है, जो कि पाँचवी है। ये सभी ललाट पर लगे तिलक के समान सबको रुचिकर हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्त्तव्याय पथप्रदर्शनमिदं गद्यात्मकाख्यानकं
तेनाऽकारि चरित्रवृद्धिजनकं विद्यार्थिनां दीपवत्।
नित्यं षोडशतीर्थनायकजिन-श्रीशान्तिनाथस्य भो!
भव्यानां भुवि भुक्तिमुक्तिमतुलां दातुं विधानं क्षमम् ॥२३॥

अर्थ—'कर्त्तव्यपथ प्रदर्शन' नाम से गद्यात्मक आख्यान लिखा है, जो कि विद्यार्थियों के लिए दीप के समान हैं और चरित्र की वृद्धि को करने वाला है। सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ का विधान भी (संस्कृत में) रचा है, जो कि इस भूतल पर भव्यों को अतुलनीय भुक्ति और मुक्ति देने में समर्थ है।

स्तोत्रं देवागमं चाष्टौ प्राभृतं नियमस्य च।
एषां पद्यानुवादञ्च भक्तीनामपि चाकरोत् ॥२४॥

अर्थ—देवागम स्तोत्र, अष्टपाहुड, नियमसार और स्व रचित भक्तियों के पद्यानुवाद आपने किए हैं।

(उपजाति)

विद्यार्णवस्तु प्रथमोऽस्ति शिष्यो, विवेकवार्धिश्च विजयो मुनिश्च।
आर्योऽथ देशव्रतिषूत्तमीय, एकस्तथा सन्मतिनामधेयः ॥२५॥
वा क्षुल्लके पूज्यपदेऽधिरूढः, श्रीसम्भवो वै विनयः सुखाख्यः।
स्वरूपमोदाख्य इ चिन्मयी वा, कृता कृतिर्वर्णिसमाधिबह्वी ॥२६॥

अर्थ—श्री विद्यासागर मुनि आपके प्रथम शिष्य हुए। मुनि श्री विवेकसागरजी, मुनिश्री विजयसागरजी भी आपके शिष्य हुए। श्री सन्मतिसागर नाम के एक ऐलकजी, क्षुल्लक श्री सम्भवसागरजी, विनयसागरजी, सुखसागरजी एवं स्वरूपानन्दजी आपसे दीक्षित चैतन्य कृतियाँ हैं। इसके अलावा आपने बहुत से व्रतीजनों की समाधि करायी है।

(उपजाति)

षण्मासपूर्वं हि कृतप्रयासः, समाधिसिद्ध्यै स्वपदं प्रदाय।
विद्यार्णवायाऽभवदस्तमानः,'प्रणम्य' तं स्वः सुविराजमानः॥ २७॥

अर्थ—छह महीने पहले से आपने समाधि को साधने का प्रयास किया तथा मुनि विद्यासागरजी को अपना आचार्य पद देकर मान रहित हो, उनको प्रणाम करके अन्त में स्वर्ग में विराजमान हो गए।

❑ ❑ ❑

सुवण्णिमसंजमोच्छववरिसे आइरिय विज्जासायर पसत्थिपत्तं

श्री-मूल-संघे स्वसमाधिमुख्ये श्री कुन्दकुन्दान्वय उत्तमेस्मिन्।
श्री शान्तिसिन्धु-र्भुवि भव्यबन्धु र्निरुद्धभट्टारक-राजपन्थ- ॥१॥
तत्पट्टेऽजनि वीरसागरसुधीः स्याद्वादरत्नाकरः
श्रीवीराधिपधर्म-केतुपवनः संसेव्यपादोत्पलः।
तत्पट्टेऽभवदागमार्थकुशलः सैद्धान्तिकस्तत्त्ववित्
श्रीमानाप्तपदद्वयस्य नितरां ध्याता शिवार्यो वरः ॥२॥
तस्य प्रथमः शिष्यो ज्ञानसागरश्चागमनेत्रो दिव्यः।
निस्पृहनिरीहचेता महाकविश्च जिनसेनसमः ॥३॥
विद्यार्णवस्तत्प्रथमोऽस्ति शिष्यो विख्यातनामा गुणिषु प्रमोदः।
दयाविशुद्धार्द्रमनो महार्यः सूरिप्रधानो महतां प्रसिद्धः ॥४॥

जिसमें अपनी आत्मा की समाधि मुख्य है, ऐसे श्रेष्ठ मूलसंघ श्री कुन्दकुन्द आचार्य की परम्परा में, भव्य जीवों के बन्धु आचार्य श्री शान्तिसागर जी इस धरातल पर हुए हैं, जिन्होंने भट्टारकों के राजमार्ग को रोक दिया है ॥१॥

उनके पट्ट पर श्री वीरसागर आचार्य हुए जो स्याद्वाद रत्नाकर थे, जो वीर भगवान् की धर्मध्वजा को फहराने के लिए वायु के समान थे और जिनके चरण कमल सभी से सेवा के योग्य थे। उनके पट्ट पर फिर आगम के अर्थ में निपुण, सैद्धांतिक तत्त्व को जानने वाले, श्रीमान् जिनेन्द्रदेव के चरण युगल को सदा ध्याने वाले श्रेष्ठ आचार्य श्री शिवसागरजी हुए हैं, उनके पट्ट पर श्री वीरसागर आचार्य हुए, जो स्याद्वाद रत्नाकर थे, जो वीर भगवान् की धर्मध्वजा को फहराने के लिए वायु के समान थे और जिनके चरण कमल सभी से सेवा के योग्य थे। उनके पट्ट पर फिर आगम के अर्थ में निपुण, सैद्धांतिक तत्त्व को जानने वाले, श्रीमान् जिनेन्द्रदेव के चरण युगल को सदा ध्याने वाले श्रेष्ठ आचार्य श्री शिवसागरजी हुए हैं ॥२॥

उनके प्रथम शिष्य आचार्य ज्ञानसागरजी हुए हैं, जो दिव्य, आगमचक्षु, निस्पृह और निरीह चित्त के धारक थे और जो जिनसेन आचार्य के समान महाकवि थे ॥३॥

उन आचार्य ज्ञानसागर जी के प्रथम शिष्य श्री विद्यासागर मुनि हैं। जिनका नाम संसार में विख्यात है, जो गुणी जनों में प्रमोद भाव धारण करते हैं, जिनका मन दया की विशुद्धि से भीगा है, जो महा आर्य हैं अर्थात् महापूज्य हैं, आचार्यों में प्रधान हैं और महान् व्यक्तियों में प्रसिद्ध हैं ॥४॥

अंतिमतित्थयर देवाहिदेव-सव्वण्हु-वीयरायभयवंत-वड्ढमाण-महावीर-तित्थपरंपरागदजिणसासणे आइरियकुंदकुंदपवाहिदसमणपरंपराए दक्खिणदेसियचरित्तचक्कवट्टिआइरियसंतिसायरेहिं जीविदाए समण परंपराए आइरियवीरसायर-सिवसायर-णाणसायर-पमुहाइरिय वड्ढिदाए जयोदयादिमहाकव्व रयणाए कालिदाससरिसस्स आइरियपट्टपदाणविहिणा महाकविणिरीहदियंबरणाणसायराइसियस्स पट्टे विराजमाणो अइरिओ सिरिविज्जासायरो सोहमाणो अत्थि।

जस्स देहजम्मो कण्णाटपदेसे 'बेलगाँव' जणपदे सदलगागामे विक्कमसंवच्छरस्स बेसहस्सतिगतमे (वि० सं० २००३) अस्सिणमासस्स सुक्कपक्खे पुण्णिमाए (तदणु दिणंके १० अक्टूबर १९४६ ई० तमे) गुरुवासरे रत्तीए मल्लप्पाजणगस्स सिरिमंतिजणणीए गब्भादो 'अट्टगे' कुले जादो।

राजट्ठाणपदेसस्स जयपुरणयरे खणियाजीखेत्ते विराजमाणेण आइरियदेसभूसणेण गिहीदबंभचेरवदो पुण मुणिणाणसायरेण विक्कमसंवच्छरस्स बेसहस्सपंचवीसतमे (वि० सं० २०२५) आसाढसुक्कपंचमीदिवसे (तदणु ३० जून १९६८ ई० तमे) सणिवासरे राजट्ठाणपदेसस्स अजमेरणयरे मुणिदिक्खाए दिक्खिदो। तदो विक्कमसंवच्छरस्स बेसहस्सएगुणतीसतमे (वि० सं० २०२९) मगसिरमासस्स किण्हपक्खे विदियाए (तदणु २२ नवम्बर १९७२ ई० तमे) सगाइरियपदं चत्ता णियासणे सगसिस्सं पदिट्ठय णसीरावादे (राजट्ठाणे) आइरियपदेण पदिट्ठिदो।

अंतिम तीर्थंकर देवाधिदेव सर्वज्ञ वीतराग भगवान् वर्धमान महावीर की तीर्थ परम्परा में चले आ रहे जिनशासन में, आचार्य कुन्दकुन्ददेव से प्रवाहित श्रमण परम्परा में दक्षिणदेशीय चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी के द्वारा जीवित हुई एवं आचार्य वीरसगरजी, आचार्य शिवसागरजी, आचार्य ज्ञानसागरजी इन प्रमुख आचार्यों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुई, श्रमण परम्परा में जयोदय आदि महाकाव्य की रचना में कालिदास के समान महाकवि निरीह दिगम्बर आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के पट्ट पर आचार्यपट्ट के प्रदान की विधि से आचार्य श्री विद्यासागर महाराज शोभायमान हैं।

जिनकी देह का जन्म कर्नाटक प्रदेश में बेलगाँव जिले के सदलगा ग्राम में विक्रम संवत् २००३ में अश्विन मास के शुक्ल पक्ष में पूर्णिमा को तदनुसार दिनांक १० अक्टूबर १९४६ ई० में गुरुवार को रात्रि में मल्लप्पा पिता तथा श्रीमन्ती माता के गर्भ से अष्टगे कुल में हुआ।

राजस्थान प्रदेश के जयपुर नगर के खानियाँ क्षेत्र में विराजमान आचार्य देशभूषणजी के द्वारा जिन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया। फिर मुनि ज्ञानसागरजी से विक्रम संवत्सर २०२५ में आषाढ़ शुक्ला पंचमी के दिन तदनुसार ३० जून १९६८ ई० शनिवार को राजस्थान प्रदेश के अजमेर नगर में मुनि दीक्षा से दीक्षित हुए। तदनन्तर विक्रम संवत्सर २०२९ मगशिर मास के कृष्ण पक्ष की द्वितीया तदनुसार २२ नवम्बर १९७२ ई० में स्वआचार्य पद को छोड़कर अपने आसन पर अपने शिष्य को प्रतिष्ठित करके नसीराबाद राजस्थान में आप आचार्य पद से प्रतिष्ठित हुए।

दिक्खाकालादो पण्णासवासेसु समणसदगं भावणासदगं णिरंजणसदगं परीसहजयसदगं सुणीदिसदग चेदि चेंदण्णचंदोदओ धीवरोदयचंपूमहाकव्वं चेदि संकियभासाए, थुदिसदगं सव्वोदयसदगं पुण्णोदयसदगं सुज्जोदयसदगं दोहादोहणसदगं चेदि रट्ठभासाए रचिदं। सगरचियसंकियसदगाणां पज्जाणुवादेण सह इट्ठोवदेसो समणसुत्तं, समयसारकलसा (णिजामियपाण) दव्वसंगहो, अट्ठपाहुडं, णियमसारो, वारसाणुवेक्खा, सयंभूथुदी, देवागमथोत्तं, पत्तकेसरिथोत्तं, समाहितंतं, पंचत्थिकायो, जोगसारो, पवयणसारो, रयणकरण्डसावयायारं (रयणमंजूसा), समयसारो, अप्पाणुसासणं (गुणोदओ), सरूवसंबोहणं, भत्तिपाढो, कल्लाणमंदिरथोत्तं, एगीभावथोत्तं, गोम्मटेसथुदी इच्चेवमादिआगमगंथाणां पज्जाणुवादो रट्ठभासाए कदो।

हिंदीसाहित्ते बहुचच्चिद कालजयी 'मूकमाटी' महाकव्वस्स रयणा सव्वजगविक्खादा अत्थि। अणेयफुडकव्वरयणा हिंदी-कण्णाट-बंगला-संकिय-पागद-आग्लभासाए वि बहुभासाविदण्हुगुरुदेवेण कदा।

वीसाहियसदं मुणिदिक्खाए अट्ठपण्णास एलगदिक्खाए चउसट्ठिखुल्लयदिक्खाए बाहत्तरिअहियसदं अज्जिगादिक्खाए तिण्णि खुल्लियदिक्खाए सहस्सा बंभचेरवदधारयसावयसावियाओ दिक्खिदा ति सिससपरिवारो।

चिरं जिणसासणस्स पहावणट्ठं सिद्धोदय-तित्त्थखेत्तं णेमावरे (मज्झपदेसे) सव्वोदयतित्त्थखेत्तं अमरकण्डगे (मज्झपदेसे) कुण्डलपुरतित्त्थखेत्ते बड़ेबाबामंदिरस्स जिण्णोद्धारो (दमोहजणवदे मज्झपदेसे)

दीक्षाकाल से लेकर ५० वर्षों में श्रमणशतक, भावनाशतक, निरंजनशतक, परीषहजयशतक, सुनीतिशतक, चैतन्यचंद्रोदय, धीवरोदयचम्पू महाकाव्य इत्यादि ग्रन्थ संस्कृत भाषा में तथा स्तुतिशतक, सर्वोदयशतक, पूर्णोदयशतक, सूर्योदयशतक, दोहादोहनशतक इत्यादि राष्ट्रभाषा हिन्दी में रचनाएँ की हैं। स्वरचित संस्कृत शतकों के पद्यानुवाद के साथ इष्टोपदेश, समणसुत्तं, समयसारकलश (निजामृतपान), द्रव्यसंग्रह, अष्टपाहुड, नियमसार, बारसाणुवेक्खा, स्वयंभूस्तोत्र, देवागमस्तोत्र, पात्रकेसरीस्तोत्र, समाधितंत्र, पंचास्तिकाय, योगसार, प्रवचनसार, रत्नकरण्डकश्रावकाचार (रयणमंजूषा), समयसार, आत्मानुशासन (गुणोदय), स्वरूपसम्बोधन, भक्तिपाठ, कल्याणमंदिरस्तोत्र, एकीभावस्तोत्र, गोम्मटेशस्तुति इत्यादि आगमग्रन्थों का अनुवाद राष्ट्रभाषा हिन्दी में किया है।

हिन्दी साहित्य में बहुचर्चित, कालजयी कृति मूकमाटी महाकाव्य की रचना सर्व जगत् में विख्यात है। अनेक स्फुट काव्य रचनाएँ हिन्दी, कर्नाटक, बंगला, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी भाषा में भी बहुभाषाविद् गुरुदेव ने की हैं।

१२० मुनि दीक्षा, ५८ ऐलक दीक्षा, ६४ क्षुल्लक दीक्षा, १७२ आर्यिका दीक्षा, ३ क्षुल्लिका दीक्षा और हजारों ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले श्रावक-श्रावकाएँ दीक्षित हुए हैं, यह आपका शिष्य परिवार है।

चिरकाल तक जिनशासन की प्रभावना के लिए सिद्धोदय तीर्थक्षेत्र नेमावर मध्यप्रदेश में, सर्वोदय तीर्थक्षेत्र अमरकंटक मध्यप्रदेश में, कुण्डलपुर तीर्थक्षेत्र बड़ेबाबा मंदिर का जीर्णोद्धार दमोह

'मढ़ियाजी' तित्त्थखेत्तं जबलपुरे (मज्झपदेसे) चंदगिरितित्त्थखेत्तं (छत्तीसगढ़े) सीयलधामतित्त्थं विदिसाए (मज्झपदेसे) रामटेकतित्त्थखेत्तं (महारट्ठे) बीणावारहा तित्त्थखेत्तं सागरे (मज्झपदेसे) पुण्णोदय-तित्त्थखेत्तं (हरियाणापदेसे) इच्चेवमादितित्त्थाणि गुरुदेवस्स मग्गदंसणे णिम्मिदाणि।

सव्वजीवाणं रोगमुत्तीए सह सुद्धोसहलाहो वि हवे त्ति भावणाए 'भग्गोदयतित्त्थखेत्तं' सागरे (मज्झपदेसे) ठवंतो, णारीसंकारसिक्खापवड्ढणुद्देसेण पडिहाट्ठलीणाणोदयविज्जापीठं जबलपुरे (मज्झपदेसे) डोंगरगढ-द्ठिदचंदिगिरिट्ठाणे (छत्तीसगढे) रामटेगे (महारट्ठे) इच्चादिट्ठाणेसु ठवंतो, देसकल्लाणभावणाए पसासणिय-पसिक्खणसंठाणं जबलपुरे (मज्झपदेसे) ठवंतो ''धम्मो दया विसुद्धो'' त्ति सुत्ताणुसारेण सयाहियं दयोदय-गोसालाणिम्माणपेरगो णियपरकल्लाणपरो सव्वजणपूजिदो जादो।

अणेयगुणगंभीरो विज्जासायरसूरिगुरु जयउ।
देसे हरिसो जादो सुवण्णिमदिक्खुच्छवे जस्स॥
॥ इति शुभं॥

मध्यप्रदेश में, मढ़िया तीर्थक्षेत्र जबलपुर मध्यप्रदेश में, चंद्रगिरि तीर्थक्षेत्र डोंगरगढ़ छत्तीसगढ़, शीतलधाम तीर्थ विदिशा मध्यप्रदेश, रामटेक तीर्थक्षेत्र नागपुर महाराष्ट्र तथा बीनाबारा तीर्थक्षेत्र सागर मध्यप्रदेश में, पुण्योदय तीर्थक्षेत्र हरियाणा में इत्यादि तीर्थ गुरुदेव के मार्गदर्शन में निर्मित हुए हैं।

सभी जीवों को रोगमुक्ति के साथ शुद्ध औषधि का भी लाभ हो इस भावना से भाग्योदयतीर्थ सागर मध्यप्रदेश में स्थापित हुआ है। नारी संस्कार की शिक्षा वृद्धि वृद्धिंगत इस उद्देश्य से प्रतिभास्थली ज्ञानोदय विद्यापीठ जबलपुर मध्यप्रदेश में, डोंगरगढ़ स्थित चंद्रगिरि छत्तीसगढ़ में, रामटेक महाराष्ट्र में इत्यादि स्थानों पर स्थापित है। देश की कल्याण की भावना से प्रशासनिक प्रशिक्षण संस्थान जबलपुर मध्यप्रदेश में स्थापित हुआ। ''धर्म दया से विशुद्ध है'' इस सूत्र के अनुसार शताधिक दयोदयगौशाला के निर्माण के प्रेरक, निज और पर कल्याण में तत्पर आप सर्वजन पूजित हुए हैं।

जिनके स्वर्णिम दीक्षा उत्सव पर देश में हर्ष व्याप्त है ऐसे अनेक गुणों से गंभीर श्रीविद्यासागर आचार्य गुरुदेव जयवंत हों।

॥ इति शुभं॥